पुरुषसूक्त

प्रथम खण्ड



पुरुषसूक्त

प्रथम खण्ड

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-४५



पुरुषसूक्त

प्रथम खण्ड

प्रवचनात्मक व्याख्या



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीदक्षिणामूर्तिपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज



श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी-४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

प्रथम संस्करण

विक्रमाब्द	: २०५९
भगवत्पादाब्द	: १२१४
खीष्टाब्द	: २००२

मूल्य : 145/- रुपये मात्र
एक सौ पैंतालिस रुपये मात्र

श्री माधव प्रसाद भूत
(फर्म-विहारी बन्धु)
184-5 कटरा नवाव
चाँदनी चौक, दिल्ली-6
द्वारा धन-साहाय्यित
मूल्य : दस रुपये मात्र

अक्षर योजना
मानस टाईपसैटर
दरियागंज,
नयी दिल्ली-२

मुद्रक
महिम पत्रण (प्रा. लि.)
आगरा

ॐ

भूमिका

असीम आनन्द का अनावरण ही निर्विवाद पुरुषार्थ है। वैयक्तिक व सामाजिक, व्यष्टि व समष्टि, सभी स्तरों पर इसी उद्देश्य के जितना निकट पहुँचा जाये उतनी ही उन्नति समझी जा सकती है। जैसे सूचनाओं की बढ़ोतरी ज्ञान नहीं है वैसे उपकरणों की बढ़ोतरी आनन्द नहीं है। कामना की अनुत्पत्ति में प्रकट होता सन्तोष-सुख ही व्यावहारिक आनन्द है जिसकी ओर बढ़ना प्रगति है। मनुष्य जब तक अपने प्राप्तव्य लक्ष्य को स्पष्ट न समझ ले तब तक यह सम्भव नहीं कि वह उस ओर व्यवस्थित रूप से बढ़े अतः लक्ष्य-शिक्षण के बिना व्यक्ति और समाज के स्तर पर न उन्नति की आशा की जा सकती है न जनसामान्य पर यह दोष ही दिया जा सकता है कि वह अपने और मानवता के अकल्याण के कार्य कर रहा है। इन्द्रियगम्य विषय न होने से उद्देश्य की चर्चा आते ही वर्तमान काल में वैयक्तिक विचारस्वातन्त्र्य के नाम पर अविचार-स्थापना की जा रही है। हर विषय में शिक्षा के बारे में यही कहा जा सकता है कि बच्चों को कोई सिद्धान्त या पद्धति न सिखायी जाये ताकि किसी थोपे गये ढंग के बजाय वे खुले दिमाग से सोच सकें ! किन्तु यों अशिक्षा को कोई प्रोत्साहन दे तो घातक ही होगा; जीवन के लक्ष्य के बारे में, समाज के उद्देश्य के बारे में भी यही बात है—शिक्षा न

देना घातक ही हो रहा है। शिक्षा से ही विकास सम्भव है, शिक्षा विकास में प्रतिबंधक नहीं बनती। शिक्षित व्यक्ति और समाज फिर भी स्वतन्त्र ही रहता है सिखाये ढंग से या नये ढंग से चलने में; बल्कि अशिक्षित को ही कम विकल्प उपलब्ध होते हैं। किसी बारे में मतभेद होना उसकी शिक्षा को रोकने का हेतु हो तो प्रायः सभी विषयों की शिक्षा रुक जाये क्योंकि सर्वत्र मतभेद हैं। आत्मकल्याण का सर्वांगीण विस्तृत उपदेश वेद में स्पष्टतः उपलब्ध है अतः व्यक्ति हो या समाज, अपना कल्याण चाहे तो विशेष प्रयास से वेदशिक्षा अवश्य ग्रहण करे।

श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम, दिल्ली की संस्थापना ही इस पवित्र उद्देश्य से हुई है कि सभी सज्जन स्वयं के कल्याण के लिये आवश्यक विद्या प्राप्त करें अतः पचास वर्षों से भी अधिक समय से यहाँ प्रतिदिन अध्यात्म ज्ञान का विधिवत् प्रतिपादन हो रहा है। २७.७.१९७१ से २०.१०.१९७१ तक पुरुषसूक्त पर इस दृष्टि से विचार प्रकट किये थे कि आध्यात्मिक व सामाजिक प्रगति के लिये वेद से प्रेरणा व मार्गदर्शन मिले। सूक्त के पाँचवें से बारहवें मन्त्र तक का ही विस्तृत विवेचन इन प्रवचनों में हुआ है। वेद का दर्शन अद्वैत है जिसकी एकमात्र समीचीन व्याख्या आचार्य श्रीशंकर ने प्रस्थानत्रय-भाष्य में उपस्थापित की है, उसी के आधार पर इस सूक्त द्वारा सूचित सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण से यह प्रकट करने का भी प्रयास है कि केवल पारमार्थिक कल्याण के लिये ही नहीं व्यावहारिक

कल्याण के लिये भी वेदान्त दर्शनका ही समाश्रयण श्रेयस्कर है। ज्ञानमात्र में सभी आश्रमियों को अधिकार है। गृहस्थाश्रमी ज्ञानार्थ प्रयत्न करते हुए अपने सामाजिक कर्तव्य किस तरह पूरे करे, कैसा समाज बनाये कि अधिकाधिक लोग मोक्षमार्ग के पथिक बनें, संघर्षशील 'समज' के बजाये सहयोगशील समाज कैसे स्थापित हो—इस ओर वैदिक दिशानिर्देश प्राप्त करना इस चिन्तन का प्रयोजन है।

ये प्रवचन आशुलेखपूर्वक टंकित तो तत्काल ही कर लिये गये थे किन्तु ग्रंथाकार में अब प्रकाशित किये जा रहे हैं। सुविधा के लिये ग्रंथको दो जिल्दों में बाँधा गया है। इनके अध्ययन से साधक अपना व्यक्तिगत एवं सामाजिक हित-साधन करने में सक्षम हों यही आशीर्वाद है।

शारदनवरात्रारम्भ, २०५६ — भगवत्पादीय
शंकर मठ, आबू — *महेशानन्द गिरि*

ॐ

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

विषय प्रवेश	१
प्रारंभिक मंत्रों का अर्थ	६
पंचम मंत्रकी व्याख्या प्रारंभ	२१
वार्तिकानुसारी व्याख्या	२८
उपदेश का प्रयोजन	३७
आत्मा	५४
कर्तव्यों का मूल	६१
ब्रह्म एकमात्र कारण	७१
समाज-शरीर	८०
ब्रह्माण्ड से परमात्मा का संबंध	९१
भावी कार्य की पूर्व में अवस्थिति	१०९
अव्याकृत, ब्रह्म, अन्तर्यामी	११८
अमृत-मन्थन	१२९
सांख्यवाद से वेदान्त में अंतर	१४३
कार्यकारणता मोहमात्र	१४८
अज्ञान	१६०
युष्मद्-अस्मद् विषयों का अंतर	१७५
आनन्द	१९२
अधिपुरुष	२०६
'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः' पर विचार	२१३
श्रीचक्र	३०५

भिक्षाचर्या	३१४
कुब्जा-प्रसंग	३२९
मन्त्र	३३४
बाल्य	३४२
मौन	३५७
ब्राह्मण	३६०
छठा मंत्र	३६६
यज्ञ	३६९
पृषदाज्य	३८३
वेद में आये विषय	३९६
भोक्ता-भोग्य	४०९
ग्राम्य-आरण्य	४१५
स्वातन्त्र्य-प्राप्ति कैसे	४२९
सोम-सूर्य-अग्नि	४४०
सातवाँ मन्त्र	४५९
उपयोगप्रधान दृष्टि	४६५
आठवाँ मन्त्र	४७०
सृष्टि चक्र	४७८
नौवाँ मन्त्र	४९३
अत्युत्तम पूजा	५०३
प्रपंचोपशम	५१२
यज्ञफल	५१९
आत्मा को तृप्ति किससे	५३२

पुष्टि	५५६
अभ्यास की अनिवार्यता	५७७
पाश	५६६
अधिष्ठान	६१२
'समय'	६४०

।। श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।।

पुरुषसूक्त

प्रवचन-१

वेद में पुरुषसूक्त बहुत महत्त्वपूर्ण मन्त्र-सन्दर्भ है। ऋगादि सभी वेदों में ये मंत्र कुछ शब्दभेद, क्रमभेद से उपलब्ध हो जाते हैं। रुद्रिय पाठ में भी इसीलिये इस सूक्त का निवेश है। रुद्रिय के आठ अध्यायों में पहले शिवसंकल्प सूक्त के मंत्र पढ़े जाते हैं।

शिवसंकल्प-सूक्त प्रधान रीति से व्यक्तिनिष्ठ है। उसमें बताया कि मनुष्य मन को पवित्र कैसे करे। जब तक व्यक्ति शुद्ध नहीं होगा तब तक समाज शुद्ध नहीं हो सकता। व्यक्ति अपने को शुद्ध करने में जैसा स्वतंत्र है, वैसा समाजशुद्धि में स्वतंत्र नहीं है। समाजशुद्धि नहीं कर सकता, यह नहीं कहते! समाज की प्रथम आधारशिला, प्रथम इकाई, कुटुम्ब है। उसका समूह परिवार, परिवार का समूह गाँव, गाँवों का समूह जनपद है। जनपदों का समूह राज्य और राज्यों का समूह साम्राज्य है। भविष्य में साम्राज्यों का संगठन होकर विश्वराज की स्थापना सम्भव है। सबकी मूलभूत इकाई कुटुम्ब है। कुटुम्ब में कम से कम दो व्यक्ति, पति-पत्नी

होते हैं। समाज की इकाई दो व्यक्तियों से है। तुम अपने को सुधारने में जितने स्वतंत्र हो, उतना पत्नी को सुधारने में स्वतंत्र नहीं हो। पुत्र-पुत्रियों के संग्रह से कुटुम्ब में अधिक संख्या हो जाती है। पति पत्नी के नियंत्रण में ही स्वतंत्र नहीं तो बच्चों के नियंत्रण का कहना ही क्या! सारा राज्य एक विचारधारा को नहीं मानता, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। व्यक्ति की स्वतंत्रता आधारशिला है। शुद्ध व्यक्ति के बिना शुद्ध समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। व्यक्ति की शुद्धि में स्वतंत्रता है।

पुरुषसूक्त समाजविज्ञान का क्रम है। बीजरूप से पुरुषसूक्त में समाज के सुधार का प्रकार कहा है। भारतीय संस्कृति में दो प्रकार की विचारधाराएँ चलती रही हैं। यहाँ दो प्रकार के दार्शनिक हैं। वैदिकों के छः दर्शन हैं। उनमें दो विचारधारायें सांख्य और मीमांसा हैं। सांख्यवादी व्यक्ति के सुधार को पर्याप्त मानते हैं। अंतःकरण से अपने आप को अलग जानना, सांख्य विचारधारा है। मोक्ष की स्वीकृति के लिये उसमें पुरुषसूक्त अर्थात् समाज के सुधार की आवश्यकता नहीं है। दूसरी तरफ अश्वमेध के द्वारा समाज का सुधार मीमांसा को अभीष्ट है। राज्य या समाज के द्वारा अश्वमेध, राजसूय यज्ञ से मोक्ष तक की प्राप्ति होती है। एक व्यक्तिनिष्ठ विचारधारा है और दूसरी समाज-शोधन की विचारधारा है जिसमें समाज को शुद्ध करना इष्ट है। अर्वाचीन दृष्टि से पूंजीवादी विचारधारा में व्यक्तियों के सुधार की बात है तो साम्यवादी समाजसुधार की बातें करते हैं। यही सांख्य और मीमांसा का विरोध है। वेदांती कहता है कि आत्मा के स्वरूप को समझने पर व्यापकता की दृष्टि बनती है। सांख्यवादी व्यक्ति

(जीव) को समझना चाहता है। मीमांसक कहता है कि समष्टि अर्थात् ईश्वर को समझो। वेदांती कहता है कि न केवल जीव-ज्ञान और न केवल ईश्वरज्ञान पर्याप्त है। इसलिये वेदांत में दोनों समन्वित हैं।

अज्ञान क्या है? जिससे स्वतन्त्रता की हानि होकर परतन्त्रता हो जाये। जिस प्रकार एक रुपये के नोट पर एक तरफ अनाज की बाली और दूसरी तरफ शेर का मुँह है, रुपया एक ही है, उसी प्रकार अज्ञान एक ही है, उसके दो रूप हैं : यह अज्ञान ही वह परदा है, जिसके अन्दर परमात्मा छिपा-सा है। वस्तुतः उसे कौन छिपा सकता है! एक बित्ते, नौ इंच के कपड़े से क्या हाथी को छिपा सकते हो ! इसी प्रकार व्यापक ब्रह्म के सामने माया की कोई स्थिति नहीं। परब्रह्म परमात्मा अज्ञान के द्वारा छिपाये जाने पर भी छिपने में असमर्थ है। किसी की समझ में कोई बात नहीं आती तो कहते हैं कि 'कोशिश करो, समझ में आ जायेगी।' इससे सिद्ध होता है कि समझने में हम स्वतंत्र हैं। आधुनिक काल में सबसे बड़ा झगड़ा ही स्वतंत्रता का है। विश्व के इतिहास को देखो तो आदि मानव ने सर्दी से बचने के लिये आग का आविष्कार किया। यह भी तो मानव की स्वतंत्रता की रक्षा को बताता है। सारा इतिहास स्वतंत्रता के चरम उत्कर्ष की कथा है।

परतंत्रता के दो रूप हैं : संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास। परतंत्रता क्या है? अनात्मा में आत्मा का अध्यास ही परतंत्रता है। 'मैं' के अन्दर मैं से इतर को मान लेना ही स्वरूपाध्यास है। आज से ७० वर्ष पूर्व मैं न जाने किस देश में पैदा हुआ, ७० वर्ष बाद मैं न जाने किस देश में जन्मूँगा। पर 'मैं' दोनों में रहा

और रहूँगा। जिस प्रकार अभिनय करने जाने से पूर्व देवदत्त था। अभिनय-मंच पर वह राजा हो गया। मंच से उतरने पर वह पुनः देवदत्त हो गया। वैसे ही 'मैं' जीवन में अलग-अलग अभिनय करता है। यह न तो स्त्री है न पुरुष, जिस-जिस शरीर को धारण करता है उसी का सा अभिनय करने लगता है। आधुनिक चिकित्सा ने भी पुरुष को स्त्री बना कर दिखा दिया है। इसी प्रकार शिखण्डी और इला का लिंग-परिवर्तन किया गया था। 'मैं' के अन्दर मैं से इतर का अध्यास स्वरूपाध्यास है। और अनात्मा में आत्मा का अध्यास संसर्गाध्यास है।

अनात्मा में आत्मा का अध्यास कैसे होता है ? शरीर आत्मा नहीं है। वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। शरीर में फोड़ा हो सकता है पर उसमें दुःख का अनुभव करने वाला 'मैं' है। वही शरीर अंत में जब सड़ गल जाता है तब कोई नहीं कहता कि बेचारा दुःखी हो रहा है। जैसा शरीर, वैसा ही मन है। बिना आत्मा के मन को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं। शरीर, मन आदि अनात्मा में आत्मा का अध्यास ही संसर्गाध्यास है। आत्मा में अनात्मा की और अनात्मा में आत्मा की दृष्टि हेय हैं। इन दोनों से निकलने पर जो बचता है, वह आत्मा है।

संसार में जिससे मिलो, उससे मिलने पर लगता है कि उसका कुछ खो गया है। उसे पता नहीं कि क्या खो गया है। पाकिस्तान से आने पर सरकार ने पूछा कि 'तुम्हारा वहाँ क्या-क्या खोया है?' लोग अपने सारे सामान को कैसे गिनायें ? बहुत कुछ भूल गये। खोई हुई चीज तुरंत याद नहीं आती। फिर हम तो अपने को हजारों वर्षों से भूले हुए हैं। जब आवश्यकता पड़ती है तब

खोई हुई चीज की याद आती है। वास्तव में जीव की स्वतंत्रता खो गई है। स्वतंत्रता ही ईश्वर है। खोये हुए की याद आती है। भूला-भटका जीव उसी स्वतंत्रता को ढूँढ रहा है। वह उसका ऐसा स्वरूप है कि प्रलय के बाद भी उसे नहीं भूल पाता। जब-जब उसकी झलक मिलती है, तब-तब समझता है कि मिल गया। जैसे किसी माता का पुत्र खो जाये तो उसके रूप की जहाँ समानता मिलती है, वहीं उसे अपना पुत्र दिखाई पड़ता है। ऐसे ही किसी व्यक्ति के अन्दर प्रेम की झलक मिली तो सोचता है कि कहीं वही न हो। पर कुछ दिन बाद फिर उसे चैन नहीं। कहीं चैन नहीं मिलता, राज्य-शासन का सूत्रधार बन जाये तो भी चैन नहीं मिलता। कारण यह है कि वह परमपुरुष मिला नहीं।

क्या कारण है कि विश्व में शान्ति का उपदेश देने पर अशांति बढ़ रही है? कारण यह है कि केवल उपदेश से कुछ नहीं होना है। ठण्ड आज लग रही है और कोई उपदेश करे कि 'नई योजना सफल होने पर सबको कपड़ा मिल जायेगा' तो इस उपदेश से उसकी ठण्ड कैसे मिटेगी ? इसी प्रकार मानव का दुःख दूर करने के लिये मार्ग बताने से क्या होगा ? अशान्ति का कारण आवश्यकताओं की वृद्धि है। अशान्ति को कम करने का मार्ग आवश्यकताओं को कम करना है। फ्रायड तथा मार्क्स का कहना है कि उदासी दुःख का कारण है। फ्रायड कहता है कि मन की बात पूरी न होने से अशान्ति होती है। मार्क्स कहता है कि शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से अशान्ति होती है। वेदांती कहता है कि देह और मन की आवश्यकता अशान्ति का कारण नहीं है। परमात्मा के ज्ञान के अभाव के कारण शान्ति की कमी

है। भूख परमात्मा की है, इसी कमी के कारण अन्दर से मनुष्य छटपटाता है तो बाहर उपद्रव मचाना शुरू कर देता है। व्यष्टि और समष्टि की एकता का अनुभव नहीं होने के कारण ही व्यक्ति दुःखी है। जो कहते हैं कि परमात्मा है ही नहीं, वे अपने आपको धोखा देते हैं। फ्रायड अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मनुष्य की नियति ही यह है कि वह दुःखी रहे! ख्रुश्चेव के अनुसार स्टालिन भी अन्त में स्वयं पर से विश्वास खो चुका था। कहता था 'अब मैं खुद पर भी भरोसा नहीं करता।' अतः ईश्वर न स्वीकारने की परिणति दुःख और अविश्वास में ही होती है। जीव-ईश्वर के अभेदनिश्चय से ही अज्ञान मिटकर स्वातन्त्र्य प्रकट होता है।

जीव परमात्मा का अन्वेषण करता है लेकिन सर्वत्र भ्रमण करते हुए भी उसे परमात्मप्राप्ति होती नहीं है। पुरुषसूक्त प्रारंभ में ही इसका निर्देश कर देता है कि वह कहाँ मिलेगा।

ॐ सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिँ सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।।'

सारे प्राणियों की समष्टि जिसका रूप है, ब्रह्माण्ड जिसका शरीर है उस विराट्-नामक पुरुष के सिर, ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ अनंत हैं क्योंकि सभी जीवों के सिर आदि उसके तो हैं ही, सब प्राणी उसी के अंतःपाती हैं। वह समष्टि पुरुष ब्रह्माण्ड को हर तरफ से घेर कर सब इंद्रियों से अगम्य बना ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्यापक हुआ मौजूद है। यह एक विलक्षण निर्देश है। अब तक सर्वत्र परमात्मा को ढूँढा, आनन्द और शिव की प्राप्ति के लिये रात दिन लगे रहे, लेकिन वह मिला नहीं। स्वभाव से जीव

सोचता है कि सम्भवतः परमात्मा इन सबसे अति दूर, अलग कहीं होगा। जैसे घर में सब जगह ढूँढ लेने पर भी जब चीज नहीं मिलती तो मनुष्य सोचता है कि वह अन्यत्र कहीं मिलेगी। अतएव संसार के जितने विचारक और वादी हैं वे सब परमात्मा को अतिदूर बताते हैं। कोई कहता है कि परमात्मा तीसरे आसमान में है, तो कोई उसे सातवें आसमान में बताता है। कोई कहता है कि यहाँ से करोड़ों योजन चलने के बाद परमात्मा कहीं वैकुण्ठ लोक में मिलेगा तो कोई उसे गो-लोक में बताता है। सामान्यतः क्योंकि जीव को परमात्मा यहाँ अब तक मिला नहीं है अतः वह सोचता है कि वहाँ मिल जायेगा। पर पुरुषसूक्त ने संक्षेप में उसे ढूँढने की विलक्षण प्रक्रिया बताई जिससे जहाँ कहीं भी किसी भी कण में और किसी भी क्षण में दृष्टि बदलने पर शिव ही नज़र आयेगा। किसी देश, अवस्था या परिस्थिति को बदलने से परमात्मा नहीं मिलेगा। उसे पाने के लिये केवल दृष्टि ही बदलनी पड़ेगी। वेद ने यहाँ एक विलक्षण रहस्य बताया।

शंका होगी कि फिर अब तक क्यों नहीं मिला? समाधान है कि ढूँढने के तरीके में गलती थी, इसलिये नहीं मिला । जिस प्रकार कोई आदमी चोरी करके भाग गया, तुम उसको ढूँढ रहे हो लेकिन वह कहीं नज़र नहीं आ रहा। आरक्षक (पुलिस) को बुला कर कहते हो कि चोर भाग गया उसे पकड़ो। उस दिन खूब पानी बरसा है, और गाँव का रास्ता कच्चा है। आरक्षक कहते हैं कि चोर मिल गया। तुम कहते हो 'दिखाओ, कहाँ है ?' वे पैर की छाप दिखाते हैं। तुम कहते हो 'मिट्टी को चोर बता रहे हो !' वे हँसकर कहते हैं कि 'बस, यही चोर को पकड़वा देगा।'

इसी प्रकार परमात्मा के गुम हो जाने से साधारण जीव तो पता लगाने से घबराता है, लेकिन विचारशील जानता है कि गुम वस्तु के पदचिह्न सर्वत्र हैं। परमात्मा का बड़ा सुन्दर नाम वेदों में 'लिंग' रखा है। यह सारा ब्रह्माण्ड परमात्मा का लिंग है। 'लिंग' का अर्थ होता है 'लीनमर्थं गमयति इति लिंगम्।' छिपी हुई चीज को जो बता दे, उसे लिंग कहते हैं। जैसे दूर से धुँआ दिखाई दिया, आग नहीं दिखाई दी। लेकिन धूमरूप लिंग से आग का ज्ञान हो गया। अतः कहा जाता है कि वहाँ पर आग है यहाँ ठंड में व्यर्थ परेशान हो रहे हैं। वहाँ चलेंगे तो गर्मी मिल जायेगी। कोई साथी पूछता है 'कैसे पता लगा कि वहाँ आग है। आग की लपट तो दिखाई नहीं दे रही है?' उत्तर मिलता है कि 'वहाँ धूम जो दीख रहा है।' धूम दीखने से क्या, धुआँ थोड़े ही गरम होता है, गरम तो आग होती है ? पर वहाँ जाने से पता लग जायेगा कि आग है। अतः धूम रूप लिंग से अनुमान हो गया कि वहाँ अग्नि है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण लिंग हैं। ठीक से देखो तो सारे कण शिव को बताने वाले हैं। गुम वस्तु के पदचिह्न कहीं एक जगह नहीं हैं, क्योंकि वह व्यापक वस्तु है। इसीलिये उसके पदचिह्न सर्वत्र हैं। लेकिन न वे चिह्न किसी एक दिशा की ओर जा रहे हैं, और न किसी एक दिशा से आ रहे हैं। वह सब देशों में जा रहे हैं, और सब देशों से आ रहे हैं। यही उसकी विलक्षणता है कि वह व्यापक है। आज तक उसे इसीलिये नहीं पकड़ पाये क्योंकि उसके पदचिह्न को नहीं समझ पाये। यदि समझते तो वह पकड़ में आ जाता। तुम उसको बिना समझे ढूँढ रहे थे। पदचिह्नों के द्वारा ही उसे ढूँढना होगा। इसीलिये शास्त्रों में सर्वत्र बताया है कि बिना

शिवलिंग के पूजन के शिव की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसका रहस्य यही है कि लिंग रूप ब्रह्माण्ड को जब तक उसके पदचिह्नरूप से नहीं समझेंगे तब तक शिव की प्राप्ति नहीं होगी। केनोपनिषद् में कहा 'प्रतिबोधविदितं मतम्' अर्थात् जहाँ व जब भी ज्ञान होता है, ब्रह्म का ही ज्ञान होता है। प्रत्येक ज्ञान में उसे पहचान कर प्रत्येक लिंग के द्वारा समझना है कि यह उसी का सूचक है। जिसने इस लिंग की पूजा की उसने अमरता प्राप्त कर ली।

पुरुषसूक्त को जब मनुष्य समझता है तो उसे एक विलक्षण अनुभव होता है। ऐसा लगता है कि आज तक परमात्मा को जिधर ढूँढने जाता था, उधर दरवाजे बन्द ही मिलते थे। जिस चीज में हमने आनंद को ढूँढा वह चीज आनंद की झलक दिखाकर दरवाजे बन्द कर देती थी। पास जाओ तो आनंद नदारद! लगता था कि कौन सा ऐसा दरवाजा है जिसके द्वारा जाने पर वह आनंद मिलेगा। जब पुरुषसूक्त को समझा तो सर्वत्र आनंद के दरवाजे खुल गये। प्रत्येक ज्ञान में उसके आनंद की झलक आने लगी। नतीजा यह हुआ कि जहाँ एक द्वार मुश्किल से मिलता था, वहाँ अब अनंत द्वार खुल गये! कहीं दरवाजा बन्द ही नहीं है। कहीं से भी प्रवेश करो, कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। एक भी ऐसा दरवाजा नहीं जो प्रवेश का निषेध करे। यदि कभी समस्या आती है तो यही कि जायें तो किस दरवाजे से जायें । जैसे परीक्षा में बेवकूफ और बुद्धिमान् विद्यार्थी दोनों की अपनी-अपनी कठिनाइयाँ हैं। यदि प्रश्नपत्र में आया कि 'निम्नलिखित प्रश्न हल करिये', तो बेवकूफ विद्यार्थी के हाथ-पैर ठण्डे पड़ जाते हैं। सोचता है कि हाय ! जो दो अध्याय नहीं पढ़े उनमें से ही प्रश्न आ गये ! बाहर

आकर गाली देता है कि इस प्रश्नपत्र में विकल्प तो था ही नहीं। यह बेवकूफ का दुःख है। बुद्धिमान् विद्यार्थी को तब दुःख होता है जब प्रश्नपत्र में मिलता है 'निम्नलिखित २५ प्रश्नों में से कोई १५ हल करिये'। वह सोचता है किसे चुने क्योंकि उसे तो पच्चीसों आते हैं। बेचारे को दस-पाँच मिनट इसी में लग जाते हैं कि इनमें से कौन से प्रश्न ज्यादा ठीक से आ रहे हैं। इस विकल्प से बुद्धिमान् दुःखी होता है। यदि विकल्प नहीं होता तो बेवकूफ दुःखी होता है। जहाँ पुरुषसूक्त को समझा, वहाँ विकल्प ही विकल्प नजर आते हैं। उन अनंत दरवाजों में से किसी एक में प्रवेश कर जाओ, वहाँ सिवाय परमात्मा के और कुछ मिलने वाला नहीं है। पुरुषसूक्त परमात्मा को जर्रे-जर्रे में व्याप्त बताता है। प्रत्येक अनेकता में एकतारूप से छिपा हुआ बताता है। सीधी-सी बात है : यहाँ दो सौ व्यक्ति बैठे हैं। लोग यही कहेंगे कि यहाँ दो सौ बैठे हैं। हम कहेंगे कि यहाँ दो सौ भी बैठे हैं, एक सौ निन्यानबे, एक सौ अट्ठानबे भी बैठे हैं और—यदि सच्ची और ईमानदारी की बात पूछो तो—यहाँ एक-एक व्यक्ति बैठें हैं ! 'दो सौ व्यक्ति बैठे हैं' मतलब यह नहीं कि एक-एक व्यक्ति अपने को नष्ट करके दो सौ बैठे हुए हों। अनेकता में एकता सदा ही अनुस्यूत रहती है। इसी प्रकार विश्व की अनेकता में एकता हर पदार्थ में बैठी हुई है। तुम अनेकता को देखते हुए एकता को भूल जाते हो। 'दो सौ आदमी बैठे हैं' यह देखते हुए 'एक बैठा हुआ है', इसे भूल जाते हो। अनेकता में एकता की अनुस्यूतता है। इसीलिये संसार में एक का पहाड़ा कभी याद नहीं करना पड़ता, किसी संख्या को एक से गुणा करो तो वही संख्या जवाब है क्योंकि एक तो सबमें

एक जैसा रहने वाला है, उसमें परिवर्तन होने वाला नहीं है। एक से गुणन करने पर संख्या वैसी की वैसी बनी रहती है क्योंकि एक उसमें पहले से अनुस्यूत है। यही अनेकता में छिपी एकता को दिखाना पुरुषसूक्त की विशेषता है।

यदि इस एक को तुमने उठाया तो अनेक अपने आप उठ जायेंगे। जो चीज अनुस्यूत होती है, सबमें मौजूद होती है उसे उठायेंगे तो बाकी अपने आप उठ जायेंगे। इस लिये एक को उठाया तो बाकी सारे अपने आप उठ आयेंगे। हम अनेकता को उठाने के चक्कर में हमेशा किसी को भी नहीं उठा पाते ! हिन्दी भाषा में किसी कवि ने कहा है—

'एकै साधै सब सधै सब साधै सब जाये।

काम बिगाड़े आपनो जग में होत हँसाय।'

प्रश्न है कि वह कौन-सा 'एक' है जिसके साधे से सब सधे। परमात्मा सर्वत्र अनुस्यूत एक है, यदि उसे साध लिया तो सारी अनंतता तुम्हारे हाथ में आ जायेगी। उनको अलग-अलग साधने से सब जायेगा, आनंद की प्राप्ति नहीं होगी। इस संसार में विचित्र परिस्थिति है : हर आदमी दूसरे पर हँसता है, यह भूलकर कि दूसरा उस पर हँस रहा है ! हर आदमी दूसरे को उपदेश देता है लेकिन उसी उपदेश का स्वयं क्षणमात्र को पालन नहीं कर पाता। एक की सिद्धि नहीं होने के कारण हँसी का पात्र बन जाता है। जब एक को साध लेता है तब सब उसके पीछे आ जाते हैं, सारी चीज़ें उसके अन्दर स्वतः सिद्ध होने लग जाती हैं, स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। इसलिये शिवसंकल्पसूक्त के बाद पुरुषसूक्त में

परमात्मा की अनंतता को, इस समग्र समाज-रचना के निर्माण को बताकर श्रुति यह समझा रही है कि वस्तुतः जब तुमने एक को साध लिया तब सब अपने आप सधेगा।

शंका रह जाती है कि फिर यह असाध्य कैसे बन गया? वास्तव में यह असाध्य बना नहीं है। यह बात अभी आगे धीरे-धीरे सिद्ध होगी। लक्ष्य का निर्देश इसलिये करते हैं कि यदि पता है कि रास्ता कहाँ जाता है तो रास्ता भूलता नहीं है। जैसे यहाँ से, संन्यासाश्रम से सुन्दर नगर जाना है, ड्राइवर चाहे जिधर घुमा ले, लेकिन तुम्हें पता है कि दक्षिण जाना है तो वहीं पहुँच जाओगे। यदि यह भूल गये तो पता नहीं लगेगा कि सही तरफ जा रहे हो या नहीं। आचार्य कहते हैं कि जो यह कह रहा है कि वह बद्ध हो गया है, ढूँढ कर खुद को खोज नहीं पा रहा है, वह कौन है? आत्मा कैसा है? वस्तुतः यह केवल ज्ञानात्मक प्रकाशस्वरूप है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान ही है। उस ज्ञान में खण्ड नहीं हो सकते जैसे समुद्र की लहरों के द्वारा समुद्र के टुकड़े नहीं हो जाते हैं। दीखता है कि समुद्र के इधर अलग हिस्सा है और उधर अलग हिस्सा है, लेकिन सचमुच समुद्र के टुकड़े नहीं होते। यह सामान्य दृष्टांत है। दूसरा शास्त्रीय दृष्टांत ले लो : हमने एक फूल देखा। एक ही फूल में हमें लाल रंग, गुलाबी खुशबू, कोमल स्पर्श, मधुर स्वाद, आदि अलग-अलग चीजें दीख रही हैं। क्या वहाँ कई चीज़ें हैं? चीज़ तो एक गुलाब ही है। जिस-जिस इन्द्रिय से उसको विषय किया, उस-उस इन्द्रिय से उसका अलग-अलग ज्ञान हुआ। अलग-अलग ज्ञान होने से कई फूल नहीं हो गये। वैसे ही लहरों के पैदा हो जाने से समुद्र कई नहीं हो गये। इसी प्रकार संसार

के अनेक ज्ञानों के होने से *ज्ञान* अनेक नहीं हो गये। इसलिये कहा कि उसमें टुकड़े नहीं हैं। फिर वे सारी लहरें कहाँ हैं ? समग्र लहरों के उठने की शक्ति समुद्र में निहित है। गंध, स्पर्श, रूप, रस, मिठास, गुलाबी खुश्बू, लाल रंग, आदि ये सारी चीज़ें फूल अपने में रख कर बैठा है। लेकिन प्रकट तब करेगा जब ग्राहक आयेगा। आँख वाला आयेगा तो उसके सामने फूल अपने रंग को उघाड़ देगा। अंधे के सामने वह क्या अपने रूप को उघाड़ेगा? अथवा जुकाम वालों के सामने वह क्या अपनी गंध को उघाड़ेगा! वे कहेंगे कि 'खुश्बू नहीं आ रही है।' जिसकी जीभ इन्द्रिय काम नहीं करती, उसके सामने वह अपना रस क्यों उघाड़ेगा ? किसी समय आदमी को स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। एक दवाई लगा देते हैं तो आदमी को पता नहीं लगता कि किसी चीज़ का स्पर्श क्या है। शल्यक्रिया आदि के समय यदि स्पर्श का पता लगे तो वह चिल्लाने ही लग जाये। उस स्थिति में फूल पर हाथ फेरकर भी वह उसका स्पर्श नहीं जानेगा। फूल तो सब चीज़ों को अपने अन्दर रोके बैठा है। आँख वाले के सामने जाने से रूप *पैदा* नहीं होता, लेकिन फूल रूप को उघाड़ेगा तब जब आँख वाला ग्राहक आयेगा। इसी प्रकार उस निरवयव संवित् शक्ति के पास जिस भाव को, वासना को लेकर जाओगे, वही वहाँ उघड़ जायेगा। वास्तव में वह एक ही है।

चूँकि वह अनंत शक्ति वाली है, उसमें एक शक्ति उसकी यह भी है कि वह अपने आप को ढाँक ले! एक बार राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद बनारस पहुँचे। राष्ट्रपति भारत का सबसे बड़ा आदमी है। उनका कार्यक्रम निश्चित करने वाले आजकल के लोग

थे। आजकल तीन तरह के लोग होते हैं—बेपढ़े-लिखे, पढ़े-लिखे, और पढ़-लिखकर बेपढ़े लिखे। एक गाँव में रहने वाले हैं, उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता, इतना ही है। दूसरे वे जिन्हें पता है कि याज्ञवल्क्य, जनक, कश्यप कौन थे, काशी किसने बसाई आदि, सब बातें वे जानते हैं। तीसरे, पढ़-लिखकर बे पढ़े लिखे, जिन्हें यह पता है कि आर्थर किंग, हेनरी सप्तम ने क्या किया, द्वितीय नेपोलियन, लुई चतुर्थ ने क्या किया, आदि यह सब जानते हैं, इसलिये पढ़े लिखे हैं। लेकिन उनसे पूछो, दिल्ली किसने बसाई? तो उन्हें ही पता नहीं अथवा पूछो कि गृत्समद् महर्षि ने कौन सी ऋचा लिखी? तो कहते हैं 'इनका तो नाम ही नहीं सुना'। हमारे पास एक पी. एच. डी. पढ़े-लिखे सज्जन आये, समाज विज्ञान में उन्होंने डाक्ट्रेट कर रखी थी। कहा 'एक जिज्ञासा है।' हमने समझा कि कोई कठिन बात पूछेंगे। उन्होंने पूछा 'गीता किसने लिखी थी ? विदेश में जाते हैं तो लोग पूछते हैं।' ये पढ़-लिखकर बे-पढ़े लिखे हैं। ऑथेलो के लेखक का उन्हें पता है, कुमारसंभव के लेखक का पता नहीं। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद का कार्यक्रम बनाने वाले भी ऐसे ही लोग थे। राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा कि 'काशी विश्वनाथ के दर्शन करने जाना है।' उन लोगों ने कार्यक्रम लिख लिया। विश्वनाथ के दर्शन का क्रम है कि विश्वनाथ, अन्नपूर्णा और ढुंढिराज के दर्शन किये जाते हैं। राजेन्द्र बाबू ने कहा था इसलिये उन लोगों ने कार्यक्रम तो बना दिया लेकिन उन्हें यह क्रम पता नहीं था। जब वे विश्वनाथ का दर्शन करके अन्नपूर्णा के दर्शन के लिये जाने लगे तब उनके ए. डी. सी. ने रोका 'इधर से वापिस जाना है क्योंकि सुरक्षा-व्यवस्था

उधर नहीं है।' दो-चार ने कहा भी कि दर्शन कर लेने दो, लेकिन बाकियों ने इन्कार किया तो दर्शन नहीं किये। राजेन्द्र प्रसाद भारत का राष्ट्रपति बना हुआ भी अपनी महिमा को छिपाये हुए है। उसका तेज पूर्ण है। चाहे तो सब ए. डी. सीज़ को निकाल बाहर करे ! लेकिन अपने उस तेज को छिपाकर रखना पड़ा । इसलिये जाने की इच्छा होने पर भी पच्चीस कदम आगे नहीं जा सके। इसी प्रकार इस सर्वज्ञ सर्वशक्तिसंपन्न परब्रह्म परमात्मा की भी अपने आप को ढाँकने की सामर्थ्य है।

आत्मा का स्वभाव ज्योति अर्थात् ज्ञान है। सूर्य पर बादल आये हैं। तो भी बादलों के किनारों से रोशनी निकलती है, ढाँकने से भी प्रकाश नहीं ढकता है। यदि बादलों से ढकी रोशनी को भी देख लिया तो वह सूर्य का लिंग हो गया। जब समझ लिया कि यह सूर्य का प्रकाश है तब सूर्य को जान ही लिया। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान के अन्दर आनवृत रूप से वह तुम्हारे सामने आ रहा है तो प्रतिबोधविदित हो रहा है। कोई नया ज्ञान नहीं लाना है, जो है उसी को पहचानना है। आँख के सामने वह मौजूद है, लेकिन लिंग का ज्ञान न होने से पहचान नहीं पा रहा है। घटज्ञान, पटज्ञान में ज्ञानरूप लिंग को समझ लिया तो वही ब्रह्मस्थिति का कारण बन गया। यदि घटज्ञान, पटज्ञान में ज्ञान नहीं पहचान पाये तो ब्रह्मस्थिति नहीं होगी। उस प्रकाश को पहचानने से ही मोक्ष है।

'पुरुष एवेदं सर्वं
यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उताऽमृतत्वस्येशानो
यदन्नेनाऽतिरोहति।।'

सारा वर्तमान जगत् वह पुरुष ही है। वर्तमान ही नहीं भूत-भावी भी वही है। यही अमरता का मालिक है, यही स्वतंत्रतापूर्वक कारणभाव से कार्यभाव में आता है ताकि प्राणी भोग पायें। क्योंकि सारा जगत् वही है इसलिये किसी नाम-रूप में भेद-भाव की जरूरत नहीं।

उसके प्रकटन की विधियाँ अनंत हैं। इसीलिये दूसरे मंत्र में बताया 'यद् भूतं यच्च भव्यं' चाहे भविष्य, चाहे भूत को लेकर कहीं से पकड़ो, कोई फर्क नहीं पड़ता। 'किसको पकड़ते हो' यह जरूरी है, 'कहाँ से पकड़ते हो', यह जरूरी नहीं है। बचपन में चोर-चोर का खेल खेला होगा। उसमें एक चोर बनता है और दूसरा उसे ढूँढता है। जब एक चोर बनकर दूसरे को छू लेता है तब वह चोर बन जाता है। बाल पैर कहीं से छू ले, इसका फर्क नहीं पड़ता, *किसे* छुआ इससे फर्क पड़ता है। इसी प्रकार परमात्मा को तुमने घट-पट के द्वारा पकड़ा या हीरे-पन्ने के द्वारा पकड़ा इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यदि घट-पट को पकड़ा तो बन्धन है। यदि इसी ज्ञान को पकड़ा तो मोक्ष है। इस प्रकटन की अनंत विधियाँ क्यों हैं ? इस परमात्मा का विचित्र स्वभाव है। जो अपना स्वभाव होता है, वह जाता नहीं। परमात्मा का स्वभाव चित्राकार है, हर क्षण विचित्र आकारों को लेते जाना ही उसका स्वभाव है। भगवान् गौडपाद कहते हैं 'देवस्यैष स्वभावोऽयं' यह उस परब्रह्म परमात्मदेव, महादेव का स्वभाव है । कोई पूछे कि रस्सी साँप, भूछिद्र, माला रूप से क्यों दीखती है? तो यही जवाब होगा कि यह रस्सी का स्वभाव है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मतत्त्व का अनंत सृष्टियों, अनंत रूपों से भासित होते रहना

स्वभाव है। अनंत चित्रों के आकारों में प्रकट होते रहना उस परम चित्राकार का स्वभाव है। आगे चित्र का वर्णन करना ही है। जैसे कोई कहे कि 'हमें दिल्ली दिखाओ।' तुम उसे लेकर चलते हो। उसे चांदनी चौक, कनाट प्लेस, हुमायूँ का मकबरा, पुराना किला, संसद भवन दिखाकर कहो कि 'दिल्ली दिखा दी।' वह कहे 'दिल्ली तो दिखाई नहीं।' अब उसे दिल्ली कहाँ से लाकर दिखाओगे? इसी प्रकार आगे जब समाज का विस्तृत वर्णन आये तब हो सकता है कि भूल जाओ कि ब्रह्म का वर्णन श्रुति ने किया। पृथ्वी, पशुओं आदि का नाम आयेगा। वहाँ वर्णन करते समय यह नहीं कहना कि 'बताना तो आत्मा को था, ये सब क्यों बता दिया ?' उन सब के अन्दर वही प्रतिभात होगा। इस भूल की सम्भावना होने के कारण पहले ही कह दिया कि सारे स्थल दिखा दिये तो दिल्ली दिखा दी। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पद को यदि हमने परमात्मपदचिह्न रूप से बता दिया तो परमात्मा को बता दिया। यदि ये बिंब सच्चे होते तब तो कोई अंतर पड़ भी सकता था लेकिन हैं ये सब उस पर समानरूप से कल्पित। यह तीसरे मंत्र में कहा—

'एतावानस्य महिमा-
ऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।।'

भूत-वर्तमान-भावी सारा जगत् उस पुरुष की महिमा ही है,

उसकी खास सामर्थ्य ही है, उसका वास्तविक स्वरूप यह नहीं है। वास्तव में तो वह इस जगद्रूप महिमा से बहुत अधिक है। संसार तो मानो उसका चौथाई हिस्सा है! बाकी तीन हिस्से तो इससे अतीत स्वप्रकाशरूप से ही विद्यमान हैं। इसलिये कह दिया कि परमात्मा का स्वभाव विचित्र आकारों को ग्रहण करने का है। चलचित्र या नाटक में कोई गुण्डा बनता है, उसे खलनायक कहते हैं। थोड़े दिनों बाद यदि वह कहे कि 'मुझे खलनायक न बनकर सद्नायक बना लो' तो निर्देशक कहता है कि 'अब तुम्हारा बिम्ब इस काम का नहीं रहा क्योंकि लोग आशा करते हैं कि वह व्यक्ति खलनायक का ही काम करे।' व्यक्ति के हृदय में ऐसा बिम्ब बन जाता है क्योंकि वह चरित्र उसे पसंद आ गया। पुरुषसूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास सबका अभिनय आयेगा, द्विपाद्, चतुष्पाद् आदि सब का वर्णन इसमें आना है, यहाँ तक कि व्रीहि और यव का भी अभिनय बतायेंगे! इनमें से जो बिम्ब तुम्हें पसंद आ जाये उसी बिम्ब के द्वारा तुमको परमात्मा में प्रवेश कर जाना है। धोखे में नहीं रहना कि ये सब पार्ट हम ही अदा करें! जो पार्ट तुम्हें दे दिया, उसे अदा करना है। जो बिम्ब तुम्हारे हृदय में स्थित हुआ है, उसी के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होगी।

सबके बिम्ब एक जैसे नहीं होंगे। बिम्ब की गड़बड़ी में बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। एक चमार था। काशी में करवत का मन्दिर है। मन्दिर तो अब भी है, लेकिन पहले उसके बारे में लौकिक प्रसिद्धि थी कि वहाँ जाकर यदि आदमी आत्महत्या करे तो उसकी इच्छा पूरी हो जाती है। उस चमार ने सुना तो उसने भी अपनी

इच्छा पूरी करनी चाही। पण्डों ने उससे कहा कि 'तू चमार जाति का है, पहले संकल्प कर कि अपनी कौन-सी इच्छा पूरी करना चाहता है। संकल्प किये बिना इच्छा पूरी नहीं होती।' पहले उसने सोचा कि 'ब्राह्मण बनना चाहता हूँ। लोग पण्डों की पूजा करते हैं, बढ़िया माल खाने को मिलेगा।' यह पुराने जमाने की बात थी, आजकल पण्डितों को खिलाना मुश्किल है। फिर सोचा कि 'यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रातः चार बजे उठना पड़ेगा, ठाकुर जी की पूजा, व्रत, वेद-पाठ आदि करना पड़ेगा। बचपन से ही पढ़ना पड़ेगा, पढ़ाई याद नहीं करो तो अध्यापक के थप्पड़ पड़ेंगे। गर्मी में भी निर्जला एकादशी का व्रत रखना पड़ेगा। इसमें महान् दुःख है। इससे बढ़िया तो राजा बनना है। मैं राजा ही बनूँगा। लोग सलामी देंगे, 'घणी खम्मा अन्नदाता' कहेंगे, क्षत्रिय ही बना जाये।' फिर उसने विचार किया कि 'कहीं लड़ाई छिड़ गई तो अपने को भी लड़ाई में जाना पड़ेगा, कहीं तलवार अपनी ही गर्दन पर आ गई तो ! न बाबा, इसमें तो जान पर ही खतरा है। यह भी नहीं बनना है। तो सेठ बना जाये। न सवेरे उठना, न लिखना-पढ़ना और न क्षत्रियों की तरह लड़ाई में जाना, आराम से गद्दी पर बैठो और तोंद फुलाये जाओ। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी 'सेठ जी ' कहते हैं। इसमें किसी तरह का डर नहीं है। इसलिये सेठ बनकर आनंद से जीवन बिताऊँगा।' फिर सोचा 'लेकिन गाँव के एक सेठ जी का दिवाला पिट गया था, रात भर हिसाब ही देखते रहो, नींद भी हराम होती है। यह भी महान् टण्टे का काम है। इसलिये सेठ बनना भी ठीक नहीं। सबसे बढ़िया तो अपना चमार का काम है, न प्रातः उठो, न लड़ाई का कोई डर, बस चार जूते गाँठो और

जो मर्जी सो करो।' पण्डों से कहा तो उन्होंने भगा दिया और कहा कि जो है वही बनने के लिये करवत की क्या जरूरत। उसके हृदय में चमार का बिम्ब बैठा है तो क्या करोगे? बिम्ब का परिवर्तन करना वेद नहीं बताता। तुम्हारे अन्दर जो बिम्ब बैठा है चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या चमार का, उसी के द्वारा परमात्मा को देखना है। अनेक बिम्बों के चक्कर में मत आना। जो बिम्ब तुम्हारे काम का है, उसी के अनुसार चलोगे तो उसके द्वारा ही परमात्म-प्राप्ति हो जायेगी। क्योंकि बिम्ब तो उपायमात्र है, उपेय उससे अतीत है। यह चौथे मंत्र में कहा–

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः
पादोऽस्येहाऽभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्
साशनाऽनशने अभि।।'

पुरुष के तीन हिस्से अर्थात् अधिकतरांश तो संसार के स्पर्श से रहित ही हैं, संसार की विशेषताओं से अस्पृष्ट हैं। माया से सृष्टि में बारम्बार घूमने वाला तो उसका एक छोटा-सा अंश ही है। जड-चेतन रूपों में वही अंश उपलब्ध होता है। उपलब्ध होकर वह उस अतीतांश को ग्रहण कराने का उपाय बन जाता है। यहाँ 'अंश' उसी दृष्टि से समझना जैसे दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब को बिम्ब का अंश कहते हैं। इस प्रकार क्योंकि नाम-रूपात्मक उपाय पारमार्थिक नहीं है इसलिये इनके तारतम्य की चिन्ता व्यर्थ है, चाहे जिसके द्वारा बन सके, समझना उस प्रतिबोधविदित परिपूर्ण को ही है।

प्रवचन-२

पुरुषसूक्त के पाँचवे मंत्र का विचार आरंभ कर रहे हैं। मूल मंत्र है

'ततो विराड् अजायत
विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत
पश्चाद् भूमिमथो पुरः।।'

प्रथम चार मंत्रों के द्वारा जो सृष्टि-प्रक्रिया प्रारंभ की गई, उस सृष्टि प्रक्रिया के द्वारा ही समष्टि के निरूपण के माध्यम से बता रहे थे कि व्यष्टि और समष्टि का आपस में क्या सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहें तो ईश्वर के प्रति जीव का क्या कर्तव्य है। क्योंकि वेदांत शास्त्र में समष्टि का नाम ही ईश्वर है। दार्शनिक भाषा में व्यष्टि का समष्टि के प्रति कर्तव्य, उसी को लौकिक भाषा में कहो तो व्यक्ति का समाज के प्रति कर्तव्य और वेदांत की भाषा में जीव का ईश्वर के प्रति कर्तव्य कहते हैं। ये सब बातें एक ही हैं। लेकिन इन तीनों की दृष्टि में फर्क है। तीनों एक बात होने पर भी दृष्टिभेद से वेदांत जब कहता है 'जीव का ईश्वर के प्रति कर्तव्य' तब एक ऐसी भाव-सृष्टि को सामने रखता है जो 'व्यक्ति के समाज के प्रति कर्तव्य' कहने में नहीं आती। व्यवहार में भाव एक बड़ी प्रधान चीज़ है। अर्थ एक होने पर भी दूसरे शब्द का प्रयोग करने से भावपरिवर्तन हो जाता है।

कबीरदास जी प्रयोगकर्त्ता संत थे। एक बार उन्होंने एक प्रयोग किया। वे रास्ते में जा रहे थे, एक औरत खड़ी थी। उससे कहा—'माता जी, जरा एक तरफ हो जाओ।' वह औरत झट से हट गई और कहा 'चले जाओ।' पाँच-सात दिन बाद फिर वही औरत रास्ते में खड़ी थी। उस दिन कबीर ने कहा—'ओ हमार बाप का महरारू ! उधर हो जा।' यह सुनते ही वह औरत गाली बकने लगी, कहने लगी कि 'यह झाड़ू मार दूँगी, क्या बकता है!' कहने लगे 'यही बात कही थी पाँच-सात दिन पहले, उसे सुनकर तू प्रसन्न हो गयी थी। माता बाप की महरारू ही होती है।' लेकिन 'माता जी' कहने से जो भावसाम्राज्य सामने आता है, 'बाप की पत्नी' कहने से वह बिल्कुल बदल जाता है। इसी प्रकार 'व्यक्ति का समाज के प्रति कर्तव्य' कहने में वह भावसाम्राज्य नहीं बन पाता जो जीव का ईश्वर के प्रति कहने से बनता है। इसका भी प्रयोग करके देख लो। आदमी मन्दिर बनाता है। खुद पूजा करने के लिये तो अपने घर में ही मूर्ति रख लेगा। मन्दिर इसलिये बनाता है कि जितनी आस-पास की जनता है वह भगवान् के विग्रह का दर्शन करके आनन्द ले। यही उसका उद्देश्य है। मन्दिर बनाने वाला व्यक्ति तबियत से अपनी कमाई को खर्च करके मन्दिर बनाता है। बनाता समाज के लिये है लेकिन उसके हृदय में भावना है कि ईश्वर के लिये बना रहा हूँ। वही व्यक्ति सरकार से ठेका ले कर रिजर्व बैंक की बिल्डिंग बनाता है और उसमें कम से कम सीमेण्ट डालकर, ज्यादा से ज्यादा बालू दे कर जितना कमजोर बना सकता है बनाता है। लोग कहते हैं—'समाज के लिये बना रहा है' तो वही कहता है 'होगा कोई समाज, मैं तो इस ठेके में

से पचास हजार कमाने के लिये बना रहा हूँ।' कितना भी प्रचार किये जाओ कि 'समाज के लिये कार्य करो' कोई करने वाला नहीं है क्योंकि समाज के लिये कार्य करने में भावराज्य नहीं बन पाता है। जो व्यक्ति अपनी गाढ़ी कमाई को खर्च कर मन्दिर बनाते हुए अधिक से अधिक खर्च कर देगा, लेकिन उसी व्यक्ति से समाज के नाम पर जब कार्य करवाया जायेगा तब उसी में से अपने लिये रुपया बनायेगा। इसी का नाम भावराज्य है। जो भावराज्य को नहीं समझ पाता, वह धोखा खाता है। 'जीव का ईश्वर के प्रति कर्तव्य' यह जो वेदांत की भावराज्य की अभिव्यक्ति है, वह 'व्यक्ति के समाज के प्रति कर्तव्य' में नहीं है। कर्तव्य का रूप तो एक ही है।

व्यक्ति का समाज के प्रति या जीव का ईश्वर के प्रति जो कर्तव्य है, उसका निरूपण इस सूक्त में किया। निरूपण में पहले सिद्धान्त-प्रतिपादन चार मंत्रों में हुआ। नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है, उसी के प्रति उसकी अन्तिम गति होती है। वृष्टि होती है, पानी ऊँचा जाकर बरसता है। हिमालय की चोटी के ऊपर जाकर भी बादल बरसता है। चाहे ऊँची चोटी पर ऊँची जगह जाकर पानी बरसे लेकिन बरस कर नीचे जाता है, क्योंकि पानी समुद्र से आया है। जहाँ से आया है, वहीं को बहेगा। मिट्टी के ढेले को उठाकर ऊपर फेंको तो पृथ्वी की तरफ आयेगा। अब दोनों में फर्क समझो। पानी समुद्र की ओर जाता है और ढेला पृथ्वी की तरफ जाता है, समुद्र की तरफ नहीं। पानी यहाँ डालो तो धीरे-धीरे समुद्र की तरफ बहकर जायेगा। ढेला यहीं पड़ा रहेगा। पृथ्वी से पैदा हुआ पृथ्वी की तरफ और जल से पैदा हुआ

जल की तरफ जाता है। कहोगे कि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त है, इसलिये नीचे ही आता होगा। कारण की तरफ जाता है, ऐसा क्यों मानें ? उसका जवाब समझो : आग जलाओ, दीपक, मोमबत्ती जला कर देख लो। दीपक की लपट नीचे की तरफ नहीं जायेगी। यह नियम नहीं कि हर चीज नीचे की तरफ ही जाती हो! कोई चीज़ ऊपर की तरफ भी जाती है। दीपक की लपट ऊपर की तरफ क्यों जाती है? क्योंकि जितनी भी अग्नि, तेजोराशि है, वह सब सूर्य से आई है, सूर्य ऊपर है इसलिये दीपक की लपट ऊपर की तरफ जाती है। नियम यह हुआ कि जो चीज़ जहाँ से पैदा होती है वह चीज़ वहीं को जायेगी। इसी प्रकार जीव ईश्वर से पैदा हुआ है, इसलिये जीव भी हमेशा ईश्वर की तरफ ही जायेगा। पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम इसलिये जीव और जगत् की उत्पत्ति ईश्वर से बताई जिससे हमको यह याद रहे कि हम किधर को जायेंगे।

अब उसका विस्तार आगे बताना है। उस विस्तार को बताते हुए पाँचवाँ मंत्र कहता है 'ततः विराट् अजायत।' तत् नाम परामात्मा का है। गीता भी कहती है 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' ॐ तत्, सत् ये ब्रह्म के नाम हैं। तत् रूप परमात्मा से विराट् की उत्पत्ति हुई। 'विविधानि राजन्ते वस्तूनि अत्र इति विराट्' विराट् शब्द का निरूपण करते हुए भगवान् सायण कहते हैं कि विविध भिन्नतायें जहाँ प्रकाशित होती हैं, विराजती हैं अर्थात् जहाँ अनंत वस्तुएँ रहती हैं, जहाँ अनंत ब्रह्माण्ड रहते हैं, जहाँ ये अनंत ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं, वही विराट् है। ब्रह्माण्डरूप देह विराट् है। इस ब्रह्माण्ड में ही सारा संसार प्रतीत होता है। उस परब्रह्म परमात्मा से ही यह ब्रह्माण्ड देह उत्पन्न हुआ

है।

ब्रह्माण्ड देह-उत्पन्न करके उस परमात्मा ने क्या किया? 'विराजः अधिपूरुषः' उस विराट् देह के अंदर पुरुष अर्थात् जीव रूप से वह प्रवेश कर गया। यह आदि जीव ब्रह्मा है। पहले ब्रह्माण्ड देह बना, फिर उस देह का अभिमानी बनकर वह उसमें प्रवेश कर गया। यह सामान्य जीव का प्रवेश नहीं बल्कि यह ब्रह्मा का प्रवेश है। सारे ब्रह्माण्ड देह के अन्दर जिसका अभिमान है, ऐसा वह आदि जीव है जिसे मनु ने कहा 'स वै शरीरी प्रथमः'। लेकिन यहाँ 'अधि' शब्द का प्रयोग करके बताया कि वह इसका मालिक बनकर प्रविष्ट हुआ। आगे सामान्य जीवों का प्रवेश भी बतायेंगे। ब्रह्मारूप से ब्रह्माण्ड-देह में प्रवेश किया तो मालिक बनकर ही किया। विराट् शरीर का शासक बनकर उस परब्रह्म परमात्मा ने प्रवेश किया।

'स जातः' इस प्रकार उत्पन्न होने पर उसने 'अत्यरिच्यत' अपने आपको अनेक देव, मनुष्य तिर्यक् आदि रूपों में बाँट दिया अर्थात् देव आदि रूपों में अतिरिक्त कर लिया। ब्रह्मा, आदि जीव को इस बात का पता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन आगे जो देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि उत्पन्न किये, वे अतिरिक्त हो गये, उन्हें पता नहीं कि हम कौन हैं। यह बहुत बड़ा फर्क आ गया। इसलिये कहा 'अत्यरिच्यत' अपने से अतिरिक्त कर लिया। वैसे 'अतिरिक्त' शब्द बड़ा विचित्र है। रिक्त का प्रसिद्ध अर्थ 'खाली' होता है। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में ऐसा प्रयोग होता है। अति-रिक्त का अर्थ हुआ जो बिल्कुल खाली हो गया हो। कहाँ तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा, और कहाँ हम

जीव, उसके सामने रिक्त ही समझो। वह भूत, भविष्य और वर्तमान सब कण-कण और क्षण-क्षण को जानने वाला और हमें यही पता नहीं कि अपने पेट में क्या खराबी है, डाक्टर से पूछते हैं कि पेट में क्या खराबी है, इतनी अल्पज्ञता है। इसलिये यह अतिरिक्त, बिल्कुल खाली ही तो है। आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र एक जगह भगवान् शंकर से कहते हैं कि आपने हमें बड़ा धोखा दे रखा है।

'भुंक्षे गुप्तं बत सुखनिधिं तात साधारणं त्वं
भिक्षावृत्तिं परमभिनयन् मायया मां विभज्य।
मर्यादायाः सकलजगतां नायकः स्थापकस्त्वं
युक्तं किं तद् वद विभजनं योजय स्वात्मना माम्।।'

उस एक परब्रह्म परमात्मा के ही जीव और ईश्वर दोनों रूप हैं। इसलिये अपने दोनों हैं तो भाई-भाई। वेद ने 'सखा' कह दिया है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'; मित्र और भाई एक ही बात है। इसलिये एक ही माँ-बाप से उत्पन्न होने वाले हम-तुम दोनों भाई या मित्र हैं। यह ठीक है कि आप बड़े और मैं छोटा हूँ। लेकिन बड़े होने का मतलब यह तो नहीं कि आप सारा माल दबा रखो! आपने सारा आनन्दाब्धि दबा रखा है और जो फालतू माल संसार के पदार्थ हैं, उनको हमें दे रखा है। संसार के पदार्थ तो भगवान् शंकर अपने पास रखते नहीं। उनका जीवन तो जानते ही हो 'श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर! पिशाचाः सहचराः। चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः'। संसार की कोई चीज़ तो आपके पास नहीं दीखती। सारे सांसारिक पदार्थ हमें दे रखे हैं और हम बड़े

खुश होते हैं कि 'हमारे पास सब चीज़ें हैं भगवान् के पास कुछ नहीं।' उनके रहने के लिये श्मशान, दोस्त उनके भूत-प्रेत, खाने के लिये बर्तन मनुष्यों की खोपड़ी जिसमें सब कुछ रखकर खा लेते हैं। आचार्य दीक्षित कहते हैं, लेकिन मैंने समझ लिया है कि आपने असली माल तो दबा ही रखा है। बाहर से जो भीख माँगते फिरते हो यह अभिनय करते हो। मुझे अलग कर रखा है और सारा माल भी खुद दबा रखा है, ऊपर से भीख माँगने का अभिनय करते हो! सारे संसार की प्रजाओं के रक्षक होकर ऐसे हिस्सा दबा लेना ठीक नहीं है। पंचदशीकार ने सोचा कि एक ही माया के दो पुत्र मानना तो ठीक नहीं, इसलिये उन्होंने दो मायायें ही मान लीं। एक ही माँ के दो बच्चे हों तो झगड़ा नहीं होना चाहिये। उन्होंने कहा—एक शुद्ध सत्त्व वाली है और दूसरी अशुद्ध सत्त्व वाली। शुद्ध सत्त्व वाली का पुत्र ईश्वर और अशुद्ध सत्त्व वाली का पुत्र जीव है। इसलिये सौतेले भाई होने के कारण उन्होंने माल मार रखा होगा; भाई का हिस्सा हड़पने के पीछे कोई तो कारण बताना पड़ेगा। वस्तुतः इस सब के द्वारा यह बताया जा रहा है कि 'विराजः अधिपूरुषः सजातः अत्यरिच्यत' उसने जब देव, तिर्यक् मनुष्य आदि की सृष्टि की तो उसे अपने से अलग करके बनाया। ऐसा क्यों बनाया, इस पर आगे विचार करेंगे।

'पश्चात् भूमिम्'—जब जीवों का निर्माण कर लिया उसके बाद भूमि को बनाया। पंच-महाभूतों में अंतिम पृथ्वी है, अंतिम का नाम लेने से पहले सब किये हुए मान लिये जाते हैं। जैसे कोई कहे कि 'आज से दुकान में बिक्री शुरू कर ली' तो समझना पड़ेगा कि पहले उसने दुकान भाड़े पर ली, फर्नीचर खरीदा, फिर उसमें

स्टाक रखा, फिर फर्म का पार्टनरशिप डीड लिखा गया, रजिस्ट्री हुई और यह सब करने के बाद आज सौदा बेचना शुरू कर दिया। इसी प्रकार पृथ्वी को बनाया तो इसका तात्पर्य है कि पहले आकाश, वायु, तेज, जल को बनाकर फिर पृथ्वी को बनाया। उसके अनंतर 'पुरः' इन जीवों के रहने लायक पुर अर्थात् शरीरादि बनाये। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिः इति, सात धातु जिसमें पूरे किये जायें, उसे पुर कहते हैं। देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि सब शरीरों में सात धातु होते हैं। इस मंत्र में पहले विराट् की उत्पत्ति, ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति, फिर उसमें अभिमान करने वाले आदि जीव ब्रह्मा की उत्पत्ति, फिर ब्रह्मा के द्वारा देव, तिर्यक् मनुष्यादिकों की उत्पत्ति, फिर पंचमहाभूतों के पर्वत, नदी आदि कार्यों की उत्पत्ति और फिर सात धातु वाले शरीर की उत्पत्ति, इतनी उत्पत्तियाँ बताई हैं। छठे मंत्र में आगे की उत्पत्तियाँ बतायेंगे। यह इस पंचम मंत्र का अक्षरार्थ हुआ।

सबसे पहले विराट् की उत्पत्ति बताई। विराट् को उत्पन्न करने वाला उसे कैसे उत्पन्न करता है? यहाँ केवल 'ततः' कहा है। इसी का विचार करते हुए, इसी मंत्र का तात्पर्यार्थ बताते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में लिखते हैं–

'क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा सोऽपि ब्रह्माऽसृजत् परः।
विराट् ब्रह्माऽथ ससृजे मनुं देवं प्रजापतिम्।
मनुर्देवान्मनुष्यांश्च स्थास्नु कृत्स्नं चरिष्णु च।।'

परब्रह्म परमात्मा क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों से युक्त होकर सृष्टि करता है। जब तक इन दोनों शक्तियों को मन में नहीं सोचेंगे

तक तक उस परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि समझ में नहीं आयेगी। न केवल ज्ञानशक्ति से और न ही केवल क्रियाशक्ति से सृष्टि होती है। केवल ज्ञानशक्ति से सृष्टि तुम स्वप्न में, मनोरथ राज्य में करते हो लेकिन वह तुम्हारी सृष्टि तुम्हारे ही काम की है और थोड़ी देर बाद तो वह तुम्हारे भी काम की नहीं है! स्वप्न में देखते हो कि मैंने दस लाख कमा लिये, तिजोरी में बन्द कर दिये। ताला लगाकर चाभी जहाँ नहीं बाँधनी चाहिये वहाँ बाँध ली। यज्ञोपवीत परम पवित्र चीज़ वेद का प्रतीक, उसे भी तब साधन बना लेते हो जब दस लाख रुपये की तिजोरी की चाभी लटकानी पड़े ! जीवन में प्रायः परमात्मा को साधन बनाते हैं तो वेद को भी साधन बना लिया। इतना सब बाँध कर थोड़ी देर बाद आँख खुली, नहाये धोये, घर वाली ने कहा आज बच्चे का जन्मदिन है, थोड़ा घी ले आओ तो कहता है कि 'आज सेठ जी ने रुपये नहीं दिये।' तुमने दस लाख रुपये स्वप्न में बनाये, वे तुम्हारे ही काम नहीं आ रहे हैं तो और किसी के क्या काम आने हैं! केवल ज्ञान के द्वारा होने वाली सृष्टि ऐसी होती है। किसी दूसरे से जाकर कहो कि 'आप मुझे स्वप्न में मिले थे' तो वह हँसेगा। तुम्हारी सृष्टि केवल विज्ञान से होने वाली सृष्टि होने के कारण प्रतीतिमात्र है। केवल क्रियाशक्ति से भी सृष्टि नहीं हो सकती। केवल क्रियाशक्ति से सृष्टि होगी तो अंध सृष्टि होगी। जैसे कभी हिमालय के ऊपर चले जाओ जहाँ हिमखण्ड हुआ करते हैं, वहाँ स्वतः बड़े-बड़े टुकड़े टूटकर गिरते हैं। उन टुकड़ों को कुछ पता नहीं कि कहाँ गिर रहे हैं। न तुमसे उनका कोई राग है और न कोई द्वेष है। एक आदमी दस कदम आगे चला गया, उस पर कुछ नहीं गिरा और दूसरा

आदमी दस कदम पीछे आ रहा है, उस पर पत्थर पड़ गया। पत्थर सोच नहीं रहा है कि कहाँ गिरना है, कहाँ नहीं गिरना है। वहाँ क्रिया है, विज्ञान नहीं है। केवल विज्ञान से होने वाली सृष्टि का आधार नहीं और केवल क्रिया से होने वाली सृष्टि के अन्दर कोई नियमन नहीं है।

जब इस ब्रह्माण्ड सृष्टि को देखते हैं तो इसमें दोनों चीज़ें पूर्ण रूप से मिलती हैं। हर चीज़ का विचार है। मनुष्य देखकर स्तब्ध हो जाता है। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य में एक जगह लिखते हैं कि जिसकी कल्पना नहीं कर सकते, जिसे सोच नहीं सकते, ऐसी सृष्टि की रचना है, इसमें एक-एक चीज़ ऐसी है जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। विज्ञान का मोटा दृष्टांत है। संसार के अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन्हें ठण्डा करो तो उनका वजन बढ़ जाता है। यदि तुम एक घन इंच दूध लो और उसे ठण्डा करते जाओ, तो वह भारी होता चला जायेगा। संसार में सब चीज़ें ठण्डी होने से भारी होती हैं। यह सीधी सी बात है। केवल पानी को छोड़कर। चार डिग्री सेंटीग्रेड तक तो पानी भी ठण्डा होने पर भारी ही होता जायेगा लेकिन उससे आगे ठण्डा करो तो वहा हल्का हो जाता है! हल्की चीज़ हमेशा भारी चीज़ के ऊपर क्यों तैरती है। बर्फ हमेशा पानी के ऊपर ही रहती है। कभी सोचा कि ऊपर क्यों रहती है? उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीप ठण्ड के कारण समुद्र जम जाता है। यदि बर्फ भारी होती तो समुद्र जमकर नीचे जाता और वहाँ जितने जलचर प्राणी हैं सब मर जाते। इसलिये समुद्र ठण्डा होने पर भी हल्का बना रहता है। बड़े-बड़े हिमखण्ड खड़े रहते हैं और उनके नीचे जलचर

प्राणी, मछलियाँ आदि क्रीडा करते रहते हैं। मन जिन चीज़ों को नहीं सोच सकता, ऐसी समग्र सर्वतोभावेन पूर्ण सृष्टि है। तुम एक छोटा-सा व्यापार करते हो तो उस में धन का चक्र नहीं घुमा सकते, महान् चिन्ता में परेशान रहते हो। परमात्मा का चक्र अनादि काल से चला आया और अब तक चल रहा है। बीज बोया, खाद के माध्यम से उससे अन्न हुआ। तुमने भोजन किया तो वह पुनः खाद बन गया। आनदि काल से आज तक यही चक्र चल रहा है, कभी टूटा नहीं। पानी इत्यादि पिया, नहाये-धोये तो सारा पानी समुद्र में चला गया, पुनः लौट कर वर्षा के रूप में तुम्हारे पास आया, वही चक्र निरंतर चलता है, कभी कोई कमी नहीं। तुम एक छोटी-सी दुकान चलाने में परेशान हो रहे हो। इतनी सुन्दर सृष्टि की रचना परमात्मा ने कर दी क्योंकि 'क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा' क्रिया और विज्ञान दोनों उसमें निरंतर और पूर्णरूप से मौजूद हैं।

'सोऽपि ब्रह्म असृजत्' फिर उस परब्रह्म परमात्मा ने ब्रह्मा को बनाया जिसे यहाँ विराट् शब्द से कहा। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा कि उस विराट् ब्रह्मा ने आगे मनु देव प्रजापति की सृष्टि की। मनु ने आगे मनुष्यों की सृष्टि की। जितनी चलने वाली और स्थिर चीज़ें हैं, उनकी सृष्टि आगे करते चले गये। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने यहाँ स्पष्ट बताया कि इस प्रकार से यह सृष्टि हुई।

परमात्मा ने जो यह सारी सृष्टि की, वह कहाँ रहती है? परमात्मा ने सृष्टि को अपने से बाहर करके पैदा नहीं किया, उस सारी सृष्टि को बनाकर उसे अपने में ही रखा। आचार्य विद्यारण्य कहते हैं—

'समुद्रे वडवा यद्वद् उत्पद्याश्रित्य वर्तते।
परात्मनि विराडश्वः तथैवेति विचिन्तयेत्।।'

समुद्र के अन्दर वाडवाग्नि (एक प्रकार की आग) रहती है। वाडव का मतलब वडवाओं का समूह होता है। संस्कृत में वडवा घोड़ी को कहते हैं। वैसे द्विजपत्नी ब्रह्मणी को भी वडवा कहते हैं। परमात्मा की जो बल शक्ति है, उसी को वडवा कहते हैं। यहाँ वाडवाग्नि शब्द का प्रयोग सार्थक है। विचार करके देखो तो यहाँ सारी सृष्टि ब्रह्म में ही रहती है लेकिन प्रकट इन्द्रियों से होती है। यहाँ इन्द्रियों से मन का भी संग्रह कर लेना, क्योंकि वह भी अंतःकरण है। सारा ब्रह्माण्ड परमात्मा में रहता है, इन्द्रियों के द्वारा प्रकट होता है। यदि इन्द्रियाँ न हों तो वहाँ कुछ भी प्रकट नहीं होगा। यह यहाँ बताया कि समुद्र में वाडवाग्नि रहती है, अप्रकट रूप से रहती है, उसका पता नहीं लगता। आजकल के लोगों को ज़रा ज़्यादा पता लगने लगा है! विज्ञान ने उन्नति कर ली है। भाखड़ा में पहुँच जाओ जहाँ ऊपर से नीचे पानी गिरता है तो बिजली अर्थात् तेज ही प्रकट होता है। आज के लोगों ने अग्नि का अर्थ ऊर्जा किया है। ऊर्जा दो प्रकार की मानी गई है, एक अप्रकट (पोटेन्शियल) और दूसरी प्रकट (काईनेटिक)। छिपी हुई को वाडव और प्रत्यक्ष को अग्नि कहते हैं। वाडव जब तक प्रत्यक्ष न हो, जब तक चित्याग्नि में परिवर्तित न हो जाये, विज्ञान की भाषा में स्थितिज (पोटेंशियल) जब तक गतिज (काईनेटिक) न बन जाये, तब तक प्रकट नहीं होगी। समुद्र में वाडवाग्नि वस्तुतः समुद्र के अन्दर समग्र शक्तियों को निष्क्रिय रूप से, अप्रत्यक्ष रूप से बताने के लिये कह दिया। महाप्रलय में अनंत जीवरूपों में बनने

की सामर्थ्य इसी रूप में रहती है। जैसे यहाँ यंत्रविशेष से पानी को ऊपर से नीचे गिराना ज़रूरी है, उसी प्रकार इन्द्रियों और मन के द्वारा ब्रह्म का सम्बन्ध होने पर ही ब्रह्म की अनंत शक्तियाँ प्रकट होंगी। इसीलिये वार्तिकसारकार कहते हैं 'समुद्रे वडवा यद्वद् उत्पद्याश्रित्य वर्तते।'

अगला प्रश्न होता है कि समुद्र में वह वडवाग्नि किस प्रकार से आई। पानी में यह तेज कहाँ से आया? पानी में यह तेज कहीं बाहर से नहीं आया क्योंकि पानी को उत्पन्न करने वाली चीज़ तेज ही है। 'उत्पद्य' और 'आश्रित्य' अर्थात् वह अग्नि उत्पन्न भी उसी पानी से है और रहती भी उसी पानी में है। किसी दूसरी जगह नहीं रहती। 'परात्मनि विराडश्वः तथैवेति विचिन्तयेत् ।' इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में शुद्ध संवित् के अन्दर विराट् रूप अश्व अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड देह इन्द्रियों से ही प्रकट होता है। अश्व नाम इन्द्रियों का है 'इन्द्रियाणि हयान्याहुः', जैसे समुद्र में वाडवाग्नि समुद्र में ही उत्पन्न और उसी को आश्रय करके रहती है, उसी प्रकार यह विराट् पुरुष परमात्मा से उत्पन्न होकर परमात्मा के सहारे ही रहता है। इसलिये कहा 'विचिन्तयेत्' बार-बार उसका विचार करे। मनुष्य का आश्रय परमात्मा है फिर भी मनुष्य बाकी सब आश्रयों को लेता है, इस आश्रय को नहीं लेना चाहता।

धर्म के नाम पर बहुत से लोग प्रचार करते हैं कि परमात्मा का आश्रय मत लो। कहते हैं कि भगवान् से कुछ न माँगो। भगवान् से निष्काम भक्ति रखो। बाकी दुनिया भर के लोगों से माँगो! सरकार से, अफसरों से, जान-पहचान वालों से, सबसे माँगो, केवल भगवान् का सहारा मत लो। निष्कामता का मतलब तो है कि

अपने मन की कामनाओं को हटाओ, किसी से न माँगो यह निष्कामता है, लेकिन उल्टा ही अर्थ लगा लिया। जैसे घर में बच्चे को कहो कि 'बेटा, दस आदमियों के बीच कोई चीज़ें न माँगा कर', उसने कहा 'ठीक है।' थोड़े दिनों के बाद पता लगा कि उसने बहुत-सी चीज़ें पड़ोसी से माँगकर इकट्ठी कर रखी हैं। उससे पूछा 'यह क्या करता है ?' कहता है—'अकेले में माँगता हूँ।' कहते हो—'अरे ! दस आदमियों के सामने *हमसे* मत माँगा कर, *दूसरे* से तो अकेले में भी मत माँग।' लेकिन उसने उल्टा अर्थ लगा लिया। इसी प्रकार 'परमात्मा से मत माँगो' ऐसे निष्कामता का उल्टा अर्थ लोगों ने लगा लिया है। कामनाओं का त्याग ही अंतिम उद्देश्य है, लेकिन मतलब लगाया कि परमात्मा से न माँगकर बाकी सबसे माँगते रहो। यह बात अपने को धार्मिक समझने वाले कहते हैं। वेदों का बहुत बड़ा भाग भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति का साधन बताता है तो क्या वह वेदभाग व्यर्थ है ? वह व्यर्थ उसके लिये होगा जिसकी कामनायें समाप्त हो गई हैं। जिसमें वैराग्य पूर्ण हो गया है, उसके लिये उस भाग की आवश्यकता नहीं है। जैसे स्वस्थ को दवाई की ज़रूरत नहीं, इसी प्रकार वैराग्यवान् को कामनाओं की पूर्ति के उपाय बताने वाले अंश की ज़रूरत नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि तुम झूठ-मूठ स्वस्थ बनकर कहो कि दवाई की ज़रूरत नहीं है। बहुत से लोग ऐसा करते हैं। पेट खराब है, तबियत ठीक नहीं है, कमज़ोरी महसूस हो रही है, लेकिन झूठ-मूठ के स्वस्थ बने हैं। इसी प्रकार अन्दर ही अन्दर कामनाओं का वेग बड़ा ज़ोर मार रहा है और ऊपर से कहते हैं, 'भगवन् ! मुझे कुछ नहीं चाहिये।' इसलिये

यदि लेना है तो उस परमात्मा से ही लेंगे और किसी से नहीं, यह पहली सीढ़ी है। दर-दर के भिखारी बनना छोड़ो। अपने माँ-बाप से माँगना भी क्या माँगना है ?

रामकृष्ण परमहंस एक बार ब्राह्म-समाजकी सभा में पहुँच गये। यह समाज बहुत कुछ ईसाईयों से प्रभावित है। कोई नई बात हो तो अच्छी लगने लगती है। ईसाई बेचारे रोज़ प्रार्थना करते हैं 'भगवन् ! खाने के लिये हमें रोज़ रोटी मिले।' हमें आश्चर्य होता है कि जब माँग लिया तो अच्छी चीज़ें माँगो। लेकिन बहुत से लोग भगवान् से भी ऐसा संकोच करते रहते हैं। उनकी देखा-देखी ब्राह्म समाज वालों ने भी एक प्रार्थना बना रखी है। वेदांती क्या माँगते हैं ? रुद्रीय में ही पूरा एक अध्याय आता है 'चमकाध्याय'। हम सूखी रोटी नहीं माँगते। हिन्दी के किसी कवि ने भी कहा है, 'रूखा-सूखा खाय के ठण्डा पानी पीव।' इससे अगली पंक्ति तो ठीक है कि दूसरे की चुपड़ी को देखकर लालच मत करो, लेकिन मैं भी सूखी क्यों खाऊँ, भगवान् का भक्त हूँ। उस अध्याय में 'च मे' शब्दों का बार-बार प्रयोग होने से अर्थात् मुझे यह दो, मुझे वह दो, बार-बार आने से उसका नाम चमका-ध्याय पड़ गया है। धन, धान्य, पशु, हिरण्य आदि संसार की कोई चीज़ नहीं जो वहाँ न माँगते हों। हम कहते हैं कि ईसाई उसे देखकर चमक जाते हैं, इसलिये इसका नाम चमकाध्याय है। ब्राह्म समाज वालों की प्रार्थना भी यही है कि 'हमें अच्छी रोटी मिले। हमारा जीवन ठीक हो जाये।' रामकृष्ण बेचारे शान्त रहे। बाद में कहने लगे, 'अरे केशव ! तूने बच्चों को पैदा किया है, तू नहीं खिलायेगा तो और कौन खिलायेगा ? भगवान् ने हमें पैदा किया है तो वह

देगा। इसलिये कोई खास चीज़ जैसे हीरा आदि माँगना हो तो माँग। रोटी भी माँगनी पड़े तो माँ-बाप का जीवन व्यर्थ है।'

जो यह ब्रह्माण्ड-देह वाला आदि जीव ब्रह्मा है, उसका प्राकट्य इन इन्द्रियों के द्वारा है। उसी का आश्रयण करना है। हम परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं और उसी का आश्रयण करके रहेंगे। जितना-जितना परमात्मा का सहारा लोगे, उतना-उतना आश्चर्य होगा कि कल्पनातीत रूप से सब चीज़ें उघड़ती चली जायेंगी। बाकी लोग तो कहीं से इकट्ठा करके हमें लाकर देंगे, लेकिन परमात्मा को तो अपने उन रूपों को प्रकट करते जाना है। इसलिये जितना-जितना परमात्मा का आश्रयण करोगे, उतना-उतना संसार के समग्र पदार्थ सहज होते जायेंगे। इस आश्रयण करने वाले को फिर कर्म का आश्रयण नहीं करना पड़ता। जिसने पूर्ण रूप से परमात्मा का आश्रयण ले लिया, वह आगे कर्म का भरोसा भी नहीं करता। वह तो प्रेम के कारण ईश्वर के प्रति कर्तव्य किये जाता है। जैसे सच्चा लड़का दिन में घंटा भर ज़्यादा काम करने पर माँ-बाप से ओवरटाइम के बदले दही-बड़ा नहीं माँगता। नौकर यह सोच सकता है। काम की ज़रूरत पड़ी तो लड़का दस दिन तक बिना सोये भी काम करता है, यह नहीं कि उसके बदले 'मुझे ज़्यादा खिलाओ।' खुद को ज़रूरत पड़ गई तो काम भी नहीं करता है और उस दिन पाँच सौ रुपये ले लेता है। कर्म करते समय यह नहीं सोचता कि 'मैं इस कर्म के बदले यह लूँगा।' इसी प्रकार जो ईश्वर का आश्रयण करता है, वह कर्म के बदले पुण्य नहीं लेता। परमात्मा के प्रति जितने कर्म करने होते हैं, करता चला जाता है और जितना लेना होता है लेता चला जाता है। इस प्रकार

से रहने का स्वरूप समाज में क्या बनता है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-३

श्रुति परब्रह्म परमात्व-तत्त्व के विस्तार का वर्णन करते हुए पाँच सृष्टियों का यहाँ प्रतिपादन कर रही है। उस परब्रह्म परमात्मा ने पहले विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति की, फिर उस ब्रह्माण्ड देह के अधिष्ठाता (शासक) रूप से विराट् पुरुष की, उस विराट् पुरुष से जीवों की, जीवों के लिये पंचमहाभूतों के कार्य पहाड़ आदि की उत्पत्ति की और पंचमहाभूतों के द्वारा जीवों के रहने के शरीरों की उत्पत्ति की। इस प्रकार यह क्रम है कि पहले विराट्, विराट् पुरुष, उससे जीव, भौतिक लोक और प्रत्येक जीव के लिये एक-एक भोगाधिष्ठान। वेदों द्वारा इन समग्र उत्पत्तियों के बताने का प्रयोजन और सृष्टि के प्रतिपादन का तात्पर्य क्या है ? सृष्टि को बताना श्रुति का तात्पर्य नहीं है। भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं

'मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायःसोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन।'

सृष्टि को इसलिये नहीं बताया जाता कि सृष्टि प्रक्रिया को समझाना है, बल्कि उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व को समझाने के लिये सृष्टि को बताया है। सृष्टिप्रक्रिया उस परब्रह्म परमात्मा के ऊपर एक तरह का जो दुःखित्व का आरोप है उसे हटाने मात्र के लिये

है।

भगवान् वार्तिककार आचार्यपाद सुरेश्वर बृहदारण्यक वार्तिक के अन्दर पूर्वपक्षी से एक बड़ा सुन्दर प्रश्न कराते हैं। कहते हैं, 'हे वेदांती ! तुम्हारे सिद्धान्त में ब्रह्म तो नित्य शुद्ध है। परमात्मा से भिन्न तुम अद्वैतियों के यहाँ कुछ नहीं है। फिर तुम लोगों ने उपनिषद् क्यों बनायी ?

'निर्दुःखित्वे परस्येष्टे तदन्यस्याप्यभावतः।
कस्य दुःखनिवृत्त्यर्थं प्रारब्धोपनिषत् त्वया।।'

तुम कहते हो परमात्मा दुःखरहित है। यह सभी को मान्य है क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है। परमात्मा के लिये तो दुःख हटाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन तुम्हारे यहाँ परमात्मा से भिन्न और कोई चीज़ नहीं है क्योंकि तुम 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मानते हो। पूर्वपक्षी कहता है, फिर किसके दुःख को हटाने के लिये उपनिषद् शास्त्र शुरू किया ? उपनिषद् का प्रयोजन जीव के आत्यंतिक दुःख को हटाना है, पर दुःख है किसे जिसे हटाओगे ! आचार्य सुरेश्वर जवाब देते हैं—

'प्रत्यगज्ञानहेतूत्थदुःखित्वमतिविभ्रम-।
ध्वंसमात्रस्य सिद्ध्यर्थं प्रारब्धोपनिषन्मया।'

कहते हैं कि निर्दुःख में भी दुःखिता का आरोप हो जाता है। अपने ही आत्मा के अज्ञान के द्वारा जब तुमने प्रत्यगात्मा की तरफ से बाहर दृष्टि की तब दुःख हो गया, प्रत्यगात्मा आनंद-स्वरूप है, उसके बाहर जो होगा, वह दुःखरूप होगा। यह केवल मति में भ्रममात्र है कि 'मैं दुःखी हूँ'। बस इस मतिभ्रम को नष्ट करने

के लिये मैंने उपनिषद् प्रारंभ की है। यहाँ भगवान् सुरेश्वराचार्य ने 'मैंने' कह दिया। कहना चाहिये था कि भगवान् ने या वेद ने प्रारंभ किया। यद्यपि आचार्य लोग कभी श्रुतियों को छोड़कर दूसरी बातों को सामने नहीं रखते तथापि कहीं-कहीं उनका अनुभव बाहर छलक जाता है। जैसे कोई मज़ाक की बात सुन लो तो कितने ही उदास बैठो हो, कुछ-कुछ मुस्कराहट लोगों को दीख जाती है। ब्रह्म के साथ इतना अभेदानुभव है कि यह कह दिया कि 'मैंने ही ब्रह्मरूप से उपनिषद् का प्रतिपादन किया है।'

इस सारी सृष्टिप्रक्रिया के अन्दर हम वेदों को देखते हैं लेकिन जब किसी वेद पर विचार करते हैं तब उसमें अभेद नज़र आ जाता है। यह विलक्षण बात है। साधारणतः लोग अभेद ढूँढते हैं और भेद मिलता है। लेकिन वेदांती भेद ढूँढता है तो उसे उसका पता नहीं लगता, उसे अभेद ही मिल जाता है ! साधारण पुरुष दूसरों से इसलिये दोस्ती करता है कि उनसे अभेद हो जाये लेकिन थोड़े दिनों की दोस्ती के बाद ही पता चलता है 'यूयं यूयं वयं वयं' तुम तुम और हम हम हैं। आदमी ब्याह अभेद-प्राप्ति के लिये करता है, वहाँ भी थोड़े दिनों बाद वही होता है। सर्वत्र प्राणी अभेद की प्राप्ति चाहता है, अभिन्न होना चाहता है। लेकिन अभिन्नता को ढूँढने पर भी इसे भिन्नता मिलती है। स्वाभाविक है, क्योंकि जब तक नाम-रूप-कर्म पर दृष्टि रहेगी तब तक केवल भेद मिलेगा। जब नाम-रूप-कर्म से दृष्टि हटाओगे तब अभेद सच्चिदानंद मिलेगा। प्रतिक्षण भेद की दृष्टि करते हुए अभेद को ढूँढोगे तो अभेद हाथ में नहीं आयेगा। जब दृष्टि बदल दोगे तो ठीक उससे उल्टा काम हो जायेगा। इसीलिये शास्त्रकार कहते

हैं, 'भेदं विस्फार्य विस्फार्य शक्त्या स्वच्छंदरूपया' मैं भेदों को खोल-खोलकर देखता हूँ। लोग भेद से डरकर घबराते हैं कि कहीं ऐसे स्थल में जायें जहाँ भेद वाली चीज़ न हो। दो आदमी होंगे तो आपस में मतभेद होगा, इसलिये अकेले जाकर रहें। दस आदमी घर में होंगे तो भेद ज़्यादा बढ़ेगा इसलिये संयुक्त परिवार की जगह अपना-अपना कुटुम्ब अलग करके रखो। व्यापार में भी साथ रहोगे तो मतभेद रहेगा इसलिये एक-दूसरे के भागीदार मत बनो। सर्वत्र सोच रहे हैं कि किसी तरह से भेद हट जाये। भेद हटाना चाहते हैं लेकिन वेदांती कहता है कि मैं भेद को हटाना नहीं चाहता। मैं तो भेद के पर्दे खोल-खोलकर देखता हूँ। जहाँ देखता हूँ वहाँ उस परब्रह्म परमात्मा की शक्ति का स्वच्छन्द रूप ही मुझे दीखता है। जिसे तुम भेद कहते हो, वह परमात्मा की स्वच्छन्दता-मात्र है, और कुछ नहीं है। जब खूब खोलकर देख लिया नतीजा हुआ, 'स्वात्मन्यभिन्ने भगवान् नित्यं विश्रमयन् स्थितः' जितनी भी ये अनंत शक्तियाँ हैं, वे सारी मेरी आत्मा के साथ अभिन्न हो गई हैं। आत्मा से अभिन्न होते हुए जो ईश्वर के साथ एकता का अनुभव है उसमें नित्य विश्राम करते हुए मैं रहता हूँ।

सारी सृष्टि की उत्पत्ति बताने का तात्पर्य सृष्टि के प्रतिपादन में नहीं है बल्कि इसमें है कि सृष्टिरूप से प्रतीत होने वाला केवल एक चिन्मात्र ही है जो स्वच्छन्द शक्ति से भेदरूप से प्रतिभासित हो रहा है। इस बात को समझाने के लिये ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया को बताया है। जैसे लोक में भी जब अपना लड़का दुकान पर बैठता है, उसे तरह-तरह के कपड़ों की पहचान बताते हो। वहाँ तात्पर्य कपड़ों की पहचान बताने में नहीं है क्योंकि तुम जानते

हो कि कपड़े तो दो-चार महीने में बदल जाने हैं, लेकिन उसके द्वारा कपड़ों की पहचान कराने में अर्थात् कपड़ों का जो मूल्य है, उसकी पहचान कराने में प्रयोजन है। जो कपड़ा देख रहे हो वह तो थोड़े दिनों बाद बदल जायेगा लेकिन एक इंच में कितने धागे हैं, उनका स्पर्श कैसा है, इन सब बातों के अनुसार उस कपड़े की परीक्षा बताने में प्रयोजन है। इसी प्रकार यहाँ सारी सृष्टि-प्रक्रिया का सृष्टि बताने में तात्पर्य नहीं है क्योंकि सृष्टि तो हर क्षण नवीन होती चली जायेगी। एक क्षण से दूसरे क्षण की सृष्टि बदल जाती है। लेकिन सृष्टि के अनुस्यूततत्त्व में शिव और उसकी स्वतंत्र इच्छा के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है, यह बताने मात्र में तात्पर्य है। जब यह समझ लेता है तब उसकी दृष्टि सर्वथा बदल जाती है। अपना प्राकट्य करने के लिये, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिये परमात्मा ने भी मानो अपने ऊपर पर्दा-सा डाल दिया जिससे इसे दुःखिता का भी अनुभव हो गया। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने बड़ी विचित्र कल्पना की है। कहते हैं कि अपना रूप देखने में कोई संतोष होता है। किसी आदमी को भूख नहीं लगती तो बड़ी अच्छा बात है, खाना नहीं पड़ेगा, पैसे बचे। लेकिन वैद्य के पास जाकर भूख लगाने की दवा लेता है ! इससे पता लगा कि इसे भूख की इच्छा है। फिर घरवाली से कहता है कि 'आज हलवा-पूरी बनाना, भूख लगी है।' भूख मिटानी थी और वही पसन्द थी तो पहले ही चुपचाप बैठ जाते। लेकिन नहीं, हलवा-पूरी खाकर भूख मिटाता है। खुद ही भूख का दुःख पैदा किया जाता है, अन्न का आनंद लेने के लिये।

भगवान् सुरेश्वराचार्यों ने बृहदारण्यक वार्तिक में बड़ी विलक्षण

कल्पना की है

'अस्य दग्धोदरस्यार्थे को न कुर्याद् असाम्प्रतम्।

अन्न एव यतो वृत्तिरत्तुरन्नाद एव च।।'

कहते हैं इस जले पेट के लिये ऐसा करते हैं ! पेट भूख से ही जलता है। पेट को दग्ध करने के लिये अर्थात् पेट में भूख लगवा कर सुख लेने के लिये कौन-सा असम्भव काम मनुष्य नहीं करता। जो चीज़ अत्यन्त अनुचित मालूम पड़ती है, उसे भी करता है। केवल पेट के लिये ही ऐसा करता है, यह लौकिक प्रसिद्धि है। ऐसा इसलिये करता है कि जो अत्ता (खाने वाला) है, उसकी वृत्ति हमेशा अन्न में ही रहेगी क्योंकि वह अन्न को खाने वाला है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी वह परब्रह्म परमात्मा परिपूर्ण सच्चिदानंद है लेकिन उस सच्चिदानंद के रस को प्रकट करने के लिये मायारूप, अज्ञानरूप चूर्ण खाकर आनंद की भूख अपने में पैदा करता है। कहता है, 'हाय मैं दुःखी, मुझे आनंद मिले।' फिर दूसरा साधन किया तो भूख मिट गई और 'मैं आनंदरूप हूँ।' लगता तो यह असाम्प्रत है कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा अपने को अनित्य-अशुद्ध-जड-दुःखरूप अनुभव करे, लेकिन अनुचित लगने वाली बात माननी पड़ती है। उदर शब्द का बड़ा विचित्र अर्थ है। उत् के आगे दृ धातु लगाकर उणादि से उदर शब्द बनता है। दृ धातु का अर्थ हिंसा करना है। अतः उदर का मतलब है जो अच्छी तरह हिंसा कर दे ! पेट को उदर इसलिये कहते हैं कि इसमें जो भोजन डालो वह सारा पीस दिया जाता है। वेद में उत् नाम ब्रह्म का है। छांदोग्योपनिषद् कहती है, 'तस्य उद् इति नाम।'

उस ब्रह्म को जो जीव-ईश्वर दो भागों में बाँट दे, चीर दे, उसे उदर कह दिया। यह सारी सृष्टि-प्रक्रिया अपने ही आनंद की भूख लगवाकर फिर उसे शांत करने के लिये ही है। और इसका कोई प्रयोजन नहीं है। जब इस एकता का अनुभव होता है तब इसकी वास्तविकता का पता लगता है। अन्यथा तब तक यह स्वच्छन्द भाव दृढ नहीं होता।

इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया बताते हुए पुराणों में एक विचित्र कथा आई है कि पृथ्वी को पृथ्वी क्यों कहा जाता और पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई ? राजा पृथु की यह प्रथम पत्नी बनी, इसलिये इसका नाम पृथ्वी है। पृथु की जो हो, वह पृथ्वी। अंग नाम के राजा की सुनीथा नाम की पत्नी थी। उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम वेन था। राजा वेन बड़ा ही उग्र, अधार्मिक, महान् क्रोधी और धर्म के अत्यन्त विरुद्ध आचरण करने वाला था। यह उसका स्वभाव था। दो तरह के लोग होते हैं—एक, जो किसी कारण से बुरे होते हैं और दूसरे, जो स्वभाव से बुरे होते हैं। जहाँ कारण से बुराई होती है, वहाँ कारण हट जाने से बुराई हट जाती है और जहाँ बुराई का स्वभाव होता है वहाँ बुराई नहीं हटती। भगवान् ने भी गीता में हथियार डाल दिये ! सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा कृष्ण स्वयं कहते हैं

'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' (गी. ३-३३)

अपनी-अपनी जैसी प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है, वैसी ही लोग प्रवृत्ति करते हैं। अगला प्रश्न हुआ कि इससे बचने का क्या कोई उपाय नहीं है ? भगवान् ने उपाय तो बताया लेकिन प्रकृति को

बदलने का उपाय नहीं बताया। 'प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति' आचार्य गौडपाद कहते हैं कि प्रकृति का अन्यथाभाव नहीं हो सकता। भगवान् ने उपाय बताया कि प्रकृति के अनुसार तो करोगे लेकिन राग-द्वेष करना-न करना तुम्हारे हाथ में है।

'तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गी. ३-३४)

राग और द्वेष को तुम बदल सकते हो, प्रकृति के प्रवाह को नहीं बदल सकते।

वेन स्वभाव से अधार्मिक था, उसे लोगों को तड़पाने में सुख होता था। किसी कारण से किसी को कष्ट देता हो, ऐसा नहीं। बिना ही कारण के लोगों को कष्ट देकर सुखी होता था। वह प्राचीन काल था। लोगों में धर्म की भावना अधिक थी। इसलिये उसने चाहे जितना कष्ट दिया, लोग समझते थे कि 'यह अपना राजा है, इसकी बात माननी चाहिये।' सभ्य और असभ्य में यह बड़ा फर्क होता है कि जब सभ्य समाज का असभ्य समाज के साथ संघर्ष पड़े तब असभ्य हमेशा सभ्य को दबा लेता है। यह नियम है, क्योंकि सभ्यता होती ही इस बात की है कि दूसरे के भाव को समझना चाहिये। तुम चाहोगे कि हम कुछ इसकी बात को समझें लेकिन उसे तो समझना ही नहीं, वह असभ्य ही इस बात का है। प्राचीन काल में लोग सभ्य थे। बड़ी से बड़ी विपत्ति में विचार करते थे कि किसी तरह से सभ्यता को बचा लिया जाये। राजा ने अनेक अत्याचार किये। अंत में ऋषि उसे समझाने के लिये गये कि 'अत्याचार की पराकाष्ठा हो गई है। सर्वथा अधर्म का आचरण करके केवल अपने को ही तू सब कुछ समझने

लग गया है। इस प्रवृत्ति को तू छोड़ दे अन्यथा कल्याण नहीं होगा।' वेन हँसने लगा। कहने लगा, 'मैं नहीं, मूर्ख तुम सब लोग हो।' यह नहीं समझना कि आजकल के ही राज्य वाले ऐसा कहते हैं। यहाँ प्राचीन काल की, वेन के समय की बात कर रहे हैं। वेन ने कहा, 'तुम सब अभी बच्चे हो, तुम्हें समझ नहीं, तुम मूर्ख हो। तुम लोग अधर्म को धर्म मानते हो। देखो, मैं तुम लोगों को खाने-पीने को देता हूँ, तुम्हारा सब इन्तजाम मैं करता हूँ। इस प्रकार मैं तुम्हारा उद्धार करता हूँ।' फिर उसने ऋषियों को दृष्टांत दिया। अधार्मिक लोग कैसी-कैसी उपमाएँ देंगे यह याद रखना। उसने कहा, 'पति कमा कर लाये और पत्नी को खाने को दे लेकिन पत्नी बजाय इसके कि अपने पति की सेवा करे, किसी जार की सेवा करती है तो कितनी बुरी बात है। ठीक यही हाल तुम लोगों का है। मैं तुम लोगों का सब इन्तजाम करता हूँ, और तुम देवता को पूजते हो! यह ईश्वर नाम की कौन-सी चीज़ आ गई ? वह क्या तुम लोगों को कुछ देता है ?' चाहे राजा हो, चाहे घर का पति या अच्छा पिता हो, घूम-फिरकर उसे वेन की बात बड़ी पसन्द आती है। 'तुम किन-किन की उपासना करते हो ? तुम लोगों में कोई विष्णु की, कोई ब्रह्मा की, कोई गिरीश शंकर की तो कोई इन्द्र, वायु, यम और सूर्य की उपासना करता है। ये भिन्न-भिन्न उपासनायें करते हो। लेकिन ये सब तो मेरे ही अन्दर रहते हैं।' दुष्ट भी शास्त्रों में से अपने मतलब की बात निकाल लेते हैं। 'ये सारे देवता राजा के शरीर में रहते हैं। विष्णु तुम्हारी रक्षा नहीं करता बल्कि मैं फौज आदि के द्वारा तुम्हारी रक्षा करता हूँ। तुम कहते हो ब्रह्मा पदार्थों का निर्माण करता है जबकि मैं ही उद्योग

इत्यादि लगवाकर निर्माण करवाता हूँ। तुम कहते हो कि जल की व्यवस्था इन्द्र करवाता है, पर मैं नहरें इत्यादि खुदवाकर व्यवस्था करवाता हूँ। इसलिये ये सारे देवता तो मेरे अन्दर हैं।' जैसे यह राजा वैसे ही घर का राजा भी समझ लेना। 'वर और शाप देने में भी मैं समर्थ हूँ। चाहे जितनी धनराशि दे दूँ या रक्षकों द्वारा पकड़वा दूँ। मेरे में ही सारी सामर्थ्य है। ईश्वर में क्या है ? इसलिये आप लोगों को जो कुछ भी भेंट देनी हो, मुझे ही लाकर दो। मुझ से श्रेष्ठ और कोई नहीं है। सबसे पहले पदार्थ का अधिकारी राजा है, इसलिये मेरा ही अधिकार है। यह जो आप लोग कहते हैं कि एक यज्ञ-देवता, यज्ञ-पुरुष होता है, वह कौन है ? जिसमें तुम लोगों ने बड़ी भक्ति लगा रखी है, उस ईश्वरादि को छोड़ो। जैसे बुरी स्त्री जारों की तरफ जाती है ऐसे ही तुम देवताओं की तरफ जाते हो। असली देवता मैं हूँ।'

इसी वेन-संस्कृति से प्रभावित लोग कहते हैं कि भाखड़ा, नांगल आदि ही असली मन्दिर हैं। जगह-जगह देव-मूर्तियों की स्थापना न करवाकर अपनी मूर्तियाँ स्थापित करवाते हैं। 'देव-मूर्ति की ज़रूरत नहीं, हमारे बाप-दादा की मूर्ति बननी चाहिये। वे बड़े नेता थे।' इस संस्कृति का आद्याचार्य वेन है। शहरों का नाम देवताओं पर नहीं हमारे ऊपर रखो, मुहल्लों का नाम भी देवताओं पर नहीं, वे सब फालतू हैं, हमारे नामों पर ही रखने चाहिये। वेन की यह संस्कृति राज्य को ही सब कुछ मानने वाली है। ब्रह्माण्ड का जो अधिष्ठाता देव, उसकी ओर दृष्टि नहीं। उससे उत्पन्न होने वाला जीव, जिसकी अपनी कोई सत्ता नहीं, वह अपने को ही पूज्य और केन्द्र मानता है। हेगेल, मार्क्स आदि विचारक जो

राज्य को सर्वोपरि मानने वाले हैं वे सब इस वेन के शिष्य हैं। वे कहते हैं कि यह राज्य ही सब कुछ है इससे परे और कुछ नहीं है।

जब वेन ने यह कहा तब ऋषियों को बर्दाश्त नहीं हुआ। उन्होंने कहा, 'यह अब हद से बाहर चला गया है।' उन्होंने हुंकार की। हुंकार करते ही वेन मर गया। पापी के अन्दर अपना ज़ोर कुछ नहीं होता। जब तक सभ्य पुरुष अपने तेज को सभ्यता के कारण प्रकट नहीं करता, तभी तक उसका ज़ोर चलता है, उसके बाद नहीं। ऋषियों की हुंकार से वेन खत्म हो गया। सुनीथा ने कुछ दिन तक तो वेन का शरीर रखा। लेकिन केवल राजा का शरीर रखने से क्या होगा ! तरह-तरह के उत्पात बढ़ने लगे। फिर उसने ऋषियों को आग्रह करके बुलाया कि 'बड़ी खराब स्थिति हो गई है, कुछ ढंग करो।' ऋषियों ने वेन का ही मंथन किया। सबसे पहले उस मंथन में से एक अत्यन्त कृष्ण रंग का पापी पुरुष निकला। उससे कहा कि, 'तुम एक तरफ बैठ जाओ।' उसका नाम निषाद पड़ा। उसी से उत्पन्न सारी संतति निषाद कही जाती है। जब और मंथन चला तो दक्षिण भाग से पृथु और वाम भाग से अर्ची निकले, एक पुरुष और एक स्त्री निकले। पृथु में सुन्दर लक्षण देखकर सब लोगों ने बड़ी स्तुति की। उसके बाद पृथु का राज्याभिषेक कर दिया गया। पृथु ने देखा कि जमीन में खेती नहीं हो रही है। जितना बीज डाला जाये, खत्म हो जाता है। उन्होंने विचार किया कि यह समस्या तो बड़ी कठिन है। जब भूमि ही अन्न नहीं देगी तब कब तक काम चलेगा। भूमि को रास्ते पर लाने के लिये उसने धनुष-बाण उठाया। भूमि ने कहा कि 'मुझे

मारने से कुछ लाभ नहीं होगा। बात यह है कि इतने दीर्घ काल तक पापों के फल से मेरी उर्वरा शक्ति नष्ट हो गई है। इसलिये इस शक्ति को फिर से लाओ तो काम हो।' पृथु ने पापों की निवृत्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करने प्रारंभ किये। जैसे-जैसे अश्वमेध यज्ञ होता गया, वैसे-वैसे मानो पृथ्वी से दूध निकलता गया अर्थात् अन्न की उत्पत्ति बढ़तीं चली गई।

लोगों ने जब इस प्रकार अन्न बढ़ते देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और जाकर पृथु की तारीफ करने लगे। अब यहाँ वेन और पृथु में फ़र्क देखो : जब उसकी तारीफ की कि 'आपके आने से हम सुखी हो गये, हमें खाने-पीने को मिला, आपकी जय हो, आप धन्य हैं', तब पृथु कहने लगा कि, 'आप लोग यह क्या कह रहे हो ! 'सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः'

उस परब्रह्म परमात्मा का गुणानुवाद करना उचित है, उसी के लिये यह जीभ दी गई है। इसके द्वारा मेरी स्तुति क्यों कर रहे हो ? मैं तो अत्यन्त घृणा का पात्र हूँ।' इस देह के अन्दर बँधा परिच्छिन्न जीव, उसकी स्तुति नहीं बनती। उपाधि वाला शरीर तो महान् घृणित है ही। गंदगी के अलावा उसमें कुछ नहीं है। चाहे जितना बढ़िया इतर-फुलेल लगाओ, जहाँ दिल्ली की गर्मी में पसीना निकला वहाँ कोई सुगन्ध नहीं। सभ्यों का लक्षण है कि वे जुगुप्सित की स्तुति नहीं करते। कहाँ वेन अपनी स्तुति करा रहा था और कहाँ यह जो अपनी स्तुति को हेय बताकर परमेश्वर की स्तुति को ही कर्तव्य कह रहा है ! लोगों ने कहा, 'आपके अन्दर आत्मा है, उसकी ही स्तुति कर लेने दो', तो वेन ने कहा कि वह भी नहीं। 'जिसे आप यह मन-रूप, जीवरूप पुर्यष्टक वाला शरीर

समझ रहे हैं, वह भी तो अविद्या काम और कर्म से ही आरब्ध होता है। अच्छे से अच्छे महापुरुष का सूक्ष्म शरीर अंतःकरण, अविद्या, काम और कर्म से प्रसूत है। उसकी क्या स्तुति करोगे ? जो जगा हुआ आदमी है, वह इसमें कभी अनुरक्ति नहीं करता।'

धीरे-धीरे वहाँ के राज्य की सारी व्यवस्था ठीक हो गई। व्यवस्था ठीक होने के बाद पृथु ने विचार किया कि 'अब मेरा युवावस्था का राज्यकाल समाप्त हो गया, मुझे संन्यास लेना चाहिये।' उसने सारी प्रजाओं को बुलाया और कहा कि, 'आप लोगों से मैं एक प्रार्थना करता हूँ कि अब मैं इस राज्य को नहीं चलाऊँगा। इसलिये मैं अपने पुत्र को राज्य दूँगा और मैं संसार की किसी चीज़ को चाह नहीं रहा हूँ।' भगवान् से प्रार्थना करते हुए पृथु ने कहा, 'मैं किसी भी ऐसे साधन की अभिलाषा नहीं करता जहाँ आपके चरणकमल का आसव नहीं है।' जैसे आसव नशे की दवा है, द्राक्षासव इत्यादि, वैसे ही परमात्मा के चरणकमल भी आसव हैं। कमल से भी आसव निकलता है। पहले उससे शहद और फिर शराब बनती है जो बड़ी सुगंधित मानी जाती है। कहते हैं, 'हमें उन सब की आवश्यकता नहीं है। आपके चरणों के स्मरण करने मात्र से मेरे हृदय में मादकता आ जाती है। बस उसे छोड़कर मुझे और कुछ नहीं चाहिये। संसार में सब देख लिया। जितने बुद्धिमान हैं, वे ऐसा ही करते हैं। जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वे सब आपका भजन करते हैं। माया और माया से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज और तम तीन गुण और उन तीन गुणों से उत्पन्न होने वाले संसाररूप विभ्रम को छोड़कर आपका ही चिंतन करते

हैं।' यह प्रार्थना करते हुए भगवान् से कहा कि, 'मुझे भी और कुछ नहीं चाहिये, मैं ऐसा कोई स्थान नहीं चाहता जिसमें आपके चरण-कमलों के आसव का पान न कर पाऊँ।' प्रजाजनों के लिये अपने पुत्र को राजा बनाकर अंत में पृथु चले गये।

यहाँ पृथिवी के नाम का कारण बताया। इसके द्वारा समाज-रचना को बड़े अच्छे रूप में हमारे सामने रखा। समाज की दो दृष्टियाँ हैं—एक वेन की ओर दूसरी पृथु की। वेन अंग-सुनीथा से पैदा हुआ। 'अंग' टुकड़े को कहते हैं। जब इस विश्व में हमारी अंग-दृष्टि, भेद-दृष्टि होती है, तब हमें असुनीथा मिलती है। 'सुनीथा' में अकार का लोप है। जो प्राणों में रमे हैं उन्हें 'असुनीथा' से समझना चाहिये। आजकल सवेरे से शाम तक 'गरीबी हटाओ' सुनते हो। कौन-सी गरीबी हटाने की बात है ? अनैतिकता की गरीबी हटाने की बात नहीं। शराब की छूट दो, तलाक-बिल पास करो, सिनेमाओं को और ज़्यादा लाइसेन्स दो, यह सब नैतिकता की गरीबी बढ़ाओ। प्राणाराम की गरीबी हटाओ। यदि इस अंतःकरण की गरीबी को बढ़ाते रहोगे तो सारा संसार भी मिल जायेगा फिर भी वह गरीबी हटने वाली नहीं है। गरीबी कहाँ रहती है ? महाभारत में बताया है कि सारी पृथ्वी का धन-धान्य, स्त्री, पशु भी एक व्यक्ति को मिल जाये तो भी संतोष नहीं होने वाला है। भेद-दृष्टि के द्वारा, प्राणारामता के द्वारा गरीबी हटाना संभव नहीं। वेन समझता है कि 'मैं ही जो कुछ हूँ, सो हूँ। यह संसार, यह राज्य और मैं—बस यही सब कुछ है, इससे परे कुछ नहीं। सब मेरी ही उपासना करें।' इस वेन-नीति का विरोध करने के लिये ऋषि पृथु को लाये। पृथु का अर्थ 'विस्तृत' होता है। वेन

जितना संकुचित दृष्टि वाला था, उतने ही पृथु विशाल और उदार दृष्टि वाले थे। उस पृथु की पत्नी अर्ची अर्थात् प्रकाश (ज्ञानाग्नि) है। उसके द्वारा जो उन्नति होती है वही वास्तविक उन्नति है।

यहाँ जो यह विराड्रूपता का प्रतिपादन श्रुति कर रही है, वह इसी दृष्टि का प्रतिपादन करने के लिये कर रही है कि जब ब्रह्माण्ड का अधिकारी ब्रह्मा, विराट् पुरुष भी उस शुद्ध चिन्मात्र से उत्पन्न हुआ है, उसे भी यह अभिमान करना व्यर्थ है कि 'मैं इसका शासक हूँ' तब अन्य किसी का ऐसा अभिमान निरर्थक ही है। इसके द्वारा बताया कि जैसे विराट् पुरुष सर्वथा परमात्मा की शरण में रहते हुए समाज-रचना चलाता है, वैसे ही राजा की, अच्छे समाज और कुटुम्ब की भी यह दृष्टि हो कि यह वस्तुतः परमात्मा का ही है। परमात्मा का ही आश्रयण करके सब चल रहा है। पृथु की यह दृष्टि लेंगे तो सुख बढ़ेगा। वेन की दृष्टि लोगे तो ऋषियों की हुंकार से मरना पड़ेगा। ऋषियों का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक में बताया कि दो आँख, दो कान, दो नाक और मुख—ये ही सप्तऋषि हैं। अर्थात् वह व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के जलाने के द्वारा जलता रहता है। वह अपने को चाहे जितना बड़ा बनाने का प्रयत्न करे लेकिन खुद ही जलता है, खुद ही उसे शांति नहीं मिलती। ऋषिरूपी इन्द्रियाँ उसे जलाती रहती हैं। चित्त में शांति का आविर्भाव उसमें कभी नहीं होता। विराट् पुरुष को उस परमात्मा से उत्पन्न बताकर उसी से उत्पन्न और उसी में आश्रित होने की दृष्टि से ही मनुष्य समाजरचना को ठीक कर सकते हैं।

प्रवचन-४

रुद्राध्याय के पाँचवें मंत्र की व्याख्या चल रही है। इसमें परब्रह्म परमात्मा से किस क्रम में सृष्टि होती है, इसे बताया। पहले उससे विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड देह उत्पन्न हुआ। फिर उस ब्रह्माण्ड देह के नियामक रूप से विराट् पुरुष ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। वही आदि जीव है। उस विराट् पुरुष के द्वारा फिर देव, तिर्यक्, मनुष्य इत्यादियों की उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न जीवों की उत्पत्ति हुई। उन जीवों के रहने की जगह बनाने के लिये पँच महाभूतों से बने लोकों की उत्पत्ति, फिर उन पंचमहाभूतों के द्वारा सप्त धातु वाले शरीर की उत्पत्ति हुई। ये पाँच सोपान यहाँ बताये। उसमें ब्रह्माण्ड देह का विचार कर रहे थे, क्योंकि इसके द्वारा ही इस सारी सृष्टि का उद्देश्य और किस प्रकार से यह सृष्टि हुई, यह बताया। जैसे ब्रह्माण्ड में, वैसे ही समाज और समाज के भिन्न-भिन्न घटकों में भी समझना। जो इसका सबसे मूल घटक कुटुम्ब है, उसके अन्दर इसका अतिदेश मिलता है।

वेदों के अन्दर जितनी भी बातें हैं, वे सारी किसी न किसी प्रयोजन को लेकर हैं, यह हमेशा याद रखना चाहिये। वेदादि सच्छास्त्रों का निर्माण तुमको व्यर्थ की बातों से अपने दिमाग को भरने के लिये नहीं हुआ। प्रायः गलती यही होती है कि हम लोग सच्छास्त्रों का अध्ययन वैसे करते हैं जैसे किसी उपन्यास या इतिहास का अध्ययन किया जाता है। 'ऐसा हुआ था' तो इससे हमें क्या मिला—इस पर विचार नहीं करते। शास्त्र का उद्देश्य

शासना करना है। शास्त्र शब्द का अर्थ ही होता है जहाँ तुम्हारा शासन किया जाये; कुछ न कुछ तुमको उपदेश दिया जाये, कुछ न कुछ तुम्हें करने के लिये या जानने के लिये बताया जाये। संस्कृत में 'त्र' का अर्थ स्थान होता है जैसे 'यत्र' में यत् मायने जो और 'त्र' मायने स्थान अर्थात् 'जहाँ'; 'तत्र' में 'तत्' मायने वह और 'त्र' मायने स्थान अर्थात् 'वहाँ'; 'कुत्र' में 'कु' प्रश्नार्थक है अतः अर्थ है 'कौन-सा स्थान', 'सर्वत्र'—सब स्थान। इसी प्रकार 'शास्-त्र'—शासना अर्थात् उपदेश जहाँ मिले, वह शास्त्र। सारा शास्त्र हमें कुछ-न-कुछ उपदेश देता है। वह उपदेश कुछ करने के लिये भी हो सकता है और कुछ जानने के लिये भी हो सकता है, यह बात दूसरी है। लेकिन यदि उस जानने से कोई फ़ायदा नहीं तो वह व्यर्थ हो जायेगा।

वेदादि के अन्दर सृष्टि-प्रक्रिया बताई है; प्रत्येक, सृष्टि-प्रक्रिया का कुछ विशेष तात्पर्य है। केवल यह याद करने से कोई फ़ायदा नहीं कि पहले विराट्, फिर विराट् पुरुष बना। वह तो इतिहास हुआ। उन सबको 'मैं' में लाना है। जैसे वह शुद्ध विराट् बना, वैसे मैं कैसे विराट् बनूँ ? जैसे उसने विराट् बनकर विराट् का अधिनियंत्रण किया, विराट् पुरुष बना, वैसे मैं कैसे बनूँ ? सर्वत्र शास्त्रों का उद्देश्य यही होता है। विराट् पुरुष की उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्माण्ड देह उस परमात्मा ने क्यों बनाया ? एक-आध कारण पर विचार किया कि अत्ता-भाव के बिना अन्न-भाव प्रस्फुटित नहीं होता, भोक्ताभाव भोग्य के अभाव में प्रस्फुटित नहीं होता। ज्ञाताभाव ज्ञेय के अभाव में प्रस्फुटित नहीं होता। द्रष्टा-भाव दृश्य के अभाव में प्रस्फुटित नहीं होता। यह सृष्टि-क्रम का प्रथम उद्देश्य

है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मानो वह अपने आप को पूर्ण करता है। भगवान् वार्तिककार आचार्यपाद सुरेश्वर कहते हैं—

'यद्वा विराजमुद्दिश्य संकल्पमकरोन्मनः।

आत्मन्वी स्याम् इति तथा साकूतः सृष्टिकारणः।'

विराट् की उत्पत्ति को बताते हुए कहते हैं 'यद् वा' या इस ढंग से उसे समझ लो। ये दोनों कारण उन्हीं के दिये हैं, एक कल बताया था अन्नभाव को प्रकट करना। दूसरा सृष्टि का कारण है कि 'मैं आत्मा वाला बन जाऊँ।' आत्मा मायने क्या ? रात-दिन यह विषय चलता है। आत्मा का अर्थ करते हुए शास्त्रकार बताते हैं

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।

यच्चास्य संततो भावः तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते।'

ये सारी चीज़ें जहाँ मिलें, उसका नाम आत्मा है : 'यच्चाप्नोति' जो किसी चीज़ को प्राप्त करे। केवल प्राप्त ही नहीं करे, 'यदादत्ते' जो किसी चीज़ को अपने से बाहर भी करे। वस्तुतः आत्मा की विशेषता यह है कि वह खुद ही अपने में से बाहर निकलता है और पुनः खुद ही उसे ग्रहण करता है। यह एक विलक्षण रहस्य है। घड़ा पड़ा हुआ है। घड़े के साथ ज्ञान का सम्बन्ध तुम करते हो, पड़ा हुआ घड़ा अपने को नहीं जानता। घड़े में तुम अपनी आँखों के द्वारा ज्ञान को डालते हो। फिर उस डाले हुए ज्ञान को अपने अन्दर कर लेते हो और कहते हो कि, 'घड़े का ज्ञान मुझे हो गया।' अतः खुद ही ज्ञान को उसमें डाला और खुद ही ग्रहण किया। 'यच्चात्ति विषयानिह' और जो विषयों को ग्रहण करता

है। विषय किसको कहते हैं ? 'षिञ् बन्धने' धातु है, इसका अर्थ बाँधना होता है। हिन्दी में भी सीना मायने दो कपड़ों को बाँधना है। *वि* लगने से इसका अर्थ हुआ कि ज़्यादा ज़ोर से, अच्छी तरह से जो बाँधे उसे विषय कहेंगे। इसीलिये विषय हमारे मन को बाँधते रहते हैं। जब तक विषय हमारे मन को बाँधते रहेंगे, तब तक हमारा बंधन बढ़ता रहेगा। लेकिन बड़ा मज़ा आ जाये यदि हम विषयों को बाँध लें ! बहुत से लोग समझते हैं कि विषय हमें बाँधते हैं तो इनसे हम भागकर कहीं पहुँच जायें। लेकिन कहाँ पहुँचोगे ? जैसे घड़ा एक विषय है, वैसे ही घटाभाव भी तो एक विषय ही है। जैसे तुम जानते हो कि 'यह घड़ा है', वैसे ही तुम्हें यह भी ज्ञान होता है कि 'यहाँ घड़ा नहीं है।' भाव को ग्रहण करोगे तभी अभाव ग्रहण होगा। किसी चीज़ को छोड़कर नहीं जा सकते, विषयों को बदल सकते हो। भावरूप विषयों की जगह अभावरूप विषय ले आओ लेकिन रहेगा तो विषय ही। इसलिये विषय मन को न पकड़ कर यदि मैं विषय को पकड़ूँ तो काम हो जाये। भगवान् सुरेश्वराचार्यों ने बृहदारण्यक वार्तिक में बड़ा सुन्दर दृष्टांत दिया है। एक अपामार्ग लता होती है जिसमें छोटे-छोटे काँटे होते हैं।

'अपामार्गलतेवायम् विरुद्धफलदो भवः।

प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय संसाराय पराग्दृशाम्।।'

उस लता में छोटे-छोटे काँटे होते हैं, कुछ काँटे मुलायम होते हैं और कुछ कड़े भी होते हैं। यह तो भगवान् सुरेश्वराचार्यों का दृष्टांत है क्योंकि उस जमाने में लोग प्रकृति प्रेमी होते थे। वह लता नहीं देखी हो तो शरीर में ही दिखा देते हैं। किसी दिन अच्छी तरह

सिर मुण्डन कर लो। एक तरफ से हाथ ले जाओ तो चिकना लगेगा और दूसरी तरफ से ले जाओ तो बहुत कड़ा लगेगा। हाथ थोड़ा छिल भी सकता है यदि ज़ोर से रगड़ दिया ! वही दृष्टांत लता का है। भव अर्थात् संसार। यह संसार भी अपामार्ग लता की तरह विरुद्ध फल देता है। जो सारे संसार को अपने आत्मा से एक करके देखता है वह प्रत्यग्दृक्। दूसरी जगह भी श्रुति ने बताया, 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति' आत्मा में ही सारे जड-चेतन जगत् को देखता है। यही बात जगद्गुरु सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'। सारे जड-चेतन जगत् को जो अपने में देखता है, वह प्रत्यग्दृक् है। 'विमोक्षाय' उनके लिये तो यह लता बड़ी सुखद मालूम पड़ती है, उसके लिये यह संसार महान् आनंद का स्थल है और जहाँ हमने पराक्-दृष्टि की, अपने से भिन्न करके किसी को देखा, तो फिर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते चले गये। लता एक ही है, फल दो प्रकार का है। अभेदज्ञान मोक्ष का कारण और भेदज्ञान बंधन का कारण है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य शब्दों को बड़ा सम्हाल कर प्रयोग करते हैं। उन्होंने यहाँ सीधा यह नहीं कहा कि 'यह संसार ऐसा है।' बल्कि कहते हैं 'विरुद्धफलदो भवः।' भव शब्द संसारवाची है और शंकरवाची भी है ! महिम्न में कहते हो 'भवाय नमो नमः' भव नाम शंकर का है। इसके द्वारा बताया कि जो व्यक्ति प्रत्यग्-दृष्टि करता है, उसके लिये यहाँ सर्वत्र शिव ही है और जो यहाँ पराग्-दृष्टि करता है उसके लिये यहाँ संसार ही है। इसलिये बड़ा सोचकर उन्होंने भव-शब्द का प्रयोग किया। भव शब्द के प्रयोग

का दार्शनिक कारण भी है। 'भू सत्तायाम्' धातु से भव शब्द की निष्पत्ति है। इसलिये भव का मतलब होता है 'है' अर्थात् सत्ता। दार्शनिक दृष्टि से कहते हैं कि यह सब केवल सन्मात्र है। उपनिषद् में बताया है कि जिस प्रकार मिट्टी से बनी हुई सब चीज़ें मिट्टीरूप और लोहे से बनी हुई सब चीज़ें लौहरूप, सोने से बनी हुई सब चीज़ें स्वर्णरूप हैं, उसी प्रकार सद्ब्रह्म से बना हुआ जो कुछ है, सब केवल सद्रूप ही है। भव शब्द के प्रयोग से बताया कि वस्तुतः सन्मात्र ही है। अपनी दृष्टि से कोई चाहे उसमें विमोक्ष की दृष्टि कर ले और अपनी दृष्टि से चाहे उसमें संसार की दृष्टि कर ले। इस दृष्टि को करने का तरीका आगे बताते हैं, जो बड़ा सुन्दर और सरल है।

आचार्य सुरेश्वर कहते हैं 'प्रतिक्षणं विश्वमिदं स्वसंविदि विलापयन्' पहली बात कही कि हर क्षण दृष्टि होनी चाहिये। यह अनुभव का विषय है। पाश्चात्य देश के अन्दर एक बहुत बड़े संत हुए हैं। सन्त सभी जगह हो सकते हैं। उनका नाम था सेण्ट लायला। सेण्ट ज़ेवियर उनके बड़े प्रंसिद्ध शिष्य थे। सेण्ट इग्नेशियस लायला ने बहुत काम किया। बहुत-सी संस्थाओं का निर्माण किया और एक नये सम्प्रदाय का व्यापक संस्थापन किया। कुछ दिन बाद पुराना पोप मर गया और नया पोप बना। उस नये पोप के साथ शुरू से ही उनका झगड़ा चलता था, उनमें परस्पर मतभेद था। स्वाभाविक है कि जहाँ दो व्यक्ति होंगे वहाँ मतभेद हो सकता है। ईसाई धर्म में पोप का आदेश बिना प्रश्न के सबको स्वीकार करना पड़ता है। किसी ने लायला से पूछा कि 'अब तो वह पोप बन गया है, तुम्हारे सम्प्रदाय और संस्थाओं को खत्म

कर देगा।' वे कहने लगे, 'जो भी होगा, लेकिन मैं तीन मिनट लूँगा और फिर सब एक हो जायेगा।' प्रश्नकर्ता ने पूछा कि, 'आपका क्या मतलब है ?' उन्होंने कहा कि 'इन सारे कार्यों को करते हुए परमात्मा और मेरी दूरी केवल तीन मिनट की है।' यह अनुभव है। 'जितना भी मैं विश्व का कार्य कर लूँ लेकिन यह सब कार्य करते हुए परमात्मा से मेरी दूरी केवल तीन मिनट की है। जहाँ मैंने तीन मिनट की उस चीज़ का अनुभव किया वहीं मैं पुनः परमात्म-ऐक्य का अनुभव करते हुए इन सारी चीज़ों को बाधित देखूँगा।' अर्थात् इतनी बड़ी क्रिया करने पर भी तीन मिनट से ज्यादा उसे नहीं हिला सकती। यह अनुभव है। लेकिन भगवान् सुरेश्वराचार्य, तीन मिनट की बात तो जाने दो, कहते हैं कि तीन मिनट के अन्दर तो १८० सैकेण्ड होते हैं और एक सैकेण्ड में एक हज़ार क्षण होते हैं। गजब हो गया ! एक लाख ८० हज़ार क्षीण बीत जायेंगे बिना परम प्रिय से मिले हुए ! तीन मिनट कोई कम समय है क्या ? जो अपने प्रेम का पूर्ण विषय होता है उससे तो एक क्षण अलग रहना असम्भव प्रतीत होता है, सहन नहीं होता। भागवत के अन्दर कथा आती है कि जिस समय भगवान् गायें चराकर लौट कर आ रहे हैं, गोपिकायें उन्हें देखते हुए ब्रह्मा को शाप देती हैं कि ब्रह्मा ने ऐसी पलकें क्यों बना दीं जो बीच-बीच में झपकती हैं ! कहती हैं, 'अरे तुम्हें इतनी बुद्धि नहीं आई कि पलकें न बनाते तो डटकर परमप्रिय के दर्शन करते।' जहाँ प्रेम होता है वहाँ यह दृष्टि होती है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्यों को तीन मिनट का समय बड़ा लम्बा लगा। जहाँ अनुभव होता है, वहाँ यह स्थिति बनती है। जहाँ अनुभव नहीं है वहाँ आठ

बजे सत्संग से जाने के बाद दूसरे दिन सात बजे ही याद आयेगा कि ब्रह्म है। बाकी समय में है या नहीं—इसका स्मरण नहीं है।

इसलिये कहते हैं कि प्रतिक्षण इस विश्व-वैचित्र्य को स्वसंवित् के साथ एक करते हुए उस एकता का अनुभव करना है। अनुभव भी ऐसा कि 'विलापयन्' अर्थात् उसके अन्दर विश्व को विलुप्त कर देना है। लुप्त करने का मतलब होता है चीज़ दीखे नहीं। जब तक कोई चीज़ दीखती है तब तक उसे लोप नहीं कहते। भगवान् पाणिनि ने भी कहा है कि वर्ण का न सुनाई देना लोप कहा जाता है। इस सारे विश्व को प्रतिक्षण ऐसा लुप्त कर देना है कि उस समय सिवाय प्रियतम के और कोई नज़र न आये। केवल लोप भी उनको अच्छा नहीं लगा इसलिये इधर 'वि' लगा रखा है। जगत् के पदार्थों का सामान्य ज्ञान हो जाये, जैसा नैयायिक मानते हैं, तो भी इष्ट नहीं। इसलिये 'वि' लगाकर कहा कि और कुछ नहीं दीखे। उस भगवती संवित् के अन्दर इस प्रकार से विश्व को विलुप्त करता चला जाये। उसे विलुप्त करके वहाँ न बैठ जाये, क्योंकि फिर मज़ा नहीं आयेगा। यह विराट् पुरुष का वर्णन है जिसने ब्रह्माण्ड बनाया। इसलिये प्रतिक्षण विलुप्त करके फिर उसे 'विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद् भैरवतां व्रजेत्' बाहर निकाले। प्रतिक्षण उसे अपने अन्दर विलुप्त करके बाहर निकालते हुए वह कभी घबराता नहीं कि कितनी बार ऐसा करना है। जिस प्रकार अनादि काल से अनंत काल तक हर सृष्टि में विराडादि जन्म-विलय चलता ही रहता है उसी प्रकार हर क्षण सब कुछ अपने अन्दर लीन करके बाहर निकाल देता है, फिर लीन कर लेता है। तभी उस नित्य शिवभाव की प्राप्ति सम्भव है।

'विलापयन्' शब्द के द्वारा कुछ और संकेत भी भगवान् सुरेश्वराचार्य ने किया है। विलाप का दूसरा अर्थ दुःख के साथ रोना होता है। जैसे कोई मर जाये तो कहते हैं विलाप कर रहे हैं। कहते हैं यदि ऐसा न हो सके, यदि इस प्रकार तुम विश्व को संवित् के अन्दर विलुप्त न कर सको तो क्या करो ? संस्कृत के अन्दर अकार का छिद्र निकल आता है इसलिये 'ततः अभूयः'; भूयः मायने पुनः और अभूयः—पुनः नहीं कर सकते; अर्थात् एक बार निकाल दिया लेकिन फिर उसे अपने अन्दर लीन नहीं कर सको तो विलाप होना चाहिये, वह कष्ट असह्य हो जाना चाहिये। रामकृष्ण परमहंस की जीवनी में आता है कि जब शाम पड़ती थी तो वे गंगा के किनारे जाकर सिर कूट-कूट कर रोते थे कि 'आज भी दिन निकल गया लेकिन हे भगवती ! तेरा दर्शन नहीं हुआ।' यह विलाप है। जिस दिन उस संवित् शक्ति का दर्शन नहीं हुआ तो वह दिन—और भगवान् सुरेश्वराचार्य के शब्द में वह क्षण—व्यर्थ चला गया, निष्प्रयोजन, निरर्थक चला गया, कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। यदि जीवन में हमें दो साल जीना है और उसमें एक दिन चला गया तो कितना अधिक समय हाथ से निकल गया ! वह दिन फिर कभी लौटकर नहीं आने वाला है। यदि परमात्मा में सत्य-दृष्टि है तो इस बात का विलाप होगा।

और यदि संसार में सत्य दृष्टि है तो क्या होगा ? सच्ची बात यह है कि सबसे पहला काम मनुष्य कौन-सा छोड़ता है ? घर में मेहमान आ जायें तो नहाना, खाना-पीना कुछ नहीं रुकता, लेकिन 'आज जप कम कर लो।' बड़े से बड़ा ब्याह का काम आ जाये तो कोई दस दिन के लिये दुकान बन्द नहीं करता। कहते

हैं, 'महाराज ! दस दिन सत्संग में नहीं आ पायेंगे, घर में ब्याह है।' क्या रोटी भी नहीं खाओगे ? 'वह तो खानी है।' थोड़ा-सा भी कारण बने तो सबसे पहले भगवान् छूटता है, चाहे ध्यान, जप, पूजा, सत्संग किसी के छूटने से छूटे। लोगों ने इसके लिये एक बड़ा सुन्दर सिद्धान्त बनाया है और हमसे भी आकर कहते हैं कि अपना कर्तव्य तो करना चाहिये। कर्तव्य की पूर्ति कहाँ है, यह समझने की बात है।

सारे कर्तव्यों का मूल क्या है—यदि यह प्रश्न ईमानदारी का है तो सारे कर्तव्यों का मूल वेदाज्ञा है। वेद ने कहा है, इसलिये करना है। वेद ने सारे कर्तव्यों का मूल किसको बताया है ? 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। यह मूल आदेश वेद का है कि हे जीव ! परमात्मा के दर्शन करने का प्रयत्न, परमात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा करो। अब परमात्मा का श्रवण कैसे हो ? इसके लिये साधन बताये 'शान्तो दांत उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्।' आत्मा को अपने अन्दर कब देख पाओगे ? जब शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि होंगे। शांति दांति की प्राप्ति कैसे हो ? 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' जब वैराग्य पूर्ण होगा तब शम दम आयेंगे। वैराग्य कैसे पूर्ण हो ? 'परीक्ष्य लोकान्' सत्य असत्य का विवेक करने से। सत्य असत्य का विवेक कहाँ से करोगे ? लोग ऐसा क्यों नहीं कर पाते ? तब बताया 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।' यज्ञ, दान, तप, कामादि के परित्याग के द्वारा विविदिषा—ब्रह्म को जानने की तुम्हारी इच्छा—बनेगी तब विवेक आयेगा। ये कर्तव्य

की सीढ़ियाँ हैं। मूल कर्तव्य आत्म-दर्शन हुआ, यह कर्तव्य करने की यदि तुम्हारी सामर्थ्य नहीं तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। जो आत्मदृष्टि में बैठा है, वह क्या श्रवण, मनन निदिध्यासन करे! जो चीज़ सामने उसे दर्शन दे रही है, उसका कहीं श्रवण, मनन, निदिध्यासन होगा ? वह तो जब दूर होगी तब उसके विषय में सोचेंगे, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे। ये नहीं कर पाओ तो उसका कारण शम, दम आदि की प्राप्ति बताई। इसमें मन नियंत्रण नहीं हो पाता तो वैराग्य। वैराग्य न हो तो विवेक, विवेक नहीं कर पाते तो यज्ञ, दान, तप इत्यादि। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद एक जगह बड़ी सुन्दर बात लिखते हैं 'न हि वरविघाताय कश्चित् कन्याम् उद्वाहयति अस्मिन् लोके।' संसार में कोई पिता अपनी लड़की का ब्याह इसलिये नहीं करता कि जमाई मर जाये ! इस प्रकार जो मूल उद्देश्य आत्म-दर्शन है, उसके विघात (परित्याग) के लिये कोई कर्तव्य का विधान नहीं हो सकता। सारे कर्तव्य तुमको अंत में आत्म-दर्शन में पहुँचायेंगे। भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं कि कोई भी कर्तव्य जो तुम्हारी आत्मदृष्टि का बाधक बनता है वह अकर्तव्य हो जाता है, कर्तव्य नहीं रह जाता। लोग बड़े मीठे 'कर्तव्य' शब्द के द्वारा अकर्तव्य को कहते हैं। यदि कोई भी चीज़ परमात्म-दृष्टि में जाने में रुकावट डालती है तो वह उसी क्षण परिजात्य है।

एक जनमेजय राजा त्रेतायुग में भी हुए हैं। एक नाम से कई व्यक्ति होते हैं। वे एक बार शिकार करने बाहर गये हुए थे। रास्ते में उन्हें एक सुन्दर लड़की दिखाई दी। पास जाकर पूछा, 'क्या तेरा ब्याह हो गया है ?' उसने कहा, 'ब्याह नहीं हुआ है।' राजा

के मन में ढाँढस बँधा कि अपना काम बन जायेगा। राजा ने पूछा, 'तू किस जाति की है ?' उसने कहा, 'मेरे पिता राजा हैं।' राजा ने कहा, 'मैं भी राजा ही हूँ। ब्याह तेरा नहीं हुआ तो मेरे साथ ब्याह कर ले, मुझे तेरे से प्रेम हो गया है।' लड़की ने कहा, 'जाने दो, तेरा-मेरा साथ नहीं बनेगा।' राजा ने ज़िद पकड़ ली। उसने कहा, 'राजन् ! तेरी बहुत-सी रानियाँ होंगी, उनके बीच मुझे कहाँ फँसायेगा ?' राजा ने कहा, 'मैं तुझे अपनी मुख्य रानी, पटरानी बना दूँगा।' तब लड़की ने कहा, 'आप ज़ोर देते हैं तो मेरी एक शर्त है, वह मान लो तो तुम्हारे साथ ब्याह कर लूँगी। मुझे नहाने को या जल-क्रीडा के लिये कभी न ले जाना क्योंकि मुझे पानी से डर लगता है।'

आजकल भी कई लोगों को पानी से डर लगता है जिसे 'हाईड्रोफोबिया' कहते हैं। एक बार यात्रा में गये तो हमारे साथ एक आधुनिक लड़का था। ठण्ड का मौसम था। मानमहेश्वर जाना था जो ज्वालामुखी कांगड़ा से आगे आता है, वैद्यनाथ से आगे रास्ता जाता है। वहाँ ठण्ड बहुत थी। एक-दो दिन देखकर हमने उस लड़के से पूछा, 'तू कितने बजे नहाता है ?' उसने कहा कि 'तीन दिन से नहीं नहाया हूँ।' हमने कहा 'तू बिना नहाये कैसे रह गया ?' वहाँ हम लोगों के पास गरम पानी की कोई व्यवस्था नहीं थी। अंत में मानमहेश्वर पहुँचे तो हमने उससे कहा कि 'यहाँ डुबकी मार ले।' कहने लगा, 'मार्जन करने से नहीं होगा ?' हमने कहा, 'हो जायेगा', सोचा कहीं रोग हो जायेगा तो वापिस लौटने में मुश्किल हो जायेगी। वहाँ भी उसने मार्जन ही किया। बाद में उसने बताया, 'जहाँ हम पढ़ते हैं, वहाँ बड़े-बड़े घर के लड़के

हैं और हफ्ते में एक बार पानी नहाने को मिलता है क्योंकि रोज़ गरम पानी का इन्तज़ाम नहीं होता, इसलिये बारी-बारी से एक दिन पानी मिलता है।' आज भी यही हाल है, अपने लड़कों से पूछना। वह कहने लगा, 'जब वहाँ ही हफ्ते में एक दिन नहाते हैं तो यहाँ तीन दिन बीत गये इसमें क्या हर्ज है ?' इसी प्रकार उस बेचारी लड़की को भी नहाने से डर लगता था। इसलिये उसने राजा से कहा कि, 'मुझे कभी जल-क्रीडा के लिये मत कहना।'

राजा ने शर्त मान ली, उसे ब्याहकर ले आया। राजा ने उसे पटरानी बनाकर रखा। दूसरी रानियों को उससे ईर्ष्या हुई। स्वाभाविक है। सोचा कि यह नई आई और हमारे सिर पर चढ़ गई। वे उसकी कुछ न कुछ गलती निकालें लेकिन राजा कुछ ध्यान न दे, क्योंकि उसके साथ उसे बड़ा प्रेम था। अंत में उन सब रानियों ने सोचा कि यह कभी भी अपने साथ जल-क्रीडा के लिये गंगा या तालाब नहीं जाती। एक दिन राजा से कहने लगीं कि 'यह जल-क्रीडा के लिये साथ क्यों नहीं आती ?' राजा ने कहा, 'यह नहीं आयेगी।' सबने सोचा कि इसे वहाँ ले चलें। मनुष्य की आदत होती है कि जिसे जो नहीं करना, उसे उसी के लिये तंग करता है। उसके बहुत पीछे पड़ीं। एक बात को कई बार कहने से भले आदमियों का दिमाग भी खराब हो जाता है। राजा ने भी कह दिया कि 'चली चल, अगर तुझे मुझसे प्रेम है तो चलना पड़ेगा।' रानी का मुँह छोटा हो गया। लेकिन राजा ने यह बात कही तो 'न' भी नहीं कर सकी। सब तालाब में पहुँचे। स्नान करने के लिये अन्दर घुसे तो जल-क्रीडा होने लगी। थोड़ी देर दूसरी रानियाँ पानी मारती रहीं। थोड़ी देर बाद देखते हैं कि

वह रानी वहाँ नहीं है! सब देखने लगे, लेकिन वह वहाँ नहीं थी। राजा ने आवाज लगाई, गोताखोरों ने गोते लगाये कि कहीं बेचारी का पैर फिसल गया होगा। राजा ने जाल बिछवाये। सारे साधन करवा लिये लेकिन वह नहीं मिल तो नहीं मिली। राजा ने आदेश दिया कि 'तालाब खाली करो, हो सकता है कीचड़ में फँसी होगी, कम से कम उसकी लाश तो मिल जाये।' राजा के मन में बड़ा दुःख हुआ कि मुझसे इतना प्रेम था कि अपनी शर्त के विरुद्ध उसने स्नान किया। अन्य रानियों पर बड़ा भारी गुस्सा आया। तालाब खाली होने लगा। तालाब भी सारा खाली हो गया लेकिन रानी की लाश का कहीं पता नहीं चला।

यह नियम होता है कि जिस चीज़ का अपने साथ प्रेम होता है, वह खो जाये तो क्रोध भी बहुत आता है और उसमें मनुष्य का दिमाग और ज़्यादा खराब हो जाता है। किसी को नष्ट करने का सीधा उपाय ही यह होता है कि उसे क्रोध दिला दो।

'क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'

राजा को भी उस समय बड़ा क्रोध आया। कहा, 'कीचड़ खोदो।' वहाँ क्या होना था ? वहाँ मेंढक थे। राजा ने कहा, 'इन मेंढकों ने मिलकर मेरी रानी को खाया होगा, इन सबको मारो।' अब मेंढक मारे जाने लगे तो एक हृष्ट-पुष्ट मेंढक आया और ठाठ से आकर कहने लगा, 'राजन् ! मेरी प्रजा को क्यों मारते हो ?' राजा ने देखा कि है तो मेंढक लेकिन बड़ा हृष्ट-पुष्ट और ठाठ से खड़ा है। राजा ने सोचा, हो न हो, इसने ही मेरी रानी को खाया

होगा। कहा, 'इसे मार डालो।' तब मेंढक ने कहा, 'मैं भी राजा हूँ। तू मनुष्यों का राजा है, मैं मेंढकों का राजा हूँ। इसलिये बराबरी की बात है।' राजा ने पूछा, 'मेरी रानी कहाँ गई ?' मेंढक ने कहा, 'तेरे को रानी चाहिये ? मैं अभी बुला देता हूँ।' उसने टर्र-टर्र आवाज़ लगाई तो एक मेंढकी फुदक कर सामने आ गई। मेंढक ने राजा से कहा, 'ले, तेरी यह रानी है।' राजा ने कहा, 'मुझसे मजाक कर रहा है ?' उसने कहा, 'नहीं, यह मेरी बेटी है। आपने ढाढस देकर तो इसके साथ ब्याह किया था कि पानी में नहीं ले जाऊँगा। फिर उसे यहाँ ले आये तो इसके पूर्व संस्कार जाग्रत् हो गये।' राजा ने कहा, 'तू अपनी बेटी दिखा।' तब मेंढक ने मेंढकी से कहा कि 'इसे अपना रूप दिखा दे।' मेंढकी 'जो आज्ञा' कहती हुई झट उसी रूप में राजा के सामने खड़ी हो गई। अब राजा के दिल पर क्या बीती होगी ! कहा, 'तेरी बेटी तू अपने पास रख।' अब राजा उसके साथ क्या रह सकेगा ? उसे अपनी पटरानी बनाकर रख सकेगा ? तब मेंढक ने कहा कि 'तालाब में पानी भरवा दो।' वे दोनों चले गये।

जैसे यहाँ राजा का अत्यधिक स्नेह होने पर भी जब उसकी असलियत का पता चला कि 'यह मेंढकी है' तब उसकी तरफ कभी चित्त नहीं जायेगा। इसी प्रकार जब यह पता लग जाता है कि संसार का रूप क्या है तो चित्त कभी उसमें नहीं जायेगा। संसार मेंढकी ही तो है, और क्या है ? तब क्या मन कभी इसमें रमण करेगा ? इस जनमेजय की कथा के द्वारा भगवान् वेदव्यास ने यही बात बताई कि हम तभी तक कर्तव्याभासों को कर्तव्य मानते हैं जब तक मूल कर्तव्य का पता नहीं लगता। जिनको हम

कर्तव्य मान बैठे हैं, वास्तव में वे कर्तव्य नहीं हैं। वह तो मेंढकी बनी हुई रानी है। कर्तव्याभासों को, जो अकर्तव्य हैं, हमने कर्तव्य मान रखा है। जब परमात्मा के प्रेम का प्रस्फुटीकरण होता है तब ये सब वृत्तियाँ हट जाती हैं, एकमात्र मूल कर्तव्य रह जाता है। इसलिये वह प्रतिक्षण अपने प्रियतम परमात्मा का दर्शन करते हुए बाहर उसी परमात्मा को देखने के लिये निकालता है और फिर अपने साथ एक कर लेता है क्योंकि नाम, रूप, कर्म उसके बाधक नहीं हैं। उसके लिये तो उनसे शिव-प्रकटन हो रहा है। इसलिये उनके आनंद का एक रूप देखकर अपने अन्दर विलीन कर लिया, फिर दूसरा रूप देखा और उसे भी अपने अन्दर लीन कर लिया। और जब कभी यह विलापन नहीं हुआ तब इसे बहुत विलाप होता है कि 'मुझे परमात्मा का दर्शन नहीं हो रहा है।' उससे सहन नहीं हो सकता। इसी स्थिति को प्राप्त करना है।

प्रवचन-५

रुद्राध्याय के पंचम मंत्र में भगवती श्रुति सृष्टिप्रक्रिया का निर्देश करते हुए समाज के निर्माण का आधार बताती है। समग्र सृष्टि का जो उद्देश्य है, वही समाज का भी उद्देश्य है। उस उद्देश्य को बताते हुए कहा कि पहले ब्रह्माण्ड देह की सृष्टि, फिर उस ब्रह्माण्ड देह के अभिमानी की सृष्टि हुई। 'यह ब्रह्माण्ड देह मेरा है', ऐसा जानने वाले विराट् पुरुष की सृष्टि हुई। फिर उसके बाद जीवों की सृष्टि, जीवों के भोग्य का निर्माण करने के लिये पंच

महाभूतों के नदी, पर्वत आदि कार्यों की सृष्टि, भोग के लिये भोगायतनरूप सप्त धातु वाले पुर अर्थात् शरीर की सृष्टि हुई। इस समग्र सृष्टि के उद्देश्य का विचार प्रारंभ किया था। प्रथम उद्देश्य बताया अत्ता-भाव की सिद्धि के लिये अन्न की सृष्टि, द्रष्टा-भाव की सिद्धि के लिये दृश्य की उत्पत्ति और भोक्ता-भाव को प्रकट करने के लिये भोग्य की सृष्टि। दूसरा उद्देश्य भगवान् सुरेश्वराचार्यों के विचार के अनुसार

'यद्वा विराजमुद्दिश्य संकल्पमकरोन्मनः।

आत्मन्वी स्याम् इति तथा साकूतं सृष्टिकारणम्।।'

सृष्टि का दूसरा कारण अथवा उद्देश्य 'आत्मन्वी स्याम्' बताया– 'मैं इन सब चीज़ों वाला बनूँ' अर्थात् 'इन चीज़ों के द्वारा मैं आत्मा वाला बनूँ।' आत्मा शब्द को बताते हुए कल संकेत किया था 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह'; इसमें जिसे प्राप्त करना है, वह अपने में से ही बाहर निकलता है, 'यत् आदत्ते' और पुनः उसी को ग्रहण करता है। इसके द्वारा उसका आत्मन्वी-भाव सिद्ध हुआ।

आत्मा का तीसरा लक्षण बताया यच्चात्ति विषयानिह' जो यहाँ विषयों का अदन करता है अर्थात् खाता है। विषय वे हैं जो बन्धन का कारण हैं, जो भली प्रकार से सी दें : यदि हम विषयों के द्वारा सी दिये जावें तो वे हमारे बन्धन का हेतु हैं। इसके विपरीत यदि विषयों के ऊपर हमारा नियंत्रण रहे तो वे हमारे बन्धन का हेतु नहीं हैं। 'यच्चात्ति विषयानिह' अभी तक हमको विषय खाते हैं, हम विषयों को नहीं खाते। इसी में कल मेंढकी का दृष्टांत

दिया था। हम सोचते हैं कि हम विषयों का भोग करते हैं लेकिन वस्तुतः विषय हमारा भोग कर जाते हैं। विषयों के नियंत्रण में हमेशा हम नाचते हैं। हम चेतन हैं, हम विषयों को नचावें, यह तो ठीक है लेकिन उनके स्वरूप को न जानने के कारण जैसे मेंढकी मानवी रानी प्रतीत होती हुई राजा को नचाती रही, उसी प्रकार हमें भी असत्, जड, दुःख रूप विषय सत्, चित् और सुखरूप प्रतीत होते हुए नचाते हैं।

संस्कृत में अन्न शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की होती है—जो खाया जाये, वह अन्न और जो खावे वह भी अन्न है। अविचारशील को विषय खा जाते हैं ! मोटी भाषा में समझ लो कि विचारशील भोजन करता है। भोजन का उद्देश्य शरीर और मन को पुष्ट करना और बुद्धि के अन्दर ऊर्जा लाना है। शरीर में हल्कापन भी रखने में अन्न का उपयोग है। यदि ये उपयोग नहीं जानेंगे तो गड़बड़ा जायेंगे। बहुत से लोग शरीर की पुष्टि के लिये मांस, अण्डा आदि खाते हैं, शरीर पुष्ट हो जाता है लेकिन मन कमज़ोर हो जाता है, मन में शक्ति नहीं रहती, क्योंकि स्नायुमण्डल कमज़ोर हो जाता है। कुछ लोग मन की पुष्टि तक भोजन करते हैं तो बुद्धि को पुष्ट नहीं कर पाते। ऐसे पदार्थ का प्रयोग करते हैं जिससे बुद्धि क्षीण हो जाती है। भोजन से सबकी पुष्टि होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मानना पड़ेगा कि अन्न हमें खा गया। तुमने गलत भोजन कर लिया जो हज़म नहीं हुआ और बीमारी आ गई, नतीजा हुआ कि तुम्हारा शरीर खाने पर और कमज़ोर हो गया। खाने से शक्ति आनी चाहिये थी, उल्टा कमज़ोरी आ गई। जो खाने से संग्रहणी का रोग हो जाये वह खाना तुम्हारे काम नहीं

आया। अथवा अन्न ने मन को कमज़ोर कर दिया, बुद्धि को कमज़ोर कर दिया तब भी वह तुम्हें खाने वाला बना। लोग कहते हैं कि 'पहले मन खूब ध्यान में लगता था लेकिन अब कम लगने लगा है', क्यों ? अन्न तुमको खा गया। हरेक चीज़ जो ग्रहण की जायेगी, वह या पुष्ट करेगी या कमज़ोर करेगी। विचारशील प्रतिदिन अपने मन, बुद्धि और शरीर की पुष्टि को देखता है। कुछ लोगों ने मान लिया है कि बुढ़ापे में मनुष्य की बुद्धि कुछ कमज़ोर हो जाती है। बात बिल्कुल ठीक है, लेकिन इसलिये कमज़ोर हो जाती है कि वे विषयों का भोग नहीं करते, वरन् विषयों के द्वारा खुद भुक्त हुए रहते हैं। इसीलिये महाराज भर्तृहरि ने भी कहा, 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता' हमने भोगों को भोगा नहीं, वे ही हमको भोगते हुए चले गये। हमने रसगुल्ला नहीं खाया, रसगुल्ला फिर भी बना रहा लेकिन हम मधुमेह के शिकार होकर ख़त्म हो गये। 'कालो न यातो वयमेव याता' समय नहीं बीता, हम बीत गये। समय तो वैसे ही चलता रहा, उसमें से हम निकल गये। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' तृष्णा कभी नहीं मिटी, हम मिट गये।

ऐसा इसलिये होता है कि हमारा विषयों के ऊपर नियंत्रण नहीं है। विषय हमको खा जाते हैं क्योंकि आत्मा होते हुए भी हम अनात्मा की तरह व्यवहार करते हैं। आत्मा स्वतंत्र है और अनात्मा परतंत्र है। यहाँ इतने आदमी बैठे हुए हैं। यदि कोई आदमी थोड़ी देर बाद दिखाई न दे तो पूछोगे कि 'वह कहाँ चला गया ?' दूसरी तरफ, यहाँ यह किताब रखी है, थोड़ी देर बाद यह नहीं दीखे तो कहोगे कि 'कौन ले गया ?' फर्क यह है कि

चेतन स्वतंत्र होता है और जड परतंत्र होता है। तुम आत्मा को परतंत्र बनाते हो। इसीलिये सारे दोष कहीं न कहीं आत्मा से अतिरिक्त स्थल पर ढूँढते हो। मन क्यों नहीं लगा ? वासनाओं के कारण। अरे ! वासनायें तो जड हैं, वे क्या कर सकती हैं ! 'मेरे कारण'—ऐसा क्यों नहीं कहते ? स्वतंत्र तो मैं हूँ, आत्मा स्वतंत्र है। न वासना स्वतंत्र है, न मन स्वतंत्र है, न कर्म स्वतंत्र हैं, न प्रारब्ध स्वस्तंत्र है। ये सब जड हैं। ये क्या हमारे ऊपर शासन करेंगे ! हम तो चेतन हैं। इन सबके ऊपर हमारा शासन है। हम इनके द्वारा शासित नहीं हो सकते। लेकिन परतन्त्र बनते-बनते हमारे में परतंत्रता इतनी दृढबद्धमूल हो गई है कि हम कारण झट कहीं और ढूँढते हैं। इसलिये कहा 'यच्चात्ति विषयानिह' आत्मा वह है जो इन सारे विषयों का नियामक है। कहीं साक्षात् नियामक है और कहीं परम्परा से, लेकिन अंतिम नियमन-कारण है आत्मा ही, और कोई नहीं है।

वेदांती का यह मूलभूत मतभेद समस्त आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शनों से है। मीमांसक मानते हैं कि सृष्टि-प्रवाह में मूल कारण कर्म हैं। वेदांती कहता है कि एकमात्र कारण ब्रह्म ही है; 'जन्माद्यस्य यतः' जगत् का कारण कर्म नहीं आत्मा है। सांख्यवादी कहता है कि जगत् का कारण प्रकृति है। बहुत से वेदांती भी ऐसा कह देते हैं कि प्रकृति के अनुसार चलता है, अथवा माया का खेल है। लेकिन ब्रह्मसूत्रों के अन्दर विस्तृत विचार आया है, 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' श्रुति ने कहा, 'तदैक्षत' उसने संकल्प किया कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ 'बहु स्याम्'। प्रकृति बेचारी इसमें क्या करेगी ? सांख्यवादी जगत् का कारण प्रकृति को मानता है, उससे

भी वेदांती का झगड़ा और मीमांसक से भी झगड़ा। नैयायिक (आधुनिक वैज्ञानिक भी) जगत् का कारण परमाणुओं को मानता है। उससे भी वेदांती का झगड़ा है। अरे ! जड परमाणु क्या करेंगे जब तक कि कोई उनको मिलावे नहीं ? और परमाणु आ कहाँ से गये ? नास्तिक दर्शनों से भी यही मतभेद है। कोई शून्य, तो कोई क्षणिक विज्ञान को जगत् का कारण मानते हैं। जगत्-कारण में वेदांती का बार-बार उद्घोष है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।' सृष्टि का एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म ही है। उसके सिवाय और कोई कारण नहीं है। बाकी जितने कारण माने जाते हैं उनका ब्रह्म ने अपने आपको, अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिये निर्माण कर लिया है।

हमें पुस्तक लिखनी हुई तो बाजार से निर्झरिणी (कलम), मसीपात्र, कागज़ और एक चौकी ख़रीद लाये। आसन जमाकर लिखने लगे। पुस्तक कैसे लिखी गई, किसने लिखी ? कोई कहे कि 'मैंने देखा है कि पुस्तक लिखने का कारण पार्कर-७५ का कलम है। उसके पास बढ़िया पैन था, इसलिये पुस्तक बढ़िया लिखी गई।' तो उसका कसूर नहीं है। हर मनुष्य समझता है कि 'बुद्धि तो मेरी किसी से कम नहीं है।' अतः सोचता है—मेरे पास चौकी भी है, कागज़ भी है लेकिन मेरी कलम डेढ़ रुपये वाली है ! इसका बढ़िया पार्कर-७५ है। इसलिये बढ़िया ग्रंथ लिखने में कारण तो कलम ही है। दूसरा कहता है 'कलम तो मेरे घर में भी है, फिर भी इतना बढ़िया नहीं लिख पाता। असली कारण तो यह है कि इनका कमरे का दरवाजा पूर्व की तरफ है इसलिये

प्रातःकाल सूर्योदय का दर्शन होता है और मेरा दरवाजा पश्चिम को है। हो न हो अच्छी किताब लिखी जाने का यही कारण है।' कोई तीसरा कहता है 'ये दोनों ही कारण नहीं हैं, इसकी स्याही बहुत बढ़िया है, हमारी स्याही बीच-बीच में रुक जाती है और झटका देना पड़ता है, इसलिये गड़बड़ होता है।' लेकिन जो वास्तविकता समझने वाला ज्ञानी है, वह इन पर हँसता है। वह कहता है 'ये सब कोई कारण नहीं हैं। कारण तो ग्रन्थ लिखने वाला होता है। यह ठीक है कि यदि उसकी कलम अच्छी नहीं होगी तो उसे विक्षेप होगा, बीच-बीच में उसकी विचारधारा रुकेगी। यह ठीक है कि सवेरे ही सवेरे यदि उसे ठण्डी बढ़िया हवा नहीं मिलेगी, दिमाग में गर्मी रहेगी तो वह नहीं लिख पायेगा। इसलिये उसने वह कमरा ढूँढा जो पूर्व की तरफ खुले। उसने कमरा, स्याही, कलम आदि सब चीजें अच्छी ढूँढीं, यह ठीक है, लेकिन ग्रन्थ के अच्छे होने का वास्तविक कारण तो लिखने वाला है।' इसी तरह किसी औरत को भोजन बनाना नहीं आता तो कहती है कि 'आटा अच्छा नहीं है, घी बढ़िया नहीं, मसाला ठीक नहीं, आँच ठीक नहीं जलती है।' भोजन बनाने वाले तो तुम हो, ये सब भोजन बनाने के कारण थोड़े ही हैं। जिस प्रकार भोजन बनाने वाला ही भोजन का एकमात्र कारण है, बाकी सब साधन तो वह जुटा लेता है। एक दिन यदि रोटी ठीक नहीं बनी तो समझ लिया कि आटा ठीक नहीं, दूसरे दिन दूसरा आटा ले आयेगा। जिसे बनाना आता है उसे सामग्री का भी पता नहीं लगता कि क्या ठीक और क्या गलत है।

इसी प्रकार सृष्टि करने वाला तो एकमात्र परमात्मा ही है,

ब्रह्म ही एकमात्र कारण है। उसने त्रिगुणात्मिका सृष्टि करने के लिये गुणों आदि का निर्माण कर लिया है, महाभूतों की सृष्टि करने के लिये उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध लाने के लिये अणुओं को बना लिया। नैयायिक ने अणुओं को ठीक देखा, सांख्यवादी ने त्रिगुणात्मिका प्रकृति को भी ठीक देखा, किसी ने गलती नहीं की। हम तो यहाँ तक कहते हैं कि शून्यवादी बौद्ध ने भी ठीक देखा ! स्लेट पर लिखने में बड़ा फायदा है क्योंकि उस पर लिखो, उसे मिटा दो, फिर नया लिख सकते हो। यह क्रम आसानी से हो जाता है। यह आनंद कापी हो तो नहीं आ सकता। परमात्मा ने भी 'स्लेटी सृष्टि' की है। उसने सोचा कि 'एक बार लिखकर रख देना, यह मेरा काम नहीं है।' जिसका दिमाग कमज़ोर होता है, बुद्धि क्षीण होती है, उसे डर लगता है कि आज लिखकर मिटा दूँगा तो कल कहाँ से लिखूँग ! लेकिन जिसे पता है कि मेरी बुद्धि प्रतिक्षण नव-नव स्फूर्ति दे सकती है, वह रोज़ नया लिखेगा। परमात्मा अन्यन्त सुन्दर है। जो स्वयं सुन्दर होता है, वही सुन्दर का निर्माण करता है। सौन्दर्य का लक्षण ही है 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' रमणीय चीज़ उसे कहा जाता है जो क्षण-क्षण में नई हो। क्षण-क्षण में जिसमें नवीनता आये, वही सौन्दर्य का रूप है। परब्रह्म परमात्मा स्वयं अतिसुन्दर है इसलिये अतिसुन्दर पदार्थ का निर्माण करता है। क्षण-क्षण में उसमें नवीनता लाता है। हम कई चित्रकारों के चित्र देखते हैं, दो-तीन उनके मूल चित्र होते हैं। उसके बाद जितने चित्र वह बनाता है, उन्हीं चेहरों के ऊपर ही बनाता है और रंग बदल देता है। पहले उसने राधा का चित्र बनाया, बाद में गौरी, सीता चाहे

जो चित्र बनाये, चेहरा एक ही रहेगा और चाहे राम, कृष्ण या शंकर बनाये तो भी चेहरा एक ही रहेगा। फर्क इतना ही करता है कि कहीं भस्मी लगा दी तो कहीं तिलक चन्दन इत्यादि लगा दिया। पता लग जाता है कि यह उसी चित्रकार की कला है। इसी प्रकार लेखक होते हैं। यदि उनके नाटक, उपन्यास देखो तो पाँच-चार रचनायें आधारभूत होती हैं। उनके बाद बाँचों तो पता लग जाता है कि अमुक चरित्र-चित्रण अमुक से मेल खा रहा है। बस उसी का उलट-फेर करता है। परमात्मा की सृष्टि विलक्षण है। आज संसार में पाँच अरब आदमी हैं, किन्हीं दो का चेहरा एक जैसा नहीं है, सबके चेहरे अलग-अलग हैं। आज के पाँच अरब ही नहीं, इससे पहले भी जितने लोग हुए सबके चेहरे आये और हरेक में फर्क है। खाली चेहरे में ही नहीं, प्रत्येक अंग में फर्क है। दो की नाक या हाथ एक जैसे नहीं। यहाँ तक कि पुलिस वाले चोर को अंगुलियों की छापों से पकड़ लेते हैं। इतने अरबों आदमियों के अन्दर दो आदमियों की अंगुलियों की छाप एक जैसी नहीं। क्या उसकी रमणीयता, सुन्दरता की कोई कल्पना कर सकता है ? यह उसके सौन्दर्य का विकास है। परमात्मा इस भिन्न प्रकार की सृष्टि को करने के लिये स्लेट पर ही सृष्टि करेगा। कागज पर नहीं लिखेगा क्योंकि वह वहीं स्थिर रहेगा और यह फैलता चला जायेगा। उसे वापिस तो उसे देखना नहीं है। रोज़ नया लिखना है। इसलिये परमात्मा ने स्लेटी सृष्टि की। जो लिखा उसे मिटा दिया। मिटा कर नया लिखा जाता है, इस बात को शून्यवादी बौद्ध ने देखा तो कहा कि संसार के प्रति कारण पूर्व क्षण का ध्वंस हो जाना है अर्थात् पहली चीज़ नष्ट हो तब अगली

चीज़ पैदा हो। इसलिये यह ध्वंस (शून्य) ही जगत् का कारण है। देखा तो सबने लेकिन जैसे किसी ने कलम, किसी ने स्याही को देखा, इसी प्रकार किसी ने प्रकृति को, किसी ने अणुओं को, किसी ने कर्म को और बेचारे बौद्ध ने शून्य (मिटाने) को कारण मान लिया। ग़लती किसी की नहीं, लेकिन लिखने वाले को किसी ने नहीं देखा। बृहदारण्यक उपनिषद् में बड़ा सुन्दर बताया है 'आराममृ अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' उस परमात्मा के इस सुन्दर बगीचे को सब देखते हैं, इस बगीचे के सौन्दर्य में ऐसे मस्त हो जाते हैं कि उसे कोई नहीं देखता। बस यही ग़लती का कारण है। विषय भी हमको इसलिये बन्धन में डालते हैं कि हम उन विषयों के सौन्दर्य में यह भूल जाते हैं कि वस्तुतः हम इन विषयों के अधिपति हैं, विषयों के अधीन नहीं हैं।

हमें इसका ख़्याल कैसे रहे, कैसे इस बात को जानें ? आगे बताया 'यच्चास्य सन्ततो भावः' जो इस आत्मा का संतत (हमेशा रहने वाला) भाव है, वह हमेशा याद रखो। संसार में सब चीजें आती हैं और बदल जाती हैं पर प्रवाह चलता रहता है। हमें कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि जैसे यह सारा प्रवाह है, वैसे ही परमात्मा भी एक प्रवाह होगा लेकिन वह ऐसा प्रवाह नहीं है। वह ऐसा स्थिर है कि सब कुछ बदल जाने पर भी वह नहीं बदल सकता। उसका भाव संतत है। 'तस्माद् आत्मेति कीर्त्यते' इसीलिये तो उसे आत्मा कहा गया है। वह कभी नहीं बदलता। इस संतत भाव का जब तक स्मरण रहेगा तब तक विषयों पर नियंत्रण रहेगा और यदि इस भाव को भूल गये तो विषयों के अधीन हो जाओगे, विषय हाथ में नहीं रहेंगे।

'आत्मन्वी स्याम् इति तथा साकूतं सृष्टिकारणम्' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि विचार करने पर सृष्टि का कारण यह सिद्ध हुआ कि 'आत्मन्वी स्याम्'—'मैं इस प्रकार से, इस भाव से अपने को स्थिर करके आत्मन्वी हो जाऊँ, मैं अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जाऊँ। मुझे और कोई तो प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिये मैं स्वयं ही अपने आपसे प्रकाशित हो जाऊँ।' सारे वेद का उद्देश्य एकमात्र आत्मन्वी भाव की प्राप्ति कराने में ही है। वेद का तात्पर्य किसमें है—इस बारे में अनेक लोगों का मतभेद है। वेदांती सारे वेद को एक वाक्य मानता है। दूसरे लोग वेद के टुकड़े करते हैं कि यह कर्म और उपासना का प्रसंग है तो यह ज्ञान का और भक्ति का अथवा अन्य कोई प्रसंग है। आजकल एक नया सम्प्रदाय चला है जो उसमें से तार और टेलीफोन की बात निकालना चाहता है ! लेकिन भगवान् सुरेश्वराचार्य स्पष्ट कहते हैं

'वेदो हि सर्व एवायम् ऐकात्म्यज्ञानसिद्धये।
अतो नान्योऽभिसम्बन्धः कर्मविज्ञानकाण्डयोः।।'

सारे वेद केवल एक चीज़ के लिये हैं। इस ऐकात्म्यज्ञान की सिद्धि ही सारे वेदों का तात्पर्य है, और किसी प्रयोजन के लिये वेद नहीं है। उस परमात्मा की अनंत शक्तियों को प्रकट करने के उपाय का नाम कर्मकाण्ड है, उस परमात्मा की अनंत शक्तियों को मन के अन्दर प्रकट करने के साधन का नाम उपासना है और उसकी अनंत शक्तियों को सच्चिदानंद अनंत की स्फूर्ति के रूप में बताने वाले काण्ड का नाम ज्ञान काण्ड है। इसलिये कर्मकाण्ड, उपासना

काण्ड और ज्ञानकाण्ड के अन्दर और कोई विरोध मत ढूँढा करो। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'हे अर्जुन ! तुझे आज एक गुप्त बात बताता हूँ।' बाकी लोग वेद के टुकड़े-टुकड़े देखते हैं इसलिये असली तात्पर्य भूल जाते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी कई हिसाब रखते हैं। उनकी बिक्री और खरीद का हिसाब अलग-अलग होता है। एक हिसाब उनके सारे मुनीमों को कभी नहीं मिलता ! वह काम सेठ अपने हाथ में रखता है। एक मुनीम को यह पता है कि कितना खरीदा गया, बिक्री का पता नहीं। एक को बिक्री का पता है तो खरीद का पता नहीं है। वेतन का अलग हिसाब रखते हैं। सारे काम अलग-अलग मुनीम देखते हैं। उन सारे मुनीमों के हिसाबों का संग्रथन कोई एक मुनीम नहीं समझ पाता। इसी प्रकार लोग वेदों के एक-एक अंग को पढ़कर उसी में फँस जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन से कहा कि 'गुप्त बात यह है कि सारे वेदों के मंत्रों के द्वारा एक मैं ही जानने के लायक हूँ, और कोई नहीं है।' यह ऐकात्म्यज्ञान की सिद्धि ही वास्तव में वेदों का चरम तात्पर्य है, बाकी सब तो उसे समझने के लिये या उसके स्पष्टीकरण के लिये हैं।

यही 'आत्मन्वी स्याम्' का मतलब है। इन सारी अनंतताओं के द्वारा मैं आत्मन्वी हुआ; अपने आपको इन सबके द्वारा बाहर प्रकट करके मैंने अपने आपको जाना; क्योंकि मुझे कोई दूसरा प्रकाशित नहीं कर सकता इसलिये मैं खुद ही अपने को प्रकाशित करता हूँ। इस विचार द्वारा यह पता लग जायेगा कि यह सारा संसार कैसा है। कभी किसी ऐसे स्थल में पहुँच जाते हैं जहाँ दो तरफ काँच रखे हैं; किसी मन्दिर में, नुमाइश या सर्कस में देखा

होगा। वहाँ जब चेहरा देखें तो जितनी दूर तक नज़र जाती है एक के पीछे एक ऐसी मुखों की पंक्ति दिखाई देती है, इधर का उधर और उधर का इधर दिखाई देता है। दोनों तरफ अनंत मुख दीखते हैं लेकिन वहाँ तुम एक ही हो ! एक तुम ही वहाँ अनंत रूपों में दीख रहे हो। जैसे इधर का प्रतिबिम्ब उधर और उधर का प्रतिबिम्ब इधर पड़ता है, वैसे ही समग्र विश्व ब्रह्माण्ड में जो अनंतता दीख रही है, वह केवल तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब है। एक खुद ही सर्वत्र प्रतिफलित, प्रतिबिम्बित हो रहा है। जितना जितना दूर वाला प्रतिबिम्ब है, उतना-उतना धुंधला दीखता है। बहुत दूर वाला तो दीखता भी नहीं, लेकिन इतना ही लगता है कि वहाँ है। ठीक इसी प्रकार वहाँ जितना-जितना उस परमात्मतत्त्व के समीप वाला प्रतिबिम्ब है

'शिवो ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञइति भासते।

देवतिर्यङ्मनुष्येषु किञ्चिज्ज्ञः तारतम्यतः।।'

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि एकमात्र अखण्ड शिव अपने अत्यन्त समीप जिन ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि शरीरों में है, वहाँ एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रतिभात होता है। उनसे ज़रा दूर इंद्र, वरुण, यम आदि के अन्दर सर्वज्ञतादि कुछ धुंधले हैं, वे बहुत कुछ जानते हैं, बहुत शक्तिमान् हैं लेकिन ब्रह्मा आदि की अपेक्षा कम हैं। उनसे भी कम मनुष्यों के ज्ञान और शक्ति हैं। पशु-पक्षियों में मनुष्यों की अपेक्षा ज्ञान और शक्ति और कम हैं। जो अत्यन्त दूर हैं, उनमें ज्ञान व क्रिया नज़र ही नहीं आते जैसे ईंट, पत्थर, इत्यादि। वहाँ भी शिव है लेकिन अत्यंत दूर होने से उनमें ज्ञान, क्रिया नहीं के जैसी है। यहाँ 'इव' का अध्याहार सर्वत्र समझना,

उपाधि वाले 'सर्वज्ञ की तरह' हैं। वास्तविक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तो शिव है ही। जितना-जितना प्रतिबिम्ब दूर होता चला गया, उतनी-उतनी उसमें प्रकाशरूपता कम होती चली गई। लेकिन है वह सारा एक शिव का ही रूप। एक विराट् ही इन अनंत रूपों में भासित हो रहा है।

विराट् की उत्पत्ति का कथन समाज रूपी शरीर को बताने के लिये है। विवाह करके गृहस्थ बनते हो। यदि विराट् समझ रखा है तो जब पत्नी और पुत्रों से व्यवहार करोगे तब *उनसे* व्यवहार नहीं करोगे बल्कि उन सबके अन्दर, उन सब दर्पणों में अपने आपको देखोगे। ऐसा नहीं कि मीठी-मीठी गप्प और कड़वा-कड़वा थू ! अगर पत्नी ने अच्छा भोजन बनाया तो 'मेरी ही आत्मा है।' दूसरे दिन पत्नी ने कहा 'सिनेमा चलो', तुमने कहा 'नहीं ले चलेंगे।' उसने भोजन बनाया तो उसमें भिण्डी का साग जल गया, फुल्का कच्चा रहा, क्योंकि उसका 'मूड' अर्थात् मन जो खराब हो गया। उसका क्या कसूर है ? वहाँ भी खुद को देखो। मूड खराब किसने किया ? मैंने ही किया है, और कोई मूड खराब करने वाला नहीं है। लड़का पढ़ता नहीं है। घर से स्कूल का नाम लेकर जाता है और रास्ते में मटरगश्ती करता है। उसे पैदा मैंने किया है, उसका क्या कसूर है ? महात्मा गाँधी का एक लड़का हीरालाल गाँधी था। वह मुसलमान बन गया और फिर रुपया खाकर हिन्दू बन गया। किसी ने महात्मा गाँधी से कहा 'आप जैसे महात्मा का ऐसा लड़का !' तब महात्मा जी ने उनसे कहा 'कसूर उसका नहीं, मेरा है। जब मैंने उसे पैदा किया था तब मैं कामुक था, आगे उन्नति की। इसलिये उस समय उत्पन्न

हुए लड़के की यह भावना है तो यह मेरा ही प्रतिबिम्ब है। उस समय मेरी भावना ही ऐसी थी।' दुकान में पहुँचे। मुनीम, नौकर आदि सबके द्वारा ही तो मैं व्यापार में आत्मा वाला बना हूँ। उस सन्दर्भ में वे सारे मेरा प्रतिबिम्ब हैं। नौकर काम इसलिये नहीं करता कि मेरा प्रतिबिम्ब है। मेरा दिल क्या चाहता है ? दिल टटोलकर पूछो। चाहते हो 'मेरा लड़का सुख से सोये, उसे काम न करना पड़े।' उसी का प्रतिबिम्ब हुए नौकर भी काम नहीं करते। लोग हमसे कहते हैं 'भगवान् ने ऐसा इन्तजाम कर दिया है कि लड़का कुछ भी नहीं करेगा तो बैठा-बैठा खायेगा।' कभी-कभी हम पूछते हैं 'क्या उसे लकवा मार गया है ?' क्योंकि बैठा वही खाया करता है जिसे लकवा मार गया हो। तुम्हारे अन्तःकरण में जो-जो चीज़ है, वही उन नौकरों में, मुनीमों में भी प्रतिबिम्बित हो रही है। मैंने किसी को रुपया उधार दिया और वह मेरा रुपया मार गया। वह बेचारा भी मेरा ही तो प्रतिबिम्ब है। हृदय टटोलकर देखो कि क्या मैं चाहता हूँ कि सरकार को जल्दी-जल्दी पूरा टैक्स दे दूँ जिससे उसका अमरीका से लिया हुआ कर्जा जल्दी ही उतर जाये ? क्या यह कर्जा उतारना चाहते हो ? नहीं चाहते। तो तुमसे कर्जा लेने वाला क्यों उतारना चाहेगा ? क्योंकि वह मेरा ही तो प्रतिबिम्ब है। जैसे-जैसे यह दृष्टि बढ़ेगी, वैसे-वैसे सब जगह आत्मा के स्वातंत्र्य का उन्मेष देखोगे। अन्यथा आत्मा को परतंत्र बनाते हुए विषयाधीन हो जाओगे। विराट् की उत्पत्ति इसी दृष्टि से बताई गई है।

दक्षिण भारत में एक बहुत बड़े भक्त हुए हैं। वहाँ एक पैडैय्यार (वैश्यों की तरह की) जाति होती है। उसी जाति के पन्नितट्टू

नाम के शिव-भक्त थे। बचपन में ही उनकी परम शिवभक्ति थी। ऐसा लगता था कि पूर्व जन्म के संस्कारवशात् अंतःकरण में स्वाभाविक भक्ति का प्रवाह था। परमात्मा की तरफ से मनुष्य की वृत्ति दो तरह से जाती है–एक साधना से और एक स्वभाव से। जहाँ स्वभाव से जाती है वहाँ जीव महसूस करता है कि अपनी इच्छा नहीं है तो भी किये बिना नहीं रहा जाता। भगवान् ने भी गीता में कहा 'ह्यवशोऽपि सः'। वृत्ति स्थिर हो जाती है, उन्हें परमात्मा अवश कर अपनी तरफ खींच लेता है। यह स्वभाव से प्रवृत्ति होती है। दूसरी, साधना से प्रवृत्ति होती है। पन्नितट्टू स्वभाव से प्रवृत्त थे। वे कावेरीपत्तनम में रहते थे। उनका काम था कि लोगों से सीने के लिये कपड़े लेना, दर्जी रखकर उन्हें सिलवाना फिर लोगों को वे कपड़े देना; जैसे आजकल 'रेडीमेड गारमेण्ट्स मर्चेन्ट्स' होते हैं वैसे वे थे। धीरे-धीरे उनका व्यापार बढ़ने लगा, उन्होंने सिलाई की चीज़ों का भी व्यापार करना शुरू कर दिया। लेकिन जैसे-जैसे व्यापार बढ़ा, वैसे-वैसे उनको भजन का समय कम मिलने लगा। इतना ही नहीं, पहले उनका नियम था कि रोज़ मन्दिर और अन्यत्र जाकर देखा करते कि किसको कितनी आवश्यकता है। फिर सामर्थ्य के अनुसार उनकी आवश्यकता को पूर्ण करते थे। उन्होंने एक नियम बना रखा था कि जो भी कमाई होती थी, उसके दस हिस्से करते थे। एक हिस्सा वह अपने और घरवालों के ऊपर खर्च करते थे, एक हिस्सा भगवान् शंकर की पूजा में, एक हिस्सा अपने यहाँ काम करने वालों पर और शेष सात हिस्से दूसरे आवश्यकतामन्दों पर खर्च कर देते थे।

व्यापार विचित्र होता है। जिस आदमी को सौ रुपये का फायदा होता है, वह तो सौ खर्च कर सकता है लेकिन जिसे लाख रुपये का फायदा होता है, वह लाख *खर्च* नहीं कर सकता। जितना-जितना फायदा बढ़ता है, उतना-उतना 'टर्नओवर' बढ़ता है। वह रुपया हाथ में नहीं आता। जिसने दो दर्जन गंजी पच्चीस रुपये में लीं और पैंतीस रुपये में बेच दीं, दस रुपये उसके हाथ में आ गये, लेकिन आपने लाख रुपये का सामान बेचा तो कहीं से माल आया था, उसके लिये रुपया भेजना है और कहीं माल गया हुआ है, उसका रुपया मिलना है। वहाँ पर ऐसा नहीं होता कि सत्तर हजार का आया, अस्सी हजार का बेचा तो दस हजार घर आ गये। वह किताबों में ही लिखा रहता है। व्यापार की धनसंख्या बढ़ने पर धर्मादा खर्च आदि की संख्या उस अनुपात में नहीं बढ़ती। इसी मानसिकता से उनका सप्तमांश बाँटने वाला नियम ढीला पड़ गया। उन्हें धार्मिक चर्या के लिये समय भी कम मिलने लगा। यह भी स्वाभाविक है।

बहुत सी मातायें कहती हैं, 'घर में बहू आ जायेगी तो सत्संग करूँगी।' हमें दिल में हँसी आती है। बहू आयेगी, एक व्यक्ति घर में भिन्न प्रकृति का बढ़ेगा, नई लड़की आयेगी। बीमार भी जल्दी होगी। तुम्हारी जिम्मेदारी बढ़ेगी। साल भर में हो सकता है और जीव ले आये, उसकी तैयारी में ही दो महीने चले जायेंगे। मातायें दो महीने पहले से परेशान होती हैं, ऐसे तैयारी करती हैं मानो न जाने कब हो जाये ! आजकल तो लोग बच्चा होने से पहले ही अस्पताल में नाम लिखा देते हैं कि शायद उस दिन अस्पताल में जगह न हो। जब बच्चा हो जायेगा तो बहू को रखना

नहीं आयेगा। अब उसे शिक्षा देती रहेंगी। बहू नज़ीर बना लेगी कि सास हमेशा मदद करेगी। आगे मदद नहीं की तो झगड़ा होगा, नज़ीर जो बन गई है। इसलिये यह चक्र घटने वाला नहीं है। ऐसे ही व्यापारी यदि सोचें कि 'अब अच्छी तरह से चले तो आराम से बैठूँगा', तो वह हो नहीं सकता। व्यापार जितनी अच्छी तरह से चलेगा, उतना ही ज़्यादा घुमायेगा।

पन्नितट्टू का काम बहुत बढ़ा। गरीबों को बाँटने का क्रम भी बिगड़ गया। भगवान् की पूजा का क्रम भी बिगड़ गया और गरीबों को जाकर देखने की तो फुर्सत ही नहीं रही। मुनीमों से कह दे कि देख आओ। मुनीम तो अपनी मुनीमी रखेंगे ही ! यदि पच्चीस रुपये बाँटने हों तो पाँच रुपये उसका मेहनताना, पाँच अपने परिचितों को, पाँच पहचान वाले दुकानदारों का हिस्सा बन जायेगा। और अंत में जिसे देने हैं, उसे पाँच ही मिलेंगे। तुम मुनीम को डाँट देते हो कि 'दान का पैसा ठीक से नहीं लगाता।' दान का पैसा तो *तुम्हारे* लिये है, मुनीम दान थोड़े ही कर रहा है! धीरे-धीरे पन्नितट्टू का क्रम भी ऐसा ही हो गया।

लेकिन भगवान् का नियम है कि कोई एक बार उनकी तरफ स्वभाव से सहज भाव से प्रवृत्त हो जाये तो परमात्मा उसे कभी छोड़ते नहीं हैं। जीव परमात्मा को पकड़कर छोड़ सकता है। लेकिन परमात्मा जीव को पकड़कर कभी भी नहीं छोड़ सकता, क्योंकि जीव यह नहीं जानता कि 'मैं परमात्मा हूँ' लेकिन परमात्मा तो जानता है कि 'मैं जीवरूप में हूँ'। लड़के ने अपने को कभी माँ की कोख से निकलते हुए नहीं देखा। उस समय उसकी आँखें बन्द होती हैं, इसलिये उसे याद नहीं कि 'मैं माँ से पैदा हुआ हूँ',

लेकिन माँ ने देखा है, अनुभव किया है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं, 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' कुपुत्र हो सकता है क्योंकि उसे पता नहीं, केवल सुना है कि 'मैं पुत्र हूँ।' लेकिन माँ में कभी कुमाता का भाव नहीं आता। भगवान् भाष्यकार ने 'कुपिता न भवति' कहीं नहीं कहा, क्योंकि पुत्रधारण का साक्षात् ज्ञान केवल माता को है। इसीलिये वह कभी कुमाता नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार यहाँ जीव तो नहीं जानता कि 'मैं परमात्मा हूँ' या 'परमात्मा का अंश हूँ' या 'परमात्मा का पुत्र हूँ।' उसने तो सुन रखा है कि वह मेरा माता-पिता है, वेद आदि सच्छास्त्र कहते हैं; लेकिन परमात्मा ने उसे अपने में से निकाला है, उसे पता है, इसलिये वे कभी नहीं छोड़ सकते।

भगवान् शंकर एक दर्जी बनकर पन्नितट्टू के यहाँ आये कि 'मुझे नौकर रख लो, मैं बहुत काम करने वाला हूँ।' पन्नितट्टू ने ऊपर से नीचे उसे देखा कि चेहरा तो रुआबदार है। पूछा, 'कहाँ काम किया है ? कितने साल काम किया है ?' उन्होंने कहा कि 'अब तक तो स्वतंत्र ही काम करता रहा और कितने साल से काम करता हूँ, यह मुझे याद नहीं है। लेकिन जब तक मुझे याद है, तब से काम ही करता रहा हूँ।' पन्नितट्टू ने सोचा कि दर्जी का लड़का होगा, बचपन से ही सीना सीख गया है। उससे कहा, 'नये-नये नौकरों से मैं बड़ा काम लिया करता हूँ।' वह बोला 'देख लेना, काम कम नहीं करूँगा। औरों से कुछ ज़्यादा ही करूँगा, लेकिन मेरी एक आदत है। मैं रुपये के लिये काम करने नहीं आया हूँ। मुझे तो काम करने का शौक है। मुझे कुछ लेना नहीं, कुछ देना है। मेरी आदत है कि काम करते-करते मैं बक-बक

करता हूँ, मैं चुप नहीं रह सकता।' पन्नितट्टू सोचने लगा कि मुफ्त का मजदूर बढ़िया मिला। बोलता रहेगा तो मेरा क्या करेगा? यह सोचकर उसे काम पर लगा लिया। काम वह सबसे ज़्यादा करे। पन्नितट्टू खुश हो गया। कहा 'कुछ रुपया ले ले।' कहने लगा, 'काम के बदले पैसा लेना मुझे अच्छा नहीं लगता।' पन्नितट्टू को उससे प्रेम हुआ, कहा 'कुछ तो ले लो।' वह बोला 'देना ही है तो मेरी पत्नी दूर देश में रहती है, खाने-पीने का इन्तज़ाम नहीं है, इसलिये वह इन्तज़ाम कर दो।' बात भी ठीक थी क्योंकि पार्वती जी को हिमालय पर ही छोड़ गये थे। अब वह पन्नितट्टू के घर में खाने लगा। वह निरंतर मुँह से शिवभक्ति की ही चर्चा करे और वैराग्य की बातें करे। थोड़े समय में ही पन्नितट्टू के संस्कार जाग्रत् होने लगे। मन में कुछ-कुछ चेतना आ गई कि 'मैं क्या था और क्या हो गया। कहाँ सुख में था और कहाँ प्रपंच में फँस गया।' लेकिन अपने से ही फैलाया था, इसलिये काट भी नहीं सकता था। विष का पेड़ भी यदि स्वयं बोया हो तो कैसे काटें ?

भगवान् ने देख लिया कि संकल्प ठीक हो गया। परमात्मा सहायता तभी करते हैं जब तुम्हारी इच्छा हो जाये। भगवान् कभी ज़बरदस्ती नहीं करते क्योंकि यह सारा ईश्वर का स्वतंत्र खेल है। तुमने बिना किसी परतंत्रता के स्वयं इच्छा की। काम, लोभ किसी की परतंत्रता नहीं चाहते। यहाँ तक कि शास्त्र और स्वर्ग-नरक के भय की परतंत्रता भी नहीं चाहते। इन सारी परतंत्रताओं से रहित होकर यदि एक बार यह कह दिया 'हे भगवन् ! मैं तेरा हूँ', तो काम हो गया। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम कहते हैं, कि

जो एक बार भी प्रपन्न होकर 'आपका हूँ' यह स्वीकार कर लेता है उसे मैं सब तरफ से निर्भय बना देता हूँ, यह मेरा नियम है। सारे सलाहकार उनके विरोधी बन गये जब विभीषण ने कहा कि, 'मैं आपका हूँ।' भगवान् ने हनुमान्, सुग्रीव आदि से कहा, 'मैं तुम्हारी सब बातें मानूँगा लेकिन यह नहीं हो सकता कि एक बार भी जो मुझे प्रपन्न हो गया, उसे छोड़ दूँ।' बार-बार शरणागति नहीं होती, रोज़-रोज़ शरणागति की प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ती कि 'श्रीकृष्णः शरणं मम' जपते रहो। इसी प्रकार रोज़ अहं ब्रह्मास्मि कहने से नहीं, वरन् दिल से एक बार कह दिया तो पर्याप्त है। एक बार भी सचमुच यह कह दिया कि 'तवास्मि—मैं तेरा हूँ' तो बार-बार कहने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसे वे अभय पद दे देते हैं अर्थात् उसे अपने साथ एक कर लेते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी अभय पद को बताया है। समग्र आत्मविद्या का उपदेश दे दिया और जनक को ब्रह्मज्ञान हो गया तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसे प्रमाण-पत्र दिया। यह नहीं कहा कि 'तू ज्ञानी हो गया या ब्रह्म हो गया।' ये तो उपदेशवाक्य हैं। कहते हैं 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' 'तू आज भयरहित हो गया।' अभय ही तत्त्व-बोध का प्रमाणपत्र है। ज्ञान की चरम काष्ठा हो गई तो फिर भय नहीं है क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' जब तक दूसरा बैठा है, डर हटने वाला नहीं है। जब एकता की प्राप्ति हो गई तब डर कहाँ रहेगा ? यही बात वाल्मीकि रामायण में कही कि 'मैं इस अभय को दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक से कही। और यही बात श्रीमद्भागवत में भगवान् शुकदेव परीक्षित से कहते हैं। जब सारी भागवत सुना

चुके तब परीक्षित से पूछा 'बेटा, अब क्या हाल है ?' परीक्षित ने कहा 'मैं आज अभय को प्राप्त हो गया। 'ब्रह्मैवाऽहं' मैं ब्रह्म पद को प्राप्त करने वाला अभय पद को प्राप्त हुआ। अब तक्षक डसेगा तो मुझे दुःख नहीं होगा, वह मेरा आत्मरूप बन गया है।' जब भगवान् शुकदेव ने देखा कि वहाँ दुःख नहीं तो उठकर चले गये। कहा 'तेरा काम हो गया, अब तक्षक को डसना होगा तो डस लेगा।' न परीक्षित ने ही उन्हें रोका कि 'अभी तक्षक आने वाला है, रुक जाइये।' सारे शास्त्रों में यही बताया है।

प्रकारान्तर से वह पन्नितट्टू को समझाते रहे। उसके मन में धीरे-धीरे आने लगा और स्वयं इच्छा हो गई कि 'यह सब कुछ ख़त्म हो जाये तो चलें।' दूसरे दिन पूजा करने बैठे हुए थे। तभी खबर आई कि करोड़ों रुपयों का माल लेकर जो जहाज आ रहा था, वह तिरुवत्तियूर बन्दरगाह के पास डूब गया। वह पूजा छोड़कर दौड़ा। सारा धन चला गया। वहाँ जाकर दिन भर ढूँढा, लेकिन उसके कोई अवशेष भी नहीं मिले। दुःखी होकर घर वापिस आया। घरवाली ने कहा कि 'वह दर्जी एक चिट्ठी दे गये हैं। इसमें बताया है कि जहाज कहाँ मिलेगा।' उसने झट चिट्ठी खोली, वहाँ केवल लिखा था 'केवल यह जहाज ही नहीं, तेरे शरीर रूप जहाज की भी एक सुई मिलने वाली नहीं, जब यहाँ से जायेगा। एक टूटी सुई भी साथ देने वाली नहीं है।' उसका भाव जाग्रत् हो गया। उसी समय उसका जो कुछ था, वह सब दुखियों, दरिद्रों में बाँट दिया और वहाँ से चल दिया। राजा भद्रगिरि के राज्य में जाकर तपस्या करने लगा। जहाँ तपस्या कर रहा था, उधर से एक दिन चोर निकले। कुछ समय बीत गया। चोरों ने रात्रि

में विचार किया कि 'चोरी के हार इत्यादि आभूषण देवमन्दिर में मूर्ति पर डाल दें, फिर किसी समय आकर ले लेंगे।' वहीं पन्नितट्टू ध्यानमग्न थे। चोरों ने उन्हें भगवान् शंकर की मूर्ति समझकर सब गहने उन्हीं पर डाल दिये। थोड़ी देर बाद वहाँ सिपाही भागते-भागते आये और उन्हें पकड़कर ले गये। वह उस समय मौनव्रत रखते थे। राजा ने उसे सूली का दण्ड दे दिया। जब उन्हें सूली पर बैठाया तब सूली जल गयी। राजा को विचार आया कि 'यह कोई सच्चे महात्मा हैं, यह मैंने क्या कर दिया !' फिर राजा ने उनसे बहुत क्षमा माँगी। तब उन्होंने मौन व्रत भी खोला। राजा ने कहा 'कुछ ले लीजिये।' कहने लगे 'यदि कुछ करना चाहते हो तो अपने राज्य में यह नियम बना दो कि इस राज्य में कोई व्यक्ति भूखा न रहे।' तब से उस छोटे से राज्य में तिरुवत्तियूर बन्दरगाह के मन्दिर में यह नियम हो गया था कि उस काल के परिमाण के अनुसार तेंतालीस मन चावल रोज़ बनेगा और जो आयेगा, उसे भोजन दिया जायेगा। इस प्रकार साधना वृत्ति करते हुए अंत में वहीं उनका शरीर शांत हुआ।

'आत्मन्नवी स्याम्' की सहज दृष्टि यदि एक बार बन जाती है, स्वाभाविक बन जाती है तो भगवान् साथ नहीं छोड़ते। दूसरी बात यह कि विषयों में जितना-जितना प्रवेश करोगे, उतने-उतने विषय तुम्हारे ऊपर ज़ोर लगायेंगे। यदि वृत्ति वास्तविक और सहज है तो परमात्मा की सहायता अवश्य आती है, किस रूप में आती है, यह पता नहीं लेकिन सहायता आती अवश्य है। वह अनंत रूपों में अनंत शक्तियों में विहार करने वाला विराट् कब कैसी लीला करेगा, यह नहीं जान सकते। जानने का प्रयोजन भी व्यर्थ

है। लेकिन करना अवश्य है। 'आत्मन्वी स्याम्' की दृष्टि जितनी दृढ होगी, उतना ही मनुष्य आगे बढ़ता चला जायेगा। उसे देखना है कि 'सब के अन्दर मैं ही प्रतिबिम्बित हुआ खेल रहा हूँ।' यह अनंतता की दृष्टि विराट् पुरुष की उत्पत्ति का कारण है। यह दृष्टि जितनी-जितनी समाज के अन्दर लाते चलोगे उतना ही विराट् पुरुष होते हुए समाज का विकास होता जायेगा और जितना उसमें संकोच होगा, समाज संकुचित होता जायेगा। जितना-जितना संकोच, उतना-उतना दुःख और जितना-जितना विकास, उतना सुख बढ़ता जायेगा। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।' अल्प में सुख नहीं होता। इस अनंत भाव की प्राप्ति के लिये विराट् का निर्माण हुआ। आगे यह विराट् पुरुष कैसे बनता है, इस पर विचार करेंगे।

प्रवचन-६

विचार चल रहा है कि 'ततः तस्मात् परमात्मनः' उस परमात्मा से विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड-देह की उत्पत्ति हुई 'ततो विराड् अजायत'। उस विराट् पुरुष की उत्पत्ति के बाद ब्रह्माण्ड-देह के अन्दर उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व का प्रवेश होने के बाद उससे नानाविध जीवों की उत्पत्ति, जीवों के भोग के लिये भौतिक लोकों की उत्पत्ति और उसके बाद पंचमहाभूतों से उत्पन्न सप्त रस वाले देहों की उत्पत्ति हुई। यह सारा क्रम बताया। प्रथम ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति, फिर ब्रह्माण्ड देह में उस परमात्मा की युति, उस युति

से फिर अनंत जीवों की उत्पत्ति, जीवों के भोग के लिये लोकों की उत्पत्ति और फिर उनसे भोगायतन सप्तधातु वाले देहों की उत्पत्ति। ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति के दो उद्देश्य बताये। उस ब्रह्माण्ड देह के साथ विश्वात्मा की युति किस प्रकार की है—अब यह बताना है, अर्थात् विराट् पुरुष की उत्पत्ति का स्वरूप समझाना है।

ब्रह्माण्ड देह के साथ परमात्मा का सम्बन्ध कैसा है ? यह ज़रा दार्शनिक विषय है। दो चीज़ों का सम्बन्ध कई प्रकार से सम्भव है। दो अंगुलियाँ आपस में मिल जाती हैं, यह भी एक तरह का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहते हैं, क्योंकि दो चीजों का आपस में संयोग हुआ। विचार करके देखोगे तो पता लगेगा कि संयोग उन्हीं चीज़ों का होता है जिनके अवयव (टुकड़े) हों। अंगुलियों के अवयव हैं, इसलिये किन्हीं दो अवयवों के पास आ जाने से जो हुआ, वह संयोग है अथवा एक हिस्से से दूसरे हिस्से का जुड़ जाना ही संयोग है। यदि हिस्से न हों और दोनों का संयोग हो तो इसका मतलब होगा कि कोई एक दूसरे में लीन हो जायेगा, क्योंकि किसी हिस्से से अलग रहेगा तभी संयोग कहा जायेगा। इसलिये संयोग संबंध के लिये अवयव होना ज़रूरी है। यदि ब्रह्माण्ड देह का परमात्मा के साथ संयोग-संबंध मानें तो परमात्मा को टुकड़े वाला मानना पड़ेगा कि परमात्मा के किसी भाग से ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध है। दार्शनिक सिद्धान्त है कि जो टुकड़े वाला होता है, वह विनाशी होता है। एक-एक टुकड़ा हटते हुए कभी न कभी वह नष्ट हो जायेगा। इसलिये ब्रह्माण्ड देह के साथ परमात्मा (विश्वात्मा) का संयोग तो बनता नहीं है।

फिर कैसा संबंध है ? दूसरा संबंध काल से होता है। एक

काल में दो चीज़ें होवें तो भी दोनों का सम्बन्ध हो जाता है। जैसे जिस काल में अकबर था, उसी काल में तुलसी थे, इसलिये दोनों का कालिक अर्थात् काल-विशेष से सम्बन्ध हो गया। विश्वात्मा परमात्मा का ब्रह्माण्ड के साथ कालिक सम्बन्ध भी नहीं बनता क्योंकि विश्वात्मा नित्य है और ब्रह्माण्ड अनित्य है क्योंकि उत्पन्न हुआ है। इसलिये दोनों का कालिक सम्बन्ध नहीं बनता। तीसरा सम्बन्ध कार्य-कारण का हुआ करता है। जैसे दूध और दही का आपस में सम्बन्ध। दही को देखते ही जानते हो कि एक दिन यह दूध था। यह सम्बन्ध भी यहाँ नहीं बनता क्योंकि जब दही बन गया तब दूध नहीं रहा। वैसे यहाँ यह तो नहीं कि ब्रह्माण्ड देह तो बन गया लेकिन वह विश्वात्मा नहीं रहा ! इसलिये वह सम्बन्ध भी नहीं बनता। इसी प्रकार अनेक प्रकार के सम्बन्धों का विचार किया गया है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के सम्बन्धों का निरूपण किया है। लेकिन इन सब सम्बन्धों से अपरितोष रहा। वस्तुतः इनमें से कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ।

सब सम्बन्धों का एक ही प्रबल खण्डन समझना। दो चीज़ें जब आपस में मिलेंगी अथवा दोनों का सम्बन्ध होगा तब दोनों में कुछ न कुछ परिवर्तन होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि दो पदार्थों का सम्बन्ध हो और एक बदले, दूसरा न बदले, क्योंकि सम्बन्ध हमेशा दोनों में रहता है। ब्याह हुआ तो पत्नी बदल गई, ऐसा नहीं समझना। घर में सास के झगड़े का मूल कारण इतना ही तो है कि सास कहती है 'लड़की तू तो बदल गई, अब तू कुमारी नहीं रही, मेरे घर की हो गई; लेकिन तुम्हारे इस सम्बन्ध से मेरे

लड़के में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।' यदि सम्बन्ध की द्विनिष्ठता जानती होती तो समझती कि आज से यह लड़की जिस प्रकार से अपने माता-पिता की नहीं, उसी प्रकार से आज से मेरा लड़का भी अपने माता-पिता का नहीं है ! सम्बन्ध द्विनिष्ठ है, एक का परिवर्तन हो, दूसरे का न हो, यह नहीं हो सकता।

पहले आदमी अपने घर में जिस मुनीम या नौकर को रखता था, वहाँ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होता था। हम उसका पोषण करने के लिये उसे रखते थे और वह पुष्ट होने के लिये रहता था। धीरे-धीरे औद्योगीकरण आया। इसमें मालिक और नौकर का पोष्य-पोषकभाव नहीं रहा। तुम्हारे घर में नौकर है, तुम मालिक हो। जब नौकर कहता है—'बाबूजी, आज मेरी पत्नी बीमार है' तब तुम्हें पता है कि वह बीमार है या नहीं है। इसलिये तुम उससे व्यक्ति के स्तर पर व्यवहार करोगे। हो सकता है एक महीने पहले उसको छुट्टी की ज़रूरत पड़ी थी। आज फिर उसे छुट्टी की ज़रूरत पड़ गई। यदि पोष्य-पोषक सम्बन्ध है तो समझोगे कि यह तो सबकी आपत्ति है। मेरी भी पत्नी बीमार हो जाये तो क्या करूँगा ? पोष्य-पोषक भाव का सम्बन्ध होने के कारण तुम कठिनाई उठाकर भी उसे छुट्टी दे देते थे। अब औद्योगीकरण हो गया। तुम्हारी फैक्ट्री में पाँच सौ या एक हज़ार आदमी काम करने वाले हो गये। पोष्य-पोषक भाव का सम्बन्ध रहा नहीं। नौकर आकर कहता है 'मेरी पत्नी बीमार है।' पहले तो तुम्हें यही संदेह है कि वह बीमार है भी या नहीं, क्योंकि तुम्हें उसके घर का पता नहीं है। यदि निर्णय भी हो गया कि बीमार है तो अगला कदम यह है कि यह आदमी तापक यंत्र (बायलर) चलाने वाला

है। अगर यह नहीं आयेगा तो बाकी सब भी काम नहीं करेंगे और मेरा पाँच हजार रुपये रोज का नुकसान हो जायेगा। इसलिये कह दोगे 'तुम्हारी छुट्टी ड्यू नहीं, इसलिये आज नहीं मिल सकती। तुम्हारे घर में तुम्हारी पत्नी बीमार है तो मैं क्या करूँ?' पोष्य-पोषकभाव नहीं रहा। इसमें गलती हम किसी की नहीं बताते। गलती तो उस दिन हो गई जिस दिन औद्योगीकरण ने आकर हमें मनुष्य की जगह यंत्र बना दिया, मूलाविद्या तो वह है। अब तुम्हारा पोष्य-पोषकभाव नहीं रहा। सम्बन्ध हमेशा द्विष्ठ होता है। इसलिये जब धीरे-धीरे सम्बन्ध बदला तब तुम सोचते हो कि यदि यह काम थोड़ा-सा पूरा कर लेता तो हमारा दो हज़ार का नुकसान बच जाता। लेकिन उसे तुम्हारे दो हज़ार के नुकसान की क्या पड़ी है ! उसकी पत्नी बीमार है, वह उसके लिये उतना ही ध्रुव सत्य है जैसे तुम्हारे लिये तुम्हारी पत्नी का बीमार हो जाना। यह उसके लिये प्रत्यक्ष, अनुभवसिद्ध है।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व की बात है। हमारे एक अत्यंत परिचित सज्जन 'स्टेट्स्मैन' में सहकारी सम्पादक का काम करते थे। संस्कृत और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रथम महायुद्ध छिड़ चुका था। लेकिन इंग्लैण्ड ने अभी युद्ध की घोषणा नहीं की थी, एक-दो दिन में करने वाला था। उस ज़माने में स्टेट्स्मैन प्रमुख समाचार पत्र था, उसमें सरकार की ही नीतियों का अनुसरण होता था। उन्हें पता था कि यह घोषणा होने वाली है। इसलिये उसके लिये बड़ा सुन्दर सम्पादकीय तैयार किया जा रहा था। भारतीयों को यह दिखाना था कि यह युद्ध तुम्हारे हित का है। युद्ध एक-दो दिन में होने वाला था। और वह सम्पादकीय

बड़ा लम्बा तैयार हो रहा था। उसी बीच में उन पंडित जी के पिता का श्राद्ध आ गया, उन्होंने छुट्टी की अर्ज़ी दी। उसका सम्पादक अंग्रेज़ था। उसने कहा 'आज छुट्टी कैसे मिल सकती है ? यह काम तो कल तक तैयार हो जाना है।' उन्होंने कहा 'मेरे पिता का श्राद्ध है।' उस अंग्रेज़ सम्पादक ने कहा 'श्राद्ध कल कर लेना।' वे घर गये और इस्तीफा लिखकर भेज दिया और उसी दिन से प्रतिज्ञा की कि इस अंग्रेज़ी सल्तनत का मुझे विरोध करना है। जिस देश का आदमी यह नहीं समझ सकता कि पिता का श्राद्ध मुख्य है या सम्पादकीय मुख्य है, उस देश को यहाँ राज्य करने का अधिकार नहीं है। सम्बन्ध द्विष्ठ होता है, शासक शासित की स्थिति समझे।

पचास वर्ष के बाद कल ही एक दूसरी घटना सामने आई। कल हमारे पास सरकार का एक पत्र आया कि, 'छः अगस्त १९७१ को अमुक कार्य आप लोगों को करना है।' पत्र देखकर ही हमारा माथा ठनका; ये लोग संस्कृत के अधिकारी होकर ग्रहण वाले दिन मीटिंग बुला रहे हैं। उस दिन हम लोग वेद का स्वाध्याय भी नहीं करेंगे, इसीलिये हमें उपाकर्म संस्कार आज से दस दिन पहले नागपंचमी को कर लेना पड़ा। ये कैसे संस्कृत के अधिकारी हैं ? कुछ विचित्र सा लगा। जब वह पत्र पढ़ते-पढ़ते अंत में पहुँचे तो आश्चर्य हुआ, उसे लिखने वाले ब्राह्मण थे ! पचास वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण ने स्टेट्स्मैन को इसलिये छोड़ा था कि वहाँ के सम्पादक यह नहीं समझ पाते थे कि श्राद्ध ज़रूरी है या सम्पादकीय जरूरी है। क्या आज यही परिस्थिति अपने आपको भारतीय कहते हुए घूमने वालों की नहीं है जिनको यह तक पता नहीं कि किस दिन

ग्रहण पड़ेगा और ग्रहण में क्या किया जा सकता है और क्या नहीं किया जा सकता ? क्या उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध रह सकता है ? सिवाय एक सम्बन्ध के कि नाश्य-नाशक भाव सम्बन्ध हो। या तो वे हमें नष्ट कर दें या हम उन्हें नष्ट करें। इसके सिवाय दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं बनता।

विचारदृष्टि से देखने से पता चलता है कि संबंध एक-दूसरे को परिवर्तित करता है। जब पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध तुम्हारा नहीं रहा, जब तुम मज़दूर को केवल अपने कार्य करने का यंत्र समझते हो कि जैसे बायलर चलता है ऐसे ही बायलर चलाने वाला भी चले, तब तुम्हारा मानवीय सम्बन्ध नहीं रहा। यदि वह किसी दिन काम नहीं करता तो क्या उससे पूछते हो कि 'क्या बात है, आज कुछ परेशान नज़र आ रहे हो' या क्या कहते हो कि 'क्या बात है, ठीक से काम क्यों नहीं कर रहे हो ?' हो सकता है कि उसकी घरवाली ने आज उसे चाय ठीक बनाकर नहीं दी, इसलिये उसका मूड खराब हो गया। तुम तो कहते हो कि जैसे बायलर बटन दबाते ही काम करता है, वैसे ही तू क्यों नहीं करता ? तुमने उसे यंत्र बनाया तो उसने भी तुमको केवल धन चूसने का एक साधन बनाया। इसलिये नाश्य-नाशक भाव सम्बन्ध हो गया। वह तुम्हें नष्ट करना चाहने लगा क्योंकि तुमने उसे नष्ट कर दिया। किसी मनुष्य को तुमने यंत्र समझ लिया तो उसकी मनुष्यता ही तो नष्ट कर दी। सम्बन्ध हमेशा द्विष्ठ होता है, दो में रहता है। यह नहीं हो सकता कि एक परिवर्तन करे, दूसरा न परिवर्तित हो क्योंकि सम्बन्ध हमेशा दो में रहेगा।

परमात्मा का ब्रह्माण्ड से यदि सम्बन्ध मानेंगे तो ब्रह्माण्ड

परमात्मा में कुछ न कुछ परिवर्तन ला देगा। परमात्मा यदि परिवर्तनशील हो गया तो जिसका परिवर्तन होता है वह पूर्वरूप वाला रहा ही नहीं। यदि परिवर्तन आ गया तो दोनों का धीरे-धीरे नाश होना अवश्यंभावी है। चाहे समवाय या कार्यकारण जो भी सम्बन्ध परमात्मा और ब्रह्माण्ड का मानो, यदि परमात्मा में न्यूनता, सावयवता या परिवर्तनशीलता आ जायेगी तो वह परमात्मा नहीं रहेगा। क्यों नहीं रहेगा ? भगवान् गौडपादाचार्यों ने एक नियम बताया है 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' अर्थात् जो चीज़ आदि और अंत में बदलती रहे, अब कुछ है और बाद में कुछ और हो जाये तो जिस समय दिख रही है, उस समय भी वह नहीं के जैसी ही है। ऐसे ही परमात्मा भी फिर नहीं जैसा हो जायेगा।

विराट् और परब्रह्म परमात्मा का सम्बन्ध नहीं बनता, सम्बन्ध का कोई भी प्रकार बनाने जायें तो कोई न कोई त्रुटि रह जाती है। विचार करके शास्त्रकारों ने एक ऐसा स्थल निकाला जहाँ सम्बन्ध होते हुए भी परिवर्तन नहीं आता ! सवेरे बाल ठीक करने के लिये शीशे के सामने खड़े होते हो।

'स्वरूपानपहानेन पररूपसदृक्षताम्।
प्रतिबिम्बत्वमेवाहुः खड्गादर्शतलादिवत्।'

यहाँ सम्बन्ध है लेकिन कैसा सम्बन्ध है ? प्रथम बताया कि अपने स्वरूप की तनिक भी हानि अर्थात् कम किये बिना सम्बन्ध है। काँच में जब तुम्हारे मुँह का सम्बन्ध होता है तब क्या तुम्हारा वज़न एक ग्राम भी घटता है ? या तुम्हारे चेहरे की एक झिल्ली भी उसमें जाती है ? तुम्हारे स्वरूप में कोई फ़र्क नहीं

आता। जो वेदांत नहीं जानता वह तो कहेगा कि फर्क आ जाता होगा। हमारे एक बड़े प्रिय सज्जन थे। उनके युग में भाचित्र (फोटो) नहीं होते थे। एक बार कहने लगे, 'स्वामी जी एक बात का ख्याल रखना कि ये भक्त लोग फोटो उतारते हैं। अपनी फोटो ज़्यादा मत उतारने देना।' कारण पूछा तो कहा 'कुछ न कुछ शरीर का भाग तो उस फोटो में जाता होगा। और धीरे-धीरे ज़्यादा शिष्य बन गये और फोटो उतारने लगे तो कमज़ोर हो जाओगे।' हमने उन्हें बहुत समझाया कि तुम्हें मनुष्य देखता है तो उसकी आँख में तुम्हारा चित्र आ जाता है। कहने लगे, 'यह कैसी बात है, जब कोई देखता है तो उसके अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र-रश्मि से हमारे ऊपर आती भी है तो कुछ न कुछ मिलता ही है।' सांख्यवादी ऐसा मानते हैं, उन्हीं के हिसाब से वे कहते थे। लेकिन वस्तुतः स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। बिम्ब में किंचित् परिवर्तन नहीं, फिर भी काँच के साथ हमारा सम्बन्ध हो गया !

यह नहीं कह सकते कि माने ही नहीं कि सम्बन्ध हो गया, क्योंकि 'पररूप-सदृक्षता' वह काँच अब काँच के रूप का नहीं रहा, देखने पर मेरे रूप का दीखता है। उसका *स्वरूप* नहीं बदला, लेकिन उसके अन्दर मैं दीख रहा हूँ, उसके अन्दर कुछ परिवर्तन हुए बिना ही दीख रहा हूँ। यदि सम्बन्ध न होता तो उसका अपनापन न दीखकर केवल मैं ही वहाँ क्यों दीखता ? काँच बिल्कुल साफ है, बढ़िया पालिश किया हुआ है। उसमें जब अपना चेहरा देखते हो उस समय काँच नहीं दीखता। दुकान छोटी हो तो लोग चाहते हैं कि बहुत बड़ी दीखे। इसलिये तीनों दीवारों में काँच लगा देते हैं। ग्राहक अन्दर जाता है तो सोचता है कि न

जाने कितनी बड़ी दुकान है, क्योंकि काँचों से उसकी लम्बाई-चौड़ाई बढ़ गई। पता नहीं लगता कि यहाँ काँच लगा हुआ है। यदि कहीं कोई गाँव का असावधान हो और देखने के लिये आगे जाये तो बेचारे का माथा भी फूट जाये ! साफ काँच स्वयं नहीं दीखता, जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है वही दीखता है। इसलिये सम्बन्ध नहीं, यह नहीं कह सकते। लेकिन इस सम्बन्ध से जिसका सम्बन्ध है उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। काँच का तो बेचारे का दीखना ही बंद हो गया, मैं ही मैं दीख रहा हूँ। काँच का परिवर्तन तो शत-प्रतिशत और मेरे में एक प्रतिशत भी परिवर्तन नहीं हुआ। यह प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध की स्थिति हुई। 'पररूपसदृक्षता' तुम्हारा स्वरूप बदला नहीं और पररूप की सदृशता पूर्ण हो गई। इसी का नाम प्रतिबिम्बता है।

प्रसिद्ध स्थल हैं जहाँ प्रतिबिम्बन सर्वानुभूत है— 'खड्गादर्शतलादिवत्।' पुराने ज़माने के लोग असली तलवार रखा करते थे। आजकल सरदार लोग कृपाण लेकर घूमते हैं। जानते हो लोग तलवार की परीक्षा कैसे करते थे ? आलू इत्यादि छीलकर उसकी परीक्षा नहीं करते थे कि देखें धार है या नहीं ! तूल (रुई) लेकर उसे एकदम पतला झीना कर दिया और उसे वायु में उड़ाकर उस पर तलवार मारी जाती थी; यदि तूल कट गई तो तलवार धार वाली मानी जाती थी। तूल को भी जो काट सके, वह तलवार है। इसी प्रकार जो सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ को समझ सके वह बुद्धि है। ऐसी तलवार में यदि अपना मुख देखो तो स्पष्ट दीखता है। इसलिये पहला दृष्टांत खड्ग का दिया। दूसरा दृष्टांत आदर्श (काँच) का दिया। यह दृष्टांत तो आप लोग जानते ही हैं।

हमने कई बार विचार किया कि खड्ग शब्द पहले क्यों रखा, क्योंकि हम लोगों को तो शीशा प्रसिद्ध दृष्टांत लगता है, उसमें मुख दीखता है। इसके दो कारण हैं। एक तो तलवार की तेज़ी की तरह बुद्धि के अन्दर चेतन का प्रतिबिम्ब तभी पड़ेगा जब बुद्धि तीक्ष्ण होगी। बुद्धि तीक्ष्ण न होने के कारण ही सत् चित् का प्रतिबिम्ब तो पड़ता है लेकिन आनंद, भूमा गायब हैं। काँच में तीक्ष्णता नहीं होती। यद्यपि पतला काँच होता है, लेकिन उसमें मुख ठीक नहीं दीखता। इसलिये बुद्धि की तीक्ष्णता को बताने के लिये खड्ग का दृष्टांत दिया। दूसरी बात, काँच यदि थोड़ा सा गिर जाये तो खतम हो जाता है, काँच की कोई स्थिरता नहीं है। दूसरी तरफ तलवार खचाखच मारती चली जायेगी, फिर भी उसकी चमक कम नहीं होगी, उल्टा चमक बढ़ेगी। पुराने लोग कहा करते थे 'बहुत दिन हो गये मेरी तलवार को दुश्मनों को मार कर प्यास बुझाने का समय नहीं मिला।' तलवार स्थिर होती है, प्रयोग करने से उसमें कमी नहीं आती। ठीक इसी प्रकार यहाँ बुद्धि समझ लो अथवा विराट् का वर्णन होने से विश्व-बुद्धि ब्रह्माण्ड समझ लो। इस ब्रह्माण्ड का अनादि काल से आज तक उपयोग करते आये, क्या कभी किसी चीज़ की कमी हुई ? उल्टा जितना प्रयोग करते हो, उतनी बढ़ती ही जाती है; स्थिर है, नष्ट नहीं हुआ, गिर कर ख़त्म नहीं हुआ। जैसे विराट् का ब्रह्माण्ड देह, वैसे अपनी बुद्धि को भी समझ लेना। ऐसा तो नहीं कि बुद्धि से किसी चीज़ को समझने का प्रयत्न न करो। इस भय से कि कहीं बुद्धि धीरे-धीरे ख़त्म न हो जाये ! उल्टा यह होता है कि जितना-जितना बुद्धि का प्रयोग करें, जितना अधिक पदार्थों को बुद्धि से समझो

उतनी-उतनी बुद्धि ज़्यादा समझने की सामर्थ्य वाली होती है। इसलिये दर्पण की अपेक्षा खड्ग में प्रतिबिम्ब बताने के दो कारण हैं—एक तीक्ष्णता और दूसरा, उसमें प्रयोग के द्वारा अधिकतर योग्यता, जाज्वल्यता दिखाना। इसलिये खड्ग का दृष्टांत पहले दे दिया।

वेदांती विज्ञान की उन्नति से डरता नहीं है। दूसरे मत-मतान्तर और मज़हब वाले विज्ञान की उन्नति से डरते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि बुद्धि की उन्नति हमें ख़त्म कर दे। वेदांती कहता है कि बुद्धि की उन्नति से ख़त्म होने वाली चीज़ झूठी हुआ करती है। बुद्धि की उन्नति से तो मनुष्य का विरोध हो ही नहीं सकता। यदि वेदांती को आजकल के वैज्ञानिक से कोई शिकायत होती है तो वह यही कि वह बुद्धि का पूरा उपयोग नहीं करते। दो-चार स्तरों के बाद जब वेदांती कहता है कि 'कुछ और कोटियों का सन्निवेश करो' तो कहता है 'जाने दो, यहीं तक पूछो।' वैज्ञानिक बुद्धि का पूरा प्रयोग नहीं करना चाहता, घबरा जाता है, डर जाता है। इन दोनों बातों को बताने के लिये ही यहाँ खड्गरूपता बताई। जैसे एक मोटी बात अभी हमने कही कि औद्योगीकरण के द्वारा यांत्रिक युग आ जाने के कारण पोष्य-पोषक भाव ख़त्म हो गया। इसके जवाब में वेदांत यह नहीं कहेगा कि यंत्र को न लाओ। विषय आ गया है, समझा देते हैं : दूसरे मत-मतांतर वाले तो कहेंगे कि यंत्र आया तब यह गड़बड़ी शुरू हुई, इसलिये यंत्र न आये तो अच्छा है। वेदांती यह नहीं कहता। वह तो कहता है कि ज़रा विचार करो कि यंत्र किस का काम करने आया है ? यंत्र तो शूद्र का काम करने आया है, 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि

स्वभावजम्' यंत्र का काम तुम्हारी सेवा करना है। इसलिये यंत्र का अधिपति शूद्र है। गड़बड़ी इसलिये हो गई कि यंत्र शूद्र के हाथ में न रह कर द्विजों (वैश्यों) के हाथ में आ गया। यंत्र शूद्र की मदद करने आया था, लेकिन उसकी मिल्कियत दूसरे के हाथ में चली गई। इसी बात का झगड़ा है, और कुछ नहीं है। वेदांती विचार करने से घबराता नहीं। कहता है कि यंत्र में कोई खराबी नहीं, खराबी वर्णव्यत्यय से होती है। जिस प्रकार से मन्दिर का पुजारी बनिया बन जाये तो गड़बड़ी हो जायेगी। आजकल तो बनिया पुजारी बन गया है—क्योंकि मन्दिरों में हिसाब रखते हैं कि कितनी आमदनी हुई ! आमदनी देखना तो बनियों का काम है। ब्राह्मण का काम तो खर्च देखना है; इस मन्दिर में कितना खर्च हुआ—यह सोचे तो ब्राह्मण हुआ। इस मन्दिर से कितनी आमदनी हुई—यह बनिये का काम हो गया। जहाँ यह भाव आया वहाँ ब्राह्मण-भाव नहीं रहेगा। गड़बड़ी शुरू हो गई वर्ण-व्यत्यय से। इसी प्रकार से यंत्र की खराबी नहीं है। यंत्र जिसका था, जिसके लिये आया था, उसके पास न रहकर जिसका नहीं था उसके पास चला गया। यंत्र का काम शूद्र के काम को कम करना है, वैश्य के धन को बढ़ाना नहीं है। जितना भी विज्ञान का विचार है उससे वेदांती कभी नहीं घबराता। वेदांती कहता है कि विचार करके उस समस्या का हल अपने आप निकल जायेगा। मनुष्य इसलिये घबरा जाता है कि वह अपने लाभ की बात सोचने लगता है। 'जहाँ तक का विचार मुझे फायदा पहुँचाये, वहाँ तक ठीक है', आगे विचार करो तो कहते हैं कि 'ज़माना बदल गया !' वहीं से गड़बड़ शुरू होती है। इसलिये खड्ग का दृष्टांत देकर शास्त्रकारों

ने दर्पण की अपेक्षा उसे श्रेष्ठ माना।

आदर्श, दर्पण का दृष्टांत इसलिये दे दिया कि किसी ने खड्ग न देखा हो तो भी काँच देखा ही होगा। तीसरा दृष्टांत दिया तल का। गाँव में किसी ने काँच भी न देखा हो तो भी तालाब में अपना चेहरा देखा ही होगा। वहाँ भी अपना प्रतिबिम्ब बिना परिवर्तन के दीख रहा है। सर्वत्र अपने स्वरूप को बदले बिना दूसरी चीज़ से सम्बन्ध हो गया। बिम्ब बदला नहीं और दर्पण इतना बदल गया कि उसका आपा ही नहीं दीखता है। ब्रह्माण्ड का जब विराट् पुरुष के साथ, परब्रह्म परमात्मा के साथ सम्बन्ध हुआ तब वहाँ ब्रह्माण्ड सर्वथा विराट् पुरुषरूप हो गया और परमात्मा में कोई परिवर्तन नहीं, जैसा था वैसे ही रह गया।

एक बात और बता दें—जब बरसात का मौसम ख़त्म हो जाये तब कभी प्रातःकाल सवेरे छह बजे घूमने निकलना। किसी छोटी-सी घास की पत्ती के ऊपर एक ओसकण को देखना और बड़े ध्यान से देखना तो देखोगे कि उसके अन्दर तुम्हें सारा आकाश और सारे तारे दीखते हैं। आज तक नहीं देखा तो अब देख लेना। अतिसूक्ष्म जल बिन्दु, उसके अन्दर अनंत ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो जाते हैं। यह जरूरी नहीं कि बहुत बड़ा काँच हो तभी पहाड़ दिखाई दे। छोटे से छोटे काँच को भी पहाड़ के सामने करो तो सारा पहाड़ दिखाई देता है। इसीलिये आचार्य पुष्पदंत कहते हैं कि भगवान् शंकर की जटा के अन्दर रहने वाली गंगा के अन्दर एक कण में क्या प्रतिबिम्ब है 'प्रवाहो वारा यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते। जगद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः।' ओसके एक कण के अन्दर सारे का सारा ब्रह्माण्ड प्रतिफलित हो जाता है। आकाश

के सारे नक्षत्र, तारे आदि प्रतिफलित हो जाते हैं।

इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड कोई बड़ी चीज़ नहीं है। 'पृषतलघुदृष्टः' इतना छोटा है कि न दीखने जैसा। लेकिन उसी के अन्दर समग्र ब्रह्माण्ड प्रतीत हो रहे हैं। यह सृष्टि अत्यन्त छोटी है, नहीं के जैसी; इतनी नहीं के जैसी, कि बौद्ध तो उसे 'नहीं' ही कह देते हैं ! वेदांती की तीक्ष्ण दृष्टि है, इसलिये कहता है कि 'नहीं' तो नहीं कह सकते, छोटी ज़रूर है। जैसे कोई प्यासा आये और तुम उसे बच्चे की छोटी कटोरी में दो बूँद पानी दो तो कहेगा 'इसमें कुछ भी नहीं है।' जैसे लोग यह कहते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड को 'है' कहें इतना बड़ा भले ही न हो लेकिन बिल्कुल 'नहीं' भी कहना ठीक नहीं। कुछ तो है, अन्यथा दीखता कैसे ? लेकिन सांख्यवादी की तरह यह ब्रह्माण्ड 'है' कहना भी व्यर्थ है। यह इतना छोटा है कि उसे 'है' कहना बनता नहीं और न बौद्ध की तरह इसे सर्वथा 'नहीं है' ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि प्रतीति है ही। सत् और असत् दोनों साथ नहीं रह सकते। अतः इसे 'है-नहीं है' भी कहना ठीक नहीं। इसलिये सत्-असत् दोनों से विलक्षण यह केवल मिथ्या, अनिर्वचनीय है। सारे का सारा ब्रह्माण्ड अनिर्वचनीय है, सत्-असत् से विलक्षण है। लेकिन इसके अन्दर सारा परमात्मा प्रतिफलित हुआ है, इसलिये वही यहाँ पर दीख रहा है, लेकिन प्रतिबिम्ब रूप हुआ दीख रहा है ! माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही ब्रह्माण्ड है।

जो दीख रहा है, वह ब्रह्म है लेकिन प्रतिबिम्ब रूप में दीख रहा है। इसको बिम्ब समझने वाला और 'कुछ न' समझने वाला दोनों भ्रांति में हैं। इस सम्बन्ध से ब्रह्म में कोई परिवर्तन नहीं आया

और सम्बन्ध भी बन गया। 'ततो विराड् अजायत' ब्रह्माण्ड देह के साथ उस परब्रह्म परमात्मा के साथ विराट् पुरुष का यही सम्बन्ध हो गया।

प्रवचन-७

पुरुषसूक्त के पंचम मंत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्माण्ड देह से विश्वात्मा का सम्बन्ध बता रहे थे। बाकी सम्बन्ध परमात्मा में दोष का अपादान कराते हैं। एकमात्र बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही बिना दोष का आपादान किये सम्बन्ध की प्राप्ति करा देता है। बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव सम्बन्ध बिना बदले हुए प्रतीत होता है। जैसे दर्पण के अन्दर बिना घुसे हुए ही, यहाँ तक कि उसका स्पर्श किये बिना ही मुख की उसमें प्रतीति होती है। प्रतिबिम्ब की वास्तविक विशेषता यही है। दूसरी विशेषता प्रतिबिम्ब की एक और है। प्रतिबिम्ब जहाँ पड़ता है, वहाँ एक-दूसरे को काटता नहीं है। यह थोड़ा कठिन विषय है। आचार्यपाद बताते हैं

'अन्यव्यामिश्रणायोगात् तदभेदावभासनम्।
प्रतिबिम्बमिति प्राहुः दर्पणे वदनं यथा।।'

प्रतिबिम्ब की एक बड़ी विचित्र विशेषता है : काँच के अन्दर तुमने अपना मुख देखा, फिर तुम्हारी पत्नी ने उसमें अपना मुख देखा। दुनिया भर में मुखों का सम्बन्ध होते हुए उस दर्पण में क्या किसी की छाप रह गई ? जिसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, केवल वही नहीं बदलता, इतना ही नहीं, किन्तु प्रतिबिम्ब के दृष्टांत में यह विलक्षण

विशेषता है कि दोनों नहीं बदलते। इसलिये यहाँ भी केवल मुख ही नहीं बदला बल्कि दर्पण भी नहीं बदला। ऐसा तो नहीं कि इस दर्पण में पचास आदमियों ने मुख देख लिया तो अब यह दर्पण धुँधला हो गया। दूसरी चीज़ों का उपयोग करने में तो लोग कहते हैं कि 'मेरी चीज़ मत लेना। मेरे तौलिये से शरीर मत पोंछना, मेरे साबुन से मत नहाना।' सबका तौलिया साबुन आदि अलग-अलग होता है। लेकिन क्या ऐसा भी कहना पड़ता है कि 'मेरे काँच में मुख मत देखना।' बाकी चीज़ों के उपयोग से जिसका उपयोग करते हैं उसमें परिवर्तन आ जाता है। दर्पण की विशेषता यह है कि प्रयोग करने से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उसके साथ किसी भी प्रकार का व्यामिश्रण नहीं है। एक साथ ही एक दर्पण में दो विरुद्ध चीज़ों का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। एक कोने में पानी का कटोरा और दूसरे कोने में जलती हुई आग रख दो तो देखोगे कि दोनों का प्रतिबिम्ब काँच के बीच में एक ही जगह जाकर पड़ेगा कि पानी में आग जल रही है। पानी में आग कभी नहीं जल सकती लेकिन काँच में यह हो सकता है ! दोनों का प्रतिबिम्ब एक ही जगह पड़ जाता है। अत्यन्त विरुद्ध चीज़ों का एक जगह प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। ऐसा नहीं कि दर्पण उसको कभी प्रतिबिम्बित न करता हो और न ही दर्पण पर कोई असर होता है, वैसे का वैसा बना रहता है। इसलिये आचार्यपाद कहते हैं कि दोनों के व्यामिश्रण का अयोग है, दोनों कभी मिलते नहीं। दोनों का आपस में इतना घनिष्ठ मिलन होने पर भी मिलन कुछ नहीं। एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं।

ब्रह्मसूत्र-भाष्य में ही भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आत्मा

और अनात्मा का अनादिकाल से यह व्यवहार होने पर भी उसके अणुमात्र धर्म से भी न आत्मा अनात्मा को और न अनात्मा आत्मा को प्रभावित कर सकते हैं। मिले हुए ऐसे घनिष्ठ हैं कि आत्मा के बिना अनात्मा कहीं नहीं दीखता और अनात्मा के बिना आत्मा कहीं नहीं दीखता। जहाँ अनात्मा दीखता है, वहाँ सद्रूप से ब्रह्म है और जहाँ आत्मा दीखता है वहाँ अहंकारात्मिका वृत्ति रूप से अनात्मा है। ऐसे मिले हुए होने पर भी वस्तुतः दोनों का मिलन अणुमात्र धर्म से भी नहीं है। कहीं पर भी तुम्हें एक के बिना दूसरा मिलने वाला नहीं है—सुषुप्ति में भी शुद्ध आत्मा नहीं रहता, वहाँ भी अविद्या, अज्ञान तो बना ही हुआ है। यदि प्रश्न पूछा जाये कि 'शुद्ध आत्मा कहाँ है ?' तो कोई जवाब नहीं दे सकते ! यदि पूछो 'शुद्ध अनात्मा कहाँ रहता है ?' तो भी जवाब नहीं दे सकते; क्योंकि जहाँ मिलते हैं दोनों मिले हुए ही मिलते हैं। एक नियम है, जो सब दार्शनिक मानते हैं कि जो जिसके बिना कभी नहीं मिलता, वह उससे अलग नहीं होता। जब अनात्मा कभी आत्मा के बिना नहीं मिलता तो अनात्मा को आत्मा से अलग कैसे मानेंगे? यदि अलग होता तो कहीं स्वातन्त्र्येण मिलता। मिलता कहीं नहीं है; जहाँ मिलता है, वहाँ आत्मा के प्रतिबिम्ब को लिये हुए ही मिलता है। इसलिये उसे *अलग* नहीं मान सकते।

यदि आत्मा का यह रूप है तो वह मिलेगा कहाँ ? आगम शास्त्रों ने एक विचित्र बात बताई है, 'उक्तं च कामिकैर्देवः सर्वाकृतिनिराकृतिः' वह देवाधिदेव महादेव सर्वाकृति रहते हुए भी निराकृति है ! कहाँ मिलेगा ? सर्वाकृति में मिलेगा। किस रूप में मिलेगा ? निराकृति रूप से मिलेगा। हमारे यहाँ औपनिषद लोगों

को, उपनिषद् समझने वालों, को कुछ विरुद्ध बातें कहने का शौक रहता है। यह शौक इसलिये है कि बिना विरुद्ध बात कहे हुए तत्त्वज्ञान नहीं होता। ईशावास्योपनिषद् में बताया, 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' वह परमात्मा बिल्कुल नहीं हिलता और मन की अपेक्षा भी अत्यंत तेज़ चलता है, अर्थात् बिना हिले हुए ही सबसे तेज़ चलता है। तेज़ चलता है तो हिला करे, किन्तु नहीं हिलता। नहीं हिलता है तो स्थिर रहे, लेकिन ऐसा भी नहीं। दोनों बातें इकट्ठी कह दीं। ऋग्वेद में बताया 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' वह बहुत ज़ोर-ज़ोर से साँस ले रहा था और वहाँ हवा नहीं थी। इसी प्रकार यहाँ कहा कि सारी आकृतियों में उसको देखो पर जब देखोगे तब निराकृति ही दीखेगा। 'जलदर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम्' जल या दर्पण में सारी आकृतियाँ दीखती चली जाती हैं लेकिन हमें यह पता है कि उसमें कोई आकृति नहीं है। दर्पण में कुछ लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई की कल्पना हो भी जाये, इसलिये इससे पहले जल का दृष्टांत दे दिया। वस्तुतः दर्पण जिसे समझते हो, वह लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई वाला नहीं है, वह तो प्रतिबिम्बन करने वाला पदार्थ है। जैसे जितना बड़ा बर्तन होगा, उसमें उतना अधिक जल आयेगा। जल का कोई नाप नहीं है, नाप तो बर्तन का है, एक किलो बर्तन में तुमने जल भरा और उसे किसी को दिखाया कि इसे एक किलो जल कहते हैं। वह समझ लेता है कि एक किलो जल इतना होता है। इसी प्रकार हमने छह इंच लम्बा-चौड़ा *बर्तन* दिखाया, उसमें मिट्टी आदि तो आश्रय है, उस आश्रय के अन्दर दर्पण रहता है। यदि एक फुट का होगा तो एक फुट का और दस फुट का होगा तो दस फुट का प्रतिबिम्ब

उसमें रहेगा। दर्पण वह हुआ जो किसी चीज को ग्रहण करने पर भी जिसे ग्रहण किया उसको भी न बदले और खुद भी न बदले। यह लक्षण समझ लिया तो फिर उसके नाप से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। सारी आकृतियों को लिये हुए भी दर्पण अपरिवर्तित रहता है, इसलिये कह सकते हो कि दर्पण सर्वाकृति वाला होते हुए ही निराकृति है। इसी प्रकार यहाँ भी सारी आकृतियों की प्रतीति होते हुए भी वह तत्त्व निराकृति बना रहता है।

जिसे आगे बनाना है, उसकी प्रतीति पहले हो जाती है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो पहले कुम्हार के अन्दर घड़ा उत्पन्न हो जाता है। जब तक कुम्हार के अन्दर घड़ा नहीं होगा तब तक वह घड़ा कभी बाहर नहीं आ सकता। हम कई बार लोगों से जब पूछते हैं कि तुमने बीमारी को क्यों बुला लिया ? तो लोग कहते हैं कि हमने कहाँ बुलाया ! वस्तुतः वेदांती की कठिनाई होती है कि जब तक मन में पहले बीमारी पैदा न हो, तब तक उसको शरीर में प्रकट कैसे करोगे ? फिर भी लोग कहते हैं कि शरीर में बीमारी प्रकट हो जाती है। बीमारी बेचारी तो जड है, खुद कैसे प्रकट होगी ? शरीर और बीमारी दोनों चेतन नहीं हैं। चेतन हम हैं, हमारे सिवाय और कौन उसे लायेगा ? इसलिये बीमारी पैदा करनी हुई तो उसे पहले मन में पैदा करोगे, उसके बाद शरीर में बीमारी प्रकट होगी। यहाँ तक कि मृत्यु भी पहले मन में आयेगी, तब बाहर आयेगी। जब कोई कहता है कि 'मृत्यु आकस्मिक हुई' तब हम नहीं मानते। हमारे लिये तो उसकी मृत्यु भले ही आकस्मिक हो लेकिन मरने वाले के लिये मृत्यु आकस्मिक नहीं है। पहले उसने मृत्यु का प्रतिबिम्ब मन में बनाया तब वह बाहर

प्रकट हुई। यह बात दूसरी है कि हम लोग प्रायः प्रतिबिम्ब को बनाते तो हैं लेकिन मूल को भूल जाते हैं। लोग कहते हैं कि 'हमारे मुँह से यह बात निकल गई'; हमें हँसी आती है कि मुँह से कोई बात कैसे निकल सकती है ? जब तक पहले तुमने अपने अन्दर शब्द-वाक्य न सोचे हों, तब तक वह बात मुँह से कैसे निकल जायेगी ? मुँह से कही जाने का मतलब है कि कहने के बाद विचार से पता लगा कि मैंने बेवकूफी की। अब उसको ढकने का तरीका हुआ कि 'मुख से बात निकल गई।' इसी प्रकार मैंने मृत्यु का प्रतिबिम्ब बनाया, बाद में पता चला कि इसे बनाना बेवकूफी थी तो ढाँक दिया कि 'मैं अकस्मात् मर गया।' यह दूसरे के लिये तो ठीक है क्योंकि उसे पता नहीं कि मैंने क्या प्रतिबिम्ब बनाया है !

इस पर एक कथा आती है : एक आदमी जंगल में चला गया। रात का समय था और जंगल घोर था। वह एक पेड़ के नीचे लेट गया। उसने दायें-बायें देखा तो अंधेरा दीखा। सोचा—'यहाँ बुरे फँसे। पेड़ के नीचे ही सारी रात निकालनी पड़ेगी। पलंग की तो बात क्या, आज तो तकिया भी नहीं है। पर सोता तो थकावट मिट जाती।' तब तक देखता है कि उस पेड़ के दूसरी तरफ सोने के पायों वाला एक बढ़िया पलंग बिछा है, जैसे आजकल स्प्रिंगदार पलंग होते हैं। उसके ऊपर दूध के फेन की तरह चादर भी बिछी हुई है, बढ़िया तकिया लगा हुआ है। सोचा, 'इसे तो मैंने देखा ही नहीं था।' अब विचार आया कि 'हाय ! मैं भोजन साथ लाता तो बड़ा अच्छा होता, यहीं खा-पीकर सो जाता तो नींद बढ़िया आती।' तब तक देखता है

कि पलंग के पास ही सोने की थाली, पन्ने की कटोरी में बढ़िया और ताजा दाल-भात, खीर, गुलाबजामुन उसमें रखे हैं। चारों तरफ देखा कि यहाँ कोई है तो नहीं ! मन में सोचा कि खा लें, कोई पूछेगा तो कहेंगे कि 'भूख लगी थी खा लिया।' उसने डटकर खाया और झारी का सुन्दर पानी पिया। लेटा तो बड़े सुख का अनुभव करने लगा। इधर-उधर देखने लगा, सोचने लगा, 'यह घोर जंगल है इसमें नींद तो आ जायेगी, लेकिन ऐसा न हो कि कोई शेर आकर खा जाये।' इतने में उसने ज़ोरों से गर्जना सुनी, देखा कि शेर आ रहा है। उसने सोचा 'लगता है कि मुझे खायेगा।' इतने में ही शेर ने आकर उसे खा लिया ! जिस वृक्ष के नीचे वह लेटा था, वह कल्पवृक्ष था। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जो-जो संकल्प बनेंगे, वे सिद्ध हो जायेंगे। बिछौने और भोजन का संकल्प बना तो वह सिद्ध हुआ, शेर का संकल्प बना तो वह भी सिद्ध हो गया।

प्रायः लोग यह जानते ही नहीं हैं कि कल्पवृक्ष के नीचे जीवन रात-दिन बिता रहे हैं। यह शरीर सामान्य नहीं है। यह देवताओं के रहने का सुन्दर वन है। कल्पवृक्ष विचित्र शब्द है। कल्प किसी चीज़ के बनाने को कहते हैं और वृक्ष मायने जिसको काटा जा सके या जो काटने के योग्य हो। जिसे पेड़ कहते हैं, उसे भी वृक्ष इसलिये कहा जाता है कि काटने के योग्य होता है। वृक्ष बड़ा हुआ तो उसका प्रायोजन है कि उसे काटो। फिर थोड़े दिन बाद उसमें नया वृक्ष लगेगा। इसी प्रकार यहाँ कल्पनाओं का जितना बढ़ाव है वह सब भी काटने के लिये ही है क्योंकि वृक्ष है। बहुत से लोग यह नहीं जानते हैं कि वृक्ष का अंतिम प्रयोजन काटना है। हम एक जगह गये हए थे वहाँ केले के पेड़ बहुत थे। केले

के पेड़ का नियम है कि वह एक बार फल देता है, फिर नहीं देता। वहाँ जो महात्मा थे, उनसे हमने कहा कि 'इन पेड़ों को कटवा दो' तो कहने लगे कि 'खुद ही बोया है, कैसे काट दें ?' हमने कहा, 'कटवाओगे तो इनमें से और बढ़िया-बढ़िया पेड़ निकल आयेंगे।' इसी प्रकार हम लोग अपनी कल्पनाओं को यदि काटते रहें तो उत्तम-उत्तम कल्पनायें निकलती रहें लेकिन हमने निकृष्ट कल्पनाओं का जाल बना रखा है। उसी को नहीं निकाल पाते हैं। एक नोट नाम की चीज़ होती है। कागज़ का एक टुकड़ा होता है जिसके ऊपर हुण्डी लिखी होती है। वह हुण्डी भी नकली होती है। उस नकली हुण्डी की कल्पना से ही लोग नहीं निकल पाते। कल्पना ही तो है कि वह सुखहेतु है। उससे कुछ भली कल्पनायें हैं जैसे रसगुल्ला, गुलाबजामुन इत्यादि। यह भी कल्पना है कि पुत्र, पत्नी सुख के हेतु हैं। ये सब निकृष्ट कल्पनायें हैं।

इनके द्वारा बार-बार धक्का खाकर, धोखा खाकर बार-बार नुक्सान उठाकर, फिर भी धन्य हैं उन लोगों की श्रद्धा जो उस पर फिर विश्वास करते हैं। एक बार विश्वास किया तो धोखा खाया, फिर भी विश्वास किया, फिर धोखा खाया। प्रबल श्रद्धा है। हम ऐसे-ऐसे लोगों को जानते हैं कि पहली शादी की, पत्नी से झगड़ा होता रहा। पत्नी मर गई तो दूसरा ब्याह करने चला। हमने पूछा, तुम तो कहा करते थे कि पत्नी से झगड़ा होता रहता है, फिर दूसरा ब्याह क्यों कर लिया ?' कहता है, 'उसका तो स्वभाव खराब था, इसका अच्छा रहेगा।' हमने कहा तू धन्य है ! अरे, चावल का एक दाना देख लिया कि पत्नी ऐसी होती है, लेकिन कुछ नहीं समझ पाया। एक पुत्र हुआ, उससे झगडा

हो गया, उसने मुकदमा चला दिया, तुमने उसे अलग कर दिया। अब दूसरे पुत्र में लगाव रखते हैं। पूछो कि क्या पहले से सुख मिला ? तो कहेंगे 'वह नालायक था, यह लायक बनेगा।' कितनी ज़बरदस्त श्रद्धा है ! ऐसी निकृष्ट कल्पनाओं को वह *वृक्ष* नहीं समझता, काटने के योग्य नहीं समझता। तदपेक्षया उत्कृष्ट कल्पना है कि 'वैकुण्ठ लोक जायेंगे, भगवान् के साथ रहेंगे। उनके साथ लीला करेंगे।' यह भी कल्पना है, लेकिन दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

कुछ लोग इन सामान्य कल्पनाओं से उत्कृष्ट कल्पनाओं को छोड़कर और निकृष्ट कल्पनायें करते हैं अर्थात् जिन कल्पनाओं को सामन्य लोग करते हैं, उनसे भी निकृष्ट कल्पनायें करते हैं। चार लड़के पैदा हुए, चारों ज़िन्दा हैं, और कल्पना करता है कि 'हाय ! इस संतति में से कोई मर न जाये।' अभी कोई मरा नहीं, फिर भी ऐसी कल्पना करते हैं। व्यापार करना शुरू किया। अब तक एक रुपये का हर साल सवा हुआ, कभी चौदह आने नहीं हुआ। लेकिन कल्पना करता है, 'हाय ! कहीं घाटा न हो जाये।' ये कल्पनाओं में निकृष्ट हैं। इनसे भी निकृष्ट कल्पनायें हैं, ईर्ष्या द्वेष इत्यादि। इन्हीं कल्पनाओं में कल्पना होती है—'कहीं मैं बीमार न हो जाऊँ, कहीं मेरा लड़का बीमार न हो जाये।' जब बीमार हो जाता है तो कहता है 'कितना स्वस्थ था, बीमार हो गया !' हम जब कहते हैं कि 'इसे बीमारी क्यों दी ?' तो बुरा मानते हैं जबकि बीमारी दी तुमने है यह कल्पना करके कि कहीं बीमार न हो जाये।

वह कल्पवृक्ष के नीचे बैठा था तो उसके सारे संकल्प पूरे हो

गये। इसी प्रकार यह शरीर एक कल्पवृक्ष है। इसमें आकर समग्र निकृष्ट कल्पनाओं के वृक्ष को काटकर उत्कृष्ट कल्पनायें करनी हैं। व्यष्टिनिष्ठ कल्पनाओं को छोड़कर समष्टिनिष्ठ कल्पना करो, जीव-निष्ठ कल्पना को छोड़कर ईश्वरनिष्ठ कल्पना करनी है। ये सब काटने के लिये थीं। लेकिन उस मूर्ख की तरह जो वहाँ अँधेरे में पहुँचा, हम भी अज्ञानान्धकार में इस वृक्ष में पहुँचे। हमें पता नहीं कि वृक्ष क्या है। अज्ञानी कहता है कि यह शरीर बड़ी घृणित चीज़ है, पापों का पुंज है। कई लोग प्रार्थना भी करते हैं। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी', अर्थात् मेरे जैसा कौन कुटिल होगा। यहाँ कल्पना कर रहे हो कि 'मैं कुटिल, कामी, दुष्ट, कामनाग्रस्त हो जाऊँ।' यदि ये सारी कल्पनायें काटने के लिये हैं तो ठीक है, नहीं तो ये कल्पनायें आरूढ हो जायेंगी।

पूछो कि अनेक महान् भक्तों में भी कभी-कभी ऐसी अनेक बातें क्यों देखने को मिलती हैं ? तो यह याद रखना कि नकल करने में ग़लती खा जाओगे, क्योंकि एक शब्द का अर्थ दो व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न हुआ करता है। एक ही शब्द का एक ही अर्थ दो व्यक्तियों में नहीं हुआ करता। विचार करो, एक आदमी आकर हमसे कहता है 'इस साल मुझे बहुत फायदा हुआ।' यह अनुभव की बात है। एक आदमी ने आकर कहा 'मुझे बहुत फायदा हुआ है और मेरा यह संकल्प था कि जितना ज़्यादा होगा सब आपको दे दूँगा।' उसने हमें सौ रुपये दे दिये। वहाँ एक सेठ जी बैठे हुए थे। कहने लगे कि 'यह आदमी इतनी देर बखान करता रहा और देकर केवल सौ रुपया गया !' हमने पूछा तुमने क्या सोचा था ? उसने सोचा था कि शायद दस-बीस हज़ार या

उससे भी ज़्यादा देकर जायेगा। हमने उससे पूछा, जानते हो यह कौन है ? उसने सोचा था कि यह कोई करोड़पति सेठ आया होगा। लेकिन हमने बताया कि यह एक टोकरी के अन्दर पान के बीड़े बेचता है। उस साल उसे कल्पनातीत फायदा हुआ। सेठ जी का मुँह छोटा हो गया। विचारदृष्टि से दोनों के 'बहुत फायदे' शब्द के अर्थ में बड़ा फ़र्क है। सेठ को भी उस समय पन्द्रह हज़ार का नफ़ा ज़्यादा हुआ था। लेकिन कहता था, 'जितनी महँगाई आई थी, उतना ही हुआ लेकिन काम कुछ बढ़ा नहीं।' इसी प्रकार कोई महापुरुष, संत कहता है कि 'मेरे अन्दर कुटिलता है' तो बहुत सम्भव है कि भगवान् की मंगल आरती में जाते समय उसके चित्त में आया कि 'वापस आते हुए बाज़ार से साग लेता आऊँगा।' मन्दिर में पहुँचते ही उसका हृदय रो उठा—'मैं कितना कुटिल हूँ। 'मन्दिर आ रहा हूँ,' ऐसा लोगों को कहता हूँ और मन में है कि आते हुए सब्ज़ी खरीदूँगा। बाहर से भक्ति दिखाता हूँ और अन्दर से पाखण्डी हूँ।' यह सोचकर उसका हृदय रो उठता है और वह कहता है कि 'मो सम कौन कुटिल खल कामी।' लेकिन तुम पढ़ते हो तो तुम्हारा मतलब होता है कि बड़े भाई की सम्पत्ति तो मैं झूठे दस्तावेजों से खा चुका हूँ, अब छोटे भाई से टक्कर में लगा हूँ। हूँ तो ज़रा कुटिल दिल वाला, लेकिन आज के ज़माने में ऐसा होता ही है। कहते हैं—'भगवन् ! कौन नहीं करता है?' इसलिये यदि उनकी नकल करके 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कहोगे और इन भावों को पुष्ट करोगे तो वह तुम्हारे लिये जहर हो जायेगा। जिसका हृदय निर्मल है, उस संत के लिये वाक्य बहुत श्रेष्ठ था, लेकिन तुम्हारे लिये गड़बड़ हो जायेगा, क्योंकि वह

तुम्हारी निकृष्ट कल्पनाओं को बनाने का आधार बन जायेगा।

जब हमने यहाँ आकर निकृष्ट कल्पनायें कीं तो उन्हीं कल्पनाओं में यह भी आई कि 'मैं बीमार न हो जाऊँ, बेटा बीमार न हो जाये, कहीं घाटा न हो जाये।' और एक कल्पना हमेशा चलती रहती है कि कहीं नौकर माल की चोरी न कर ले ! कल्पना अन्तःकरण में आई तो झट बाहर प्रकट हो गई। फिर कहते हो कि 'वह चुरा ले गया'; वह थोड़े ही चुरा ले गया, जो-जो तुम्हारी कल्पना बनती जायेगी, वह-वह प्रतिफलित होती जायेगी। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि कल्पनाओं के प्रवाह को हमेशा शुद्ध रखना चाहिये, उसमें अशुद्धि मत लाओ। कई बार शंका हो जाती है कि जिसकी सचमुच चोरी हो जाये, वहाँ क्या समझें? हमारा कहना यह है कि चोरी का कारण चाहे आज की कल्पना हो, चाहे हज़ार साल पहले की हो ! तुम्हारी, या तुम्हारे पुत्र की या पत्नी की कल्पना थी, यह तो पता नहीं। इसलिये चोरी हुई, अर्थात् कोई कल्पना प्रतिफलित हो गई। लेकिन यदि इस चोरी से शिक्षा ली कि सावधान रहना है, तो चोरी का क्रम अखण्ड चलता रहेगा। लोग समझते हैं कि 'हम आगे के लिये बचाव कर रहे हैं', लेकिन होता यह है कि बचाव की जगह उल्टा क्रम बढ़ता जाता है। यदि तुमने उस चोरी के साथ शिक्षा ली कि कोई चोरी की 'भावना बनी थी तो यह चोरी हुई, इसलिये अब आगे तो चोरी की भावना नहीं करेंगे।' तो वह क्रम वहीं ख़त्म हो जायेगा। यह सृक्ष्यमाण की सृष्टि है जो बाहर प्रकट हो जाती है ! जो पहले बना हुआ है, उसका संहार होता चला जाता है।

प्राक्सृष्ट के संहार और सृक्ष्यमाण की सृष्टि में, दोनों में जो

एक दृष्टि विद्यमान है वह संवित् है। इन सारे भेदों में वह संवित् कभी भी ऊपर-नीचे नहीं होती। जैसी है, वैसी ही बना रहती है, निर्विकल्प बनी रहती है। यही संवित् का लक्षण है, वास्तविक रूप है। दर्पण में एक प्रतिबिम्ब पड़ा, सृष्टि हुई। वह प्रतिबिम्ब न रहकर दूसरा पड़ा तो प्राक्सृष्ट का संहार हो गया। क्या दर्पण में कुछ बदला ? दर्पण में कोई अंतर नहीं आया। वह निर्विकार, निर्विकल्प विद्यमान है, काँच में कोई फ़र्क नहीं हुआ। उसके सामने से चित्र निकलते चले गये, वह अखण्ड बना रहता है। न किसी सुन्दर मुखड़े को देखकर वह दौड़ता है और न भयंकर गलित कुष्ठ रोग से आक्रांत को धक्का देता है कि 'मुझ में मत घुसना !' जो आये उसे वैसा ही दिखा देता है। इसी प्रकार भगवती संवित् भी अनंत रूपों को प्रकाशित करती है पर उसके अन्दर कोई परिवर्तन नहीं आता। वह निर्मल बनी रहती है। इस सबको प्रकाशित करने की उसकी एकरूपता को कहा 'दर्पणे वदनं यथा।' जैसे दर्पण में कोई फ़र्क नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा ब्रह्माण्ड देह से सम्बन्धित होता हुआ भी निर्विकार है। ब्रह्माण्ड देह की अनंतताओं को प्रकाशित करता हुआ वह विराट् पुरुष ईश्वर का रूप है। आगे 'स जातो अत्यरिच्यत' से बतायेंगे कि जितने भी प्रतिबिम्ब है वे उस विराट् पुरुष के प्रतिबिम्ब हैं। इस फ़र्क को याद रखना कि वह चूँकि दर्पण की तरह सर्वथा निर्विकार है, इसलिये ईश्वर-सरूप होने से पूज्य, वंदनीय, आराधनीय और प्राप्य है। दूसरी तरफ, जीव उन विकारों के साथ बह जाने वाला है, इसलिये उसमें वे सब बातें नहीं हैं। इसमें भी शुद्ध संवित् की अपेक्षा कितनी न्यूनता है, उसे आगे बतायेंगे।

प्रवचन-८

पुरुषसूक्त के पंचम मंत्र की व्याख्या चल रही है। इसमें भगवती श्रुति बताती है कि किस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड के निर्माण करने में केवल एक परब्रह्म परमात्मा ही कारण है। परमात्मा के सिवाय और कोई जगत् का कारण बनता नहीं है। वह किस प्रकार से बनता है, इसको विस्तार से श्रुति बता रही है। कई बार शास्त्रों के अन्दर जगत् का कारण अव्याकृत, अव्यक्त, माया, प्रकृति आदि नामों से भी बताया गया है। उनको देखकर शंका होती है कि शायद ये कोई जगत् के कारण हैं। वस्तुतः अव्याकृत आदि शब्दों से श्रुति में ब्रह्म को ही बताया है। माया और ब्रह्म का भेद वेद ने स्वीकार नहीं किया। भगवान् वार्तिककार आचार्यपाद सुरेश्वर बृहदारण्यक वार्तिक में इसका बड़े विस्तार से विचार करते हुए कहते हैं,

'आपीताशेषसंसारं शुद्धसंस्कारसंश्रयम्।
अव्याकृतम् इदं ब्रह्म ह्यन्तर्यामीति चोच्यते।।'

जिसको तुम माया, अव्याकृत कहते हो, वह क्या चीज़ है ? इस ब्रह्म को ही श्रुति में अव्याकृत कहा है। यह ज़रा दार्शनिक विषय है। ब्रह्म ही अव्याकृत, अव्यक्त, माया कहा गया है। अगला प्रश्न हुआ कि यदि ऐसा है तो अव्याकृत—नाम क्यों पड़ा ? उसी ब्रह्म को जब अपने से भिन्न करके समझने की प्रवृत्ति करता है तब ब्रह्म का रूप ढक जाता है। जैसे ही हम परब्रह्म परमात्मा को अपने से अलग करके देखने का प्रयत्न करते हैं वैसे ही वह छिप जाता

है क्योंकि वास्तव में वह अलग नहीं है। छिपे हुए ब्रह्म को ही अव्याकृत, अव्यक्त नामों से कहा गया है। जब तुमने इदंता देखी तो क्या हुआ ? इसे श्लोक के प्रथमार्द्ध में बताया—अशेष संसार को मानो उसने पीकर अपने पेट में भर लिया ! जब तुमने ब्रह्म को अपने से बाहर इदं-रूप में ग्रहण किया तब सारा संसार उसके पेट में चला गया।

भगवान् सुरेश्वर की आदत है कि वे शब्दों में स्वारस्य बहुत लाते हैं। इसका भी एक कारण है। प्रत्येक मनुष्य का अपना व्यक्तित्व होता है, जो कहीं नहीं जाता। सुरेश्वराचार्य के जीवन में चार प्रकार का व्यक्तित्व प्रस्फुटित था। एक, मीमांसक का व्यक्तित्व। जीवन के प्रथम भाग में उन्होंने मीमांसा का इतना बड़ा ग्रंथ लिखा और इतना अधिक विचार किया कि उस समय में लोग समझते थे कि इनके जैसा मीमांसक कोई नहीं है। इसलिये बृहदारण्यक वार्तिक में कई जगह वह इतना कहकर ही मीमांसा का खण्डन कर देते हैं कि 'ऐसा मेरा मत है।' जिस प्रकार आइन्स्टाइन जैसा वैज्ञानिक यदि विज्ञान के किसी पक्ष को कमज़ोर बताता है तो इस पर ज़्यादा तर्क-वितर्क नहीं करना पड़ता क्योंकि वही उस विषय का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है। दूसरा व्यक्तित्व धर्मशास्त्री का है। उन्होंने धर्मशास्त्र और स्मृतियों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया था। याज्ञवल्क्य-स्मृति पर उनकी टीका में धर्मशास्त्र और स्मृतियों का विचार है। कहने को वह ग्रन्थ याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका है, लेकिन अठारह स्मृतियों में एक भी ऐसी नहीं जिसका उन्होंने उसमें विवेचन न किया हो। उनका तीसरा व्यक्तित्व साहित्यकार का है। उन्होंने साहित्य की रचना

भवभूति के नाम से की। चौथा व्यक्तित्व वेदांत ग्रंथों के निर्माता का है। वे जब वेदांत भी लिखते हैं तो बिना साहित्य का पुट दिये नहीं लिखते। साहित्यकार भावों की सूक्ष्मता भाषा से कहते हैं। यह साहित्यकार की विशेषता है कि वह भाषा और भाव दोनों में ओज लाये, तब उसका नाम साहित्य है। विचार करते काल में उनकी मीमांसा की पैनी दृष्टि इधर-उधर नहीं जाती। हमारे यहाँ वार्तिककार का काम बड़ा कठिन माना गया है। वार्तिक ग्रंथ का लक्षण किया गया है 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ता यत्र प्रवर्तते' वार्तिक उसको कहते हैं जो मूल ग्रंथ में कही हुई बात समझाये, वह बात कहे जो छूट गई हो और मूल ग्रंथकार ने कोई ग़लती की हो तो उसका सुधार भी कर दे !

जब पहले-पहल भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने भगवान् सुरेश्वराचार्य को ब्रह्मसूत्रों के भाष्य पर वार्तिक लिखने को कहा तब बाकी शिष्यों ने बड़ा विरोध किया, क्योंकि अन्य सब शिष्य पुराने थे और ये नये थे। दूसरी बात यह थी कि ये शास्त्रार्थ के अन्दर हारकर शिष्य बने थे। इसलिये दूसरे शिष्यों को दो प्रकार का द्वेष हुआ। एक तो ये नये आये हैं इनको क्या पता होगा! अधिकतर लोगों में भावना होती है कि जितना पुराना हो, उतना ठीक है। यदि भगवान् भाष्यकार ने कहा होता कि 'टीका लिखो' तो कोई विरोध नहीं करता क्योंकि सब जानते थे कि इनके जैसा विद्वान् टीका ठीक ही लिखेगा। लेकिन भगवान् भाष्यकार ने वार्तिक ग्रंथ लिखने को कहा था ताकि उसमें कोई ग़लती हो तो सुधारी जाये। अन्य शिष्यों ने इसलिये विरोध किया; 'नये आये हैं, हमारे गुरु जी की बात में ग़लती निकालेंगे। और उन्होंने जो

नहीं कहा, उसे कहेंगे तो वह भी क्या पता ठीक हो या नहीं।' दूसरी भावना थी कि 'अभी शास्त्रार्थ में हार कर आये हैं, इसलिये पता नहीं कि इनका *दिल* अभी बदला या नहीं।' उन लोगों को यह पता नहीं था कि उन्होंने अत्यंत शुद्ध कर्मों में निरंतर प्रवृत्त रहते हुए अपने अंतःकरण को अतिशुद्ध बना दिया था, उनमें केवल बीज पड़ने मात्र की ज़रूरत थी, विकास में कोई रुकावट नहीं थी। मीमांसक और धर्मशास्त्री थे, जीवन में प्रतिक्षण धर्म का पालन करने वाले थे। अतः बीज पड़ा कि झट वृक्ष तैयार हो गया। जब भगवान् भाष्यकार ने उनको उपदेश किया तब उपदेश के साथ ही उनकी शिलावत् स्थिति हो गई, बिल्कुल निर्द्वन्द्व और निस्तब्ध बैठ गये। बाद में भाष्यकार ने पूछा, क्या समझे? उन्होंने कहा, 'आपने तत्त्वमस्यादि महावाक्यों का उपदेश किया। किसी भी वाक्य को बोलने के साथ ही मन में वृत्ति स्थिर हो ही जाती है। आपके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वमस्यादि वाक्यों से उत्पन्न मेरी बुद्धि सम्यक् हो गई। उस सम्यक् धी के उत्पन्न होने मात्र से ही अविद्या और उसका कार्य यह सारा जगत् न आज तक था, न अब है और न भविष्य में कभी होना है ।'

भगवान् भाष्यकार इस बात को जानते थे। इसलिये जब उनके ग्रंथों को देखो तो उनमें वे प्रायः ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ज्ञान के विचार का बड़ा ऊहापोह से खण्डन करते हैं। उनको ऐसे आदमी का पता ही नहीं था कि जो इन शब्दों, वाक्यों का उच्चारण सुन ले, अर्थ समझ ले और फिर उसकी स्थिति सर्वथा अविद्या और उसके कार्यों से मुक्त न हो जाये। अशुद्ध अंतःकरण वालों में तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के द्वारा ज्ञान प्रतिबद्ध भाव से उत्पन्न

होता है; संशय, विपर्यय आदि भावों से ग्रस्त उत्पन्न होता है। जैसे जो स्वस्थ पुरुष होता है उसे पता ही नहीं कि अपथ्य खाना पीना क्या होता है; वह कहता है कि 'यह सब बहाने-बाजी करते हैं, हम सब खाते पीते रहते हैं।' उनकी समझ में बात नहीं आती कि खाने-पीने से कुछ होता है क्योंकि वे कभी बीमार ही नहीं पड़े। चारों तरफ घूमते रहते हैं, कहीं का भी पानी पीते रहते हैं। कहते हैं, 'हमको नहीं लगता कि पानी पियो और पेट गड़बड़ होता है, यह सब बहानेबाजी है।' कहीं ऐसे आदमी का ब्याह होता है तो पत्नी की मुसीबत हो जाती है। वह कहती है, 'तबियत खराब है।' वह कहता है यह सब तुम्हारे दिल का ख्याल है। मैं भी तेरे साथ रहता हूँ, वही खाना खाता हूँ। मुझे कुछ नहीं हुआ, तेरी तबियत कैसे खराब हो गई ?' स्वस्थ पुरुष को रोगी के अनुभव का पता नहीं लगता। हमारे एक प्रिय सज्जन एक बार कहने लगे, 'स्वामी जी ! अब पता लगता है कि धूप से भी सिर दर्द होता है। जब हमारी माँ दो-तीन घण्टे काम में लगाकर आती थी और शाम को हम उससे कहते थे कि 'घुमाने ले चलो' तब वह कहती थी कि 'धूप लगती है।' हम समझते थे कि बहाना करती है। अब हमारी वह उमर आने लगी है तो पता लगता है कि जैसे मेरा सिर अब दर्द करता है, ऐसे ही माँ के सिर में भी हुआ होगा।' स्वस्थ पुरुष को इसका पता नहीं लगता।

इसी प्रकार भगवान् सुरेश्वराचार्य के ग्रंथों को देखो तो पता लगता है कि बड़ा शुद्ध अंतःकरण वाला, दृढ और पुष्ट अंतःकरण वाला व्यक्तित्व है। जब कोई शंका उठाता है कि अविद्या और उसका कार्य बाधित तो है लेकिन कभी-कभी कामना क्यों खड़ी

हो जाती है ? तो वे कहते हैं 'बेवकूफ़ ! कैसे खड़ी हो सकती है ?' उनका अंतःकरण इतना शुद्ध हो चुका था कि ज्ञान होने के बाद कोई समस्या या कठिनाई उनके सामने आये, उनके दिमाग में यह आता ही नहीं था। भगवान् भाष्यकार उनकी निष्ठा को जानते थे लेकिन सारे शिष्य नहीं समझ सकते थे। भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि 'भाष्यकार के शिष्यों के द्वारा सारा भारतवर्ष ऐसे छा गया है जैसे जब चिड़ियाँ उड़कर एक जगह से दूसरी जगह जाती हैं तब आकाश में छा जाती हैं।' भगवान् भाष्यकार ने देखा कि सब विरोध करते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि सबका विरोध रहते कोई काम करना ठीक नहीं। इसलिये उन्होंने उनसे कहा 'पहले एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखो।' उस ग्रंथ को देखकर जब सभी को उनके ज्ञान की गंभीरता का पता चल गया उसके बाद उन्होंने वार्तिक ग्रंथ लिखे। इसलिये उन्हें वार्तिककार कहा जाता है।

वार्तिक लिखने में मनुष्य को दुरुक्त की चिन्ता भी करनी पड़ती है! बृहदारण्यक उपनिषद् में अनेक जगह जहाँ मीमांसा का विषय आता है, वेद के अर्थ का विचार आता है, वहाँ भगवान् सुरेश्वराचार्य भगवान् भाष्यकार की दुरुक्ति दिखाते हैं। किसी विषय में भगवान् भाष्यकार ने मीमांसकों को खुश करने के लिये नर्मी दिखाई है। उस समय सनातन धर्म के दो काण्ड उपस्थित थे। वैष्णव आदि तो छह सौ साल बाद आये। भाष्यकार के समय बौद्धों से संघर्ष चल रहा था। वेदचिंतकों में एक मीमांसक और दूसरे वेदांती—ये दे ही थे। इसलिये भाष्यकारों ने प्रायः मीमांसकों को जितना वेदार्थ धर्मसंदर्भ में इष्ट था, उतने का निषेध नहीं

किया। जिस वेदान्त भाग को मीमांसकों ने नहीं माना, उसी का शास्त्रार्थ किया गया है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने देखा कि मीमांसा पर विचार करते हुए भाष्यकार ने जवाब बहुत छोटे दे रखे हैं। सुरेश्वराचार्य का मीमांसा का और वेद का अर्थज्ञान प्रबल था। अतः उन्होंने मीमांसा के मूलभूत विचारों के भी परिष्कार के लिये भरपूर चिन्तन किया है। उनका वार्तिक पढ़ते समय बड़ा ख़याल रखना पड़ता है। शब्दों का अर्थ करना पड़े तो साहित्य की दृष्टि रखनी चाहिये। किसी शब्द को इधर-उधर नहीं जाने देना चाहिये। विचार की दृष्टि हो तो सारी मीमांसा याद होनी चाहिये क्योंकि पता नहीं कहाँ हलकेपन से कुछ कह जायेंगे और तात्पर्य गम्भीर होगा।

यहाँ कहा 'आपीताशेषसंसारम्'। इसका एक अर्थ तो बड़ा सीधा कर दिया कि जैसे ही ब्रह्म को तुमने अपने से भिन्न इदम् रूप से देखा, वैसे ही सारा संसार उसके पेट में चला गया, मानो उसने इसे पी लिया। लेकिन आपीत के दो अर्थ और निकल आते हैं—पीत मायने पिया हुआ अर्थात् जो चीज़ पी ली जाये; और जो चीज़ न पी गई हो वह अपीत है। जो कारण की दृष्टि वाले हैं, उनको लगता है कि ब्रह्म के अन्दर सब कुछ लीन हुआ है और उसी में से निकलेगा। जो विचारशील हैं, वह कहता है कि सारा संसार उसके अन्दर दीखने पर भी *पिया* नहीं गया। क्यों नहीं पिया गया ? क्योंकि होठों पर रखा हुआ पानी पिया हुआ नहीं कहा जाता, जब तक कि अन्दर न पहुँचे। जब अन्दर चला गया, गले से नीचे उतर गया, तभी कहोगे कि पी लिया। वह परब्रह्म परमात्मा संसार को कभी गले से नीचे नहीं उतारता।

पुराणों में इस पर बड़ा सुन्दर दृष्टांत आता है। देवता और दानव दोनों ने मिलकर निर्णय किया—'हम दोनों को अंत में ख़त्म होना पड़ता है। दोनों लड़ते हैं, मरते हैं। यदि कहीं हम लोगों को अमृत मिल जाये तो काम बन जाये। यह अमृत अकेले न तुम पा सकते हो न हम पा सकते हैं, इसलिये दोनों मिलकर प्रयत्न करें, तब उसकी प्राप्ति होगी।' जानते ही हो, काम पड़ने पर घोर दुश्मन भी मिलकर दोस्त बन जाते हैं ! ऐसे ही अमृत की प्राप्ति के लिये देव और दानव दोनों मिल गये और दोनों ने मिलकर समुद्र का मंथन शुरू किया। समुद्र को मथने लगे तो पहले कई प्रकार के रत्न एक के बाद एक निकलते गये। जितने वहाँ देवता आदि थे, वे सब अपने लिये माल लेते गये। भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि को ले लिया, इन्द्र ने हाथी, घोड़ा आदि ले लिया। इसी प्रकार अच्छे-अच्छे रत्न निकलते गये और अन्य सब देवता लेते गये। समुद्र मंथन चलता रहा। मथते-मथते हालाहल निकला। वह विष इतना ज़बरदस्त था कि देवताओं और दानवों को, कवेल वहाँ होने वालों को ही नहीं बल्कि सारी सृष्टि को जलाने लग गया। सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे कि इसका क्या करें। बढ़िया माल तो सब साझीदार लेते चले गये। सब भगवान् विष्णु के पास गये, कहा, 'आप सबसे बड़े आदमी हैं, आप ही ले लीजिये।' भगवान् विष्णु ने कहा 'मैं विष के लिये थोड़े ही बड़ा आदमी हूँ। मैंने लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि ले ली। अब ये तुम्हारा हिस्सा हो गया; या जिसने कुछ नहीं लिया, यह उसे दो।' जब देव-दानवों द्वारा समुद्र मंथन हो रहा था तब दोनों को एक दृष्टि से देखने वाले महादेव एक तरफ बैठे थे। उनकी

विलक्षणता है कि राम और रावण दोनों ही सवेरे उठकर शिवलिंग का पूजन करते हैं। हिरण्यकश्यप उन्हीं से वरदान माँगता है और देवता भी उन्हीं से वरदान माँगते हैं। उनका स्वभाव है कि किसी ने आकर माँग लिया तो 'न' नहीं करते हैं। वे आनंद से बैठे थे, किसी का ख्याल नहीं था। भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा जी से धीरे से कहा, 'इन्हें हिस्सा नहीं मिला, इसलिये इन्हें ही दो।' सारे झट मान गये कि यही इस हिस्से के लायक हैं। वैसे भी मसान में रहते हैं, मर जायेंगे तो भी कोई हर्ज नहीं है। वहाँ पहुँचकर सब लोग कहने लगे कि 'यह विष निकला है, आप ले लो तो हम सबकी रक्षा होगी।' भगवान् शंकर ने पूछा, 'क्या बात है ?' सबने कहा, 'जले जा रहे हैं, आप जल्दी पी लो नहीं तो हम सब और यह सारा संसार जलकर खत्म हो जायेगा।' अभी संहार का समय नहीं है, अकाल संहार हो जायेगा। भगवान् शंकर ने कहा 'तुम्हारी रक्षा करने के लिये इसे पी लेते हैं।' देवताओं का चित्त प्रसन्नता से खिल उठा कि अपना काम बन गया। राक्षसों को भी प्रसन्नता हुई कि अपना भी काम बना।

भगवान् शंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि सारे ब्रह्माण्ड में विरोध करने वाली केवल एक निकलीं भगवती पार्वती। कहने लगीं, 'जाने दो, ये जलते हैं, जलने दो, आप क्यों पीते हो ?' भगवान् शंकर ने विष्णु की तरफ देखा। भगवान् विष्णु ने कहा 'औरत की बात नहीं मानते, झट पी लो।' एकमात्र भगवती पार्वती थीं जो यह चाहती थीं कि ये बचे रहें। उनके अतिरिक्त और किसी को उनमें रुचि नहीं थी। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कल्पना करते हैं कि एक तरफ भगवान् विष्णु कह रहे थे 'पियो-पियो',

दूसरी तरफ भगवती कह रही थीं, 'मत पीयो।' भगवान् शंकर ने विचार किया, 'गजब हो गया, विष्णु भी भक्त हैं, इसकी बात भी नहीं टाल सकते और घरवाली की बात टालूँ, यह भी ठीक नहीं है।' इसलिये उन्होंने विष पिया और नहीं भी पिया ! मुँह में डाल लिया; इतनी बात तो देव-दानवों की मान ली। गले के नीचे नहीं उतरने दिया; इतनी बात पत्नी की मान ली। इस प्रकार समझौता कर लिया। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आखिर पार्वती ने क्यों मना किया ? उनको तो पता था कि ये अमर हैं, विष पी भी जायेंगे तो कुछ नहीं होना है। कहते हैं कि वेदांत की दृष्टि में अपने अन्दर भी परमात्मा और बाहर भी परमात्मा है। बाहर का ब्रह्माण्ड हालाहल विष से जल रहा था। लेकिन ब्रह्माण्ड भगवान् शंकर के उदर में भी तो है। परब्रह्म परमात्मा के उदर में ही सारा ब्रह्माण्ड है। अगर विष अन्दर चला जाता तो अंदर का ब्रह्माण्ड भी नष्ट हो जाता, वहाँ के जीवों की हालत क्या होती! यदि बाहर रह जाता तो बाहर का ब्रह्माण्ड ख़त्म हो जाता, तब बाहर के जीवों की क्या हालत होती ? इसलिये उदर में रहने वाले ब्रह्माण्ड की भी रक्षा भगवान् ने भगवती के कहने से कर ली और बाहर के ब्रह्माण्ड की रक्षा विष्णु के कहने से कर ली। विष पिया भी, नहीं भी पिया—इस प्रकार दोनों की रक्षा कर ली।

वस्तुतः विष्णु जगत् का उपादान कारण है। इसीलिये विष्णु-सहस्रनाम में पहला शब्द 'विष्णु' नहीं है, 'विश्व' है। वैदिक मीमांसा में सारे जगत् का उपादान कारण विष्णु है और सारे जगत् का निमित्त कारण शक्ति या पार्वती है। क्योंकि सारे जगत् का उपादान कारण विष्णु है, इसलिये बाह्य जगत् का संरक्षण करना

स्वाभाविक है। जैसे घड़े का उपादान कारण (अर्थात् जो बने) मिट्‌टी है और घड़े का निमित्त कारण (जो बनाये) कुम्हार है। सारे जगत् के रूप में विष्णु बने हैं इसलिये सारे जगत् के रूप का संरक्षण करना विष्णु को इष्ट है। सारे जगत् का निमित्त अर्थात् बनाने वाला कारण; अंतर्जगत्, भोक्ता जगत् या द्रष्टा जगत् को बनाने वाली शक्ति है। इसलिये सारे भोक्तृ जगत् की रक्षा करना भगवती पार्वती शक्ति को इष्ट था। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कह दिया 'अव्याकृतम् इदं ब्रह्म ह्यन्तर्यामीति चोच्यते।' ज्ञेय बना हुआ अव्याकृत है। इस ज्ञेय के ऊपर शासन करने वाला, अन्तर्जगत् में नियमन करने वाला अन्तर्यामी भी ब्रह्म है। उपादान-प्रधान होने पर अव्याकृत, और निमित्त-प्रधान होने पर भी उसी को अन्तर्यामी कहा गया। यहाँ 'भोक्ता' और 'भोग्य' शब्दों का प्रयोग जानबूझकर नहीं कर रहे हैं क्योंकि यहाँ ब्रह्माण्ड शरीर का विचार कर रहे हैं। ये दोनों शब्द जीव के लिये प्रयोग करते हैं। यहाँ विराट् (समष्टि) का विचार होने से अव्याकृत और अन्तर्यामी कह दिया। अथवा दर्शन की भाषा में—उपाधि प्रधान होने पर उसी को अव्याकृत कहते हैं और उपहित-प्रधान होने पर उसे अंतर्यामी कह दिया।

उपाधि और उपहित दोनों साथ-साथ रहते हैं लेकिन प्रधान और गौण का फ़र्क पड़ जाता है। जैसे तुम अपनी लड़की की शादी के लिये बाजार में सोने के गहने खरीदने जाओ। घर में निर्णय हो चुका है कि लड़की को पचीस तोले सोना देना है। गहने खरीदते समय प्रधान दृष्टि गहने के डिजाईन पर रहेगी। गहने की शक्ल कैसी है, कैसा सुन्दर बना है, आधुनिक ढंग का है या

पुराने ढंग का है। चाहे पच्चीस की जगह साढ़े पच्चीस या सवा चौबीस भी हो जाये तो भी कोई हर्जा नहीं, डिजाईन अच्छा होना चाहिये। यहाँ उपाधि (डिज़ाईन) की प्रधानता है, उपहित (सोने) की प्रधानता नहीं है भले ही खरीद सोना ही रहे हो। दूसरी तरफ चोर-बाजारी के पैसे कहीं से आ गये अर्थात् किसी को ठग कर ले गये। कुछ हवा उड़ी कि नोटों को सरकार रद्द करने वाली है। सोचा कि 'नोट रखेंगे तो क्या पता कहीं रद्द हो जायें। अच्छा है कि सोना ही खरीद कर रख लें।' बाजार में सोना खरीदने गये। इस समय सोने की तरफ ध्यान रहेगा, सोना बढ़िया हो और ज़्यादा से ज़्यादा मिले। पुराने ढंग का हो, चाहे बने हुए गहनों के कितने ही टुकड़े हों, कोई चिन्ता नहीं है, चिन्ता है कि पचीस की जगह छब्बीस तोले सोना मिल जाये। खरीद भले ही उस समय भी गहने के रूप में रहे हो। गिन्नी भी सोना ही है, केवल आकार में भेद है। जब लड़की के लिये खरीदा तो गहना और सोना दोनों साथ आये लेकिन दृष्टि गहने (उपाधि, डिजाइन) की तरफ प्रधान थी। अब दृष्टि उपहित अर्थात् उपाधि वाले सोने की तरफ प्रधान है। दृष्टिभेद से व्यवहारभेद हो जाता है। इसी प्रकार जब बाह्य जगत् को देखते हैं तब उपाधि की प्रधानता है। जब अन्दर को देखते हैं तब अन्तर्यामी की दृष्टि की प्रधानता है। कहीं भी अव्याकृत के बिना अन्तर्यामी मिलने वाला नहीं है और अन्तर्यामी के बिना अव्याकृत मिलने वाला नहीं है। दोनों साथ-साथ रहेंगे लेकिन अन्तर् का विचार करते हुए अन्तर्यामी प्रधान और बाह्य जगत् का विचार करते हुए अव्याकृत प्रधान हो जायेगा।

अमृत-मंथन के लिये देवता और दानव इकट्ठे हुए थे। जिसके

बाद फिर मरना न पड़े, उसी को अमृत कहते हैं। उस अमृत की प्राप्ति तब हो जब देव और दानव दोनों मिलकर मंथन करें। यह बात गाँठ बाँध कर रखना। जैसे समुद्र है ऐसे ही मन है। जैसे समुद्र के अन्दर बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, वैसे ही इस मन-रूप समुद्र में भी लहरों का कोई ठिकाना नहीं। कहाँ-कहाँ की लहरें उठती हैं, यहाँ बैठे हुए ठेठ बैकुण्ठ तक लहर उठ जाती है; और फिर थोड़ी देर बाद पाताल तक नीचे भी चली जाती है। एक क्षण में मन सारे संसार का परित्याग कर ब्रह्मरूप से स्थित होना चाहता है, दूसरे ही क्षण में वह मन रिक्शा वाले को नया समझकर चार आने की जगह तीन आने में टरकाना चाहता है। समुद्र में बड़े-बड़े तिमिंगल, घड़ियाल रहते हैं, वैसे ही यहाँ भी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य खाने को तैयार बैठे हैं। कुछ देर नहीं लगती और ऐसे खा जाते हैं कि पता ही नहीं लगता। इस समुद्र का मंथन करने के लिये देव, दानव दोनों की ज़रूरत है। देव का लक्षण करते हुए भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पाद बृहदारण्यक भाष्य में लिखते हैं, 'कामप्रधाना हि देवाः, क्रोधप्रधाना हि दानवाः, लोभ-प्रधाना हि मनुष्याः' काम-प्रधान को देव, क्रोध-प्रधान को राक्षस और लोभ-प्रधान को मनुष्य कहते हैं। काम और क्रोध—दोनों वृत्तियों से समुद्र का मंथन करना है। जितने बुरे भाव हैं, उनके प्रति क्रोध और जितने परमात्ममुखी भाव हैं, उनके प्रति काम हो। इसी काम-क्रोध को भगवान् पतंजलि ने 'अभ्यास' और 'वैराग्य' नाम से कहा है। सांसारिक पदार्थों के प्रति अत्यंत क्रोध होना कि 'तुम मुझे बंधन में डालने वाले हो, मैं तुम्हें लात मारता हूँ', यही वैराग्य है। संसार के पदार्थों के प्रति तीव्र आक्रोश ही दानवों

के प्रति आक्रोश है। लेकिन अंदर के पदार्थ की प्राप्ति के लिये यह ज़रूरी है। अपने मन में कोई बुरी बात उठी तो उसके प्रति इतना क्रोध होना चाहिये जितना तुम्हारे घर का लड़का घर से पढ़ने का नाम लेकर सिनेमा में मटरगश्ती करने चला जाता है, तब उस पर आता है। ऐसे ही मन सत्संग सुनने बैठा है और दुकान की तरफ ध्यान जाता है तो उस पर क्रोध करना चाहिये। हम क्रोध करने को कहते हैं लेकिन कहाँ ? यह विचार करना है। अंत में काम-क्रोध से छूटेंगे। जैसे संसार के पदार्थों के प्रति कामना होती है, इतनी कामना होती है कि जो धन की कामना वाला व्यक्ति है, उसे संसार में रात को स्वप्न में भी धन ही याद आता है। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति कामना इतनी तीव्र हो कि सब तरह से वही याद आये।

इस प्रकार देव और दानव दोनों को मिलाकर मन-रूप समुद्र का मंथन होगा तो उसमें से अच्छे-अच्छे रत्न निकलेंगे। अनेक सिद्धियाँ मिलेंगी, संसार की बातें सुनने, देखने को मिलेंगी, आँख, कान आदि को फायदा होगा। अंततोगत्वा इन सिद्धियों की प्राप्ति के बाद हलाहल विष निकलेगा जो बाहर और अन्दर दोनों जगत् को जलाने में समर्थ है। वह विष निर्विकल्प समाधि है। उसमें बाह्य और आभ्यंतर दोनों जगत् लापता हैं। इस निर्विकल्प समाधि को यदि इस प्रकार से धारण कर सको कि न बाहर का जगत् बचे और न अन्दर का जगत् बचे तो वह मध्यकालीन स्थिति है। भगवान् भी गीता में कहते हैं 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।' उत् नाम ब्रह्म का है इसलिये 'उत् आसीन' अर्थात् ब्रह्म में ऐसा बैठा हुआ रहे कि बाहर या अंदर का कोई भी गुण

उसे विचलित न कर सके। न अव्याकृत और न अन्तर्यामी वरन् दोनों के मध्य में वह बैठा है। दोनों को नष्ट न करे। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं

'लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः।

बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते।'

निर्विकल्प समाधि या सुषुप्ति में बुद्धि लीन होती है। ऐसे बुद्धि लीन होने पर भी वह सारे जगत् को देख रहा है। जागते हुए की तरह सब कुछ देखते हुए भी जैसे बुद्धि लीन होने पर कुछ नहीं होता, ऐसे ही इस सारे जगत् को देखते हुए भी उसे कुछ नहीं होता। रात में तकिये के नीचे पाँच सौ की पोटली रखकर सोया और चोर ले जाते हैं, उसे पता नहीं लगता। लेकिन जब जग रहा है तब पाँच सौ की तो जाने दो, कोई कंधे से गमछा ही उठाये तो झट देखता है। विद्वान् ऐसा पाँच सौ की बात को जगते हुए देखता है लेकिन 'लीनधीः' होने से उसे रोकता नहीं! ऐसा जो ज्ञान है उसमें न बाह्य जगत् का लोप है और न ही अन्तर्जगत् का लोप है।

जब इस मध्य स्थिति में पहुँचा 'शिवोऽहमिति' बस यही वासना होगी। शिव बना हालाहल विष का पान करेगा अर्थात् निर्विकल्प समाधि में नित्य-निरंतर स्थित रहते हुए व्यवहार करेगा। जीवन्मुक्त की स्थिति में यह ब्रह्मभाव रहेगा। तब सारा संसार अर्थात् अविद्या और उसका कार्य *पीत* भी है और *अपीत* भी; क्योंकि वह अन्दर नहीं गया कि अन्तर्जगत् को नष्ट कर दे, इसलिये अपीत है और बाहर नहीं है, इसलिये 'नहीं पिया' यह

भी नहीं कह सकते। 'निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो गई' यह नहीं कह सकते क्योंकि जीवन्मुक्ति में सारे व्यवहार कर रहा है और 'निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति नहीं हुई' यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बाह्य सारे व्यवहार करता हुआ भी वह विचलित नहीं होता, सारे पदार्थों के प्रति उसकी निवृत्ति स्वाभाविक है। इसके शुद्ध संस्कार पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-६

परब्रह्म परमात्मा से किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न होती है, इसका क्रम बता रहे हैं। 'ततो विराडजायत।' उस परमात्मा से पहले यह ब्रह्माण्ड देह, विराट् उत्पन्न हुआ; फिर उस विराट् देह के साथ विराट् पुरुष सम्बद्ध हुआ 'विराजो अधिपूरुषः'। विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड देह के साथ उस पुरुष परब्रह्म परमात्मा का किस प्रकार का सम्बन्ध है—इस पर कुछ विचार प्रारंभ किया था। संयोगादि सम्बन्ध यहाँ नहीं बनते क्योंकि वैसा मानने पर दोष आता है। वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा ही वेदांत में एकमात्र सत्ता मानी गई है, दूसरी कोई सत्ता नहीं। प्रायः उत्पत्ति वहाँ होती है जहाँ दो कारण होते हैं, तभी दोनों मिलकर भेद-सृष्टि कर सकते हैं। वेदांत चूँकि दो की सत्ता स्वीकार नहीं करता, इसलिये वेदांत शास्त्र में कारणकार्यभाव वास्तव में बनता नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक में लिखते हैं—'अकारणम् अकार्यं सत् कार्यकारणतामगात्' वह परब्रह्म परमात्मा वास्तविक दृष्टि से पूछो

तो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है! वस्तुतः वह कारण बनता नहीं है। कारण तब बने जब कारण से भिन्न कार्य नाम की कोई चीज़ हो। यदि कारण से भिन्न कोई कार्य मानोगे तो द्वैत मानना पड़ेगा, वह द्वैत भले ही अवस्थागत द्वैत ही क्यों न हो।

द्वैत पदार्थगत भी हो सकता है और अवस्थागत भी हो सकता है। एक ही मनुष्य अभी शांत बैठा है। अगले ही क्षण क्रोध की मूर्ति बन जाता है ! यहाँ पदार्थ तो दो नहीं हैं, एक ही आदमी है, लेकिन अवस्था का भेद है। अथवा आज देखते हैं कि दस वर्ष पूर्व चार घण्टे काम करने के बाद भी लगता था कि अभी कुछ किया ही नहीं। दस वर्ष के बाद दो घण्टे कार्य करने के बाद ही पता चलने लगता है कि कुछ थकावट आ गई है। यहाँ भी पदार्थ 'मैं' नहीं बदला। लेकिन अवस्था बदल गई। इसी प्रकार कुछ वादियों का कहना है कि परमात्मा की दो अवस्थायें हैं। सृष्टि काल में द्वैत अवस्था और सृष्टि के समाप्त हो जाने पर मोक्ष की अवस्था अर्थात् अद्वैत अवस्था। उन्होंने माना तो एक ही ब्रह्म, उस ब्रह्म में पदार्थगत द्वैत नहीं। और कोई दूसरी चीज़ भी नहीं मानी, लेकिन अवस्थागत द्वैत मान लिया कि एक काल में द्वैत है और दूसरे काल में अद्वैत है। वेदांती कहता है कि अगर अवस्थागत द्वैत तुमने मान लिया तो फिर उन अवस्थाओं के साथ ब्रह्म का द्वैत हो ही गया—एक ब्रह्म और एक उसकी अवस्था। और 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। वेदों में सबसे भय की चीज़ कोई मानी है तो वह द्वैत की दृष्टि ही मानी है।

लोग पूछते हैं कि 'अपना धर्म इतना लम्बा-चौड़ा है ! दूसरे

मत-मतांतरों, मज़हबों में किसी के पाँच तो किसी के दस नियम हैं। उतने नियम मानें तो मुसलमान और ईसाई बन जाते हैं। तीन नियम मानो तो बौद्ध बन सकते हो। अपने यहाँ क्या है ? 'अपने यहाँ तो

'वेदांतसिद्धांतनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।

अखण्डबोधस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ।।'

ब्रह्म ही जीव और जगत् दोनों भावों में प्रतीत होता है। ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है। बस एक ही बात माननी है। इस एक चीज़ को पकड़ लिया तो सारे धर्मशास्त्र, और सब कुछ इसमें से निकल आते हैं। ब्रह्म ही जीव, जगत्, ईश्वर भावों में बना, क्योंकि अखण्ड स्थिति का नाम ही मोक्ष है और उस मोक्ष को प्राप्त करने का साधन श्रुति, वेद है। इसके सिवाय और कुछ मानने की ज़रूरत नहीं है।

वास्तविक कार्य-कारणभाव मानोगे तो ब्रह्म की भी दो अवस्थायें हो जायेंगी। इसलिये कहा 'वह परब्रह्म परमात्मा न कारण है और न कार्य।' 'कार्यकारणतामगात्' वही फिर कार्य-कारण दोनों रूपों से बन जाता है। सच्ची दृष्टि से तो न कारण है और न कार्य है। यदि गलत दृष्टि से देखो तो वही कारण और वही कार्य है। प्रश्न हुआ कि क्या वह किसी एक का ही कारण बना ? उसने कुछ थोड़ा-सा कार्य कर लिया होगा, बाकी सब दूसरे करते रहे होंगे ? वार्तिककार कहते हैं ऐसा नहीं 'सर्वकारकताम् एवं क्रियातत्फलतामपि'। कार्य और कारण दोनों भेदों को प्राप्त हुआ, और सारे कारक भी वही बन गया। कर्ता, कर्म, करण

इत्यादि कारक हैं। 'राम ने खाया' इसमें राम कर्ता। 'रोटी को खाया' रोटी कर्म। 'दाल से खाया' दाल करण। पेट भरने के लिये खाया—सम्प्रदान। 'थाली से उठाकर रोटी खाई' थाली अपादान। 'घर में बैठकर खाई' घर अधिष्ठान। कारक का सीधा ही लक्षण किया 'क्रियान्वितत्वं कारकत्वम्' जिस-जिस का क्रिया के साथ सम्बन्ध हो जाये, वह कारक है। वह परमात्मा केवल कार्य-कारण ही नहीं बना, बल्कि सारे कारक रूप भी वही बन गया। सारी क्रियायें भी वही है और उन सारी क्रियाओं का फल भी वही। वही इन सब रूपों को धारण करता चला जाता है क्योंकि उसके सिवाय दूसरा कोई कारण है नहीं।

वह इन सब रूपों को कैसे धारण करता है ? भगवान् वार्तिककार कहते हैं कि उसकी एक विलक्षण आदत यह है कि जैसा-जैसा अभिप्राय हो, वह वैसा-वैसा बन जाता है ! 'एकमेव जगद्बीजमीशाभिप्रायहेतुतः'। विराट् पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए बृहदारण्यक में लिखते हैं कि वह एक ही सारे जगत् का अखण्ड बीज है। शंका हुई कि एक बीज से तो एक जैसा फल उत्पन्न होना चाहिये, अर्थात् सारे जीव एक जैसे होने चाहिये ? समाधान दिया कि ऐसा नहीं, 'ईशाभिप्रायहेतुतः' उसकी जो ईशन करने की सामर्थ्य है उसके कारण अपना अभिप्राय-भेद व्यक्त कर देता है। इसलिये 'भूरि नाना प्रभेदेन प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते'। भूरि और नाना दोनों शब्दों का अर्थ होता है अनेक। एक ही अर्थ के लिये दो शब्दों का प्रयोग क्यों किया, एक ही कहना चाहिये ? यहाँ 'भूरि' का अर्थ है अनेक जीव और 'नाना' का मतलब है एक-एक जीव की अनेक अवस्थायें। वह केवल अनंत जीवरूप

में बना हो, ऐसा नहीं बल्कि प्रत्येक जीव में पुनः वह अनंत रूप धारण करता चला जाता है। एक जीव के भी दो क्षण एक जैसे नहीं होते। इसलिये भूरि और नाना दोनों शब्दों का प्रयोग सार्थक है अर्थात् अनंत जीवरूप को धारण किया और फिर प्रत्येक जीव में पुनः अनंतरूपों को धारण किया।

इसीलिये विचारशील कभी भी पुरानी वासनाओं को हेतु नहीं बनाता। राग को काटने का सबसे बड़ा साधन ही यह है। इस बात को जो समझ लेगा, उसमें राग रह नहीं सकेगा। जैसे कल मैंने बंगाली मार्केट का रसगुल्ला खाया, स्वादिष्ट लगा। राग हुआ कि 'फिर खाऊँ'। अगली बार खाने गये तो वह स्वाद नहीं था। कभी भी दो रसगुल्लों का एक जैसा स्वाद नहीं हो सकता, क्योंकि पनीर और चासनी में भेद हो सकता है, जिस तापमान के अन्दर पकाया गया, उसमें भेद हो जायेगा, जिस बर्तन में रखा गया, उसमें भेद हो जायेगा, बर्तन में ऊपर या नीचे रखा गया इसमें भेद हो जायेगा। विचार करते जाओ तो पता लगता जायेगा कि कितने भेद होते चले जाते हैं। एक बार हम अहमदाबाद गये हुए थे, जिनके यहाँ ठहरे थे, उनकी कपड़ों की मिल थी तो दिखाने ले गये। हमने देखा कि जहाँ मशीन चल रही थीं, वहाँ वातानुकूल लगा हुआ था। हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। हमने कहा—'तुमने अपने काम करने वालों के लिये वातानुकूल लगा दिया, यह बड़ा अच्छा किया, नहीं तो लोग अपने ही काम करने की जगह में अपने आफिस में ही लगाते हैं।' वे हँस पड़े, कहा 'इनके लिये नहीं लगाया है।' फिर क्यों लगाया है ? कहने लगे कि 'रुई की एक प्रकार मिस्र से आती है, उसके लिये यदि एक ही तापमान रहता है तो

उसमें से एक जैसा धागा निकलता है। यदि यहाँ वातानुकूल न लगाया जाये तो तापमान के भेद और जलांश के वायु में अनुवृत्ति के भेद से उसमें भेद आ जाता है।' हमने कहा आदमी से तो यह मशीन ही अच्छी जिसके लिये वातानुकूल की व्यवस्था करनी पड़ी ! जब कपड़े में यों भेद आ जाता है तब भोजन में भेद का क्या ठिकाना ! दूसरी, तीसरी, चौथी बार रसगुल्ला खाने चले जाओ तो रसगुल्ले का एक ही स्वाद नहीं आयेगा। रसगुल्ले बनाने की प्रक्रिया के भेदों से तो भेद है ही, रसगुल्ला खाने की प्रक्रिया का भी भेद हो जाता है। जब तुम्हें बड़े ज़ोर की भूख लगी है उस समय स्वाद कुछ और है, पेट ठस भरा हुआ हो, अभी-अभी गरम-गरम मसालेदार समोसा खाया हुआ हो, उस समय रसगुल्ला खाओ तो स्वाद कुछ और है, चासनी से भरी हुई इमरती खाने के तुरंत बाद रसगुल्ला खाओ तो स्वाद कुछ और है, बढ़िया शिकंजी का पानी पीने के बाद उसी यंत्र से बनकर आये हुए रसगुल्ले का स्वाद कुछ और है, गरम-गरम कॉफी पर खाये रसगुल्ले का स्वाद कुछ और है। जहाँ भोक्ता-भोग्य का सम्बन्ध हो रहा है, उसके भेद से भी भेद होता है। थोड़े दिन पहले एक सज्जन बता रहे थे, दिल्ली में ओबेराय इण्टरकाण्टिनेण्टल होटल है, उसमें चार कमरे हैं। एक कमरे में जाकर कॉफी पीने के डेढ़ रुपये, दूसरे में पाँच रुपये और तीसरे कमरे में उसी कॉफी को पीने के लिये पंद्रह रुपये लगते हैं ! अपने भी मन में आया कि उसमें शायद कुछ बढ़िया मलाई, केसर, बादाम-पिस्ता डालते होंगे। हमने पूछा कि 'उसमें क्या-क्या डाल देते हैं ?' हँसने लगे, कहने लगे कि कॉफी तो वही होती है जो कनाट प्लेस के कॉफी हाउस में तीस

पैसे में मिलती है। उसमें कोई विशेष पिस्ता-बादाम इत्यादि डाला हुआ नहीं होता। हमने कहा, 'फिर काहे को पंद्रह रुपये खर्च करते हैं ?' तो कहते हैं कि दाम तो वातावरण के हैं। एक जगह का वातावरण कुछ और होगा, दूसरी जगह का कुछ और ही होगा। कहाँ बैठकर पीते हो, इससे इज़्ज़त भी नापी जाती है। इसलिये भोक्ता-भोग्य के भेद से भेद आ जाता है और भोक्ता-भोग्य का सम्बन्ध जिस स्थल में हो रहा है, उस वातावरण से भी भेद आ जाता है।

किसके साथ बैठकर खा-पी रहे हो इससे भी फ़र्क आ जाता है। माता बड़े प्रेम से बैठाकर गरम-गरम एक-एक फुलका बनाकर दे तो आठ फुलके खाकर पूछता है 'ज़्यादा तो नहीं खा लिया?' माता कहती है 'नहीं-नहीं, एक और ले ले।' दूसरी तरफ, वही फुलका नौकर बनाकर लाता है। तीन फुलके खाकर मन में होता है 'रहने दें'। वह चौथा फुलका परोसने के लिये लाकर भी मना सुनते ही वापिस ले जाता है, यह नहीं कहता कि 'एक तो और ले लो' ! एक बात और बता दें, पत्नी यदि भोजन बनाये तो दो फुलके खाने के बाद कहे कि 'एक फुलका और ले आओ' तो कहती है 'बस करो, मोटे हो रहे हो।' माँ तो आठ खिलाकर नवाँ खिलाने को तैयार है, नौकर तीन खिलाकर चौथा वापिस ले जाता है और ऐसी परिस्थिति में भी फँस सकते हो कि माँगो तो भी न मिले। फिर चाहे बाजार में समोसे खाकर भूख मिटा लो। इन्हीं भेदों के कारण खाने वाले की वृत्ति का भी भेद हो जाता है, खाने के रस का भेद हो जाता है। यह सब वातावरण के भेद के कारण है। एक जड वातावरण है और दूसरा चेतन वातावरण है। यहाँ

भोजन के अनेक नियम बनाये गये कि किसके साथ बैठकर खाओ, किसके साथ बैठकर न खाओ, किसका छुआ खाओ, किसका छुआ न खाओ; इन सब का दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार यही है। हर चीज़ को व्यवहार में लाते हो तो गलती हो ही जाती है। किसी को बिजली से झटका लगा और वह मर गया तो इसका मतलब यह नहीं कि सारी बिजली-कम्पनियों को बंद कर दो और फिर लालटेन में बैठ जाओ; या कभी गैस का बर्तन फट जाता है तो उसका सर्वत्र प्रयोग बंद कर दो। दुरुपयोग से किसी चीज़ की सदोषता सिद्ध नहीं होती। भारतवर्ष में एक परम्परा चली है कि प्राचीन काल के एक-दो दोषों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करके उसके द्वारा सारे शास्त्रों को बुरा बता दो और विदेशों से आने वाले शास्त्रों को इतनी श्रद्धा से, नीची नज़रें करके ग्रहण करो कि यदि प्रत्यक्ष बता दें कि 'इन शास्त्रों को पच्चीस साल पहले जो लोग मान रहे थे अब उन्होंने ही मानना छोड़ दिया है' तो कहते हैं कि 'उन्होंने भले ही छोड़ दिया हो, लेकिन हमारे लिये तो ये मान्य ही हैं।' विचार करके देखो तो जितना खान-पान, स्पर्शास्पर्श का विचार है, उसका आधार दार्शनिक और वैज्ञानिक है, सिद्धान्त गलत नहीं है। उनके दुरुपयोग के हवाले से सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना ठीक नहीं। समाजवाद का नाम लेकर मार्क्स को मानने वाले से कहें 'इसमें स्टालिन जैसे खूँख्वार पैदा होते हैं', तो वे कहते हैं कि 'एक बिगड़ गया, सिद्धान्त तो यह ठीक है।' लेकिन हमारे यहाँ के कुछ गलत लोगों के उदाहरण से मानते हैं कि हमारे सिद्धान्त और आचार्य गलत हैं। कहो कि 'तुम्हारी माँ भी ऐसा करती थी' तो कहते हैं कि 'उसमें यह गलती थी।' विदेशी

सम्प्रदाय के परम आचार्य से गलती हुई, यह बतायें तो मानने को तैयार नहीं और यहाँ एक अपठित स्त्री-पुरुष भी कोई सिद्धान्त समझने में, प्रयोग में गलती कर जाये तो निर्णय करते हैं कि सारा सिद्धान्त ही ग़लत है।

'भूरि नाना प्रभेदेन' से बताया कि पहले तो प्रत्येक जीवों को भेद और फिर नाना भोक्ता-भेद, भोग्य-भेद और दोनों के वातावरण का भेद। अतः कैसे सम्भव है कि तुमको उस पदार्थ का वैसा ही सुख आगे मिलेगा, ज़्यादा भी मिल सकता है और कम भी मिल सकता है। इस बात को यदि समझ लिया तो बंगाली मार्केट के रसगुल्ले में राग नहीं होगा। आनन्द आया, ठीक है, लेकिन आगे भी ऐसा होगा, यह रागात्मिका वृत्ति नहीं करोगे। प्रत्येक जीव से विचार करते हुए, प्रत्येक स्थिति में वह जानता है कि परिस्थितियाँ परिवर्तित हैं। राग-निवृत्ति के लिये यह स्पष्ट विचार है।

प्रत्येक आत्मरूप से विशेषरूप से वही अवस्थित (वर्तमान) रहता है। विराट् पुरुष की स्थिति को बताते हुए भगवान् वार्तिककार ने कहा कि वह सारे संसार को पहले तो अपने अन्दर लीन किये हुए है; अथवा दूसरा अर्थ बताया कि संसार को अंदर ले भी लिया और नहीं भी लिया है। जिस स्थल में संस्कारों ने ग्रहण कर लिया, उतने अंश में पिया हुआ मान लिया, बाकी सारा अंश शुद्ध है। आपीत का एक तीसरा अर्थ और है : पीत नाम पीले रंग का है। भगवान् विष्णु को पीला रंग बड़ा प्रिय है, इसलिये उन्हें पीताम्बरधारी कहते हैं। पीला रंग वस्तुतः बीच का रंग है। यदि सात रंगों का विचार करें तो बैंगनी, नीला और हरा ये तीन

रंग एक तरफ आयेंगे। नारंगी और लाल रंग दूसरी तरफ जायेंगे। बीच में पीला रंग रहेगा। रंग-ज्ञानवाले इस बात को जानते हैं कि यदि हरा और नारंगी मिलाओ तो पीला रंग बन जायेगा। इसलिये पीला रंग मध्य का रंग है। हमारे यहाँ लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है और नीला या उससे भी गहरा बैंगनी रंग तमोगुण का प्रतीक है। जहाँ रजोगुण और तमोगुण दोनों पूर्ण रूप से नियंत्रित होकर मध्य में रहें, वह पीला रंग हो गया। इसीलिये भगवान् विष्णु को पीला अतिप्रिय है। सृष्टि का रंग एक तरफ हो गया, संहार का रंग दूरी तरफ हो गया, भगवान् विष्णु सृष्टि और संहार के मध्य में स्थिति करने वाले हैं। इसीलिये उनको पीताम्बरधारी या पीतवस्त्रप्रिय कहा जाता है। आपीत का मतलब हुआ कि जो रजोगुण और तमोगुण दोनों को छोड़ चुका है। 'पीत' हुआ जहाँ दोनों समन्वित हैं और 'अपीत' जहाँ दोनों का सम्बन्ध नहीं रहा पूर्णतः अपीत है आऽपीत।

वेदांत की यह प्रक्रिया ठीक से समझना : वेदांत शास्त्र में जहाँ गुणों को स्वीकार भी किया है, वहाँ पर भी सांख्यवाद से कुछ भेद है। सांख्यवादी मानता है कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों हमेशा मिले हुए रहेंगे अर्थात् प्रकृति में तीनों गुण हमेशा मिले रहेंगे। वेदांत ने इन तीनों गुणों को *हमेशा* मिला हुआ नहीं माना है। गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा—

'त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।'

पहले कहा कि तीनों गुणों को छोड़ दे और उसकी अगली ही पंक्ति

में कह दिया 'नित्यसत्त्वस्थः' सत्त्वगुण में स्थित रह। अर्जुन ने पूछा 'काम कैसे चलेगा, क्योंकि खाली सत्त्वगुण में कोई क्रिया नहीं है?' भगवान् ने अर्जुन के लिये बड़ी कठोर बात कह दी थी। तुम लोगों को माननी हो तो मानो, नहीं तो नहीं। भगवान् कहते हैं—'निर्योगक्षेम' योग और क्षेम दोनों ही नहीं चलेंगे ! अर्जुन ने कहा, 'तो फिर रहूँगा कैसे ?' भगवान् ने कहा—'आत्मवान्' बस केवल आत्मवान् ही रहेगा। योग-क्षेम की चिन्ता जब तक चलती रहेगी, तब तक नित्यसत्त्वस्थता बनती नहीं। योगक्षेम का मूल क्या है? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद इस का अर्थ करते हुए कहते हैं कि भगवान् ने कहा है कि जो सर्वथा मेरा स्मरण करता है, उसके योग-क्षेम को मैं संभालता हूँ

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाःपर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

वहाँ भाष्य करते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अप्राप्त की प्राप्ति योग और प्राप्त का संरक्षण क्षेम है। जो चीज़ मेरे पास नहीं है, वह मुझे मिल जाये, इसका नाम योग है और जो चीज़ मेरे पास है, वह मेरी ही बनी रहे, इसका नाम क्षेम है। विचार करो, आत्मदृष्टि वाले की क्या कभी यह वृत्ति बनेगी ? उसकी तो दृष्टि बनेगी 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' कोई चीज़ ऐसी है ही नहीं जो उसे पहले से प्राप्त न हो ! इसलिये योग की चिंता कहाँ से आयेगी? जहाँ सब कुछ उसकी आत्मा बन गया, वहाँ उसे अप्राप्त रह ही क्या गया ? जब अप्राप्ति ही नहीं तो उसे योग का विचार ही नहीं हो सकता। संरक्षण का मतलब है कि जो मुझे प्राप्त है, वह कहीं चला न जाये। तो क्या कोई ऐसी चीज़ है जो मुझसे

अलग हो जायेगी ? मैं सद्रूप हूँ, मेरी अभिन्न सत्ता है। मुझसे जो अलग होगा वह असत् और निरर्थक हो जायेगा, किसी काम का नहीं रहेगा। क्योंकि सद्रूप तो मैं हूँ। फिर मेरे द्वारा प्राप्त पदार्थ के संरक्षण की मैं क्या चिन्ता करूँ !

जैसे यह भावात्मक दृष्टि है, वैसे ही अभावात्मक दृष्टि भी समझ लेना : भावात्मक दृष्टि है ज्ञान की पूर्णता में कि 'मैं आत्मस्वरूप हूँ'। तब योग की ज़रूरत नहीं और क्षेम की चिन्ता नहीं। संसार के दूसरे पदार्थ चाहे चिन्ता करें कि 'हम कहीं इस सत् ब्रह्म से अलग न हो जायें' लेकिन सत् ब्रह्म को कोई चिन्ता नहीं है। जिसकी सत्ता से सभी सत्तान्वित हो रहे हैं, वह सत्ता क्या कभी क्षेम के लिये प्रयत्न करेगी ? उससे भिन्न अपने-अपने क्षेम के लिये प्रयत्न करेंगे कि वह हमसे अलग न हो जाये नहीं तो हम असत् हो जायेंगे। अभावात्मक दृष्टि साधक की है। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो क्षण से अधिक रहे। 'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः' सारे पदार्थ क्षण में बदलने वाले हैं। जो चीज़ रहनी ही क्षण के लिये है उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना बेवकूफी की हद है। जिस चीज को क्षण से अधिक रहना नहीं, वह बनी रहे, यह मानना भी बेवकूफी की हद है।

पुराणों में एक विचित्र कथा आती है। रयि नाम का एक राजा हुआ। वह इतना अधिक सुन्दर था कि उसकी सुन्दरता की प्रसिद्धि देव-लोक में भी पहुँच गई। अश्विनीकुमारों ने यह प्रशंसा सुनी। वे देवताओं के वैद्य हैं। उनके मन में आया कि चलकर रयि को देखें तो सही कि कितना सुन्दर है। वे देवलोक से चलकर भारतवर्ष की भूमि पर रयि के सौन्दर्य को देखने के लिये आये।

रयि उस समय तेल-मालिश करवा कर स्नान करने जा रहे थे। अश्विनीकुमारों ने आते ही चौकीदारों से कहा 'राजा को खबर कर दो।' रयि ने निवेदन किया 'स्नान करके आ रहा हूँ।' अश्विनीकुमारों ने कहा 'हम बड़े उतावले हो रहे हैं, बड़ी दूर से चलकर आ रहे हैं। तुम जैसे हो, वैसे ही आकर मिल जाओ, फिर स्नान इत्यादि कर लेना।' जब किसी चीज़ को देखने की तीव्र इच्छा होती है तो उस समय एक क्षण भी ऐसा लगता है कि न जाने कितने युग बीत गये। रयि ने सोचा भी कि बिना साज-शृंगार के इस समय क्या सौन्दर्य को देखेंगे ! लेकिन देवताओं को मना भी नहीं कर सकते थे, इसलिये बेचारे गमछा लपेटे हुए ही आ गये। रयि के अंग-प्रत्यंग देखकर अश्विनीकुमारों ने कहा 'जैसा सुना था, वैसा ही मिला। इतना सुन्दर देह हमारे यहाँ देवताओं में भी किसी का नहीं है। राजन् ! अब आप जाओ, नहाओ, हम संतुष्ट हो गये।' रयि गया, अच्छी तरह नहाया-धोया, पीठी आदि कराई, वह पुराना ज़माना था, साबुन आदि नहीं बने थे। उस दिन राजा और दिनों से भी खूब डटकर नहाया क्योंकि अश्विनीकुमार देखने आये हैं ! अतः स्नान में काफी समय लगा। कपड़े भी बढ़िया और नये निकालकर पहने, इसमें और देर लगी, फिर गहने पहने। तब तक हमारा पुरुष-वर्ग इतना कंजूस और लोभी नहीं हो गया था जो गहनों में एक पैसा नहीं लगाना चाहता है ! न करधनी, न अंगूठी, न कड़ा, न मुरकियाँ, यह सब कुछ नहीं, घूम-फिरकर, केवल एक चमड़े या नायलौन के पट्टे वाली घड़ी ही रह गई है। लोग कहते हैं कि 'फैशन बढ़ गया है' लेकिन हम कहते हैं कि कंजूसी है, और कुछ नहीं। अब तो लोग कपड़ों में भी कंजूसी

करते हैं। पैण्ट इतनी चौड़ी कि जितनी चौड़ी लात है। उसमें से भी एक-दो गज कपड़ा बचा लिया। उतने पर भी संतोष नहीं हुआ तो भोजन भी कम करो। किंतु रयि खूब आभूषणों से सज्जित हो कर रहता था। मुकुट इत्यादि पहनकर, काँच में मुख देखकर, रानियों से भी सलाह लेकर, कि ठीक लग रहा है या नहीं, बाहर आया। बड़ा प्रसन्न हुआ कि मेरा सौन्दर्य देखकर अब अश्विनीकुमार प्रसन्न हो जायेंगे। अश्विनीकुमारों ने ऊपर-नीचे नज़र दौड़ाई और एक दूसरे की तरफ देखकर कहने लगे 'अब वह बात नहीं रही, है तो मरणधर्मा ही !' देवता होने से सूक्ष्म परिवर्तन भी उनकी आँख से नहीं चूक सकता। राजा ने पूछा—'क्या बात हो गई ?' उन्होंने कहा—'कुछ नहीं, आपस की बात थी।' रयि ने पूछा तो उन्होंने बताया कि 'जो सुन्दरता स्नानादि से पहले थी, वह अब नहीं रही, कुछ घट गई है। तीन घण्टे की उमर जो बढ़ गई है। इसलिये कह रहे हैं कि तुम्हारा अतिसौन्दर्य है लेकिन मरणधर्मा होने के कारण तीन घण्टे का फ़र्क आ गया है।'

'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः' संसार के यावत् पदार्थ क्षण-परिणामी हैं, इसलिये उनके साथ योग करने की इच्छा व्यर्थ है, क्योंकि क्षण में निकल जाने हैं। और जिसने निकल जाना है, उसके क्षेम की क्या चिन्ता कि प्राप्त का संरक्षण करना है ! इसलिये भगवान् ने कहा कि तू नित्य सत्त्वस्थ हो। अर्जुन ने पूछा 'काम कैसे चलेगा ?' तो कहा 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' से। वेद ने नित्यसत्त्वस्थता मानी है। ऐसी स्थिति जीवन्मुक्त की होती है। इसलिये कहा कि रजोगुण और तमोगुण सर्वथा लीन हो गये। पीत

से दोनों लाल-नीला का ग्रहण हो गया, अब केवल सत्त्वगुण ही रह गया। सारे संसार के लिये सत्त्वगुण का कार्य रह जाता है, रजोगुण, तमोगुण की दृष्टि उसमें नहीं रहती। यहाँ जो विराट् पुरुष है, उसका वर्णन करते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कह दिया 'शुद्धसंस्कारसंश्रय' उस अंतर्यामी विराट् पुरुष में रजोगुण ओर तमोगुण का नामो-निशान नहीं है। उसके लिये ब्रह्माण्ड दृष्टि है। वह रज-तम से रहित, पीतभाव से रहित केवल शुद्ध सत्त्व की दृष्टि है।

प्रवचन-१०

रुद्राध्याय में पुरुष सूक्त के पाँचवें मंत्र पर विचार कर रहे हैं। परब्रह्म परमात्मा के ब्रह्माण्ड देह के साथ विराट् पुरुष का सम्बन्ध होता है। 'ततो विराड् अजायत'। उस परमात्मा से विराट् उत्पन्न हुआ। उस विराट् का परमात्मा से जो सम्बन्ध हुआ, वही विराट् पुरुष बना। वस्तुतः परमात्मा कारण-कार्यभावों से रहित है। यद्यपि जगह-जगह श्रुतियों के अन्दर परमात्मा से जगत् की सृष्टि बताई लेकिन वह सृष्टि कैसी है ! बिना कारण-कार्य बने हुए ही वह सृष्टि है। 'अकारणम् अकार्यं सत् कार्यकारणतामगात्', कारण और कार्य भावों से रहित रहता हुआ ही वह कारण-कार्यभाव को प्राप्त करता है। कैसे करता है ? 'मोहादेव ततः शास्त्रं तदुच्छितौ प्रवर्तते'। अर्थात् कारण-कार्य बिना बने हुए वह कारण-कार्यभाव को मोह से ही प्राप्त होता है। मोह का

मतलब अविवेक है, अविवेक ही मोह का रूप है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'मोहो नाम विवेकाभावः' विवेक का न होना ही मोह है। हमारे पास एक प्याला है, उस प्याले में दो रंग हैं, नीचे हरा रंग और ऊपर सफेद रंग है। प्याला एक ही है। बनाने वाले ने ऐसे सुंदर ढंग से वह रंग बनाया है कि एक दिन हमारे एक मित्र कहने लगे, 'स्वामी जी! मैं समझ रहा था कि दो प्याले हैं, एक में दूसरा रखा हुआ है।' लेकिन है वह एक ही प्याला। बस इसी का नाम मोह है अर्थात् विवेक का न होना; दो चीज़ें अलग-अलग हैं, उनको एक समझना और जो एक है, उसे अलग-अलग समझना। यह जो विवेक की कमी है, इसी से कारणभाव और कार्यभाव से रहित जगदीश्वर में कारण और कार्य भावों की कल्पना हो जाती है। एक प्याले में दो की कल्पना है, वास्तव में प्याले दो नहीं हैं। स्वरूप को न समझने के कारण एक में दो की कल्पनामात्र है। इसी प्रकार वस्तुतः परमात्मा में कारण और कार्य दोनों नहीं हैं, न होने पर भी उसमें दोनों भावों की कल्पना का नाम ही अविवेक है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि 'मोहाद् एव' इस मोह के सिवाय और कोई दूसरा कारण नहीं है। मोह के कारण असम्भव से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। इसे बताते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा

'कुर्याद् मेरावणुधियम् अणौ मेरुधियं तथा।
सर्वत्राप्रतिघात्येव प्रत्यगज्ञो महेश्वरः।।'

मोह के कारण मनुष्य मेरु जैसे पर्वत में अणुबुद्धि कर लेता है। हम कहते हैं कि भगवान् सुरेश्वराचार्य ने यह अल्प दृष्टांत दिया

है क्योंकि मेरु पर्वत तो सौ-पचास मील का होगा। वस्तुतः यहाँ तक होता है कि करोड़ों मीलों में फैले हुए नक्षत्रों को यहाँ से टिमटिमाता हुआ देखकर समझता है कि तारे बहुत छोटे हैं! अविवेक के कारण ही ऐसा होता है। उनकी दूरी का ध्यान नहीं रहता इसलिये प्रतीत होता है कि वे अणु हैं।

यहाँ केवल बाह्य मेरु को नहीं समझना, नैतिक जीवन में भी अपनी जो मेरु जितनी बड़ी भूल है, उसे अणु जैसा समझता है। अपनी बड़ी से बड़ी दुर्भावनाओं और दुष्कर्मों को समझता है कि 'यह कुछ नहीं है, छोटी-सी बात है। इतने-से झूठ से क्या बिगड़ेगा।' जैसे बाह्य पदार्थों में, इसी प्रकार आंतरिक जीवन में भी मेरु जैसे पदार्थ में अणुबुद्धि करता है। जैसे अपने में, वैसे ही अपने सम्बन्धियों में मेरु जैसी चीज़ को अणु समझता है। पुत्र की मेरु जितनी बड़ी भूल अणु जितनी लगती है। दूरभाष आया और लड़के ने बिना पूछे सौदा कर लिया। चार आने भाव का फ़र्क था और सौदा बड़ा था, पचास हजार का कम फायदा हुआ। कहते हैं—'बेटा, ज़रा पूछ लिया करो।' पचास हज़ार का नुकसान अणु जितना समझा और इतना ही कहकर छोड़ दिया। मुनीम ने सौदा किया, एक आने का फर्क था इसलिये साढ़े बारह हजार का कम फायदा हुआ। कहते हैं—'मुनीम जी ! अपने दिल से काम न किया करो।' और धीरे से भाई के कान में कहता है 'कहीं ऐसा तो नहीं कि उधर से कमीशन खाकर मेरा काम करता हो !' लड़के ने किया तो 'बेटा ! ज़रा पूछ लिया कर', और मुनीम से चतुर्थांश कम हुआ तो ऊँचा बोले सो बोले, संदेह भी आ गया कि क्या पता कमीशन ही खा लिया हो। इसका

कारण मोह है। जैसे नैतिक जीवन में ऐसे ही आध्यात्मिक जीवन में भी समझना। परमात्मभाव को अपने अंदर समझे हुए चार घण्टे निकल गये जिसमें परमात्मा का ध्यान भी नहीं आया, उसमें अणुबुद्धि है कि 'काम के शुरू में तो भगवान् को याद कर ही लिया था, अब काम के बीच में कहाँ से याद रहेगा !' यह मेरु में अणुबुद्धि है। मोह ऐसी असंभव चीज़ों को सम्भव कर देता है।

मोह अर्थात् विवेक के न होने का कारण होता है दो चीज़ों का इस ढंग से मिले हुए रहना कि अलग प्रतीत न हों। जैसे प्याले का दृष्टांत दिया कि दो रंग इस ढंग से मिले हुए हैं कि उन रंगों के कारण एक में दो की प्रतीति हुई। उसी प्रकार एक अखण्ड भगवती संवित् के अन्दर क्रिया और गुण और अगुणता भी मिले हुए हैं, लगता है कि दो हैं। जिस प्रकार रंगों के भेद से प्याले दो नहीं हो गये, फिर भी 'दो प्याले' ऐसी प्रतीती हो गई, इसी प्रकार एक अखण्ड भगवती संवित् शक्ति के अन्दर क्रिया और निष्क्रियता के कारण 'दो' की प्रतीति हो गई। एक में दो की प्रतीति केवल अविवेक या मोह के कारण है। इस मोह के कारण ही हम क्रिया और निष्क्रियता के स्वरूप को समझ नहीं पाते। यही अज्ञान है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य आगे कहते हैं—वह महेश्वर सर्वत्र अप्रतिघाती ही है। उसका कहीं पर प्रतिघात नहीं होता। जैसे हम हाथ हिलाते हैं तो एक जगह से जब तक दूसरी जगह पहुँचेगा तब तक कोई रुकावट नहीं होती, पर जब बीच में कोई दण्डा आदि आ गया तो थोड़ी सी रुकावट हो गई। इसी को संस्कृत में प्रतिघात कहते हैं अर्थात् विरोधी तरफ से रोकना। जहाँ बीच

में कोई दूसरी चीज़ नहीं है, वहाँ प्रतिघात नहीं होता। दूसरी चीज़ बीच में आ गई तो प्रतिघात हो गया। उस महेश्वर से भिन्न कुछ दूसरा है नहीं तो उसका प्रतिघात कौन करे।

परमात्मा की स्वतंत्रता हम बार-बार इसलिये कहते हैं कि जहाँ अद्वितीयता होगी, वहाँ स्वतंत्रता अवश्य होगी। मोह से कहता है कि 'एक अखण्ड चिन्मात्र, अद्वितीय है लेकिन मेरे संस्कार मेरा प्रतिघात कर देते हैं।' संस्कारों के कारण गति रुक जाती है। फिर अद्वितीय कैसे रहा ? क्योंकि तुम और तुम्हारे संस्कार दो गये। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि चूँकि कोई दूसरा है ही नहीं, इसलिये क्रिया की निष्क्रिय रूप में प्रतीति और निष्क्रिय की क्रिया रूप में प्रतीति है, इसीलिये कोई प्रतिघात नहीं। इसलिये वह सर्वथा स्वतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता का निरूपण करते हुए भगवान् सुरेश्वराचार्य अन्यत्र कहते हैं कि किसी कार्य को जैसे किया जा सकता है, परमात्मा वैसा भी कर लेता है, जैसे नहीं किया जा सकता, वैसा भी कर लेता है। इन दोनों से कोई अन्यथा प्रकार हो तो वह भी कर लेता है। जैसे कपास को धरती में बोकर खाद, पानी आदि दो तो उसमें से रुई निकलती है। उस रुई को चर्खे पर कातो तो धागा बनता है, उसका ताना-बाना बीन लिया तो वही कपड़ा बन जाता है। यह परमात्मा भी कर सकता है और यही हम भी कर सकते हैं। यह करने लायक बात हुई। भगवान् कृष्ण को द्रौपदी ने कहा कि मुझे कपड़ा चाहिये। गौड ब्रह्मानंद सरस्वती लिखते हैं कि जब द्रौपदी ने कपड़ा माँगा तो 'न तत्र तन्तुर्न च तन्तुवायः' भगवान् ने कहीं से धागे एकत्र नहीं किये, दस-बीस हज़ार जुलाहों को नहीं बुलाया, ये दोनों नहीं, और कपड़ा

इतना बन गया जिसका ठिकाना नहीं ! इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य निर्णय देते हैं कि उस ईश्वर की स्वतंत्र इच्छा को कौन परिच्छिन्न करे, कौन वह प्रतिघात करके कहे कि तुम ऐसा कर सकते हो और ऐसा नहीं कर सकते ? यही उसके स्वातंत्र्य का उन्मेष है। इस स्वातंत्र्योन्मेष को ही हम उससे भिन्न समझ लेते हैं। वास्तव में दो नहीं हैं।

स्वातंत्र्य का मतलब ही है विरोधी रूप से भान हो जाना ! जैसे प्याले के पदार्थ की यह स्वतंत्रता है कि हरा और सफेद दो रंग ग्रहण कर लेना : यदि एक ही रंग प्याले पर चढ़ सके तो यह नहीं कह सकते कि 'प्याला सारे रंगों को ग्रहण करने में स्वतंत्र है।' जब प्याले पर दो विरोधी रंग चढ़ सकते हैं तब कह सकते हैं कि प्याला इन दो रंगों को ग्रहण करने में स्वतंत्र है। उसी प्रकार परमात्मा सक्रिय और निष्क्रिय दोनों भावों में प्रतीत होने की सामर्थ्यवाला है तभी उसकी स्वतंत्रता सिद्ध होगी। विरुद्ध धर्मों को प्याले में देखकर जिस प्रकार दो प्यालों की कल्पना मोह के कारण है, उसी प्रकार एक अखण्ड संवित् के अंदर हमने कल्पना कर रखी है। किसी कल्पना का नाम जीव, किसी कल्पना का नाम जगत् और किसी का नाम ईश्वर दे दिया है। वास्वत में वहाँ एक ही है। वह कारण रूप में भी प्रतीत होता है और क्रिया रूप में भी वही प्रतीत होता है। कारण रूप में प्रतीत होने पर उसे ब्रह्म कह देते हैं और कार्यरूप में प्रतीत होने पर उसे जीव, जगत् और ईश्वर कहते हैं। लेकिन वहाँ दो नहीं हैं। अव्याकृत, अविद्या माया आदि नामों से दूसरे वादी जिसे मानते हैं, उनका नियमन करने वाला अंतर्यामी सूत्रात्मा भिन्न मानते हैं। भगवान्

सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं। उसी ब्रह्म को अव्यक्त, अव्याकृत, माया अविद्या, अज्ञान शब्दों से कहा और उसी को पुनः अंतर्यामी कहा गया है।

शुद्ध रूप होते हुए केवल जीव से भिन्न रूप बताने के लिये कह दिया कि जितने संस्कार आदि कारण मानते हो, वे सारे उसमें ही संश्रय को प्राप्त किये हुए हैं। संस्कार-संश्रय वाला भी वह प्रतीत हो रहा है और संस्कार-रहित भी वही प्रतीत हो रहा है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि मोह के कारण ही ऐसा प्रतीत हो रहा है, इसलिये शास्त्र का प्रयोजन इस अविवेक को हटाना है। जहाँ दो नहीं हैं, वहाँ दो की प्रतीति मोह से हो रही है, जैसे ही यह अविवेक नष्ट हो जायेगा, वैसे ही वहाँ पर दो नहीं रह जायेंगे। ध्यान देना कि क्या कह रहे हैं : 'एक रह जायेगा' यह नहीं कह रहे हैं, 'दो नहीं रह जायेंगे' यही कह रहे हैं। अभी एक में दो की प्रतीति है, तब एक में दो की प्रतीति नहीं रहेगी। यही एकता की प्राप्ति है। श्रुतियाँ अद्वितीय, अद्वैत कहती हैं जिसका तात्पर्य एकत्व धर्म नहीं है, बल्कि केवल द्वैत-भाव की निवृत्तिमात्र में है।

ग्रहण के संदर्भ में समझ सकते हो। दो ग्रह माने जाते हैं—राहु और केतु। अविचारशील समझता है कि दो ग्रह हैं। राहु-केतु की एक विलक्षण बात बता दें। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार राहु केतु एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध रहेंगे। दोनों में एक सौ अस्सी अंशों का फ़र्क होगा। एक यदि पूर्व में होगा तो दूसरा पश्चिम में होगा। ये दोनों कभी पास में आते ही नहीं हैं क्योंकि फासला कम नहीं होता। अधिक से अधिक जो फासला सम्भव है, वही दोनों में

रहता है। दोनों पास कभी नहीं आते, इसलिये सब समझते हैं कि राहु और केतु दो हैं। जिन्होंने पुराणों को देखा, उनका यह भ्रम हट जाता है। देवता और दानव दोनों ने मिलकर बड़ा प्रयत्न करके अमृतमंथन करके अमृत निकाला था, इसलिये वह दोनों में बाँटा जाना चाहिये था। यदि असुरों को अमृत मिल जाये तो संसार की बड़ी भयंकर स्थिति होगी। इसलिये भगवान् विष्णु ने कहा कि अमृत बाँटने का काम हम करेंगे। दोनों को बैठा दिया। भगवान् ने मोहिनी अवतार लिया; जो संसार को मोह ले, ऐसा मोहन अवतार लिया। यह नहीं समझना कि भगवान् 'विष्णु ने स्त्री का रूप कैस लिया ?' क्योंकि पुराणों के अनुसार भगवान् विष्णु मूलतः स्त्री हैं !

'एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा व्यवहार काले।
भोगे भवानी समरे च दुर्गा कोपे तु काली पुरुषेषु विष्णुः।।'

परमात्मा की जो स्वतंत्र शक्ति है, वह व्यवहारकाल में चार प्रकार की अलग-अलग प्रतीत होती है। भोग काल में उसी को भवानी रूप कहा जाता है। भव नाम संसार का है। संसार के पदार्थों के रूपों में प्रतीत होने पर वही भवानी है। 'समरे च दुर्गा' जब युद्ध करती है तब उसीको दुर्गा नाम से कहा जाता है। दुर्गा—जहाँ न पहुँचा जा सके। इसलिये किले को भी दुर्ग कहते हैं क्योंकि वहाँ पहुँचना मुश्किल है। युद्ध काल में अर्थात् देव-दानवों के संघर्ष काल में वही दुर्गा हो जाती है, असुरों की पहुँच के बाहर हो जाती है। असुर कितने भी बलशाली हो जायें लेकिन उस शक्ति को पकड़ नहीं पाते। इसलिये युद्धकाल में वह दुर्गा होती है। 'कोपे तु काली' क्रोध काल में वही भगवान् की माहेश्वरी शक्ति काली

बन जाती है। काल समय को कहते हैं। समय एक ऐसी चीज़ है जो किसी को नहीं छोड़ता, सबको खतम कर देता है। इसीलिये काल ही एक तरह से सब से बड़ा क्रोध का रूप है क्योंकि सब चीज़ों को नष्ट करने वाला है। 'पुरुषेषु विष्णुः' वही पुरुषों के अन्दर विष्णुरूप से अवस्थित है। परमात्मा की शक्ति ही पुरुष-रूप से अवस्थित है, उससे भिन्न नहीं है। विष्णु का अर्थ *व्यापक* होता है। सारे पुरुषों के अन्दर जो व्यापकता है, वही पारमेश्वरी शक्ति है। बैठे तुम यहाँ हो और पहुँच जाते हो चन्द्रमा में। यहाँ कोई अपोलो वाला मामला नहीं कह रहे हैं। यहाँ बैठे-बैठे ही पहुँच जाते हो। यह तुम्हारी व्यापकता को प्रकट करने वाली शक्ति है। इसलिये भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप लिया तो कोई विचित्र बात नहीं।

वह रूप लेकर उन्होंने देवताओं को अमृत पिलाना शुरू किया और असुरों को नाच-गाने आदि से मोहित करते रहे। असुर बेचारे असुर ही ठहरे ! देह और प्राण के धर्म में ही प्रसन्न रहते हैं, इसलिये असुर प्राणाराम होते हैं। अंग्रेज़ी वाले उन्हें 'हैडोनिस्ट' कहते हैं अर्थात् जो माने कि खाओ पीओ और मौज करो। असुरों की बुद्धि बड़ी मोटी होती है। इसका कारण है : जितना पदार्थों का भोग करोगे, उतनी बुद्धि मोटी होगी। पदार्थ पंचमहाभूतों के तमोगुण से बनते हैं। पंचमहाभूतों के तमोगुण के साथ जितना अंतःकरण व्यवहार करेगा, उतना ज़्यादा तमोगुणी बनेगा और जितना तमोगुणी ज़्यादा बनेगा, उतना स्थूल होता जायेगा। जिस भारतवर्ष ने अति प्राचीन काल में इस दृष्टि को समझा था, आज उस दृष्टि को भूलकर विदेशों की दृष्टि समझ रहे हैं। असुरता को लाने को

प्रगति मान रहे हैं। हमेशा से ही भारतवर्ष में असुर रहे हैं लेकिन समाज का आदर्श असुरों का नहीं था। आदर्श देवभाव का था। चूँकि यह भाव नहीं रख पाते थे, इसलिये असुर बन जाते थे। आज रात दिन आसुरी भावों का ज़ोर है कि किस तरह मन और शरीर को सुख मिले, इसको किस प्रकार से पदार्थों के द्वारा ज़्यादा से ज़्यादा तमोगुणी बना सकें। जो कहते हैं कि हम ज़्यादा तमोगुणी बनायेंगे, उसी को लोग अपना नेता मानते हैं। यह विदेश की दृष्टि है। जो सांसारिक भोगों को ही पर्याप्त समझे, वही असुर है। वह सांसारिक तमोगुणी भोगों से व्यवहार करता हुआ स्थूलबुद्धि वाला बन जाता है। ऐसे मोहिनी अवतार लिये हुए भगवान् विष्णु असुरों को भटकाते रहे और देवताओं को अमृत पिलाते रहे।

उन असुरों में से एक ने इस बात को देख लिया और वह झट से देवताओं की पंक्ति में आकर बैठ गया। पंक्ति में आकर वहीं बैठा, जहाँ अमृत परोसा जाने ही वाला था। भगवान् विष्णु को बड़ा सम्भल कर कार्य करना था कि एक तरफ तो असुरों को पता न लगे और दूसरी तरफ देवताओं को अमृत मिल जाये। इसी सँभाल में वे यह जान नहीं पाये कि एक असुर भी उसी पंक्ति में आकर बैठ गया है ! एक तरफ तो भगवान् को अलग हाव-भाव दिखाना और दूसरी तरफ अधिक ध्यान देना; इसमें इतने व्यस्त थे कि यह नहीं देखा कि बीच में कोई नया चेहरा आकर बैठ गया है। सूर्य और चन्द्रमा ने यह देख लिया कि उस असुर को अमृत मिल गया। उन्होंने कहा—'भगवन् ! यह कोई दूसरा है।' लेकिन इनके कहने से पहले ही थोड़ा-सा अमृत उसके मुख में गिर चुका था। विष्णु ने सोचा कि यह तो गड़बड़ हो गया।

लेकिन भगवान् विष्णु महान फुर्तीले हैं, क्योंकि व्यापक तत्त्व हैं। इतना सुनना था कि भगवान् ने झट अपने चक्र से उस असुर का शिरश्च्छेद कर दिया। तब तक अमृत उसके गले से नीचे उतर चुका था। वे ही दो टुकड़े राहु केतु हैं, सिर राहु और धड़ केतु हो गया। दोनों अमर हो गये। चूँकि सूर्य और चन्द्रमा ने भगवान् को बताया था, इसलिये आज तक उनसे बदला निकालते हैं। जब कभी वे सूर्य चन्द्र के पास पहुँचते हैं तब बिना अपना बदला लिये, उन्हें खाये बिना नहीं छोड़ते। यही ग्रहण है।

विचार करके देखो : अपनी ही दैवी और आसुरी भावनाओं के द्वारा अमृत-मंथन प्रारंभ किया गया। जब अमृत अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई तो उस अमृत के द्वारा पोषण दैवी भावों का होना है, आसुरी भावों का नहीं। इसीलिये भगवान् का मोहिनी अवतार आया। मोहिनी के दो अर्थ होते हैं—जो मोह को प्राप्त कर गया, उसे भी मोहिनी कहते हैं और मोह को जो समाप्त करे, उसको भी मोहिनी कहते हैं ! दोनों एक ही हैं। मोहिनी अवतार दो कार्य कर रहे हैं। जो असुर हैं उनको तो आत्मविद्या की दृष्टि नहीं बनने देते; जो देवता हैं, उनकी दृष्टि आत्मविद्या की बन रही है। एक साथ ही भगवान् दोनों कार्य कर रहे हैं। आत्मदृष्टि को देवताओं में बनाना है और आत्मदृष्टि को आसुरी भावों में नहीं बनने देना है। लेकिन एक सज्जन ऐसे हैं कि बीच में कूद जाते हैं, वह अहम् है ! यह जाति का असुर है और इतना भयंकर असुर है कि भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं—'प्रथमविकारो भवत्यहंकारः' प्रथम विकार अहंकार ही है, यह बड़ा प्रबल असुर है। यह देवताओं की पंक्ति में बैठ जाता है। क्योंकि इसी में चेतन

का प्रतिबिम्ब पहले पड़ता है इसलिये यह परिस्थिति समझ लेता है और देवताओं की पंक्ति में बैठ जाता है। देवताओं की पंक्ति में बैठने के कारण अहम् के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध हो जाता है 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्'। अहम् अमर बनने का प्रयत्न करता है और अमर बन भी जाता है लेकिन दो हिस्सों में कटा हुआ बनता है। अर्थात् दो हिस्सों में कटा हुआ अमर होगा, अकेला रहकर नहीं। एक हिस्सा कटा हुआ इसके अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति और दूसरा हिस्सा उसमें मिला हुआ चेतन। दार्शनिक भाषा में कहो तो अहम् में दो मिले—चेतनांश और जडांश। अहम् अमर होता है, लेकिन जब भी अमर होता है तब दो भागों में उसका विभाजन कर दिया जाता है। यह याद रखना कि ये दो भाग सच्चे नहीं हैं। अहम् की प्रतीति के अन्दर इन दो भावों को समझें तो अहम् की अमरता बनती है, लेकिन वस्तुतः दो नहीं हैं। जैसे प्याले वाले दृष्टांत से समझाया था कि एक अखण्ड संवित् के अन्दर ही वृत्ति और चेतन भी बना हुआ है। अलग करने पर अमरता सिद्ध होने पर भी वह सूर्य चन्द्रमा को नहीं छोड़ता। इन दोनों का ग्राह करता है, दोनों को खाने के लिये तैयार रहता है। सूर्य आत्मा और चन्द्रमा मन है। अखण्ड संवित् के अन्दर सूर्य और चन्द्र रूप से आत्मा और मन को कहकर दो टुकड़ों में बाँट दिये जाने पर भी अहम् कभी वृत्तिप्रधान बनकर आत्मा को ग्राह करता है और कभी समाधिकाल के अन्दर जब अहम् को परमात्मा में लीन करोगे उस समय वह मन का ग्राह कर सकेगा। यही ग्रहण का वास्तविक तात्पर्य है।

'सूर्यग्रहे तु नाश्नीयात् पूर्वं यामचतुष्टयम्' सूर्य ग्रहण होने पर

उसके पहले चार प्रहर भोजन नहीं करना चाहिये और चन्द्र-ग्रहण के तीन प्रहर पूर्व भोजन नहीं करते। यह इस बात को बताने के लिये है कि आत्मा (सूर्य) के साथ जब अहंकार का ग्रहण हुआ तब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इन चारों का प्रहार हो गया और (चन्द्रमा) मन के साथ जब अहंकार का ग्रहण होगा तो तुरीय बच जायेगा, केवल जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का ही प्रहार होगा। प्रहर का अर्थ 'हर लिया जाना' या खा जाना प्रसिद्ध है।

परमात्मा सारे संस्कारों का संश्रय है, अव्याकृत और अंतर्यामी कहा गया है। यही विराट् पुरुष का रूप है। सूर्य-चन्द्र रूप से यह विराट् पुरुष किस प्रकार उपासना का विषय बनता है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-११

पुरुषसूक्त के पंचम मंत्र में उस परब्रह्म परमात्मा के द्वारा ब्रह्माण्ड देह के उत्पन्न होने के बाद उस ब्रह्माण्ड देह के साथ जो तादात्म्यापत्ति है, अर्थात् उसके साथ जो उसकी एकता का सम्बन्ध है, उस का प्रकार और रूप बतायेंगे। विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड देह से किस सम्बन्ध के द्वारा विराट् पुरुष बनता है, आदिजीवभाव को किस सम्बन्ध से प्राप्त करता है इसे बताना इष्ट है। यह सम्बन्ध किसी वास्तविक विकार को उत्पन्न नहीं करता इसलिये इसे केवल बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध ही माना जा सकता है। वह वास्तविक कारण-कार्य बिना हुए ही कारण-कार्य

भाव को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। कार्य और कारण दोनों वस्तुतः उसमें नहीं हैं। 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'। कार्य उपाधि जीव की है और कारण उपाधि ईश्वर की है। जहाँ-जहाँ, जो-जो, जिस-जिस के प्रति जिस-जिस कारणभाव को प्राप्त होता है, वहाँ वह वैसे ईश्वरभाव को प्राप्त होता है। जो जहाँ जैसे उत्पन्न होता है अथवा कार्य बनता है, वह वहाँ वैसे जीवभाव को प्राप्त होता चला जाता है। ये जीव और ईश्वर भाव, कार्य और कारण भाव, व्यष्टि और समष्टि भाव तथा व्यक्ति और समाज भाव, उस एक अखण्ड के अन्दर एक साथ ही कल्पित हैं, उत्पन्न हैं। अकारण-अकार्य कारण-कार्यभाव को मोह या अविवेक से, अज्ञान से प्राप्त हुआ।

यह अज्ञान क्या चीज़ है ? वस्तुतः वह अखण्ड स्वयं ही संस्कारों का संश्रय बना हुआ है। अज्ञान कोई दूसरी चीज़ नहीं है। ब्रह्म स्वयं ही अज्ञान रूप में प्रतीत होता है, उससे भिन्न रूप कुछ नहीं है, नहीं तो द्वैतापत्ति हो जायेगी। भगवान् सर्वज्ञात्ममहामुनि संक्षेप-शारीरिक के अन्दर कहते हैं कि अज्ञान भी वस्तुतः ब्रह्म में ही प्रतीत हो रहा है। इसके लिये उन्होंने एक दार्शनिक दृष्टांत दिया है 'भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण'। सरल भाषा में ही समझ लो : घड़ा कपड़े से अलग है क्योंकि घड़े में कपड़े से अलगाव है। घड़े में कोई एक ऐसी चीज़ है जो उसको कपड़े से अलग करती है, घड़े में कोई ऐसा गुण मानना पड़ेगा जो उसको कपड़े से अलग करता है। अर्थात् घड़े में कपड़े का भेद है। घड़े में जो कपड़े का *अलगाव* रहता है, वह अलगाव घड़ा है या घड़े से अलग है ? अलगाव

भी तो घड़े से अलग होगा। वह अलगाव घड़े *में* कैसे रहेगा ? कपड़े के अलगाव से घड़ा अलग है ही, घड़े में कपड़े के अलगाव का अलगाव भी है ! वह अलगाव कैसे रहेगा ? इस प्रकार चलते चले जाओ, इसका कहीं अंत नहीं आने वाला है।

लोक में क्या होता है, जानते ही हो; पत्नी ने कोई ग़लती की, पति ने उसे डाँट दिया। बात वहाँ ख़त्म होनी चाहिये, क्योंकि तुमने गलती की और डाँट खाई, लेकिन यह नहीं होता। तुमने डाँट खिलाई, इस बात के कारण उसके मन में तुम्हारे प्रति झगड़ा पैदा हो गया। अब उस झगड़े से तुमने नाजायज़ गुस्सा किया। पत्नी ने उस नाजायज़ गुस्से को दूर करने के लिये गुस्सा किया, तुमने दुबारा उसको डाँटा। बिना मलतब के क्यों गुस्सा किये हुए हो ? इसी का नाम 'अनवस्था' है। एक गुस्से को दूर करने के लिये दूसरा गुस्सा करो, उसके लिये तीसरा, फिर चौथा, पाँचवाँ, इसका कहीं अंत नहीं होने वाला है।

इसी प्रकार घड़े के अलगाव को रखने के लिये दूसरे अलगाव को माना तो दूसरे अलगाव को रखने के लिये तीसरे अलगाव को मानो, इससे अनवस्था हो जायेगी। नैयायिक को इसीलिये मानना पड़ता है कि घड़े का अलगाव घड़े को कपड़े से भी और खुद अपने से भी अलग कर लेता है, इसलिये दूसरा अलगाव मानने की ज़रूरत नहीं है। इसी अलगाव को न्याय की भाषा में अन्योन्याभाव या भेद कह देते हैं। कपड़े से घड़े का अलगाव है। भेद्य घड़े का कपड़े से जो अलगाव है, वह उसे घड़े से अलग करते हुए अपने को भी अलग कर लेता है, अन्य अलगाव मानने की ज़रूरत नहीं है। भेदांतर अर्थात् भेद के भेद को मानने की ज़रूरत

नहीं रही। उसी प्रकार 'मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः तथैव मोहन्तरमन्तरेण' मोह और मोह का कार्य, ये दोनों उस मोह से ही प्रतीत हो जायेंगे। अज्ञान सारे जगत् की प्रतीति भी करा देगा और खुद अपनी प्रतीति को भी करा देगा। उसकी प्रतीति के लिये और कुछ माानने की ज़रूरत नहीं है।

आत्मा-अनात्मा का सम्बन्ध नहीं बनता फिर भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। जैसे दर्पण में मुँह का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो मुँह का प्रतिमुख से *सम्बन्ध* हो जाता है। चेहरे और काँच में कोई फ़र्क नहीं पड़ा लेकिन प्रतीति में फ़र्क पड़ गया। विराट् पुरुष का शुद्ध चिन्मात्र से क्या भेद है ? सम्बन्ध न बनने से किसी प्रकार के दोष की आपत्ति तो नहीं है, लेकिन प्रतीति में फ़र्क है। जब अपना मुँह काँच में देखते हो तो जैसा है बिल्कुल वैसा नहीं दीखता। तुम पूर्व को मुँह करके खड़े हो तो अंदर वाला प्रतिबिम्ब मुख पश्चिम को मुँह करके खड़ा है। यदि वह सामने को मुँह किये हुए न हो तो तुम लोगों को बड़ी मुश्किल हो जाये क्योंकि जब तक दर्पण का मुख सामने न खड़ा हो जाये तब तक प्रतिबिम्ब का कार्य ही निष्पन्न नहीं होता ! जब तुम अपना दायाँ हाथ ऊपर करते हो तो प्रतिबिम्ब का बायाँ हाथ ऊपर उठता है। कुछ एकता है, लेकिन फिर भी कुछ भिन्नता बनी हुई है, बिल्कुल एक जैसा हो तो उसे प्रतिबिम्ब नहीं कहेंगे। इसी प्रकार परमात्मा के प्रतिबिम्ब के अन्दर भी कुछ भेद आ जाता है। विराट् पुरुष में जो भेद है, वह यह है कि जो चिदात्मा, संवित् चेतन है, वह हमेशा अपने से अभिन्न प्रतीत होता है जबकि विराट् अपने स्वरूप से अभिन्न होने पर भी प्रतीत होगा कि मुझ से भिन्न है। विराट् पुरुष मैं

से भिन्न प्रतीत होता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने एक साहित्यिक दृष्टांत दिया है। कहते हैं कि प्रतिबिम्ब में कुछ गुण हैं और कुछ नहीं हैं। थोड़ा पुराने ज़माने में पहुँच जाओ; पति सालों बाद दिसावर में कमाई करके घर वापिस आया है। जब वह घर आया तो पत्नी उससे बड़े आराम से बातचीत करना चाहती है लेकिन वह बेचारी अन्दर बैठी है और घर के बहुत से लोग उसे घेरकर बाहर बैठे हैं, बात-चीत कर रहे हैं। अन्दर बैठे-बैठे पत्नी ने देखा कि जहाँ वह बैठा है, उसके सामने एक काँच अन्दर कमरे में लगा हुआ है। पत्नी उसमें उसका चेहरा देख रही थी। उसको संतोष हुआ कि 'इस तरह कोई जानेगा भी नहीं कि उसकी तरफ देख रही हूँ और उसका सुन्दर चेहरा दीख भी जायेगा। 'प्रच्छन्नरागिणी कान्तं प्रतिबिम्बितसुन्दरम्'। उस कान्त का जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वह प्रतिबिम्ब उसको अत्यंत हर्ष दे रहा है, इसीलिये उसको सुन्दर कह दिया। देखते-देखते उसने सोचा कि 'इसे छू भी लूँ' तो वह जाकर उस प्रतिबिम्ब को छूती भी है। वहाँ तो काँच ही हाथ आयेगा! उस दर्पण को अच्छी तरह छूने पर भी उसे कोई तृप्ति की प्राप्ति नहीं होती। जहाँ तक प्रतिबिम्ब के देखने का प्रश्न है, वहाँ तक तो सुन्दरता पूरी दीख गई, इतने अंश में तो एकता है। लेकिन प्रतिबिम्ब छूने के काम का नहीं है, इतने अंश में भेद है। इसी प्रकार से विराट् पुरुष के अन्दर उस परब्रह्म परमात्मा की अनंत शक्तियाँ देखते तो हैं किन्तु प्रतिबिम्बित सौन्दर्य ही देखते हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि 'यह सारा जगत् ब्रह्मरूप है, हमको ब्रह्म ही दीख रहा है क्योंकि श्रुति का उद्घोष है कि ऊपर-नीचे,

दायें-बायें, आगे-पीछे सर्वत्र एक ब्रह्म ही फैला हुआ है। उसको देखते हुए जब हमको ब्रह्म की प्रतीति हो ही रही है तब शास्त्र का क्या प्रयोजन है ?' लेकिन यही प्रयोजन है कि जैसे वहाँ प्रच्छन्नरागिणी को कान्त के प्रतिबिम्ब को देखने का तो सुख हो रहा है, उसी प्रकार यहाँ भी उस परब्रह्म परमात्मा की अनंत शक्तियों को देखने का सुख तो हो रहा है लेकिन उसके स्पर्श का, उसके मिलन का पूर्ण सुख नहीं हो रहा है अर्थात् जो आनन्द का उल्लास होना चाहिये, वह नहीं हो रहा है। प्रतिबिम्ब के अन्दर कुछ गुण आये लेकिन सारे गुण नहीं, कुछ गुण कम रह जायेंगे।

इसी को बताया 'बोधमिश्रमिदं बोधात् भेदेनाशक्यभासनं' वस्तुतः अज्ञान भी ज्ञानरूप होने के कारण ज्ञान से भिन्न नहीं है। बोध से मिश्र, मिला हुआ ही तो है, 'मैं अज्ञानी हूँ' यह भी तो एक ज्ञान ही है ! सर्वथा यदि तुम अज्ञान को ज्ञान से अलग मान लोगे तो उस अज्ञान का भान होना असम्भव हो जायेगा। अज्ञान को जान रहे हो, इसलिये अज्ञान ज्ञान से अत्यंत भिन्न नहीं है। यदि अत्यंत भिन्न होता तो उस अज्ञान का कभी भान नहीं हो सकता था। इसलिये कहा कि ज्ञान और अज्ञान की भिन्नता असम्भव है। उस परतत्त्व, परब्रह्म परमात्म-तत्त्व का बोध भी बोध से भिन्न नहीं है। इसलिये अज्ञान और ब्रह्मज्ञान दोनों ज्ञानाकार से तो एक ही हैं। जैसे दृष्टांत में प्रतिबिम्ब में जिसे देख रही है, वह भी कांत है, जिसे बाद में स्पर्श करेगी, वह भी कान्त है। कांतत्वेन दोनों एक हैं लेकिन फिर भी भेद है क्योंकि एक में आनंद के उल्लास की पूर्णता है, दूसरे में वह पूर्णता नहीं है।

रघु बड़े प्रतापी राजा हुए। इतने प्रतापी थे कि उन्हीं के नाम से उनका वंश ही चल गया जिसे रघुवंश कहा जाता है। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णु यद्यपि उनके कुल में उत्पन्न हुए, लेकिन फिर भी वह रामवंश कहा नहीं गया। उल्टा राम का ही नाम रघु से पड़ा, रघु से उत्पन्न राघव, रघुकुलोद्भव, रघुनाथ, रघुवंशी नाम पड़े। यह राजा रघु की कितनी बड़ी महत्ता बताता है। रघु बड़े दानी थे। आजकल के राजा की तरह नहीं थे। आजकल के राजा का दान तो जानते ही हो : तीन सौ बीस करोड़ रुपया तुम लोगों से टैक्स लिया। उसमें से दो सौ अस्सी करोड़ रुपया उनके कर्मचारियों पर खर्च होता है अर्थात् वह रुपया खुद उन पर ही खर्च होता है जो टैक्स लेते हैं ! बाकी से कुछ सड़कें इत्यादि बना दी गईं। कहते हैं कि 'प्रजा का कल्याण कर रहे हैं', नाम ही रखा है 'वैलफेयर स्टेट' अर्थात् जनता का कल्याण करने वाला राज्य। तुम्हारी जितनी बरसों की कमाई विद्यमान है, उस सब को लेना अर्थात् जो कुछ जनता की सम्पत्ति है उसे 'चूँकि हम तुम्हारे ऊपर राज्य करते हैं, इसलिये' लूट लेना—इसी का नाम 'वैलफेअर' रखा है। लेकिन रघु प्राचीन हिन्दू राजा थे और जनता का कल्याण करते थे। जनकल्याण का अर्थ उन्होंने 'जनता से राजा का कल्याण' ऐसा नहीं समझ रखा था ! जनता का कल्याण हो, उसे वे जनकल्याण मानते थे। आज जनता से जो अपना ज़्यादा से ज़्यादा कल्याण कर ले, वह उतना ही बड़ा नेता हो जाता है। राजा रघु ऐसे नहीं थे, उनका दृष्टिकोण था कि हम अधिक से अधिक जनता का कल्याण करें। इसलिये वे बीच-बीच में सर्वमेध यज्ञ करते थे जिसमें जितनी अपनी सम्पत्ति होती थी,

सब दान कर देते थे। दूसरे राज्यों पर चढ़ाई करके वहाँ से धन लाते थे, यही राजा का उस समय कार्य था, उसी धन के द्वारा सर्वमेध याग करके उसमें वह सम्पत्ति सबको बाँट देते थे।

एक बार राजा रघु ऐसा ही सर्वमेध यज्ञ कर चुके थे। दान करते-करते अपने पूजा के बर्तन और अपने सारे वस्त्र भी दान कर दिये थे। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। राजा रघु की बात जाने दो, आज से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व होने वाले राजा हर्ष के बारे में फाहियान और इत्सिंग लिखते हैं कि वह हर कुम्भ के मेले में जाकर अपना सारा खजाना दान कर देता था और अपने वस्त्र तक दान करके फिर अपनी बहन से वस्त्र का एक खण्ड माँगकर उसे पहनकर वापिस जाता था। हर्ष कान्यकुब्ज नरेश था। जिसने यह देखा, वह राजा रघु के दान पर आश्चर्य नहीं करेगा। आज कहते हैं 'अपनी बड़ी से बड़ी चीज़ दान कर दी' फिर भी महलों में उनके राग-रंग में कोई फर्क नहीं पड़ता! यदि बम्बई में उनके दल का सम्मेलन हो रहा है तो बड़े से बड़े सिनेमा एक्टर और एक्ट्रेसेस को बुलाकर राग-रंग, नाच-गान में अस्सी लाख रुपया खर्च हो जायेगा और खर्च होने के बाद, जनता को कहेंगे—'अपना-अपना पेट बाँध लेना चाहिये क्योंकि राष्ट्र पर आपत्ति है !' आज के लोग इसी को जन-कल्याण कहते हैं। राजा रघु ने भी अपना सर्वस्व, बर्तन और वस्त्र तक दान कर दिये। संध्या करने के लिये केवल एक मिट्टी का कुल्हड़ लेकर बैठे थे।

उसी समय एक ब्राह्मण स्नातक वहाँ आया। विद्या अध्ययन करने के बाद विवाह करने के पूर्व व्यक्ति को स्नातक कहते हैं। उसने आकर राजा को आशीर्वाद दिया। राजा को ऊपर-नीचे देखा

और आशीर्वाद देकर ही चलने लगा। उस स्नातक का नाम कौत्स (कुत्स गोत्र में उत्पन्न कौत्स) था। उसे वापिस जाते देख रघु ने पूछा—'कौत्स ! किस मतलब से आये थे ?' उसने कहा—'किसी मतलब से आया था लेकिन आपको देखकर समझ आ गया कि आपसे मेरा मतलब पूरा नहीं होना है, इसलिये वापिस जा रहा हूँ।' शास्त्र में स्नातक को बड़ा पूज्य माना है। रघु हाथ जोड़कर कहने लगे 'यह तो ठीक नहीं कि आप मेरे पास किसी मतलब से आये हों और मैं पूरा न कर सकूँ, आप ऐसे ही चले जाओ। बताइये तो सही कि बात क्या है ?' कौत्स ने कहा—'जाने दो, राजन् ! तुम्हें सुनकर दुःख होगा।' जब रघु ने बार-बार आग्रह किया तब कौत्स कहने लगे—'राजन् ! इसी आग्रह के चक्कर में मैं भी फँसा और तुम भी फँसोगे, इसलिये मुझे जाने दो।' रघु ने ज़िद पकड़ ली और कहा 'अब तो बता ही दो।'

कौत्स ने कहा—'मेरे पिता बड़े गरीब ब्राह्मण हैं। मुझे गुरु जी के पास पढ़ने भेज दिया था। अध्ययन समाप्त हो गया। गुरु जी ने कहा कि 'तू पढ़-लिख गया, अब तेरा स्नातक संस्कार करते हैं।' वहाँ बाकी राज-घरानों के बच्चे भी थे। वह प्राचीन काल था, राजा और सामान्य गरीब ब्राह्मण का पुत्र एक साथ रहकर, एक साथ भिक्षावृत्ति करते हुए विद्या अध्ययन करते थे। तब तक वह समाजवाद का जमाना नहीं था जहाँ प्रधानमंत्री के लड़के आक्सफोर्ड में और तुम्हारे लड़के म्युनिस्पैलिटी स्कूल में और मध्य वर्ग के कान्वेण्ट में पढ़ें क्योंकि हम सब समान हैं ! यह समाजवाद तब तक नहीं आया था। वहाँ सारे बड़े-छोटे लोग एक साथ अध्ययन करते थे। अध्ययन समाप्त होने पर गुरु ने स्नातक

संस्कार कराया। तब 'फीस' होती ही नहीं थी। अध्ययन के बाद जिसकी जो सामर्थ्य हो, जिसकी जो इच्छा हो, वह गुरु को दे देता था। किसी ने बहुत धन दिया, किसी ने थोड़ा दिया, गुरु सामर्थ्य के अनुसार लेते चले गये। मैंने गुरु जी से कहा 'मैं क्या लाऊँ ?' तो उन्हें पता था कि मैं गरीब ब्राह्मण का पुत्र हूँ। कहने लगे—'कोई बात नहीं, जाने दे ! तूने मेरी इतनी सेवा की है, वह क्या कोई कम है ! फिर तू ब्राह्मण है, तुझ से क्या लूँगा ?' लेकिन मेरे अन्दर बचपना था। गुरु जी से बार-बार कहा कि 'कुछ तो ले लो।' जब इस प्रकार पाँच-चार बार आग्रह किया तो उन्हें गुस्सा आ गया और कहा—'बड़ी दक्षिणा की बात करता है ! मैंने तुझे चौदह विद्यायें पढ़ाई हैं। जा, चौदह करोड़ सोने की मुद्रायें ले आ।' मेरा मुँह छोटा हो गया कि यहाँ तो चौदह सौ ताँबे की मुद्रायें लाने की सामर्थ्य नहीं है, फिर सोने की तो बात ही क्या ? मैं वहाँ से चला। विचार किया कि रघु से लेकर आऊँगा और गुरु जी को देकर उऋण होऊँगा। घर-घर सुना था कि रघु सर्वमेध याग कर रहे हैं। मुझे आशा थी कि मुझे भी चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें मिल जायेंगी। यहाँ आकर देखा कि आप सर्वस्व दान कर चुके हो। अपना ही बर्तन तुम्हारा गायब है, एक मिट्टी का कुल्हड़ रख लिया है।'

राजा रघु कहने लगे—'स्नातक मेरे द्वार पर आया और लौट जाये, यह नहीं हो सकता। स्वर्ण मुद्रायें दूँगा लेकिन मुझे दो-चार दिन का समय देवें और तब तक आप अतिथिशाला में ठहरें, खाने-पीने की सारी व्यवस्था वहाँ है। मैं कुछ न कुछ इंतजाम करूँगा, ऐसें नहीं लौटने दूँगा।' कौत्स ने बहुत कहा कि 'मेरे मन

में कोई विकार नहीं क्योंकि तुम्हारे पास होता और तुम ना करते तो कोई बात थी, तुम्हारे पास तो है ही नहीं। इसलिये मन में कोई बुरा भाव न समझो।' रघु ने विनती की 'आप कुछ दिन यहीं निवास करो। आप चले ज़ायेंगे तो मुझे परम दुःख होगा।' कौत्स के मन में बड़ा संकोच हुआ, फिर भी वहीं ठहर गया।

रघु विचार करने लगे कि क्या किया जाये, क्योंकि सर्वस्व दान हो चुका है। वह सर्वस्व दान नकली नहीं हुआ करता था। जितना भी धन कोश में होता था और जितना भी धन दूसरे लोगों से लेना होता था, वह पहले ही ले लिया जाता था। अपने अंतर्गत दूसरे जितने भी राजा हो सकते थे, उन सबसे ले लेते थे। अतः प्रजा से भी अब कुछ नहीं लिया जा सकता, दूसरे राजाओं से भी कुछ नहीं लिया जा सकता। अब जबरदस्ती लेना अत्याचार होता। शास्त्र में राजा का छठा भाग निश्चित किया है। इससे ज़्यादा जो राजा लेता है, वह पाप है। जनता से कुछ नहीं लेना है, दूसरे राजाओं से भी कुछ नहीं लेना है। इस प्रकार विचार करते-करते निर्णय किया कि इस पृथ्वी में तो अब कहीं से सम्भावना नहीं है। देवलोक पर चढ़ाई करके कुबेर को जीतकर कुछ धन लाया जाये। यह उस समय के राजा की दृष्टि थी। यह नहीं कि खर्चा बढ़ गया है तो जनता को और चूसो। अरे ! राजा हो, कोई और साधन सोचो।

जैसे ही निर्णय हुआ, वैसे ही आज्ञा हो गई कि 'सवेरे ही शस्त्र और रथ तैयार रखना। देवलोक पर चढ़ाई करके वहीं से कुछ धन लाया जायेगा।' उनके रथ सूर्यलोक, स्वर्गलोक तक जाया करते थे। 'रघुवंश' में लिखा है 'आनाकरथवर्त्मनां' उनके रथ इतने

प्रतापी थे। कुबेर को पता लगा तो उसे शर्म आई कि जिसकी ऐसी वृत्ति है कि अपना सर्वस्व दान कर दिया है, वह स्नातक के लिये चलकर मेरे पास आये यह शोभा नहीं देता। इसलिये कुबेर ने उसी समय वहाँ स्वर्ण-वृष्टि कर दी क्योंकि रघु अपने लिये नहीं बल्कि ब्राह्मण स्नातक गुरुजी को दक्षिणा दे सके इस प्रयोजन से धन चाहते थे। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर स्नान, ध्यान करके राजा जब बाहर आया तब देखा कि सारा आँगन सोने से भरा है ! यह देख कर रघु देवताओं की प्रार्थना करने लगे। जैसे ही भाग फटी, प्रातःकाल का प्रकाश हुआ, कौत्स को बुलाया और उन स्वर्ण मुद्राओं को दिखाकर कहा कि 'ले जाओ।' वह कहे 'मुझे तो चौदह करोड़ ही चाहिये, बाकी नहीं लूँगा।' लेकिन कुबेर वृष्टि करने लगें तो फिर क्या कहना है ! वहाँ से जो वृष्टि होगी, वह गिनकर तो होगी नहीं। जैसे तुम्हें लोग पानी देते हैं तो पानी के साथ एक मीटर (मापक यंत्र) लगा देते हैं कि इतने गैलन पानी के इतने पैसे लेंगे। पानी तक बेचते हैं। पहले-पहल राजस्थान के अन्दर जोधपुर में जब पानी देने का यंत्र लगा तो उस समय उम्मेद सिंह जी वहाँ के महाराजा थे। उनसे लोगों ने कहा कि 'सबको पानी मिलेगा, इसकी व्यवस्था के लिये मीटर भी आये हैं।' महाराजा बोले 'इससे क्या होगा ?' 'घरों में लगाये जायेंगे उससे पानी का दाम लगेगा।' महाराजा ने कहा—'क्या मुझे भिश्ती बनाओगे ? मैं तो राजा हूँ। क्या पानी के पैसे लूँगा।' जब पानी बरसता है तब इन्द्र मीटर नहीं लगाता, कितना सड़कों में बह गया, कहाँ-कहाँ बहा, कोई रुकावट नहीं। इसी प्रकार स्वर्ण-वृष्टि हुई तो गिनती करके थोड़े ही होगी। जब उसे गिना

गया तो वह चौदह करोड़ से कई सौ गुना माल था। स्नातक ने उसमें से चौदह करोड़ मुद्रायें ले लीं। राजा ने कहा 'तुम्हारे निमित्त आया धन मैं रख लूँ, यह नहीं हो सकता।' आजकल के राजा में क्या यह भाव है ? अपना ही अनुभव बतायें : संस्कृत-शिक्षा के लिये एक करोड़ रुपया मंजूर हुआ। साल भर में तीस लाख खर्च हुआ। हमने सोचा आगे दो-तीन सालों तक कार्य चल जायेगा इसमें बाकी धन खर्च करेंगे। लेकिन 'लैप्स' हो गया कहकर सरकार वह पैसा खा गयी ! 'लैप्स हो गया' मायने जिस प्रयोजन का था उसी में न लगाकर हम खा जायेंगे। यह नहीं कि बच गया और इसी साल खर्च करना ही है तो किसी संस्कृत के शिक्षक या विद्यालय को दे दें, बल्कि जो बचा, उसे खुद खा लेते हैं, उसी का नाम 'लैप्स हो गया है' रख छोड़ा है। राजा रघु ऐसे नहीं थे। कहने लगे, 'तेर निमित्त से आया है, मैं कैसे रख लूँ?' वह कहता था 'मैं ब्राह्मण हूँ, इतने धन को लेकर कहाँ दुःख की टोकरी में घुसूँगा। चौदह करोड़ तो गुरुजी के लिये चाहिये थे। मैं इनका क्या करूँगा ? धन तो सिवाय दुःख के और कुछ नहीं देगा। दो-चार हों तो ले भी लेता।' दोनों का बड़ा झगड़ा हुआ। एक कहे 'तू ले जा', दूसरा कहे 'तू रख ले।'

अंत में ऋषियों ने आकर बीच-बचाव किया। उन्होंने कहा 'इस धन को ले जाकर हिमालय के अन्दर गाड़ दो। ब्राह्मण के निमित्त का धन राजा रखे, यह ठीक नहीं और बिना मतलब धन एकत्र करके ब्राह्मण बुद्धि भ्रष्ट करे, यह भी ठीक नहीं। इसलिये इसे गाड़ दो ताकि यह किसी को दुःख न दे।' वही धन द्वापर और कलि की संधि में युधिष्ठिर वहाँ से निकालकर

लाये थे। व्यास जी को पता था कि इस प्रकार सारा धन गाड़ दिया गया था। चौदह करोड़ कौत्स ने ले जाकर गुरुजी को दे दिये। कार्य पूरा हो गया। यह राजा रघु की कथा है।

इस कथा के द्वारा कुछ सूक्ष्म बात भी बताई जा रही है। हमारे यहाँ लघु शब्द में 'ल' की जगह 'र' उच्चारण भी मान्य है। इसलिये लघु, रघु दोनों का एक ही अर्थ है। वह परब्रह्म परमात्मा ही अपने लघुभाव को अर्थात् परिच्छिन्नभाव को प्राप्त हुआ है, तब उसे रघु कहते हैं। जब परिच्छिन्नभाव को प्राप्त हो तभी उसे राजा अर्थात् ईश्वर कहेंगे। समष्टि और व्यष्टि में व्यष्टि की अपेक्षा तो समष्टि व्यापक है, लेकिन उस अखण्ड चिन्मात्र की अनंतता की अपेक्षा तो वह भी परिच्छिन्न ही है। कारण उपाधि भी उपाधि तो है ही। वह रघु सर्वस्व दान करता है। ईश्वर जीव को सब कुछ देता है, अपने लिये कुछ नहीं रखता। इसीलिये तो वह ईश्वर है। रोज़ महिम्न में कहते हो—

'महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः।
कपालं चेतीयत्तव वरद तंत्रोपकरणम्।।'

बुड्ढा बैल, बर्तन की जगह मनुष्यों का कपाल, लगाने के लिये चिता की भस्म। अपने लिये ढंग का कुछ नहीं रखा, फिर भी

'सुरास्तां ताम् ऋद्धिं विदधति भवद्भ्रूप्रणिहिताम्।
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।।'

अपने पास कुछ न होते हुए भी सारे ही देवताओं को सारी ऋद्धियाँ भी वही देते हैं। जिसके पास कुछ नहीं वही दे सकता है! जिसको

अपने आत्माराम की प्राप्ति हो गई है उसे इन विषयों की मृगतृष्णा लोभ में नहीं डाल सकती। दे वही सकता है जो अपने भोग के लिये नहीं रखना चाहता। जिसे अपने भोग के लिये चाहिये, उसकी समस्या है कि 'क्या बतायें, महँगाई के ज़माने में अपना ही खर्चा पूरा नहीं पड़ता !' खर्च कभी पूरा नहीं पड़ना है, चाहे दस लाख कमा लो। वह बेचारा कहाँ से देगा, जो खुद ही विषय-मृगतृष्णा में फँसा है! राजा रघु, ईश्वर, सर्वस्व दान कर देता है। यहाँ तक कि बर्तन और वस्त्र तक दान कर देता है। केवल मिट्टी का एक कुल्हड़ लिये हुए बैठा है।

उसके पास कुत्स चौदह करोड़ मुद्रायें लेने आता है। 'कुत्स अवक्षेपणे' धातु है अर्थात् कुछ फेंकना। कुत्स ने भी एक तरह से फेंका ही था, बार-बार गुरुजी को यह कहकर कि 'कुछ माँग लो।' जो जीव अपने गुरु को अर्पण करने के लिये चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें चाहता है, वह ईश्वर के पास पहुँचता है। इन चौदह चीज़ों की ही अनंत वृत्तियाँ हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)। इन चौदह की अनंत वृत्तियाँ हैं। वे अनंत वृत्तियाँ सारी स्वर्ण हों, सुवर्ण वाली हों अर्थात् शुभ ही हों। रोज़ प्रार्थना करते हो 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः' कान की वृत्ति भद्र हो, आँख की वृत्ति भद्र हो, कल्याण करने वाली हो। ये सभी वृत्तियाँ स्वर्णवत् शुद्ध हों। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सब उसी ईश्वर को विषय करें, उससे भिन्न किसी को विषय न करें। जीव ईश्वर के पास माँगने पहुँचता है क्योंकि और कौन देगा ? जब पहुँचता है तब कहता है

'अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं।

तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मंगलमसि।।'

जब पास पहुँचा तो यहाँ अमंगल दीखा, कपड़ा-लत्ता भी नहीं। भगवान् ने कहा चिन्ता मत कर, 'मंगलमसि'; यह भगवान् का नाम है, ईश्वर का नाम भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये थोड़ा-सा ठहर ! जिसने सारी भद्रवृत्तियों को ईश्वर से माँग लिया उससे परमात्मा ने कहा कि चौदह वृत्तियाँ की क्यों, जितनी चाहे उतनी ले। फिर वह जहाँ कहीं व्यवहार कर रहा है, उसकी वृत्ति ईश्वर को छोड़कर और कहीं नहीं बनती। जब तक हम ईश्वर के सामने जाकर अवक्षेपण, उस विराट् पुरुष के सामने अर्पण नहीं करेंगे तब तक विराट् पुरुष को देख रहे हो। जब चौदह करोड़ प्राप्त हो जायेंगे तब उसका स्पर्श कर लोगे।

प्रवचन-१२

श्रुति परमात्मा से ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति, पुनः ब्रह्माण्ड देह के साथ उसका सम्बन्ध बता रही है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस प्रकार तथा ब्रह्माण्ड देह के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार का है ? उत्पत्ति और सम्बन्ध दोनों प्रतीतियाँ एक परब्रह्म में हैं। कारणभाव से भी उसी की प्रतीति है और कार्यभाव से भी उसी की प्रतीति है। 'द्वित्वेन भात्यसौ बिम्बप्रतिबिम्बतयात्मना।' एक महादेव अपनी स्वतंत्रता से उपहित हुआ दो प्रकार से प्रतीत होता है। यदि एक रूप में ही भान होता तो उसकी स्वतंत्रता असिद्ध

हो जाती ! स्वतंत्रता का मतलब है किसी प्रकार के बन्ध से रहित होना। वही कारणरूप से भी, कार्यरूप से भी, व्यक्तिरूप से भी, समाजरूप से भी, बिम्बरूप से भी, प्रतिबिम्बरूप से भी, जीवरूप से भी, ईश्वररूप से भी भान हो रहा है। भगवतीं संवित् में ही ये सब प्रतीतियाँ हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों जहाँ प्रतीत हों, वहाँ पहले प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है। दर्पण में प्रतीत प्रतिबिम्ब में कुछ बातें उल्टी हैं। बिम्ब का पूर्व को मुख तो प्रतिबिम्ब का पश्चिम को है। उस विराट् रूप में सच्चिदानंद-अनंत-रूपता इदन्ता रूप से है, प्रत्यक्-रूपता नहीं है, 'वह मैं हूँ' इसका भान नहीं है। 'यह' और 'वह' जहाँ भी रहेगा, जितना भी नज़दीक समझो, वहाँ सच्चा स्पर्श नहीं है।

फूल को मैंने स्पर्श किया। विचार से देखो तो *मैंने* स्पर्श नहीं किया, त्वक् इन्द्रिय जो अंगुलियों में है उसने किया। मेरा स्पर्श वास्तविक नहीं है। चोट लगने से अंगुली कुचल जाये तो डाक्टर टाँके लगायेगा। सूचीवेध के द्वारा एक औषधिविशेष डाक्टर ने दे दी तो पता नहीं चलता कि टाँके लग रहे हैं। अंगुली-सुई का स्पर्श होते हुए भी *मेरा* स्पर्श नहीं हो रहा है। अंगुलियों में रहने वाली त्वग् इन्द्रिय स्पर्श कर रही है। स्पर्श का काम त्वक् इन्द्रिय का है, हाथ का नहीं। लेकिन त्वक् के साथ भी तो मेरा सम्बन्ध नहीं है। डाक्टर ने जो सूचीवेध लगाया था, उसने त्वक् इन्द्रिय को बन्द कर दिया था। यदि त्वक् इन्द्रिय से मेरा सम्बन्ध होता तो त्वक् इन्द्रिय को बन्द करने पर भी मेरा सम्बन्ध टूटता नहीं। एक कदम और आगे चलो; त्वक् इन्द्रिय से भी मन सम्बन्ध करता है, मैं नहीं। इसीलिये कोई दवाई नहीं

लगी है, त्वक् इन्द्रिय बिल्कुल ठीक है, रास्ते में किसी बड़े प्रिय दोस्त के साथ चले जा रहे हो, हृदय की बातों का आदान-प्रदान करने में मशगूल हो। पुराना दोस्त मिला है; न जाने कौन-कौन सी दिल की बातें वर्षों से दिल को साल रही थीं, ऐसी अनेक बातें दोस्त के साथ करनी हैं जो कह नहीं पा रहे थे। वे उसे बता रहे हो और वह भी प्रेम से सुन रहा है। घर पहुँचे तो घरवाली पूछती है कि 'हाथ में चोट कहाँ से लग गई ?' देखते हो कि अंगुली से खून निकल रहा है, बड़े ज़ोर की खरोंच लग गई है। कहते हो—'क्या बताऊँ, जंगल की तरफ गया था, कहीं काँटा लग गया है।' दोस्त भी कहता है 'तुझे बहुत चोट लग गई है, काँटे से इतनी चोट नहीं लगी होगी।' ख्याल आया कि उपवन का आनंद लेने के लिये काँटे के तारों में से निकला था। आजकल भी लोग घूमने की बढ़िया जगह पर तार लगा देते हैं। मित्र के साथ घूमने की इच्छा तीव्र थी, इसलिये तारों के बीच से निकले, हो न हो, वहीं चोट लग गई है। निर्णय हुआ कि यही हुआ होगा। इतनी बड़ी चोट लग गई जिसके लिये टिटनस-विरोधी एक सुई और ऊपर से गुदवानी पड़ेगी! किंतु चोट लगते समय पता नहीं लगा। यदि त्वक् इन्द्रिय से आत्मसम्बन्ध होता तो ज़रूर पता चलता। वहाँ त्वक् इन्द्रिय ठीक काम कर रही थी, कोई दवाई भी नहीं लगा रखी थी जिससे पता न लगे, फिर भी ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि अन्यत्रमना थे, मन उस समय हाथ में नहीं था, मन उस समय अंगुली में रहने वाली त्वक् इन्द्रिय से जुड़ा नहीं था। यदि मन त्वक् इन्द्रिय के साथ नहीं है तो त्वक् इन्द्रिय अनुभव नहीं करेगी। जब मैं कहता हूँ कि 'मैंने इस फूल को छुआ' तब पहला झूठ

तो यह कि मैंने नहीं छुआ, त्वक् इन्द्रिय ने छुआ; दूसरा यह कि त्वक् इन्द्रिय भी मेरे द्वारा नहीं छुई गई, त्वक् इन्द्रिय को मन ने छुआ। इसलिये यदि मन भी दूसरी जगह है तो उसने भी नहीं छुआ। उस फूल को त्वक् ने, त्वक् को मन ने स्पर्श किया।

कहोगे कि मन को ही मैंने स्पर्श कर लिया होगा ? हमारे यहाँ जब पूजा होती है तब एक ही शिवलिंग के चारों तरफ लोग बैठ जाते हैं। सबको अभिषेक करना है। कैसे किया जाये ? जो अभिषेक कर रहा है, उसके कपड़े को एक ने छुआ और उसके पीछे वाले ने दूसरे को छुआ तो सबके द्वारा अभिषेक हो जाता है ! ऐसे ही क्या मन को मैंने छुआ ? मन को भी मैंने नहीं छुआ। मन को मैंने क्यों नहीं छुआ ? 'आज मैं ध्यान करने बैठा था। पता नहीं मन कहाँ-कहाँ जाता रहा।' 'मैं' तो ध्यान करने बैठा था, 'मैं' कहीं नहीं गया, मन चला गया। मन का स्पर्श भी 'मैं' अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति के द्वारा है। वहाँ भी साक्षात् स्पर्श नहीं। केवल अहंकारात्मिका वृत्ति को चेतन साक्षात् स्पर्श करता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'नायम् एकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्'। ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्घात में कहते हैं कि 'अहम्' इस वृत्ति के अन्दर ही वस्तुतः चेतन का स्पर्श (भान) है। चेतन अहम् को स्पर्श करता है, आगे अहम् चाहे जिसको स्पर्श करता चला जाये। जैसे पूजा में अभिषेक तो एक ही व्यक्ति कर रहा है लेकिन जहाँ तक उसका स्पर्श होगा, उन सबका अभिषेक हो गया। उसी प्रकार चेतन के साथ सम्बन्ध करने वाला केवल एक अहम् है, आगे उसको मन, इन्द्रिय इत्यादि जो-जो छूते चले गये, वे सब चेतन बन गये, चेतनवत्

वहाँ प्रतीति और चेतनवत् उनकी क्रिया हो गई।

चेतन का स्पर्श अहम् में होगा, और तो कहीं होना नहीं है। जब तक 'इदं' (यह) है तब तक उसके साथ चेतन का स्पर्श साक्षात् नहीं है बल्कि अहंकारात्मिका वृत्ति के द्वारा है। जिस चीज़ को तुमने 'अहम्' (मैं) के साथ एक कर लिया, उसका भान चेतन के साथ अभिन्न होकर है। जब तक उस विराट् पुरुष, उस परब्रह्म परमात्मा को अपने से अलग रखोगे, तब तक उसकी सच्ची प्रतीति नहीं है। जब उसे अपने साथ एक करके देखोगे तभी उसकी सच्ची प्रतीति बनेगी। उसके बिना सच्ची प्रतीति और स्पर्श नहीं बनेगा। इदम् को अहम् में परिणत करना ही *स्पर्श* है। अभी 'यह' रूप से दीख रहा है तो स्पर्श नहीं है, जब 'मैं' रूप से दीखेगा तब स्पर्श है। प्रतिबिम्ब के दृष्टांत में समझ लो : सामने दर्पण में सुन्दर मुख दीख रहा है। विचार हुआ 'यह मुख बड़ा सुन्दर है, ज़रा इसको स्पर्श तो करूँ।' उसे स्पर्श करने के लिये हाथ अपनी तरफ, मुख की तरफ ही ले जाना पड़ेगा। यदि अपने हाथ को तुमने अपनी तरफ ले लिया तब तो उसमें दीखने वाले प्रतिबिम्ब के साथ स्पर्श हो गया और यदि हाथ को प्रतिबिम्ब की तरफ ले जाते रहे तो स्पर्श नहीं होगा। कल बताया था कि स्पर्श न होने का कारण पराग्रूपता अर्थात् अपने से भिन्न समझना है। स्पर्श करने के लिये पराग्रूप को प्रत्यग्रूप बनाना पड़ेगा, अपने से अभिन्न करना पड़ेगा, अहम् के साथ एक करना पड़ेगा।

जब उसको प्रत्यग्रूप करोगे तब विलक्षण बात हो जायेगी : दो चीज़ें नष्ट हो जायेंगी। पहली चीज़ तो काल का अवच्छेद नष्ट हो जायेगा और दूसरी चीज़ द्वितीयता की प्रतीति समाप्त हो

जायेगी। जिस चीज़ को 'मैं' के साथ एक कर लोगे, वह चीज़ फिर किसी काल में न नष्ट हो सकेगी और न उत्पन्न हो सकेगी। इसका क्या कारण है ? कारण यह है कि 'मैं' न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। यदि तुमने पक्का लाल रंग टैरीलीन के कपड़े पर चढ़ा दिया और उसी रंग को सूती कपड़े पर चढ़ा दिया तो दोनों में क्या फ़र्क रहेगा ? सूत का कपड़ा तीन साल में फट जाता है और टैरीलीन का कपड़ा नौ साल चलता है। जितने दिन कपड़ा रहेगा, उतने दिन तक रंग भी रहेगा। सूती कपड़े पर वह रंग तीन साल और टैरीलीन पर वही रंग नौ साल रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि तुमने किसी पदार्थ का स्पर्श अहम् के साथ कर लिया तो जैसे अहम् नित्य है वैसे ही वह भी नित्य हो जायेगा। ब्रह्माण्ड देह को जब तुमने अहम् के साथ एक कर लिया तब काल का अवच्छेद नष्ट हो जायेगा, काल तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

यही उपासना भगवान् ने अर्जुन को बताई। अर्जुन को दो तरह का डर लग रहा था—एक तो 'कहीं हम न हार जायें, हम न मर जायें' और दूसरा, 'कहीं हमारे रिश्तेदार दादा इत्यादि न मर जायें।' गीता में अर्जुन कहता है 'यद् वा जयेम, यदि वा नो जयेयुः' हो सकता है हम जीत जायें या हम न जीतें। यह अर्जुन का एक भय था। दूसरा भय था कि हम अपने पूज्यजनों को कैसे मारें ? इनके बिना जो भोग भोगने हैं, उन भोगों में कोई आनंद या सुख नहीं है। महानुभावों को मारकर हम कैसे कल्याण को प्राप्त होंगे ? भगवान् ने कहा कि दोनों रूपों में भय एक ही है और वह मृत्यु अर्थात् नाश का ही भय है। जिस चीज़ से डरते

हो, उसे अपने से दूसरा, भिन्न, कर लेते हो क्योंकि 'द्वितीयाद् वै भयं भवति', जब दूसरा होगा तभी भय होगा। अर्जुन ने पूछा 'इससे निवृत्त होने का उपाय बताओ।' पहले भगवान् उपदेश देते रहे, अंत में अपना विराट् रूप दिखाया। जब अपना वह रूप दिखाया तब अर्जुन ने पूछा कि 'आप कौन हैं ?' भगवान् ने जवाब दिया 'कालोस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' अरे अर्जुन ! मैं विराट् पुरुष कालरूप हूँ। तुझे काल का ही भय लग रहा है। अब तू मेरे अन्दर विराट् पुरुष काल की उपासना करेगा तो तुझे मृत्यु से भय नहीं लगेगा। जिसे अपने से अलग करोगे, अलग समझोगे, वही तुम्हारे भय का कारण बनेगा। तुझे यदि मृत्यु का भय है तो तू स्वयं मृत्युरूप क्यों नहीं बन जाता ? जब तू खुद कालरूप हो जायेगा तब काल तेरा क्या बिगाड़ सकेगा ? तू कहता है कि ये सब क्षय न हों, पर इनके क्षय के लिये ही तो मैं प्रवृत्त हूँ ! इस प्रकार तू मुझ विराट्पुरुष की उपासना कर, मुझे समझ अर्थात् 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार तू अपने को समझ। यही विराट् पुरुष की उपासना है।

जिसे प्रत्यागात्मा से एक करोगे, उसका कालावच्छेद नष्ट हो जायेगा, वह तुमसे अभिन्न हो जायेगा, अहम् के साथ अभिन्न होने से द्वितीयता नष्ट हो जायेगी। विराट् पुरुष से एक होते ही प्रतिबिम्बरूप द्वितीयता नष्ट हो जायेगी। यद्यपि विराट् पुरुष के अंदर सच्चिदानंदरूपता, भूमरूपता की प्राप्ति है, तथापि पराग्रूप से, इदं-रूप से है, इसलिये स्पर्श नहीं है। इस इदंता को अहंता में लीन करना। यही विराट् पुरुष की प्राप्ति है। विराट् पुरुष की प्राप्ति के प्रसंग में केवल सामान्य 'अहम्' नहीं समझना। आचार्य

अभिनवगुप्त ने बताया है

'सदंशं चिदंशे चिदंशं मुदंशे मुदंशं निरंशे तुरीये विलाप्य।
परं शंभुमेवाविशेद् अप्रमेयं प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ-प्रकाशम्।।'

जिस वस्तु को देख रहे हो उसका सत् अंश (है-पना) ज्ञान से भिन्न नहीं है। कोई चीज़ है, तभी उसका ज्ञान हुआ। बिना ज्ञान के कोई चीज़ 'है' नहीं हो सकती। 'है' इसको ज्ञान के साथ एक करके देखो तो 'है-पना' ज्ञान से अलग नहीं है। जिस चीज़ का ज्ञान है, वह आनंद से अलग नहीं है। ज्ञान ही तो आनंद है। बढ़िया खुशबू से आनंद आया। सुगंधि से आनंद आने का मतलब हुआ कि सुगंधि का ज्ञान हुआ। उसी के ज्ञान को आनदं कहते हैं, और कुछ आनंद नहीं है। रसगुल्ले को जीभ पर रखा तो रसगुल्ले का स्वाद आया। स्वाद मायने ज्ञान, इसलिये रसगुल्ले के स्वाद का ज्ञान ही तो आनंद है। ज्ञान हमेशा आनंदरूप होता है जैसे कि सत् हमेशा ज्ञानरूप होता है। कह सकते हो कि बदबू का भी ज्ञान होता है, सड़े करेले का भी ज्ञान होता है, वहाँ तो आनंद की प्रतीति नहीं है ? लेकिन वहाँ भी आनन्द है, इसे सातवें मंत्र की व्याख्या में बतायेंगे। अभी तो केवल मोटे रूप से समझ लो : अभावज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान को प्रकट करता है, स्फुट करता है। हमारे एक प्रिय मित्र को कुछ चिकित्सकों ने वहम डाल दिया कि उन्हें मधुमेह हो गया है। उन्हें मीठा खाने की आदत है। एक बार उन्होंने पुड़िया से चूर्ण निकालकर मुँह में डाला तो हमने सोचा कि दवाई खा रहे होंगे। पूछा तो कहने लगे 'डाक्टरों ने मीठा खाना बंद कर रखा है। त्रिफला खाता हूँ। त्रिफले में हरड़, बहेड़ा, आँवला होते हैं। इसे खाकर पानी पियो तो पानी मीठा लगता है।' बाकी

मिठास खाने बंद हो गये हैं तो अब आँवला खाकर पानी पीकर मिठास की तृप्ति कर लेते हैं ! आँवले का स्वाद मीठा नहीं होता, लेकिन वह जीभ को साफ कर देता है, इसलिये बाद में पानी पीने पर मिठास आ जाता है। इसी प्रकर दुर्गन्ध भी सुगन्ध के ज्ञान को स्फुट करने के कारण आनंद ही है।

आनंद अंश निरंश है। अहम् के अन्दर कोई अंश नहीं है। वह अंशकल्पना का विषय बना हुआ भी निरंश ही रहता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने सोचा कि अहम् कहते ही लोग वृत्ति को समझ लेंगे, इसलिये कहा कि वह अहम् तुरीय है। तुरीय का मतलब है जो सब अवस्थाओं में एक जैसा रहता हुआ भी बदलता नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें होती हैं। इसलिये तुरीय का मतलब चौथा होता है। स्वप्न का जाग्रत् में बाध हो जाता है। स्वप्न में मैंने बड़ा भारी राज्य जीता था, वह जगकर नहीं रहा। स्वप्न में सुन्दर बहू एक कमरे में मेरे पैर दबाती थी, उठने पर वे तीनों नहीं रहे। लेकिन मैं रह गया। गहरी नींद के अन्दर जो परम आनंद मिल रहा था, वह उठने पर नहीं रह गया, लेकिन मैं रह गया। इसीलिये 'मैं' वह तुरीय है जो तीनों अवस्थाओं में रहते हुए भी एक जैसा रहता है। अवस्थायें बदलती हैं, यह नहीं बदलता। अहम् को तुरीय में विलीन करना है, विलुप्त करना है। जो चीज़ दिखाई न दे, उसे लुप्त हुआ कहते हैं, यह भगवान् पाणिनि का कथन है। यह जो तुरीय के अन्दर विलुप्त अवस्था है, इसी को परम शंभु कहा है। यही वह महादेव है। जिस उपहित के द्वारा जो सारी प्रतीतियाँ हो रही हैं, वह यही शंभु है।

'परं शम्भुमेवाविशेदप्रमेयं' वह परम शंभु अप्रमेय है। वह

किसी भी प्रमा का विषय नहीं है। अब एक बात बताते हैं, घबराना नहीं। कहोगे कि बाकी सब का अविषय है, लेकिन ब्रह्माकार वृत्ति का तो विषय होगा ? आचार्य ब्रह्मानंद ने अद्वैतसिद्धि की टीका में बड़ा विचार किया कि ब्रह्माकार वृत्ति-विशिष्टचेतन भी किसी वृत्तिविशेष को लेकर है, वृत्ति-वैशिष्ट्य रह जाता है। इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति जिस ब्रह्म को विषय करती है, वह प्रमेय है, अप्रमेय नहीं है। लेकिन जब वृत्ति भी समाप्त हो जायेगी तब वह अप्रमेय है, वही परम शंभु है। जब तक ब्रह्माकारवृत्ति उसे विषय करेगी, तब तक उसमें अप्रमेयता नहीं, इसलिये परम-शंभुरूपता नहीं है। शंभुरूपता तो है, परमशंभुरूपता नहीं है। वह अप्रमेय है, किसी भी प्रमा का विषय नहीं है। जब तक इस परमशंभु में प्रवेश नहीं हुआ, उसके साथ एक नहीं हुए, अहम् के साथ विराट्पुरुष एक नहीं हो गया, जब तक ये सारे ब्रह्माण्ड अपने अंदर प्रविष्ट नहीं हो गये, तब तक तो भेद की प्रतीति है, लेकिन जिस समय सर्वतोभावेन इस विराट् पुरुष से एकता हो गई उस समय उसे नहीं जानता है, वह अप्रमेय है।

शंका होगी कि ऐसा तत्त्व ही नहीं; जिसे जानते ही नहीं हैं वह होगा ही नहीं ? समाधान कर दिया, 'प्रमेय-प्रमाण-प्रमातृ-प्रकाशम्', जितने भी प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता हैं, उन सबका प्रकाश तो उसी से है ! वह है तो ये सब हैं और वह नहीं तो ये कुछ भी नहीं हैं। यह ठीक है कि जिस समय वह विराट् पुरुष हमारे साथ सर्वथा एक हो गया, अहम् के साथ एक हो गया, अहंता में प्रविष्ट हो गया, उस काल में कुछ भान नहीं है, उस समय तो केवल एकता का भान है। लेकिन वह एकता भी बाद में प्रमेय, प्रमाण,

प्रमाता इन भेदों में समझ आ जाती है। यदि ये भेद न हों तो एक किस के साथ होगे ? इन सारे भेदों में प्रतीत होने वाला जो अहम् है, वही तुरीय है। उसी को यहाँ पर परम शंभु बताया। इसीलिये वह अप्रमेय, प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता तीनों को प्रकाशित करने वाला है।

जो इन तीनों को प्रकाशित करता है उस प्रकाशन को कैसे ग्रहण किया जाये ? इस पर स्कंदपुराण में एक कथा आती है।

प्राचीन काल में नर्मदा के किनारे नर्मपुर नाम का एक शहर था। नर्मदा बड़ी सुन्दर नदी है। नर्मपुर में विश्वानर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मण बड़ा धार्मिक था। यद्यपि बचपन से ही उनकी भगवान् शंकर में पूर्ण भक्ति थी, फिर भी अपने गुरुजनों की आज्ञा से उन्होंने विवाह किया। उनकी पत्नी शुचिष्मती भी भगवान् शंकर की भक्ति में लगी रहती थी। पति-पत्नी दोनों का परस्पर अत्यंत घनिष्ठ प्रेम था क्योंकि दोनों परमेश्वर की भक्ति में लीन थे। प्रेम तभी हो सकता है जब उद्देश्य की एकता हो। आज पति-पत्नी के संघर्ष का कारण ही यह है कि दोनों के उद्देश्य एक नहीं हैं। खाली 'मैं तेरा और तू मेरा मुख देख' यह प्रेम कितने दिन चलने वाला है ! जब दोनों एक उद्देश्य से चलें तभी प्रेम रहेगा। प्राचीनकाल में इस उद्देश्य की समानता पर बड़ा ज़ोर देते थे। आजकल उद्देश्य कुछ नहीं, इसलिये इस प्रेम को नहीं जान सकते। उन दोनों की शिवभक्ति में एकनिष्ठा थी, इसलिये दोनों का प्रेम पूर्ण था, घनिष्ठ था। लेकिन दोनों के कोई संतति नहीं हुई। एक बार शुचिष्मती ने कहा कि 'बाकी तो सब ठीक है, लेकिन अपने कोई संतति होनी चाहिये।' वस्तुतः

स्त्री तब तक पूर्ण नहीं होती, जब तक उसमें मातृत्व न आ जाये। इसलिये स्त्री के अन्दर संतति की अभिलाषा स्वाभाविक है। विश्वानर कहने लगा 'मैं काशी जाकर भगवान् शंकर की आराधना करूँगा, क्योंकि उनकी आराधना से ही सारी चीज़ें मिल सकती हैं। कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो शिवानुग्रह के द्वारा पूर्ण न हो जाये। असंभव और संभव—ये तभी तक मन के अन्दर चक्कर काटते रहते हैं जब तक उस देवाधिदेव महादेव के अन्दर अपना पूर्ण प्रेम नहीं हो जाता। जब उसमें पूर्ण प्रेम हो गया तो फिर असंभव नाम की कोई चीज़ रह ही नहीं जाती। जिस चीज़ की साधारण व्यक्ति कल्पना नहीं कर सकता, ऐसी चीज़ भी सम्भव हो जाती है।' शुचिष्मती ने कहा 'यह ठीक है।'

वहाँ से चलकर विश्वानर काशी पहुँचे और वहाँ भगवान् वीरेश्वर के मन्दिर में जाकर उपासना करने लगे। तेरह महीने तक उन्होंने पूरी तरह से तप किया। प्रातःकाल चार बजे उठकर भगवान् की उपासना अभिषेक करते और फिर मध्याह्न, सायंकाल, प्रदोष और मध्यरात्रि में अभिषेक करते थे। इस प्रकार चार बार अभिषेक का उन्होंने नियम ले लिया। तेरह महीने बाद एक बार ध्यान कर रहे थे तो अकस्मात् वीरेश्वर लिंग के अन्दर बारह वर्ष का एक बालक दिखाई दिया, बड़ा सुन्दर दिगम्बर रूप था। वीरेश्वर ने आँखें मलीं कि कहीं ऐसे ही तो नज़र नहीं आ रहा है। जब इस प्रकार देखने लगे तो वह लड़का हँसने लगा। कहा—'आँखें मत मलो, तुम्हारे लिये भगवान् शंकर ने मुझे विशेष रूप से प्रकट किया है क्योंकि तुम्हारे कर्मानुसार तो तुम्हारे घर कोई जीव नहीं भेजा जा सकता, कर्मानुसार तुम्हें संतति नहीं दी

जा सकती। इसलिये भगवान् शंकर ने मुझे नया ही प्रकट किया है।' इसी का नाम अक्रम अहैतुकी कृपा दृष्टि है। क्रम के अनुसार जो चीज़ दी जाती है वह अलग है और कृपा से जो चीज़ दी जाती है वह अलग है। कर्म-प्रवाह और कृपा-प्रवाह दोनों अलग-अलग हैं। साधारण आदमी इस बात को नहीं समझता, वह कृपा-प्रवाह को भी कर्म-प्रवाह के अनुसार समझना चाहता है। वैसे कभी समझ में आ नहीं सकता, क्योंकि दोनों अलग हैं। उस बालक ने कहा 'मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ।' विश्वानर ने अपना पूजन समाप्त किया और उसे लेकर चल दिये। घर आये।

यथाकाल उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। विश्वानर का पुत्र होने के कारण उसका नाम वैश्वानर पड़ा। पाँच वर्ष का हुआ तो उसका यज्ञोपवीत कर दिया गया क्योंकि ब्राह्मण-पुत्र था। जो चाहे कि 'मेरे पुत्र में परब्रह्म परमात्मा का वर्चस् अर्थात् तेज आ जाये', वह पाँच वर्ष की उमर में बच्चे का यज्ञोपवीत करे, तभी संस्कार पड़ते हैं। नहीं तो क्या होता है ? एक बार हम इटावे में थे। वहाँ एक बड़े अच्छे पण्डित थे। उनके पास दूसरा ब्राह्मण आया और कहने लगा 'मेरे बच्चे के लिये यज्ञोपवीत का मुहूर्त निकाल दो।' पंडित जी पंचांग देखने लगे। पूछ लिया 'कितनी उमर हो गई है?' उन्होंने कहा 'चौबीस साल का है।' सुनते ही पंडित जी ने पंचांग फेंका, कहने लगे—'चौबीस साल में यज्ञोपवीत थोड़े ही किया जाता है, वह तो बैल है, कभी भी नाथ दो !' चौबीस साल बिता दिये तो अब उसको क्या वेद का ज्ञान और श्रद्धा दी जायेगी ? इसलिये कहा कि ब्रह्मवर्चस् की इच्छा हो तो पाँच साल में ही वेद के संस्कारों का स्थापन करना पड़ेगा। आजकल पाँच साल में क्यों नहीं करते?

इसका कारण यह है कि आजकल लोग केवल धन की कामना वाले हैं, ब्रह्मवर्चस्-कामना वाला कोई नहीं है। वैश्वानर का पाँच वर्ष में यज्ञोपवीत हो गया और आठ वर्ष की उमर में उसने समग्र वेदों का अध्ययन कर लिया। माता-पिता की सेवा करते हुए रहने लगा।

एक बार उधर से देवर्षि नारद निकले और उस बच्चे को देखकर उन्हें बड़ा प्रेम हुआ। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार देखकर कहने लगे 'इस बच्चे में बड़े गुण हैं'। उसके अंग-प्रत्यंग देखकर बार-बार उसकी प्रशंसा करने लगे। विचार करते हुए सारे गुण बताते चले गये। बार-बार नारदजी के मन में हुआ कि कहीं ब्रह्माजी भूल तो नहीं कर गये ! सारे गुण बना गये तो कहीं थोड़ा-सा दोष भी होना चाहिये। विचार ही कर रहे थे कि तब तक उनकी नज़र कुछ ऐसे लक्षण पर पड़ी जिसे देखकर कहने लगे 'तुम्हारा पुत्र तो बड़ा श्रेष्ठ है लेकिन इसकी उमर केवल तेरह वर्ष की है। यही देख रहे थे कि ब्रह्मा जी ने कुछ गड़बड़ रखी है या नहीं। बाकी तो सारे गुण पूर्ण हैं लेकिन आयु में गड़बड़ कर दी है। तेरह वर्ष की उमर में यह बिजली के द्वारा मरेगा।' नारद जी तो यह कहकर वहाँ से चल दिये। लेकिन बेचारे माता-पिता को लगा कि उसी समय बिजली गिर कर वज्रपात हो गया। जानते ही हो कि ऐसी बात सुनकर, खासकर जबकि योग्य संतति हो, माता-पिता का क्या हाल होता है। जब इस प्रकार माता-पिता को दुःखी देखा तो वैश्वानर ने पूछा 'आप इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं ? मृत्यु तो देह वालों के साथ ही उत्पन्न होती है, इसमें इतना दुःखी होने की क्या बात है ?' माता-पिता कहने लगे—'बेटा ! तू नहीं

समझेगा। तू यदि किसी का माता-पिता होता तो समझता।' वैश्वानर कहने लगा—'पिता जी ! चिन्ता की कोई बात नहीं। यदि यही आपकी इच्छा है तो मैं मृत्यु को ही जीत लूँगा।' कहने लगे—'बेटा ! मृत्यु को कैसे जीतेगा ?' वैश्वानर हँस पड़ा और एक विशेष ढंग की नयनाकृति करके पिता की तरफ देखने लगा। पिताजी को याद आ गया कि वीरेश्वर लिंग में जिसको देखा था, वही तो यह है, दूसरा कोई नहीं है। इतने दिन में वह भूल गया था ! वैश्वानर कहने लगा 'मैं वहीं जाऊँगा जहाँ से आपने मुझे प्राप्त किया है।'

वह भी चलकर काशी पहुँचा। वीरेश्वर मन्दिर में उसने रोज़ एक सौ आठ घड़े भरकर भगवान् शंकर का अभिषेक और एक हज़ार आठ नील कमलों से भगवान् शंकर का पूजन करने का नियम किया। रोज़ सारी वेद संहिताओं का पाठ, ध्यान, जप करना इत्यादि के अन्दर ही अपना सारा समय बिताते हुए उस काल-पुरुष महाकाल के साथ अपना ऐक्यानुसंधान करना ही उसका कार्य था। एक बार जैसे ही पूजन करके उठा तो देखता है कि ऐरावत हाथी के ऊपर देवराज इंद्र आये हुए हैं। उसने बड़े प्रेम से उन्हें नमस्कार किया। इन्द्र ने कहा—'तेरी तपस्या से मैं प्रसन्न हो गया हूँ। तू कुछ माँग ले।' वैश्वानर ने कहा 'आपसे मुझे कुछ नहीं माँगना है। मनुष्य को पहले तो माँगना ही नहीं चाहिये और माँगना ही हो तो किसी एक ऐसे देने वाले को चुन लेना चाहिये कि घर-घर मँगता न बनना पड़े, भटकना न पड़े।' हमारे जीवन की कठिनाई ही यह है कि हम किसी को इष्ट नहीं बना पाते, किसी को अपनी श्रद्धा का केन्द्र नहीं बना पाते, इसीलिये घर-घर भटकते हैं।

महाभारत में तो यहाँ तक कहा है कि 'जिस प्रकार कुत्ते का पेट नहीं भरता, जिस घर वाले ने तू-तू, दुर-दुर कर दी, फिर वहीं पहुँच जाता है, इसी प्रकार जो इष्ट-श्रद्धा से रहित होता है, उसकी कुत्ते जैसी अवस्था होती है। कभी इन्कम टैक्स आफिसर को और कभी सेल्सटैक्स आफिसर को खुश करो, कभी हनुमान् जी को खुश करो, कभी राजनैतिक दलों को खुश करो। इस प्रकार घर-घर भटकते फिरते हैं कि न जाने कब कौन खुश होकर कुछ दे दे। जीवन का अंतिम क्षण आ जाता है लेकिन दुःखी ही बने रहते हैं। इसलिये पहले तो माँगो ही नहीं, माँगो तो ऐसे को चुनकर माँगो कि किसी और से न माँगना पड़े। यही बात वैश्वानर इन्द्र से कहता है 'मुझे आपसे कुछ नहीं माँगना है। आप कुछ आज्ञा करो तो उसका पालन कर लूँगा।' इन्द्र बोले—'फिर तू तपस्या क्यों कर रहा है ?' कहा—'वह तो महादेव के निमित्त कर रहा हूँ।' इन्द्र को क्रोध आ गया, कहा—'मूर्ख ! मैं देवाधिदेव हूँ।' वैश्वानर ने कहा—'मैं आपको जानता हूँ, लेकिन माँगूँगा नहीं। आप मेरे पूज्य हैं लेकिन मैं आपको ऐसा नहीं मानता कि जिनके सामने मैं मँगता बन सकूँ। किसी को पूज्य मान सकते हैं लेकिन घर-घर भटक कर माँग नहीं सकते। माँगना तो केवल देवाधिदेव महादेव से ही है।'

देवराज इंद्र ने उसी समय अपना वज्र उठाया और जैसे ही ज़ोर से धमकाया, वैश्वानर मूर्च्छित हो गया। थोड़ी देर में अनुभव करने लगा कि कोई बड़े कोमल हाथों से उसे सहला रहा है। आँखें खोलीं तो देखा कि भगवान् शंकर ही सहला रहे हैं। साक्षात् चंद्रमौलीश्वर भगवान् सामने बैठे हैं। कहने लगे 'बेटा ! दुःख न

मानना। वह इन्द्र कोई दूसरा नहीं, मैं ही था। लेकिन मेरा सत्य संकल्प है, जब तेरे को पैदा किया था, तब मैंने ही संकल्प किया था कि बिजली के द्वारा तू इस उमर में मरेगा। वह वज्र बिजली ही था, इसलिये मेरा सत्य संकल्प पूरा हो गया। इन्द्र का यही वज्र है। मैंने स्वयं ही आकर तुझे वज्र दिखाया और बिजली के निमित्त से तेरी मृत्यु हो गई। अब तेरे अनुसार ही मैंने तुझे नया बनाने का संकल्प कर लिया है, तेरे को अग्नि पद देता हूँ। दक्षिण का मालिक यम और पश्चिम दिशा का मालिक इन्द्र है। इन दोनों के मध्य आग्नेय दिशा का मालिक मैं तुझे बनाता हूँ। तू जाकर अपने पिता से कह दे।'

विचार करो कि इस कथा के द्वारा क्या बताया गया है : जो सारे प्राणियों के अन्दर रहने वाला ब्रह्माण्ड देह है, वही विश्वानर है अर्थात् जो सर्वत्र है। उसकी पत्नी शुचिष्मती पवित्र बुद्धि है। अथवा शुचि का अर्थ तेज भी होता है। जो बुद्धि उस परब्रह्म परमात्मा के तेज को ग्रहण कर सके, वह भी शुद्ध बुद्धि ही होगी, इसलिये दोनों से एक ही तात्पर्य निकलता है। विश्वानर और शुचिष्मती का विवाह हो गया। यही तो ब्रह्माण्ड देह की उपासना हुई। रोज़ महिम्न का पाठ करते हो

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः'

सूर्य, चन्द्र, पंचमहाभूत और यह यजमान देह—सब तुम ही हो। विश्वात्मा के सामने पवित्र तेजस्विनी शुद्धान्तःकरण वाली बुद्धि का सम्बन्ध होने पर वैश्वानर उत्पन्न हुआ। यही वैश्वानर अग्नि, ज्ञानाग्नि-स्वरूप है। यही प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान शुद्ध बुद्धि के द्वारा ब्रह्माण्ड देह की उपासना है। विराट् पुरुष की

उपासना हुई तो उसके फलस्वरूप वैश्वानरभाव की प्राप्ति हुई। वह अपने आपको प्रत्येक प्राणी के अंतःकरण में देखता है। इस भाव की प्राप्ति होने पर अब मृत्यु नहीं मार सकती क्योंकि मृत्यु के अन्दर भी वही विद्यमान है। वैश्वानर के द्वारा बताया कि जब इस प्रकार से एकता की प्राप्ति हो जाती है, जब विराट् पुरुष के साथ एक हो जाता है तब प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता सब का प्रकाश उसी आत्मा से होता है। ऐसी अवस्था में काल, मृत्यु किसी का भय नहीं हो सकता क्योंकि उस विराट् पुरुष से दूसरा कोई नहीं है और वह मुझसे अभिन्न है। इस विराट् पुरुष, वैश्वानरभाव की प्राप्ति होने पर जीवन्मुक्ति का आनंद कैसे लेता है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१३

पुरुषसूक्त में पंचम मंत्र की व्याख्या चल रही है। उस परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्माण्ड देह उत्पन्न हुआ, उस ब्रह्माण्ड देह के अन्दर पुनः उस पुरुषोत्तम का सम्बन्ध अर्थात् विराट् पुरुष की उत्पत्ति हुई। इस विराट् पुरुष के स्वरूप का विचार करते हुए देखा कि जब तक हम उसको अपने से भिन्न देखते हैं, इदंरूप से देखते हैं, तब तक उसमें अद्वितीयता, अखण्डता प्रकट नहीं होती, तब तक उसमें पराग्रूपता रहती है, प्रत्यग्रूपता नहीं आती, उसमें भिन्नरूपता रहती है, अभिन्नरूपता नहीं आती। 'दीखता' है लेकिन 'स्पर्श' नहीं होता। उसका स्पर्श कैसे किया जाये ? इसका

विचार करते हुए देखा कि उसको हम अहम् से यदि एक कर लें, अहम् से यदि उसको मिला सकें तभी उसका स्पर्श सम्भव है क्योंकि अहम् से अतिरिक्त जो कुछ है, वह साक्षात् चेतन के द्वारा स्पर्श नहीं होता।

आज थोड़ी रहस्य की बात बतायेंगे। पहले तो यह सिद्धान्त समझ लो कि जितना-जितना इदंता की तरफ बढ़ते हैं, उतनी-उतनी परमात्मा की दृश्य-पक्षीय अनंतता बढ़ती है और जितना-जितना इदम् से अहम् की तरफ आओगे, उतने-उतने पदार्थ भी लीन होते जायेंगे और पदार्थ को प्रकट करने वाली शक्ति भी लीन होती जायेगी। जब तक उसको अलग रखकर देखते हो, इदंरूप से देखते हो, तब तक उसमें अनंत चीज़ें दिखाई देती हैं, अनंत भेद दिखाई देते हैं। नाम, रूप, कर्म इतने दिखाई देते हैं जिनका कोई अंत नहीं है। अलग करके अर्थात् इदंता रूप से देखने में अनंतता का विकास होता जाता है। लेकिन जितना-जितना उसको अहम् से एक करते हो, अभिन्न करते हो, अहम् की तरफ लाते जाते हो, उतना-उतना भेद लीन होता जाता है। इसलिये वैसी अनंतता लीन होती जाती है, पदार्थ लीन होते चले जाते हैं। एक तरफ वह अनंतता बढ़ती जाती है और दूसरी तरफ जितनी-जितनी वह अनंतता लीन होती है, उतना-उतना आनंद बढ़ता जाता है। यह विषय रहस्य का होने के कारण थोड़ा कठिन है। इदंता के अन्दर उस अनंतता का विकास है लेकिन उसमें आनंद कम है, जितना-जितना उसको अहम् के साथ लीन करोगे, जितना-जितना उसके साथ अद्वितीयता करते हो, उसके साथ अखण्ड होते जाओगे, उतना-उतना आनंद बढ़ता जायेगा

लेकिन अनंतता कम होती जायेगी और पदार्थ लीन होते जायेंगे।

एक विलक्षण चीज़ का पता चलेगा। केवल इतना ही नहीं, वरन् जब आनंद की पूर्णता होगी, उस समय अखण्डता इतनी पूर्ण हो जायेगी कि वहाँ पता ही नहीं रहेगा ! इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत गहरी नींद है जो सब प्राणियों को सिद्ध है। सबसे ज़्यादा सुख सुषुप्ति में होता है, इसीलिये मनुष्य बढ़िया से बढ़िया गाना-बजाना, बढ़िया से बढ़िया वातानुकूलित सुहाने वाली हवा को छोड़कर सुषुप्ति में जाता है। उसको वहाँ वातानुकूल का मज़ा नहीं आयेगा, पता ही नहीं रहेगा कि उससे ठण्डी हवा लग रही है या गरम, ऐसी चीज़ को भी छोड़कर लोग गहरी नींद में जाते हैं, क्योंकि वहाँ सबसे ज़्यादा आनंद है। लेकिन वहाँ पदार्थ कुछ नहीं है। बढ़िया रसगुल्ला या गुलाबजामुन ऐसा कुछ वहाँ नहीं मिलता है। पदार्थ और तुम्हारी शक्ति दोनों वहाँ लुप्त हैं। तुम्हारी देखने, सूँघने आदि की शक्ति भी गहरी नींद में काम नहीं करती क्योंकि सारे पदार्थ और उन पदार्थों को प्रकट करने की तुम्हारी शक्ति सुषुप्ति में लीन है। लेकिन सुषुप्ति में एक पदार्थ है 'अज्ञान' जिसे जानते हो, इसलिये गहरी नींद से उठने के बाद कहते हो कि 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना' अर्थात् अज्ञान ही वहाँ जाना जा रहा था। बाकी सब चीज़ें तो लीन हो गईं।

सुषुप्ति से भी ज़्यादा आनंद उस अवस्था में होता है जिसमें यह अज्ञान भी नहीं रहे। 'कुछ नहीं' को भी नहीं जानें तो जो आनंद है, वह निर्विकल्प समाधि का आनंद है क्योंकि वहाँ ज्ञान स्वरूप है। जो परमात्मा के साथ ऐक्यानुभव के अन्दर ज्ञानरूपता है, वह सुषुप्ति से भी ज़्यादा सुख वाली है। और सब चीज़ों से

ज़्यादा सुख तो सुषुप्ति में है, क्योंकि वहाँ केवल एक पदार्थ 'अज्ञान' है, लेकिन जहाँ अज्ञान भी नहीं रहता है, वह स्थिति सुषुप्ति से भी ज़्यादा सुख वाली है। इसलिये उस स्थिति को प्राप्त करने के लिये मनुष्य सुषुप्ति भी छोड़ देता है। बाकी सब चीज़ों को तो सुषुप्ति के लिये छोड़ता है क्योंकि वहाँ एक ही पदार्थ है लेकिन उस अज्ञान को, सुषुप्ति को भी परमात्मा के साथ ऐक्यानुसंधान-रूप निर्विकल्प समाधि के लिये छोड़ देता है। चौबीस घण्टे, हफ्तों तक नींद न आये तो भी जो निर्विकल्प समाधि का आनंद है, उससे शरीर और मन में एक अद्भुत शक्ति बनी रहती है, कोई थकावट नहीं होती। साधारणरूप से एक दिन भी यदि सुषुप्ति न आये तो मनुष्य दवाईयाँ खाता है, नींद लाने के लिये और उस परम सुख की प्राप्ति के लिये वह जानबूझकर सुषुप्ति छोड़ देता है।

इदंता के अन्दर अनंतता का विकास और इदंता को लीन करने में अहंता का विस्तार और उस अहंता के विस्तार में आनंद-रूपता का विस्तार होता है। शंका होती है कि फिर आनंद ही लें, अनंतता से क्या लेना; उसके साथ एक ही रहें, फिर उसे इदम् बनाने से क्या ? आनंद का ही स्पर्श करो। जिसे नींद नहीं आती, उसे डाक्टर कहते हैं कि 'थोड़ा घूमा करो, परिश्रम किया करो और रात में ज़रा अच्छी तरह खा लिया करो।' जो नहीं सोना चाहते हैं, नहीं सुलाना चाहते हैं, वे क्या कहते हैं : कोई कहे कि 'सवेरे उठने में मुश्किल पड़ती है', तो कहेंगे 'रात को मत खाओ, क्योंकि खाओगे तो नींद ज़्यादा आयेगी।' जितना परिश्रम ज़्यादा करोगे, उतनी नींद ज़्यादा आयेगी। खाना भी एक परिश्रम है!

पहले तो मुँह चलाने में परिश्रम, फिर जितना ज़्यादा खाओगे, पेट को उसे हजम करने में अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। इसलिये परिश्रम सं नींद आती है। जितना परिश्रम अधिक होगा, उतनी नींद अच्छी आयेगी। यदि सोचो कि 'पदार्थ का लोप ही करना है, तो कमरा बंद करके लेटे रहें, कुछ खायें-पीयें नहीं', तो नतीजा यह होगा कि सुषुप्ति नहीं आयेगी। कभी किसी हल जोतने वाले किसान को यह कहते हुए सुना कि नींद नहीं आती ? कभी गड्ढा खोदने वाले, सड़क कूटने वाले मज़दूर को यह कहते हुए सुना है कि नींद नहीं आती?

जितना अहंता का पूर्ण प्रस्फुटन होगा, उतना ही अनंतता का लीन होना सरल है। जितना अधिक उसको अपने से बाहर इदंता-रूप से देखने का आनंद ले लोगे, उतना ही उसको अपने साथ अखण्ड और एक करके आनंद का प्रस्फुटन अधिक होगा। अनंतता का विस्तार सामने करके दिखाना, पुनः उसे अपने साथ अभिन्न करना, अपने में लीन करना, यह इदंता को वस्तुतः अहंता में लीन करने का साधन है। श्रम करना नींद उड़ाने का साधन लगता है, लेकिन है नींद लाने का साधन। इसी प्रकार अनंतता का विस्तार लगता है आनंद को कम करने का साधन, लेकिन है वास्तव में आनंद को बढ़ाने का साधन।

यह अनन्तता बढ़ाने का साधन उस ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति में बताया। उसको कैसे लीन किया जाये, इसका कुछ साधन आज बतायेंगे। छांदोग्योपनिषद् में इसका साधन बताया है। यह साधना का, करने का विषय बताते हैं।

सामवेद की छांदोग्योपनिषद् में 'उपकोसल विद्या' आती है।

'उपकोसलो हवै कामलायनो सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यम् उवास' एक ब्रह्मचारी का नाम उपकोसल कामलायन था। वह सत्यकाम जाबाल के पास अध्ययन करता था। सत्यकाम जाबाल बड़े प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं। बारह वर्ष तक उसने वहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, गुरुजी की शुश्रूषा करते हुए वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया। सब पढ़ लिखकर सोचने लगा कि 'अब मैं भी स्नातक बनूँगा, गुरुजी मुझे भी घर भेजेंगे। कहेंगे, 'बेटा ! अब तू पढ़ लिखकर तैयार हो गया।'' लेकिन गुरुजी ने उससे यह नहीं कहा कि तेरी पढ़ाई खत्म हो गई। उस युग की बात है कि जब तक गुरुजी यह नहीं कहें कि पढ़ाई खत्म हो गई तब तक घर जाने का प्रश्न ही नहीं था। गुरु ही विचार करते थे और निर्णय करते थे कि अब यह गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लायक है या नहीं। आजकल यह मान लिया गया है कि जो लड़का-लड़की पैदा हुए, वे ब्याह के लिये ही पैदा हुए हैं ! अपने वेदादि शास्त्र की यह पद्धति नहीं है। हमारे यहाँ तो गुरु ही निर्णय करते थे कि कोई विवाह करने लायक है या नहीं है।

विवाह बड़ी भारी ज़िम्मेवारी है। पैसा कमाना तो साधारण चीज़ है। विवाह करके आगे संतति पैदा करोगे, समाज के लिये तुम जीव उपस्थित करोगे, वह नालायक होगा तो तुम्हें भी नरक में ले जायेगा क्योंकि तुम्हारे ही दोष के कारण वह सब गलतियाँ करेगा एवम् समाज को भी बिगाड़ेगा। जब पिता कहता है कि 'मेरा पुत्र नालायक हो गया' तब नहीं समझता कि वह कह रहा है कि 'मेरा जीवन और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना असफल हो गया !' यदि संन्यासी ने ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं की तो उसका

संन्यासाश्रम व्यर्थ हो गया। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—अपनी ब्रह्मरूपता को जानने के लिये, त्वंपदार्थ का लक्ष्यार्थ जानने के लिये सारे कर्मों का त्याग किया जाता है। यदि इसकी प्राप्ति नहीं की तो संन्यासाश्रम में प्रवेश करना व्यर्थ हो गया। इसी प्रकार योग्य संतति को उत्पन्न करके समाज में आदर्श मानव उत्पन्न करने के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है। यदि योग्य संतति को उत्पन्न नहीं किया तो तुम्हारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना व्यर्थ हो गया। श्रुति में कहीं यह नहीं लिखा कि मकान-जायदाद बनाने के लिये या दुकान चलाने के लिये गृहस्थी बने। किसके लिये गृहस्थी बने ? बताया है कि पुत्र उत्पन्न करने के लिये गृहस्थी बने। पुन्नाम नरक से जो त्राण करे, ऐसा पुत्र पैदा करे। लोग कहते ज़रूर हैं कि 'पुत्र उत्पन्न किये बिना गति नहीं होती।' पर पुत्र मायने *बेटा* समझते हैं। पुत्र *बेटा* नहीं होता है। बेटे और पुत्र में बड़ा फ़र्क़ है। बेटे तो घोड़े-गधों के भी हो जाते हैं ! उसके लिये मनुष्य बनने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पुत्र वह होता है जो नरक से त्राण करे। समाज के अन्दर जितनें भी दुःख हो सकते हैं, नारकीय यातनायें हो सकती हैं, उन सबसे जो स्वयं बचे और दूसरों को बचावे। कोई ऐसा योग्य पुत्र उत्पन्न करने लायक है या नहीं, यह गुरु ही कहेगा जिसके पास वह ब्रह्मचारी बन कर रहा है। यदि गुरु देखता है कि अभी लायक नहीं हुआ तो उसे स्नातक नहीं बनाता और बिना स्नातक बने उसका विवाह नहीं हो सकता।

सत्यकाम जाबाल ने उसे स्नातक नहीं बनाया। उपकोसल सोचने लगा कि अब बनायेंगे, अब बनायेंगे। जो विद्यार्थी पीछे

आये हुए थे, उनको गुरुजी ने स्नातक बना दिया। वह गुरुजी की सेवा बहुत करता था, अध्ययन भी बहुत करता था। उसका चित्त खिन्न हो गया कि मुझे गुरुजी स्नातक क्यों नहीं बनाते हैं! लेकिन कहा कुछ नहीं। मन में ही खिन्नता आई कि 'मेरे बाद आने वाले चले गये और मैं अटक गया।' उसकी उस खिन्नता को सत्यकाम जाबाल की पत्नी ने देख लिया। हमारे यहाँ जहाँ पाँच मातायें मानी हैं, उनमें गुरुपत्नी भी एक माता मानी गई है। जब गुरुपत्नी ने देखा कि वह खिन्न है तब अपने पति से कहा कि 'उपकोसल ने आपकी बड़ी सेवा भी की है, सब तरह से कहने में रहा है, हमारी बात भी मानता रहा है, आश्रम की सफाई भी अच्छी करता रहा है, गायों की सेवा करता रहा है, अग्नि-परिचर्या भी करता रहा है, पढ़ता भी रहा है।' सत्यकाम बोले, 'हाँ, हाँ! बड़ा अच्छा लड़का है, मुझे भी प्रिय है।' फिर उसने कहा कि 'इसे स्नातक क्यों नहीं बनाते, इसका स्नातक-संस्कार क्यों नहीं करते ?' इस पर उन्होंने जवाब नहीं दिया, इतना ही कहा कि 'सोचूँगा।'

दूसरे दिन सवेरे उठकर पत्नी से कहा कि 'मुझे तीर्थयात्रा में जाना है, कई दिनों में लौटूँगा।' यह कहकर वहाँ से चले। सवेरे गुरुपत्नी ने विद्यार्थियों से कहा 'अब अपना पुराना पाठ ही याद करते रहना। आज प्रातःकाल ही तुम्हारे गुरुजी तीर्थयात्रा को चले गये हैं और पता नहीं कब आयेंगे। तुम लोग पाठ याद करते रहो और आश्रम की सेवा भी करते रहो।' यह सुनकर उपकोसल के हृदय में बड़ी चोट लगी कि 'आज तक कई साल ऐसे ही बीत गये और अब गुरुजी चले गये, पता ही नहीं कब आयेंगे !' उस

दिन जब भोजन का समय हुआ तब उसने कह दिया कि 'मैं नहीं खाऊँगा, मेरी खाने की इच्छा नहीं है।' सत्यकाम की पत्नी बड़े प्रेम से उसे अपने पास बैठाकर समझाने लगी, 'बेटा क्या बात है, क्यों नहीं खाओगे ? हे ब्रह्मचारी ! भोजन कर ले। ऐसी क्या बात है, क्यों नहीं खा रहा है ?' उपकोसल बोला, 'इस मनुष्य के हृदय में अनेक कामनायें होती हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार से उठती हैं, और पूरी नहीं होतीं।' उसे यही चोट थी कि 'मेरा स्नातक संस्कार करके नहीं गये। अब मैं घर नहीं जा सकूँगा।' मनुष्य के हृदय में नानाविध कामनायें उठती हैं और जब पूरी नहीं होतीं तब दुःख होता है। अतः उसने यही कहा 'मेरे हृदय में इस प्रकार अनेक कामनायें हैं। उन कामनाओं की पूर्ति न होने के कारण मेरे मन में खाने की इच्छा नहीं है।' बड़े अनुभव की बात कही है कि बिना खाये ही दिल इतना भरा है कि लगता है छाती तक ठस है। इसका कभी अनुभव किया हो तो पता चले, नहीं तो क्या मालूम हो ! सत्यकाम की पत्नी भी चुप रह गई कि 'बात तो ठीक ही कहता है कि मनुष्य के हृदय में अनेक कामनायें होती हैं। लेकिन स्नातक संस्कार करना मेरे हाथ की बात तो है नहीं।' उसने खाना नहीं खाया।

अग्नियों की उसने सेवा की थी। गुरुजी के प्रवासकाल में वही अग्निसेवा करता था। उस दिन जब अग्निहोत्र करने लगा तब गार्हपत्याग्नि ने उससे कहा 'इतने उदास क्यों हो ? मैं तुझे विद्या सिखाती हूँ।' सर्वप्रथम विराट् पुरुष का वर्णन किया। गार्हपत्याग्नि ने उसे पहले पृथ्वी, अग्नि, अन्न, आदित्य रूप से उपदेश दिया। फिर अन्वाहार्य अग्नि ने जल, दिशा, नक्षत्र, चन्द्रमा

रूप से उपदेश दिया। फिर आहवनीय अग्नि ने उसे प्राण, आकाश, द्यु और विद्युत्तत्त्व को ब्रह्मरूप से बताया। इन सबको ब्रह्मरूप से बताकर इन सबकी उपासना अहम् के साथ एक करके बताई।

गुरुजी जब तक तीर्थयात्रा करके लौटे तब तक उपकोसल इस अहंग्रह उपासना को सिद्धकर चुका था। विराट् की उपासना हो चुकी थी। अग्नियों ने उसे सारे ब्रह्माण्ड देह का ही उपदेश दिया था। ऊपर पृथ्वी, अग्नि, जल, नक्षत्र, चन्द्रमा, द्यु, विद्युत् आदि सारे ब्रह्माण्ड देह में हैं। इसलिये विराट् की अहंग्रहोपासना सिद्ध हो चकी थी। गुरुजी उसका चेहरा देखकर कहने लगे, 'बेटा! तुझे कौन उपदेश दे गया ? ऐसा लगता है कि तूने ब्रह्म को जान लिया।' उपकोसल ने कहा, 'आपके सिवाय और किस से उपदेश लेता ! अमुक-अमुक बातें तीनों अग्नियों ने बताई थीं, उनका पालन करता रहा हूँ।' तब गुरुजी ने कहा 'आगे की बात अब मैं तुझे बताता हूँ। इन्होंने विराट् की अहंग्रहोपासना का उपदेश दिया है। इसके द्वारा उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी, लेकिन केवल विराट् तक जाना ब्रह्मविद्या नहीं है। मैं तुझे वह बताऊँगा जिसके द्वारा तू ब्रह्मविद्या को प्राप्त करेगा। जैसे कमल का पत्ता सर्वथा जल के अन्दर रहते हुए, जल का सर्वथा स्पर्श करते हुए कभी गीला नहीं होता, केवल इतना ही नहीं, उसके ऊपर पानी की एक बूँद भी नहीं रहती इसी प्रकार जो बात मैं तुझे बताऊँगा उसका फल यह होगा कि फिर कोई भी पाप तुझे स्पर्श नहीं कर सकेगा।' उन्होंने विराट् पुरुष का उपदेश किया। उपासना का विषय है।

विराट् पुरुष को कहाँ बताना है ? कहा, 'बेटा इधर आ, मेरी आँख में देख।' यह जो आँख के अंदर तुझे पुरुष दीखता है, यह

आत्मा है।' बिम्ब-प्रतिबिम्ब की वास्तविकता को बताया। यह आत्मा है। यही अमर और अभय है एवं यही ब्रह्म है। इस ब्रह्म की विशेषता आगे श्रुति ने बतायी है। सत्यकाम जाबाल उपकोसल को उपदेश देते हुए कहते हैं 'एतं हि सर्वाणि वामानि अभिसयन्ति।' जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सारी इसके अन्दरलीन हो जाती हैं, प्रविष्ट हो जाती हैं।' यह केवल आँखों में दीखने वाली जिस-किसी चीज़ का उपदेश नहीं है ! यह उपासना का विषय है।

ब्रह्मसूत्र में विचार आया है : सामान्यतः लगता है कि किसी की आँख में झाँको तो अपना चेहरा दीखता है। पर यह कोई चेहरे की उपासना नहीं बतायी है। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र बनाया, 'अन्तर उपपत्तेः'। व्यास जी कहते हैं कि यह जो परिच्छिन्न चेहरा दीख रहा है, कहीं उसकी उपासना नहीं समझ लेना! यह किस की उपासना है ? नेत्र को ध्यान से देखने पर इसमें चार रंग दीखते हैं। सामान्य दृष्टि से आँख है, लेकिन इसमें चार रंग हैं। आगमों के अन्दर बताया है, १. सफेद, २. लाल, ३. धूसर (सफेद और काला मिला हुआ) और ४. काला—ये ही चार रंग आँखों में होते हैं।

प्रथम श्वेत चक्र सबसे बाहर वाला; यह सबसे पहले प्रत्यक्ष में दीखने वाला चक्र है। इसमें सोलह शक्तियाँ हैं। इसी को आगमों में नित्या षोडषी बताया है। ये सोलह शक्तियाँ हैं और स्वर भी सोलह होते हैं। व्यंजन तो केवल स्वर पर चढ़कर बैठ सकते हैं, इसलिये अध्यस्त ही होते हैं, अधिष्ठान नहीं होते ! स्वतः व्यंजन का उच्चारण नहीं होता। जब 'क' का उच्चारण करते हैं तब अ,

आ, इ इत्यादि के साथ ही उसका उच्चारण करेंगे। क् (व्यंजन) के ऊपर अ (स्वर) नहीं आ सकता, अ के ऊपर क् बैठ सकता है। स्वर अधिष्ठान होता है। एक-एक स्वर के साथ बैठकर व्यंजन अनेक प्रकार के बनते चले जाते हैं। अधिष्ठान रूप से स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ओ, ऐ, औ, अं और अः। ये नित्या षोडशिका हैं। ये सोलह स्वर किसे बताते हैं ? हमारा जितना ज्ञान है वह चार चीज़ों को लेकर है—१. प्रमेय, जिस चीज़ को जानते हो। २. प्रमाण, जिससे जानते हो। ३. प्रमाता, जो जानता है। और ४. प्रमिति अर्थात् जानना। घड़ा प्रमेय, आँख प्रमाण, मैं प्रमाता और घड़े का ज्ञान प्रमिति हैं। पुनः विचार करके देखें तो ये चारों चार-चार भेदों वाले होकर रहते हैं। जनन या उत्पत्ति, स्थिति, संहार और अव्यक्त—ये चार दशायें इन चारों की हैं। सामने कोई खास चीज़ नहीं है। तुम जो कह रहे हो, वह मैं सुन रहा हूँ। उस समय मेरी देखने की शक्ति (प्रमाण) अव्यक्त है। है तो ज़रूर, लेकिन प्रकट नहीं है। यह आँख की अव्यक्त दशा हुई। अब मैंने आँख खोली, तो उत्पत्ति का विस्तार हुआ। खुली हुई आँख सब पदार्थों को देख रही है; यह स्थिति हुई। मैंने उसे देखना छोड़ दिया, यह उसकी संहार-दशा हुई। ऐसे ही बड़ी दूर से कोई चीज़ दीख रही है, घड़ा नहीं दीख रहा है। यहाँ घड़ा अव्यक्त है। अब घड़ा मेरे सामने आ गया, उसकी उत्पत्ति हो गई। जितनी देर तक रहेगा, उतनी देर तक स्थिति है, किसी ने दण्डा मार दिया तो लय (संहार) हो गया। इसी प्रकार जो जानने वाला है, वह गहरी नींद में अव्यक्त है, जानने वाला तब प्रकट नहीं है। उसके बाद जब पहले जगने लगा तब प्रमाता की सृष्टि।

जब तक जाग रहा है, तब तक स्थिति, फिर जब सोने लगा तब संहार और फिर अव्यक्त। इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इन चारों में हरेक की चार-चार अवस्थायें हो जाती हैं—अव्यक्त, उत्पत्ति, स्थिति और संहार। ये सोलह हो गये। ये ही नित्या षोडषी हैं। इसकी उपासना श्वेत चक्र में करनी है।

इस चक्र के बीच में दूसरा चक्र लाल है। गुरु को सामने बैठाकर या किसी भी प्रतीक (इष्ट) में उपासना की जा सकती है। यह ईश्वरोपासना है। जो रक्त है, उसमें प्रमेय गायब हो जाता है। अब बारह रह जाते हैं। स्वरों में आजकल के लोगों ने चार स्वर हटा दिये, ऋ ॠ ऌ ॡ का प्रयोग नहीं करते। इनको हटाने का हेतु यह है कि ये नपुंसक स्वर हैं। पहले समझना पड़ता था कि ये नपुंसक क्यों हैं। यदि नपुंसक न होते तो आजकल की किताब वाले इन्हें हटाते क्यों ? आजकल इनका प्रयोग नहीं होता यही इनके नपुंसकत्व के प्रमाण है, क्योंकि इनके बिना काम चल जाता है ! ये चार स्वर हटे तो अब बारह रह गये। प्रमाण रह गया, प्रमेय और प्रमाण एक हो गये। जो रूप दीख रहा है, वह चक्षु से भिन्न नहीं है। प्रमाण, प्रमाता और प्रमिति इन तीन के चार-चार भेद हुए तो बारह हो गये। ये द्वादश काली हैं।

उसके बाद उसके अन्दर जो भूरा या धूसर भाग है वह धूमिल रंग का है। यहाँ पर प्रमाण प्रमाता से भिन्न हो गया क्योंकि आँख मुझ से भिन्न है। जैसे रूप की सत्ता प्रमाण में लीन हुई ऐसे ही आँख (प्रमाण) मेरे अंदर (प्रमाता) लीन हो गई। मेरी शक्ति ही तो आँख है। प्रमिति और प्रमाता दो रहे। उनके चार-चार भेद होने से कुल आठ रह गये। ये ही अष्ट बैन्दवी कला हैं।

आगे विचार करके देखो तो प्रमाता भी प्रमिति से अलग नहीं है। घड़े का जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह अपने पेट में केवल घड़े को ही लीन नहीं किये हुए है, जानने वाले को भी लीन किये हुए है। अष्ट बैन्दवी कलाओं के अन्दर ए, ऐ, ओ औ ये स्वर छूट जायेंगे क्योंकि ये संयुक्त स्वर हैं। अ इ से मिलकर ए और आ ए, ऐ से मिलकर ऐ, अ उ से मिलकर ओ तथा आ, ओ, औ से मिलकर औ बनता है। इसलिये ये शुद्ध स्वर नहीं हैं। अतः अब अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, अं और अः ये आठ स्वर ही रह जायेंगे। यही उपासना अष्ट बैन्दवी कलाओं से सम्बन्धित है।

वे भी प्रमिति में लीन हो गये तो केवल चार रह गये। ज्ञान की सृष्टि, स्थिति, संहार और अव्यक्त अवस्थायें हैं। इसके अन्दर आ, ई, ऊ, छूट जायेंगे क्योंकि ये दीर्घ स्वर हैं। इ का ही दीर्घ ई बनता है। ह्रस्व अ भी छोड़ देने से अब अः अं उ, इ ये चार रह जाते हैं। यहाँ क्रम भी बदल गया। अब तक क्रम में अ, आ ...थे। अब अ को छोड़ देना है और केवल अः अं उ इ ग्रहण करना है। अः विसर्ग, यही सृष्टि है। अः अं मिलकर अहं बन गया। ये ही दिक्चरी, भूचरी, खेचरी, गोचरी चार शक्तियाँ हैं। इस प्रकार जब नेत्र-उपासना का क्रम चलता है, तब अंत में जाकर ये चार रहे। आगे इन्हें भी लय करना है। लेकिन वह नेत्र-उपासना से आगे की उपासना हो जायेगी; ब्रह्माण्ड पुरुष की उपासना यहीं तक है। जब इस प्रकार सारी शक्तियों का साक्षात्कार हो जाता है तब सृष्टि, स्थिति, संहार और अव्यक्त अपने को प्रतिक्षण हुए प्रतीत होते हैं।

यह उपासना वस्तुतः ब्रह्माण्ड देह के साथ अपना तादात्म्य

करने के बाद है। अक्षि-उपासना गुरु या इष्ट के नेत्र में हो सकती है अथवा स्वनेत्र में भी हो सकती है। योग की एक विधि-विशेष होती है जिसमें अपनी ही आँख अपनी आँख को देख लेती है, उसके द्वारा स्वनेत्र में भी उपासना हो जाती है। ये केवल अक्षि उपासनायें हैं। इनके द्वारा मनुष्य में वास्तविक सृष्टि, स्थिति, संहार जो अव्यक्त रहते हैं, वे प्रकट होते हैं। उपासना तब तक सिद्ध नहीं होती जब तक पदार्थ बाहर दीखते हैं। उसके बाद सारा संसार अपने में से ही निकलता हुआ प्रतीत होता है। यह विराट् पुरुष की उपासना है। विराट् पुरुष से आगे किस प्रकार की सृष्टि होती है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१४

'ततो विराड् अजायत'—परब्रह्म परमात्मा से पहले ब्रह्माण्ड देह उत्पन्न होना और बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से पुनः उसका परमात्मा से संबंध बताया। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सूर्य, इन्द्र, अग्नि इन सब नामों से जो कहा जाता है, यही आदि पुरुष है, अक्षिपुरुष की उपासना उसी की उपासना है। अब तक की सृष्टि शुद्ध विद्या की सृष्टि है।

विराट् पुरुष अनंतताओं को अपने में लीन करके पूर्ण आनंदस्वरूप को प्राप्त होता है। माया-पुरुष में पूर्णता नहीं, उसमें आनंद अनंतभाव सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। ईश्वर की आनंद-अनंत-रूपता ब्रह्माण्ड पुरुष में वास्तविक है। आगे जीवभाव में परिच्छिन्न सापेक्ष आनंद और सापेक्ष अनंतता है। अगर हम कहते हैं कि

'अमुक आदमी धनी है' तो यह वाक्य सापेक्ष है। किसकी अपेक्षा धनी है, जब तक यही पता नहीं लगे तब तक उसका धनीपना अज्ञात रहेगा। पचास रुपये कमाने वाला व्यक्ति पाँच सौ रुपये कमाने वाले व्यक्ति को धनी समझता है। पाँच हज़ार रुपये कमाने वाला पाँच सौ रुपये कमाने वाले को गरीब समझता है। इसलिये धनीपना सापेक्ष है। कोई यदि आकर कहता है कि 'यह बड़ा धनी आदमी है' तो जब तक कहने वाले के धन का पता नहीं लगे तब तक उसके 'धनी' शब्द का कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता। दूसरी तरफ, यदि यह कहा जाये कि 'भारत वर्ष के अन्दर रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया धनी है' तो यहाँ सापेक्षता की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि जो भी धन है, सारे नोट उसी के तो हैं ! इसी प्रकार ईश्वर भाव के अन्दर निरपेक्ष अनंतता और आनंदरूपता रहेगी। जीवभाव के अन्दर सापेक्ष आनंद और अनंतरूपता रहेगी। आगे जो सृष्टि बतायेंगे, उसमें सर्वत्र यह याद रखना।

इसी भेद को बताने के लिये श्रुतियों ने 'अधि'-शब्द का प्रयोग किया 'विराजः अधिपूरुषः'। विराट् देह के अन्दर जो पुरुष का प्रवेश है, वह मालिक बनकर, उसका अधिपति बनकर है। आगे भी जितनी सृष्टि होगी, उन सब सृष्टियों के अन्दर प्रवेश तो परमात्मा का ही होना है, यह ख्याल रखना, किसी दूसरे का प्रवेश नहीं होना है। परिच्छिन्न उपाधि में प्रवेश करने वाले और व्यापक उपाधि में प्रवेश करने वाले दो नहीं हैं। लोग सोचते हैं कि भेद प्रवेश करने वाले को लेकर है पर प्रवेश करने वाले में भेद नहीं है। जिस उपाधि में प्रवेश करते हैं, उस उपाधि में भेद है। व्यापक उपाधि में मालिक बनकर अधिपति बनकर प्रवेश करते हैं,

अव्यापक परिच्छिन्न उपाधि के अन्दर दास बनकर प्रवेश करते हैं। इतना याद रखना कि उपाधि वस्तुतः उससे भिन्न नहीं है। इसलिये वह स्वयं ही अपने आपको जब संकुचित उपाधि वाला बना लेता है, तब उसके अंदर संकुचित आनंद और संकुचित अनंतभाव है और वही जब अपने को व्यापक उपाधि वाला बना लेता है तब असंकुचित आनंद और अनंत भाव होता है। एक ही लट्टू है; उसके बटन को एक नंबर पर चलाओ तो लट्टू हल्का चलता है, उसी को दो नम्बर पर घुमा दो तो मध्यम प्रकाश हो जाता है, उसी को तीन नम्बर पर घुमा दो तो उसमें से बड़ी तेज़ रोशनी निकलती है। लट्टू एक ही है, लेकिन वही कभी मंद, कभी मध्यम और कभी तेज़ प्रकाश वाला हो जाता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ समझ लेना कि एक ही चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा कहीं सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रकाश वाला, कहीं अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् प्रकाश वाला और कहीं मध्यज्ञ और मध्यम शक्तिमान् प्रकाश वाला है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'शिवो ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञ इव भासते।
देवतिर्यङ्मनुष्येषु किंचिज्ज्ञस्तारतम्यतः।।'

ब्रह्मादि देवों के अन्दर शिव का ही सर्वज्ञ की तरह भान है, पशु-पक्षियों में वही तारतम्य में, घटा-बढ़ी के रूप में प्रतीत होता है। जैसे एक लट्टू ही तेज़, मध्यम, और मंद प्रकाश वाला हो जाता है, उसे कोई दूसरा लट्टू बनने की ज़रूरत नहीं पड़ती इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा है। यहाँ उपाधि भी खुद ही है। अगर ऐसा लट्टू नहीं देखा हो तो पंखा देखा ही है। एक ही पंखा एक नंबर पर धीमे चलता है, नंबर बढ़ाओ तो तेज़ चलता है, उसमें

भी तीन-चार नम्बर होते हैं जिनसे बिजली की गति में घटा-बढ़ी होती रहती है। आजकल वातानुकूल चलता है, उसमें से भी जितनी ठंडक चाहो, उतनी ही निकलेगी। कम या अधिक का उसमें भी नियंत्रण हो जाता है। उपाधि तो एक ही है। जैसे एक लट्टू, एक ही बिजली, लेकिन तेज़ी में भेद है, एक ही पंखा और एक ही बिजली, लेकिन गति में भेद, एक ही वातानुकूल और एक ही बिजली लेकिन ठंडक में भेद हो गया, उसी प्रकार वह एक परब्रह्म परमात्मा ही अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के विलास से कभी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भान होता है और वही पुनः अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् भान होता है। इसलिये उपाधि का द्वैत वेदांत सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। समझने के लिये उपाधि में प्रवेश है, लेकिन उपनिषदों का उद्घोष है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' स्वयं ही उपाधि भी बनता है और स्वयं ही उस उपाधि में प्रविष्ट भी होता है। स्मृतियाँ भी कहती हैं 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः' उपाधिरूप से भी वही बना और उपाधि बनकर उसमें प्रवेश भी उसी ने किया। इसलिये दो नहीं हैं। उपाधि बनना अर्थात् अपना स्वयं का संकोच करना और उपाधि को बढ़ाना अर्थात् अपने अनंतभाव को प्रकट करना। उपाधि को समाप्त कर देना अर्थात् अपने निर्विकल्पभाव को प्रकट कर देना है। यह सब करने में वह सर्वथा अपनी स्वातंत्र्य शक्ति को ही अपनाता है।

अब तक की जो सृष्टि बताई 'विराजः अधिपूरुषः' चूँकि वह व्यापकभाव था, इसलिये वहाँ अनंतता और आनंदभाव स्फुट था, प्रकट था। इसलिये वह विराट् पुरुष उपास्य है, पूज्य है। आगे जितनी जीव-उपाधियाँ बतायेंगे, वे सारे पूजक हैं। अब तक पूज्य

अर्थात् शुद्ध विद्या में होने वाली सृष्टि बताई, जो उपास्य है, पूज्य है। आगे वाले उपासक, पूजक हैं, अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् हैं, परिच्छिन्न हैं। उस सृष्टि का आगे निरूपण करना है। स्वयं अधिपति बनकर प्रविष्ट नहीं होता, बल्कि दास बनकर, उसके अधीन बनकर प्रविष्ट होता है। उपाधि का नियंत्रण नहीं करता, बल्कि उपाधि के द्वारा नियंत्रित हो जाता है। शब्दों को हम सम्भाल कर बोल रहे हैं। हमने यह नहीं कहा कि 'उपाधि उस पर नियंत्रण कर लेती है', बल्कि 'उपाधि के द्वारा *वह* नियंत्रित हो जाता है।' 'उपाधि के द्वारा नियंत्रित होता है।' इस वाक्य का कर्ता ब्रह्म ही है। उपाधि की ताकत नहीं है कि वह नियंत्रण कर ले। उपाधि के द्वारा *वह* अपने आपको नियंत्रित होने देता है।

दृष्टांत से समझ लो : सेठ जी बड़े आदमी हैं, लाखों रुपया उनके पास है और सब जगह प्रसिद्धि है कि ये बड़े दानवीर हैं। कोई व्यक्ति जिस पर उनको विश्वास नहीं है, चंदा माँगने आता है। सेठ जी उनसे कहते हैं 'मुनीम जी से मिल लो।' चंदा लेने वाला मुनीम जी के पास जाता है। मुनीम जी समझ गये कि सेठ ने मेरे पास क्यों भेजा है! कहते हैं, 'दो सौ रुपये की कलम दे सकता हूँ।' वह फिर सेठजी से जाकर मिलता है। सेठ मुनीम से कहता है 'अपने ही आदमी हैं, एक हज़ार कर दो।' मुनीम कहता है इस समय दो सौ रुपये से ज़्यादा रुपया दुकान में से नहीं निकल सकता।' सेठ चुप रहता है। मुनीम को भेजने के बाद धीरे से उससे कहता है 'क्या बतायें, मुनीम का स्वभाव ही ऐसा है, लेकिन पिता जी के समय से काम कर रहा है इसलिये कुछ नहीं कहते।' आया हुआ आदमी दो सौ रुपया लेकर चला जाता

है। जाकर कहता है 'सेठ तो बड़े अच्छे हैं लेकिन मुनीम पुराने ढंग का खूसट है। सेठ पर उसका बड़ा जोर चलाता है। विचार करो, क्या सेठ पर मुनीम का ज़ोर चलता है ? सेठ को जहाँ रुपया नहीं देना होता है, वहाँ मुनीम जी से अपने आपको नियंत्रित करवा लेता है।

जैसे यहाँ दीख रहा है कि सेठ मुनीम के नियंत्रण में है लेकिन वस्तुतः मुनीम सेठ को नियंत्रित करता नहीं है, बल्कि मुनीम के द्वारा सेठ नियंत्रित होता है। इसी प्रकार लोग समझते हैं कि मन, अंतःकरण की उपाधि के द्वारा यह बेचारा जीव तड़प रहा है, दुःखी हो रहा है, मन बड़ा खोटा है। अरे, मन बेचारा थोड़े ही खोटा है ! जीव अपने आपको मन के द्वारा नियंत्रित होने देता है। चाहे जब मन को खत्म कर सकता है, इसकी स्वतंत्र शक्ति का कभी लोप नहीं होता। जब तक उसको खत्म नहीं करना है, नहीं करता है। कई बार अनुभव करते ही हो : प्रधानमंत्री कहते हैं 'साथी करने नहीं देते, हम तो ईमानदारी से जनता का उत्थान करना चाहते हैं।' फिर कुछ दिनों बाद उन्हीं साथियों को निकाल बाहर कर देते हैं! जब लगा कि 'ये लोग मेरे मन के अनुकूल नहीं चलते हैं' तब उन्हें हटा दिया। यह इस बात को बताता है कि उसने अपने आपको नियंत्रित होने दिया। सर्वत्र यह नियम याद रखना। जब कभी मनुष्य को दोष देना होता है, तब उपाधि को बड़ा कर लेता है, वह दोष मढ़ने का साधन हो जाता है। नतीजा यह होता है कि स्वकीय दोष को ढँक लेता है। लेकिन ऐसा करते-करते कभी खुद भी भूल जाता है ! दूसरे से शासन कराते-कराते कभी खुद ही भूल जाता है कि 'हूँ तो मैं शासन करने वाला'।

हम लोग प्रायः शासन करवाते-करवाते भूल गये कि असली शासन करने वाले हम हैं। मुसलमानों का शासन इसलिये चला कि हिन्दू की इच्छा थी कि वे हमारे ऊपर शासन करें। हिन्दुओं के मन्दिर क्यों टूटे, क्योंकि हिन्दुओं की अपनी इच्छा थी। विश्वनाथ का मन्दिर जयचंद की इच्छा से टूटा, एकलिंग जी के मन्दिर को महाराजा जयसिंह, मानसिंह की इच्छा से तोड़ा गया। विचार करके देखो तो मुसलमानों का रक्षण करने वाली हिन्दुओं की भुजा शक्ति है। अलाउद्दीन खिलजी उड़ीसा के गजसिंह की सहायता से जीता। इतिहास को देखो तो पता चलता है कि हिन्दू मुसलमानों के द्वारा मन्दिरों को तुड़वाते थे और कहते थे कि 'मुसलमान तोड़ते हैं।' अंग्रेज़ों के राज्य को किसने खड़ा किया? अंग्रेज़ों ने नहीं किया। भारतवर्ष के अन्दर किसी भी समय अस्सी हज़ार से ज़्यादा अंग्रेज़ नहीं रहे, जो शासन करने वाली फौज थी। फिर सारा शासन कौन करता था, सारा का सारा राज्य कौन चलाता था। सारे अफसर, सारे 'बहादुर' हिन्दू ही तो थे। लेकिन हम कहते हैं कि 'अंग्रेज़ों के कारण हमारे में खराबी आई।' खुद उन्हें शासन करने दिया और उनसे शासन कराते-कराते भूल गये कि हमने ही करने दिया। परिस्थिति आज भी वही है। पाकिस्तान बनने के बाद हिन्दुस्तान में मुसलमानों को हिन्दू ने ही रहने दिया! आज साम्यवाद का प्रवेश अपने यहाँ हम हिन्दू ही करा रहे हैं। इस बात को जब स्पष्ट समझोगे तब पता चलेगा कि हम खुद ही शासन कराते-कराते इस बात को भूल जाते हैं कि असली शासक हम हैं। बड़े-बड़े व्यापारी कहते हैं 'क्या बतायें, हमारे ऊपर कर का भार बहुत हो जाता है।' वह करवाते तुम हो क्योंकि टैक्स

लगाने वालों को जीतने के लिये रुपया तुम ही देते हो। खुद ही अपने द्वारा अपना शासन करवाते हो, कोई दूसरा शासन करने वाला नहीं। 'यह शासन न करवाओ' यह हम नहीं कह रहे हैं, लेकिन यह समझो कि अपने ऊपर ऐसा कराते हो। उपाधि को दोष न दो कि उपाधि के कारण ऐसा होता है। ऋग्वेद का उद्घोष है' कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' आज मैं अपनी दक्षिण भुजा से जो करता हूँ, उसी का फल मैं अपनी वाम भुजा से लेता हूँ।

आगे जब जीवभाव की स्थिति बतायेंगे, तब उसमें पराधीनता का वर्णन करेंगे, क्योंकि अशुद्धाध्वा का प्रयोग करना पड़ेगा, लेकिन उसको सुनते-सुनते यह नहीं भूल जाना कि यह सारा संकोच तुमने अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा और स्वतंत्र शक्ति से किया है, कहीं बाहर से नहीं लादा गया है। वेदांत-सिद्धान्त में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्माद् द्वितीये सति वस्तुनि' यदि दूसरी वस्तु हो गई, चाहे एक अणु भी हो गया, तो व्यापक-अर्थक 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ दुर्लभ हो जायेगा। यदि एक अणु भी दूसरा है तो ब्रह्म ब्रह्म नहीं रहा। उसमें किसी प्रकार का द्वैत सहन नहीं हो सकता। आगे जो सृष्टि बतायेंगे, उसमें उपाधि के विस्तार को बताना है, उपाधि के नियंत्रण को बताना है। वहाँ यह नहीं समझना कि कोई दूसरा उपाधि का नियंत्रण करता है, तुम ही अपने द्वारा अपनी उपाधि के द्वारा अपने आपको नियंत्रित देखना चाहोगे, देखोगे। 'स जातः अत्यरिच्यत' वह जीव विराट् पुरुष हो गया। वह स्वयं उत्पन्न है। ब्रह्माण्ड उपाधि बड़ी विशाल व्यापक उपाधि है। उसका

अधीश्वर होकर उसमें प्रविष्ट हुआ। वह अज नहीं है, है जात ही, वह प्रविष्ट हो गया, जहाँ तक अंतःकरण पहुँच सकता है। पहले बताया था कि जितना-जितना अंतःकरण शुद्ध होता जायेगा उतना-उतना उसके अन्दर उत्तम-उत्तम भाव प्रकट होते चले जायेंगे। यहाँ वैष्णवों की तरह 'सीट बुकिंग' वाला हिसाब नहीं है। कृष्ण की शक्ति राधा है, वही प्रधान शक्ति हो गई; इसलिये वह 'सीट बुक' हो गई। कोई कहे कि 'मैं राधा बन सकती हूँ' तो वे कहते हैं 'बिल्कुल नहीं।' कोई कहे कि 'कृष्ण बनने की इच्छा है' तो कहते हैं कि 'ऐसा कभी नहीं बोलना !' ये सीटें तो बुक हो गईं। कृष्ण के पास वाली नव सखियों तक भी तुम नहीं पहुँचोगे। वेदान्त में ऐसा नहीं है। यहाँ तो तुम ब्रह्म बन सकते हो, ब्रह्माण्ड पुरुष बन सकते हो। 'बन सकते हो' यह तो हम खाली कहते हैं, वस्तुतः तुम्हीं ब्रह्म हो, तुम्हीं विराट् पुरुष हो, तुम्हीं विष्णु हो। तुम्हीं अपने अंतःकरण को जिस आकार का बना लेते हो, वैसे-वैसे बनते चले जाते हो। यहाँ कहीं भय की ज़रूरत नहीं है। विराट् पुरुष अंतिम सोपान है। उसके आगे शुद्ध विद्या भी समाप्त होकर केवल चिन्मात्र ही रह जाता है। आगे अशुद्ध विद्या का प्रकरण बतायेंगे।

इस अशुद्ध विद्या का प्रकार बताते हुए सौन्दर्य लहरी में भगवान् शंकर भगवत्पाद ने संक्षेप में तत्त्वों का निरूपण किया है, 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि' इत्यादि से। संविन्मयी भगवती को किस प्रकार सृष्टिक्रम के अंदर विस्तृत भाव की प्राप्ति होती है, इसे बताते हैं। वस्तुतः वेदांत-सिद्धान्त में एक ही तत्त्व दो की तरह प्रतीत होता है। इसका सबसे सुन्दर दृष्टांत

जगत् में बिन्दु (पाइण्ट) में दीखेगा। बिन्दु का लक्षण ज्यामिति वाले यह करते हैं कि जिसकी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई नहीं है, लेकिन सत्ता है। यह बिन्दु का लक्षण है। जब बिन्दु को समझाना होता है तो क्या करते हैं ? कृष्णपट्ट पर अंगुली जितनी मोटी खड़िया लेकर एक बड़ा चक्र बनाते हैं और कहते हैं 'यह एक बिन्दु है।' केवल कहते ही हैं ! लेकिन वस्तुतः बिन्दु किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। आँख जब किसी भी चीज़ को देखेगी तो उसमें लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई अवश्यंभावी है। लेकिन आँख के द्वारा आधे मिलीमीटर के चक्र को देखते हुए भी बुद्धि के द्वारा उसमें बिन्दुत्व विषय हो जाता है। रेखागणित के समझने वाले इतने मोटे को देखकर समझ लेते हैं कि यह एक बिन्दु है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्म तत्त्व कैसा है ? वह वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता। 'यः प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।' जो मन के द्वारा नहीं सोचा जा सकता, कान के द्वारा नहीं सुना जा सकता, प्राणों के द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। फिर उसका ग्रहण कैसे होगा ? सामने जो कुछ दीख रहा है, उसके द्वारा ग्रहण नहीं है, लेकिन उसको देखकर उसके पीछे की सत्ता का ग्रहण है। जैसे बिन्दु को आँख ग्रहण नहीं कर सकती लेकिन उसको देखकर बिन्दु का ग्रहण हो जाता है वैसे ही यहाँ है।

अब बिन्दु से आगे चलो। बिन्दुओं को या उसी बिन्दु को यदि तुमने एक दिशा में गति दे दी तो उसका नाम रेखा हो गया, उसको यदि तुमने दो दिशाओं में गति दे दी तो उसका नाम तल हो गया, यदि तीन दिशाओं में गति दे दी तो वह ठोस हो गया। एक की गति लम्बाई, दूसरे की लम्बाई और चौड़ाई, तथा तीसरे

की गति लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई तीनों हैं। यदि उसको चौथी दिशा में गति दे दी तो काल हो जाता है ! समय क्या है ? पदार्थ के अंदर जो एक ही स्थान पर रहते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीति है उसी का नाम 'समय' है। एक ही स्थल हो और प्रतीति का भेद हो तो उसे 'समय' कहेंगे। पहले सूर्य की प्रतीति नहीं थी, थोड़ी देर बाद आधे सूर्य की प्रतीति हो गई, उसी देश में रहते हुए सूर्य की प्रतीति हो गई तो कहा कि पन्द्रह मिनट हो गये। घड़ी में भी एक ही दिक् है। पहले आठ की संख्या पर सुई नहीं थी, अब दीख गई तो उसका नाम समय हो गया, कहते हैं कि 'एक घण्टा हो गया।' इस प्रकार एक ही पदार्थ के अन्दर एक दृष्टि से लम्बाई, दूसरी दृष्टि से तल, तीसरी दृष्टि से ठोसपना और चौथी दृष्टि से काल है।

यहाँ तक तो हम लोगों का ज्ञान आज के विज्ञान का है। लेकिन विचार करो कि एक क्षण रहने वाला विज्ञान कभी काल का ज्ञान नहीं करा सकता, काल का ज्ञान होने के लिये हमको एक क्षण से ज़्यादा रहना पड़ेगा। जिसकी केवल एक दृष्टि होगी वह लम्बाई को ग्रहण कर सकेगा, चौड़ाई को नहीं। दो दृष्टियों वाला लम्बाई-चौड़ाई को ग्रहण कर सकेगा, ऊँचाई को नहीं। दोनों दृष्टियों के मिलने से जो तीसरी दृष्टि उत्पन्न होती है, उसके द्वारा ऊँचाई का ग्रहण होता है। भाचित्रक (स्टीरियो कैमरा) में दो कोणों से चित्र लेकर मिलाने से उसमें ऊँचाई और गहराई का भान होता है। केवल एक कैमरे से तल का भान होता है, ऊँचाई का भान नहीं होता। हम लोगों से अतिरिक्त किसी की दिव्य दृष्टि है तो उसे लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और गहराई से भी अधिक का भान

हो सकता है। यह नहीं कहना कि ऐसा नहीं है। योगवाशिष्ठ में भगवान् वशिष्ठ ने चार से अधिक परिमाणों का निरूपण किया है। आज तो केवल इतना बता रहे हैं कि बिन्दु ही एक दिक् में गतिमान् होकर रेखा, दूसरी में तल और तीसरी में ठोस हो गया। केवल बिन्दु का ही विस्तार है। बिन्दु ही बिन्दु है, बिन्दु से अतिरिक्त सब प्रतीति ही प्रतीति है।

इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा 'शिवशक्त्यात्मकं विद्धि जगदेतत् चराचरं' यह चराचर जगत् जितना भी प्रतीत हो रहा है वह सारा उस शिव के अन्दर ज्योतीरूप जो शक्ति है, उससे ही प्रतीत होता है। भगवान् गौडपादाचार्य ने दूसरा दृष्टांत दिया है : पुराने ज़माने में एक बनेठी होती थी—एक लकड़ी के ऊपर दोनों तरफ रोशनी लगा देते थे। फिर जब उस बनेठी को घुमाते थे तो कभी गोल और कभी अण्डाकार चक्र दीखता था तो कभी चतुष्कोण दीखता था। भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीतियाँ वहाँ होती रहती थीं। केवल अलात बिन्दु ही था, सिवाय बनेठी के वहाँ कुछ नहीं था। सारी की सारी ोशनी, चक्कर, दण्डे सब उसमें से निकलते और पुनः उसीमें लीन होते थे। लेकिन कैसे निकलते थे ? जैसे घड़े से पानी निकलता है ऐसे नहीं निकलते थे! मानना पड़ेगा कि निकलने पर भी नहीं निकलते थे। इसी प्रकार ये अनंतकोटि ब्रह्माण्ड उस एक बिन्दु से निकलते हुए प्रतीत हो रहे हैं। एक बनेठी सौ, दो-सौ चित्र बना सकती है, और यह नहीं कि एक बार ही बना सके। अगर घुमाने वाला तगड़ा हो तो छः घण्टे घुमाता रहेगा और भिन्न-भिन्न आकार दिखाता रहेगा ! जब तक रोकेगा नहीं, दिखाता ही रहेगा। जब साधारण घुमाने वाला

छः घण्टे निकाल देता है तब यह *बिन्दु* तो सर्वशक्तिमान् है। तुम्हें लगता है कि अनादि काल से आने वाला यह जगत् ऐसा का ऐसा है। लक्षाधिक वर्षों से रहने वाला हिमालय उस परमात्मा से बनकर बाहर निकला है, लेकिन *निकला* नहीं है ! बनेठी में से चक्र की तरह निकलता है; जैसे ही बनेठी का घूमना बन्द हुआ फिर कहो कि 'छह घण्टों से बनेठी घूम रही है तो चक्र खत्म होने में दो-चार घण्टे लगेंगे' तो व्यर्थ बात है। घण्टे क्या, मिनट भी नहीं लगे, उसी क्षण चक्र बन्द हो गये, क्योंकि वहाँ सिवाय बनेठी के कुछ नहीं है। इसी प्रकार चाहे अनंत काल से आता हुआ यह जगत् चक्र लगता है कि धीरे-धीरे खत्म होगा लेकिन यह धीरे-धीरे खत्म नहीं होता है। जिस क्षण इसके अन्दर गतिमत्ता नहीं दीखी, यह फिर अखण्ड तन्मात्र है, क्योंकि जिस काल में प्रतीत हो रहा था, उसी काल में भी वही है। इसलिये बिन्दु इसके लिये बड़ा उत्तम प्रतीक है। यह बिन्दु किस प्रकार विस्तार को प्राप्त करता है, आगे बतायेंगे। वह पहले चतुष्कोणों में, प्रतीत होता है। वही पंचकोण बनता है इत्यादि सारा क्रम आगे बताना है। यह जो बिना उत्पन्न हुए उत्पन्न होना है, उसी के रहस्य को ठीक समझना, क्योंकि उत्पत्ति के विस्तार में आदमी यह रहस्य भूल जाता है।

भगवती का एक बड़ा भक्त था। एक बार उसने अपने यहाँ देवीभागवत की कथा रखवाई। लेकिन वह 'श्रोता' नहीं था, सहृदय था। श्रोता वह होता है जो पदार्थ को अपने से अलग करके सुनता है और सहृदय वह होता है जो उस पदार्थ के साथ तादात्मयानुभूति कर लेता है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में सब मिलते

हैं लेकिन सहृदय नहीं मिलता। प्रशंसा करने वाले, लैक्चर सुनने वाले, समझने वाले और हमारी कही करने वाले भी मिल जायेंगे लेकिन जो हमारे दिल से दिल को मिला सके, ऐसा सहृदय नहीं मिलेगा। इसीलिये वैदिक रोज़ प्रार्थना करता है—हे भगवान् ! ऐसे व्यक्ति से मिलें जिनका दिल मेरे दिल से, जिनका मन मेरे मन के साथ मिले। इसीलिये परमात्मा में स्थिति बनती नहीं है। क्योंकि जब तक परमात्मा के साथ तुम्हारा दिल न मिले, यह सम्भव नहीं है। परमात्मा चाहता कुछ और है, तुम चाहते कुछ और हो। घण्टी हिलाना, आरती, दान, पूजा सब करोगे लेकिन दिल नहीं मिलाओगे। उस भक्त ने देवीभागवत की कथा *श्रवण* के लिये नहीं रखी थी। जिस घटना का वर्णन होता है, सहृदय व्यक्ति को उसके साथ तादात्म्यानुभूति होती है। भगवान् भाष्यकार ने सुरेश्वराचार्य से 'तत्त्वमसि' कहा; उनमें सहृदयता थी, नतीजा हुआ कि उन्हें 'अहं ब्रह्मास्मि' बोध हो गया। गुरु ने कहा 'तू ब्रह्म है' तो ब्रह्म हूँ; बस ! दूसरा हृदय नहीं था कि 'ये कहते हैं ब्रह्म हूँ, लेकिन मैं हूँ तो कुछ और ही'। भगवान् ने सारी गीता सुनाई लेकिन अंत में उपदेश दिया 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् मेरा सहृदय बन जा। 'धर्मान्' अर्थात् 'देहप्राणधर्मान्', देह, मन, प्राण, बुद्धि के धर्मों को छोड़ दे। अभी तत्त्व समझ आने पर भी स्वयं को शरीर से एकमेक कर ही महसूस करते हैं : 'भूख मेरा धर्म नहीं होता होगा, मैं भूख का साक्षी हूँ, फिर भूख तो लगी ही है।' प्राण के साथ दिल मिल गया। भगवान् कहते हैं कि इन सब में दिल लगाना छोड़ दे।

अर्जुन ने कहा कि इन सबसे दिल हटाकर कहाँ रखूँगा ?

भगवान् ने कहा—'दिल लेने वाला मैं बैठा हूँ।' दिल लेना भी बड़ा कठिन है। जैसे दिल देना दुर्लभ है, वैसे ही दिल लेना भी दुर्लभ है। ब्याह करके पत्नी को दिल देते हो तो क्या वह दिल लेती है ? कहती है, 'पैसा, साड़ी, गहने आदि दो, दिल का क्या करूँगी ?' बेटा पैदा हो जाता है। कहता है—'घड़ी लूँगा।' तुम कहते हो—'बेटा ! तुझसे प्रेम हो गया, दिल ले ले।' कहता है, 'दिल लेकर क्या करूँगा।' दिल लेना बड़ा दुःखी होना है। दिल देना जितना सुख का साधन है, दिल लेना उतना दुःख का साधन है, क्योंकि जो दिल को लेगा, वह हमारे सारे दुःख और आपत्ति को अपने सिर पर लेगा। हरिश्चन्द्र का नाटक होता है और यदि तुम हरिश्चन्द्र को दिल में ले लो तो शैव्या के रोने पर तुम भी रोने लगते हो। यह दिल का रोना है। भगवान् कहते हैं कि तू अपना दिल मुझे दे दे 'मामेकं शरणं व्रज'। एक अखण्ड आत्मतत्त्व को दिल दे दो, वह लेने के लिये तैयार बैठा है। क्योंकि उसी की सारी सृष्टि है। बेटे को माँ ने अपने शरीर से निकाला है, इसलिये बेटा कितना भी नालायक हो जाये, माँ उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। वह नहीं कहती कि 'यह मेरा बेटा नहीं', वह तो गोद में चिपकाने को तैयार है। इसी प्रकार उस अखण्ड आत्मा से सारे जीव निकले हैं, वह लेने को तैयार है। अर्जुन कहता है कि मैंने सब टण्टा छोड़ दिया 'करिष्ये वचनं तव'। केवल 'युद्ध करूँगा' नहीं कहा। कहता है—अपने सारे दिल और सारे भावों को तुम्हें दूँगा। 'नष्टो मोहः' 'मैं परमात्मा से भिन्न हूँ', यह मोह सता रहा था। अब 'स्मृतिः लब्धा'। किसी ने कहा कि तुमने बड़ी साधना की होगी, उस साधना के फल से तुम्हारा मोह नष्ट हो गया होगा,

बताओ क्या साधना की ? कहता है 'कुछ नहीं किया? 'त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' बस, आपने कह दिया कि दिल ले लिया तो हो गया काम।' इसलिये शास्त्रों के अन्दर कहा

'पूजकाःशतशःसन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः।

प्रसादमात्रसंतुष्टाः द्वित्रैव न तु पंचशः।।'

पूजा करने वाले सैंकड़ों होते हैं, भक्त भी हज़ारों होते हैं। लेकिन प्रसादमात्र से संतुष्ट होने वाले दो-तीन ही होते हैं। 'परमात्मा ने मुझे ग्रहण कर लिया, अब मैं देह, प्राण आदि को दिल देने वाला नहीं हूँ'; परमात्मा ने उसे ग्रहण किया—इतने मात्र से जो संतुष्ट हो गया, उसके बाद देह, प्राण के लिये उसकी प्रवृत्ति जाती ही नहीं, ऐसे व्यक्ति दो-तीन होते हैं। पाँच की संख्या में भी नहीं मिलते अर्थात् पूरी अंगुलियों पर नहीं गिने जा सकते।

वह भक्त ऐसा था। भगवती को दिल देकर सुन रहा था। प्रसंग आया कि भगवती के भूपुर पर भण्ड राक्षस ने चढ़ाई कर दी। जैसे ही सुना, वैसे ही झट उठ खड़ा हुआ और धनुष बाण, तलवार लेकर दौड़ पड़ा। कथा सुनाने वाले ने समझा कि इसका दिमाग कुछ खराब हो गया, कहा—'पकड़ो, पकड़ो।' लेकिन वह जाकर घोड़े पर बैठ गया और उसे ज़ोर से भगाया। घोड़ा भी सोचने लगा कि पता नहीं क्या बात है ! उत्तर दिशा में भूपुर है जहाँ उसे पहुँचना था। लेकिन भगवान् शंकर तो समझ गये कि क्यों जा रहा है। सामने आकर कहने लगे, 'बात सुन !' वह बोला, 'फुर्सत नहीं है, बात क्या सुनूँ !' भगवान् शंकर बड़ा दीर्घ रूप लेकर सामने आकर खड़े हो गये। भक्त ऊपर से नीचे तक देखकर

कहने लगा, 'शर्म नहीं आती ? पति बने हो। वहाँ भूपुर पर आक्रमण हो रहा है, भगवती पर कष्ट आ रहा है और तुम यहाँ खड़े हो।' भगवान् ने हँसकर कहा, 'भूपुर के भण्ड राक्षस को तो कब का मार चुका। वह खत्म हो गया है।' उसने कहा 'यदि आप सत्य कहते हो, तब तो ठीक है और यदि भ्रम में डालने के लिये कह रहे हो तो मैं रुकने वाला नहीं हूँ। यदि सत्य कहते हो तो भगवती को सुरक्षित दिखाओ।' भगवान् शंकर ने सोचा कि यह बड़ा विचित्र भक्त है, झट पार्वती जी को दिखा दिया। भगवती को देखा तो प्रसन्न हो गया कि 'सब ठीक है। अब मैं वापिस जाता हूँ।' भगवान् ने कहा 'अब मैं वापिस नहीं जाने दूँगा, मेरे साथ चल।' भगवान् उसे अपने साथ कैलास ले गये। यह सहृदयता है, हृदय के साथ ऐक्य है।

प्रत्येक भक्त, प्रत्येक साधक के जीवन में यह दशा आती है। सारे शास्त्र सुनने से क्या पता लगता है ? थोड़ा-सा कड़ा शब्द है। संवित् भगवती के ऊपर भण्ड अर्थात् अज्ञान राक्षस ने आक्रमण किया है। भण्ड भाण्ड को कहते हैं, उसकी कुछ सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार संवित् पर भाण्ड अज्ञान ने आक्रमण कर रखा है। अज्ञान की कोई सत्ता नहीं है। भाण्ड को राजा दिल खुश करने के लिये रखा करता था। वह भाण्ड राजा पर आक्रमण करे यह असम्भव है। यदि राजा कभी अपने आपको दबवा लेता है, कोई मज़ाक किया तो हँसता है, उसकी गर्दन नहीं काटता क्योंकि अपनी खुशी के लिये रखा है। इसी प्रकार संवित् शक्ति ने स्वयं ही अज्ञान को रख छोड़ा है। नहीं तो उस अज्ञान की क्या शक्ति है!' भाण्ड नाम के अज्ञान ने संवित् देवी को दबा

रखा है—इस प्रकार का वर्णन ही उसका 'अतिरेक' होना है। 'अत्यरिच्यत', वास्तव में उसकी कुछ ताकत नहीं है। कहोगे कि ये सारे वर्णन क्यों करते हैं ? राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य से इन सब जीवों ने ब्रह्म को दबा रखा है। माया के फंदे में पड़ा ब्रह्म रो रहा है। यह सारा वर्णन इसलिये कि जो सहृदय होगा वह तो सुनते ही कहेगा कि 'मेरी संवित् पर आक्रमण कर दिया' तो वह चुप न बैठकर सब कुछ भूलकर भण्ड को समाप्त करने चल देगा। जैसे ही चल देगा तो बिन्दुरूप शिव कहेंगे कि 'भण्ड कहीं नहीं है, वह तो कभी का समाप्त हो चुका।' 'प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः' यदि कभी प्रपंच हुआ होता तो नष्ट होता अर्थात् पैदा ही नहीं हुआ। वह कहेगा कि 'मुझे संवित् दिखा दो।' तब निर्विकल्प समाधि के अन्दर उसका संविद्भाव प्रकट होगा और वह शांत हो जायेगा। क्रिया समाप्त हो जायेगी।

प्रवचन-१५

पुरुषसूक्त के पंचम मंत्र में भगवती श्रुति विराट् पुरुष की उत्पत्ति के बाद उसका *अतिरेक* बताती है। 'स जातो अत्यरिच्यत' वह विराट् पुरुष अतिरेक को प्राप्त करता है अर्थात् अपने से अतिरिक्त कुछ बन जाता है। 'अपने से अतिरिक्त' का मतलब होता है कि जो अपना आपा न हो, वैसा बन जाना; इसका नाम है अतिरिक्त बन जाना या अतिरेक हो जाना। परब्रह्म परमात्मा

सच्चिदानंद अनंतरूप है। इससे अतिरिक्त अर्थात् इससे अतिरेक होने का मतलब होगा कि सत् से अतिरिक्त कुछ असत्, चित् से अतिरिक्त जड, आनंद से अतिरिक्त दुःख, अनंत से अतिरिक्त परिच्छिन्न या सांत हो जाना। इतना ही नहीं, विराट् पुरुष की एक चीज़ की अनुवृत्ति भी रहती है : ये सारी चीज़ें तो विराट् में नहीं थीं, असत्, जड, दुःख और सांतरूपता नहीं थी, लेकिन परिच्छिन्नता—यह एक कमी वहाँ भी थी। परब्रह्म परमात्मा नित्य प्रत्यक्स्वरूप है लेकिन विराट् पुरुष के अन्दर पराग्भाव की प्रतीति थी। असत्, दुःख, जड रूपता तो नहीं थी, सद्रूपता भी नहीं थी लेकिन ब्रह्म नित्य प्रत्यगात्मा है अर्थात् नित्य ही अहम्-रूप से प्रतीत होता है, परंतु विराट् पुरुष में इदंता की प्रतीति थी। इदंता की प्रतीति का मतलब ही है कि अद्वितीयता, अखण्डभाव वहाँ स्फुट नहीं था।

विराट् से आगे जो सृष्टि होगी उसमें उसके गुणों और दोषों का तो अनुवर्तन होगा ही। भाषा में गुण-दोषों को अलग अलग मानते हैं। अच्छे गुण को गुण और बुरे गुण को दोष कहते हैं। लेकिन वस्तुतः अच्छा और बुरा केवल दृष्टिभेद से होता है। जो एक को अच्छा लगता है, वही दूसरे को बुरा लगता है। जो गुण जिसको बुरा लगा, उसको उसने दोष बताया। है वह भी गुण ही। जैसे गंध और सुगंध; सुगन्ध भी तो गंध ही है, लेकिन दुर्गन्ध को गन्ध कहते हैं, सुगंध को गंध नहीं कहते। गंध तो दोनों ही हैं। इसी प्रकार से सुन्दर रूप वाले को रूपवान् कहते हैं। कोई रूप तुमको सुन्दर नहीं लगता तो कहते हो कि 'उसमें रूप नहीं है।' रूप नहीं है तो क्या वह आकाश है या वायु है ? लेकिन

रूप का अर्थ सुरूप करते हैं, है कुरूप भी एक रूप ही। रूप का अर्थ सुरूप, गंध का अर्थ सुगंध ही करें ऐसा कोई नियम नहीं है। पूरे अर्थ को लो तो उसमें सबका ग्रहण करना पड़ेगा क्योंकि रूप और सुरूप दोनों रूप ही हैं, दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों गंध ही हैं, फिर भी अर्थके एकदेश में शब्द की रूढि हो जाती है। परब्रह्म परमात्मा अद्वितीय और अखण्ड भाव को प्राप्त किये हुए यद्यपि पराक् और प्रत्यक् दोनों भावों से रहित है फिर भी जगत् के पराग् रूपों की अपेक्षा उसे प्रत्यक् रूप कहा जाता है। जब अपने से भिन्न अपने को करके देखा तब इदंता की प्रतीति हुई। इदंता की प्रतीति होने तक अखण्डभाव, अद्वितीयभाव नहीं रहा। अभी इदम् *बना* नहीं है, बनेगा तो आगे जाकर, अभी तो विराट् पुरुष में केवल इदंता की प्रतीतिमात्र है। अब वह अपने अतिरिक्त, अतिरेक को प्राप्त करता है अर्थात् सद्रूप का अतिरेक असद्रूप, चिद्रूप का अतिरेक जडरूप, आनंद का अतिरेक दुःखरूप और अनंत का अतिरेक सांत, परिच्छिन्नरूप। असत्, जड, दुःख और सांतरूपता के अतिरिक्त अर्थात् देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि के भिन्न-भिन्न देहों में परिच्छिन्न आत्मभाव की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसे बताते हुए कल भगवान् भाष्यकारों का श्लोक बताया 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः' इत्यादि जहाँ उत्पत्ति के क्रम को एक चक्र की दृष्टि से देखा।

ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड को देखने का प्रयास कई तरह किया है। कई प्रकार से इस ब्रह्माण्ड का स्वरूप उपनिषदों में वर्णित है। जगत् का दो प्रकार का आध्यात्मिक स्वरूप उनके सामने प्रधान रूप से आया है—एक नदी का जलप्रवाह और समुद्ररूपता

तथा दूसरा चक्ररूपता। यह नहीं समझ लेना कि चूँकि संसार में हर चीज़ गोल है, इसलिये ऋषियों को भी दीख गई होगी ! जिस प्रकार भौतिक जगत् में जब आगे बढ़ते हैं तब नवीन स्तरों का पता लगता है, वैज्ञानिक अन्वेषण किसी वैज्ञानिक के दिमाग की उपज नहीं है ! जब बाह्य प्रकृति के पर्दों को हटा कर देखते हैं, तब उसमें से नवीन ज्ञान निकलता है; इसी प्रकार जब आभ्यंतर जगत् के अन्दर परदों को हटाकर देखते हैं तब उसमें नवीन अनुभूतियों का उत्कर्ष होता है। आध्यात्मिक साधनायें खाली बुद्धि का विलास नहीं हैं। यह अनुभूति का विलास है। जिस प्रकार बी. काम., एम. काम. करने वाला विद्यार्थी बढ़िया हिसाब-किताब जानता है और शायद सेठ जी से भी बढ़िया जानता है, लेकिन जब तक पाँच लाख कमाये नहीं, तब तक पाँच लाख कमाने का क्या सुख है, वह उसके लिये कभी भी अनुभूति का विषय नहीं बनता। हिसाब लगाकर तो बता देता है कि यदि पाँच लाख की कमाई हुई, बारह लाख की लागत थी तो उसको अट्ठावन प्रतिशत का लाभ हो गया। लेकिन उस लाभ में कौन-सा सुख होता है, कितना सुख होता है, यह उसे कभी पता नहीं लग सकता क्योंकि अनुभूति नहीं है। ऐसे ही सब चीज़ों में समझना।

आजकल तरह-तरह की मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक व दैनिक पत्रिकाओं में तरह-तरह के भोजन बनाने के नुस्खे लिखे होते हैं कि ऐसा-ऐसा करो तो गुलाबजामुन और ऐसा करो तो दालमोठ बन जायेगा। उसको पढ़कर चाहे कितनी कोशिश करो, क्या कभी पता लगता है कि खाने का क्या मज़ा आता है ? चाहे तुमको हम मासिक पत्रिका में बढ़िया से बढ़िया गुलाबजामुन,

समोसे, श्रीखण्ड बनाने की सब चीज़ें बतायें कि 'इनमें कितना स्वाद है, इसके सामने फुलका कुछ नहीं, अरहर की दाल कुछ नहीं, श्रीखण्ड जैसी चीज़ श्रीखण्ड ही है', लेकिन जितना रटा दें, जैसे ही घरवाली कहती है कि दाल फुलका तैयार है तो दौड़कर पहुँच जाते हो, क्योंकि तुमको केवल पता है कि श्रीखण्ड कैसे बनता है, लेकिन खाया नहीं है।

यदि बढ़िया पोरनपूरी गाय के घी में मसल कर अच्छी तरह खिला दी जायें और उसके बाद घरवाली कहे कि सूखी रोटी और अरहर की दाल तैयार है तो कहोगे 'भलीमानस, तू ही खा ले', वह कहे 'तुम्हारे लिये भी बना रखी है' तो कहोगे 'नौकर को दे दे।' पोरनपूड़ी से खूब पेट भरा है तो दाल-रोटी खाने कभी नहीं जाओगे। और यदि घरवाली की आवाज़ पर खाने जाते हो तो निश्चित समझ जायेंगे कि श्रीखण्ड से पेट नहीं भरा था ! उसी प्रकार यदि परमात्मा की आनंदरूपता को तुमने प्रत्यग्रूप से जान लिया, उसके स्वाद को तुमने चख लिया, उसके द्वारा तुम्हारा पेट भर गया तो फिर क्या संसार की विषय-मृगतृष्णाओं के पीछे जा सकोगे ? यदि कोई कहे कि 'दुकान खराब हो जायेगी' तो कहोगे कि 'मुनीमों को दे दो, अभी उन बेचारों को आत्मज्ञान का पता ही नहीं है।' जैसे बनी हुई रोटी को कहता है कि 'नौकर को खिला देना, अपने से नहीं खाई जायेगी।' लेकिन जब तक तर माल खाया नहीं है, पेट भरा नहीं है, तब तक बढ़िया से बढ़िया भोजन के नुस्खे सुना दें, कह दें कि 'उज्जैन में बढ़िया श्रीखण्ड बना था, बड़ा सुख हो रहा था,' लेकिन वह सब सुनकर दाल-रोटी की भूख को नहीं हटा सकोगे।

इतना ही नहीं, श्रीखण्ड यदि तुम्हारे सामने परोसा गया और तुम्हें पता है कि पीछे श्रीखण्ड के टीन भरे हैं और तुम्हें वह पसन्द आ रहा है तो कभी हो सकता है कि घर में दाल-रोटी खानी है इसलिये इसे छोड़कर चले जाओ ? दो ही कारण हो सकते हैं— या तो तुम्हें पसन्द नहीं आया और या माल कम होने की शंका है। पसन्द भी आया है और माल भी कम नहीं है तो क्या उसे छोड़ सकते हो !

इसी प्रकार से या तो ब्रह्मानन्द का सुख मिला नहीं, या पसन्द नहीं आया या सोचते हो कि माल कम है। ब्रह्म का मतलब व्यापक है इसलिये माल की कमी तो कारण नहीं हो सकती। जैसे 'बीस फुलके खाने वाले हैं, इसलिये श्रीखण्ड खाने पर भी पंद्रह फुल्के की भूख रह गई थी जो मिटाने चले गये' यह संभव है पर ब्रह्म व्यापक होने के कारण माल की कमी नहीं है। श्रुतियों का उद्घोष है कि इसकी आनंदरूपता इतनी पूर्ण है कि चखने के बाद आनंद न आये यह नहीं हो सकता।

बहुत बार ऐसा होता है कि सिवाय महाराष्ट्र के लोगों के और किसी को श्रीखण्ड बनाना नहीं आता तो श्रीखण्ड की जगह शिखरण बना देते हैं। श्रीखण्ड बनाने में दही घोटने के साथ पानी निकल जाना चाहिये। उत्तर भारत के लोग बनाते तो ज़रूर हैं, लेकिन उसमें पानी रह जाने से वह शिखरण रह जाता है। उसमें आनंद की पूर्णता नहीं आती। कई बार जिस आदमी ने शिखरण खाया हो, उसे यदि वैसा श्रीखण्ड खिलाओगे तो जानता है कि शिखरण और श्रीखण्ड एक ही चीज़ हैं, इसलिये कहता है कि 'घर में आलू के परांठे खाकर आऊँगा।' तुम कहते भी हो कि

'श्रीखण्ड जैसी चीज़ बनी है, खूब डटकर खाना।' लेकिन उसे शिखरण याद आ रहा है चूँकि पहले कभी बढ़िया श्रीखण्ड खाया नहीं, इसलिये मन होता है कि 'शायद शिखरण है, उतना स्वादिष्ट नहीं है जितना होना चाहिये', इसीलिये खाने की प्रवृत्ति में रुकावट होती है। लेकिन जब असली श्रीखण्ड खाने को मिला, उसके वास्तविक आनंद का पता लग गया तो फिर क्या हो सकता है कि तुम परांठे के लिये श्रीखण्ड छोड़ो ? चूँकि असली चीज़ का ज्ञान नहीं, उसको कुछ और समझ लिया था इसलिये छोड़ने को तैयार हो गये थे, स्वाद का पता लगने के बाद कभी नहीं छोड़ोगे।

ठीक इसी प्रकार ब्रह्मानन्द शुद्ध आनन्दरूप है। मन में शान्त वृत्ति बनती है तो उसका साक्षी-रूप भी आनंद है पर वह वृत्ति थोड़ी देर के लिये मनुष्य के हृदय में होती है। बहुधा साधक इसे ही ब्रह्माकार वृत्ति समझ लेता है। ऐसा समझकर सोचता है कि 'यही ब्रह्माकार वृत्ति हो तो ब्रह्म आनंद है।' साक्षी-भाव में स्थित होने पर उतनी देर तक चित्त स्थिर हो जाता है, उतनी देर तक मन में निस्संकल्पता रहती है, इसलिये अपूर्व सुख होता है पर उतने से सुख को ही ब्रह्मानन्द समझ लेता है क्योंकि निरवधि आनंद नहीं हुआ इसीलिये फिर बैठकर संसार के काम भी कर लेता है। यह सोचकर कि ये भी सुख ही हैं। शिखरण खाया हुआ व्यक्ति उसी को श्रीखण्ड समझते हुए आलू के परांठे में प्रवृत्ति कर लेता है क्योंकि शिखरण अच्छा तो है लेकिन आलू का पराँठा भी अच्छा है। इसी प्रकार व्यवहार को छोड़कर कुछ देर तक साक्षी-भाव अच्छा तो है लेकिन दुकान में घी बेचना भी अच्छा है, उसमें भी सुख ही है। और एक कदम आगे चलकर कहता

है कि 'चाहे घी के आकार की वृत्ति बने, चाहे ब्रह्म के आकार की वृत्ति बने, एक ही बात है।' इसका कारण यह है कि उसे ब्रह्म के स्वाद का पता नहीं। वस्तुतः श्रीखण्ड मिल जाये तो उसके स्वाद का पता चले।

इसी प्रकार यहाँ भी वस्तुतः उस ब्रह्मानन्द का स्वाद ऐसा है कि उसके लवांश के अंदर भी इतना सुख है कि उस लवांशमात्र से ब्रह्मा, विष्णु आदि देव तृप्त रहते हैं। पानी की धारा जब नीचे गिरती है तब उसमें से छोटी-छोटी फुहार आती है, उसे जल का लवांश कहते हैं। जल-धारा को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति क्या कभी हो सकता है कि उन फुहारों के सामने जीभ फैला कर खड़ा हो कि 'कुछ बूँदें तो पड़ जायें' और कहे 'यह भी पानी है'? जहाँ जल के बम्बे की धारा पड़ रही है वहाँ यदि वह लवांश को ले रहा है तो पता है कि उसे बम्बे के पानी पर अधिकार नहीं है, नहीं तो मुँह भर कर डटकर पीता। ठीक इसी प्रकार जिसके लवांश सुख से ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण प्रसन्न हैं, उसकी धारा का लवांश सुख तुम्हारे घी बेचने में भी हो सकता है लेकिन वह लवांश का सुख ही है। इसे लवांश भी हम कहते हैं, भगवान् भाष्यकार तो कहते हैं कि वह लवांश भी नहीं है ! वह लवांश का सुख नहीं, सुखाभास है। हम कहते हैं, चलो उसे लवांश मान भी लो।

बार-बार भाष्य के अंदर देखोगे कि ज्ञान के साथ सर्वकर्मसंन्यास का विधान किया है, क्योंकि फिर उसकी संसार के पदार्थों के प्रति प्रवृत्ति बन नहीं सकती। यदि बनती है तो निश्चित है कि अभी स्वाद नहीं आया। जिस प्रकार बाह्य जीवन के अंदर परतें खुलती हैं, नये-नये वैज्ञानिक पदार्थों का ज्ञान होता

है, वह पदार्थज्ञान केवल बुद्धि का विलास नहीं है बल्कि नवीन ज्ञान है, उसी प्रकार जैसे-जैसे अपने अन्दर अन्तरात्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से घुसोगे, वैसे-वैसे नवीन-नवीन परतों को खोलने से नवीन-नवीन परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान होगा। आध्यात्मिक साधना की स्थितियों का भी इसीलिये कोई अंत नहीं है। सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् कहती है कि जितना बाह्य जगत् अनंत है, उतना ही आभ्यंतर जगत् भी अनंत है। जितना-जितना इसमें प्रवेश करते जाओगे, उतना-उतना नवीन आध्यात्मिक ज्ञान की शृंखलाओं में संवर्द्धन होता जायेगा।

ऋषियों ने इन अनेक परतों को खोलकर देखा। वही उनके मंत्रों के अनुभववाक्य हैं। जब इस प्रकार परतों को खोलकर देखा तो उनके सामने दो प्रकार का अनुभव आया—एक जलप्रवाह और समुद्ररूप और दूसरा, चक्ररूप। उपनिषद् में दोनों एक साथ ही आये। जब ऋषियों ने ध्यान-योग के द्वारा देखा तो उन्हें चक्र दिखाई दिया और नदी का प्रवाह दिखाई दिया। यह चक्र की अनुभूति अनेक जगह उपनिषदों में आई है और परवर्ती ग्रंथों में भी आई है।

चक्र-अनुभूति के अन्दर सृष्टि को पूर्ण रूप से प्रकट करने वला श्रीचक्र माना गया है। यद्यपि अनेक चक्रों में उसकी अनुभूति है लेकिन उन सबमें अंतिम दर्शन श्रीचक्र का माना गया। इसके अन्दर सृष्टि के समग्र रहस्यों को भगवान् प्रकट करते हैं। श्रीचक्र के आधार पर ही सृष्टि का निर्माण अर्थात् उसका अतिरेक बताया है। याद रखना कि बिन्दु ही लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई का कारण है। सारा चक्र बिन्दु से चलेगा, अनंतरूपों को धारण करते हुए

पुनः बिन्दु में ही लीन हो जायेगा। उस चक्र का निरूपण करते हुए पहले कहा 'चतुर्भिःश्रीकण्ठैः' पहले तो श्रीकण्ठ भगवान् शंकर के चार रूप बताये। बाह्य भाव में जब बिन्दुरूप शिव सर्वप्रथम गतिमान् होता है तब चार रूपों को धारण करता है। आगमों में बताया है 'माया च शुद्धविद्या च महेश्वर-सदाशिवौ', माया, शुद्ध विद्या, महेश्वर और सदाशिव ये चार ही पहले-पहल बिन्दुरूप शिव का परम विस्तार है। अथर्ववेद में भी इस श्रीचक्र का वर्णन करते हुए कहा है 'एका सा आसीत् प्रथमा सा नवासीत्'। वह संवित् पहले एक ही थी। इसका मतलब यह नहीं समझना कि अब बहुत हो गई है ! पहले एक ही थी और एक की तरह *भान* भी हो रही थी। जब श्रुति कहती है 'एकमेव आसीत्' तब भाष्य में भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'आसीद्' का भूतकाल विवक्षित नहीं है, क्योंकि बहुत रूप बनते हुए भी वह एक ही है। चार शिवरूप और पाँच शक्तिरूप—यों नौ रूप हो गये। पहले शिव और माया दो रूप हुए। माया बाह्य प्रक्षेप तो है लेकिन बाह्य प्रक्षेप करते हुए विस्मृति नहीं है। बस इतना फ़र्क है। पहले-पहले जब किसी चीज़ को अपने से बाहर निकालते हो तब विस्मृति नहीं होती है। विस्मृति थोड़े समय के बाद होती है।

भगवान् वशिष्ठ एक जगह भगवान् रामचन्द्र जी को अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि किस प्रकार से प्रक्षेप पहले प्रतीत नहीं होता और फिर हो जाता है। उन्होंने बताया—एक बार मेरे मन में आया कि सर्वथा ऐसी जगह जाऊँ जहाँ भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, राक्षस कोई न आ सके। ऐसी किसी जगह अकेले में बैठकर ध्यान का आनन्द लिया जा सकता है। साक्षात्

ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी चारों तरफ ऐसी एकान्त जगह ढूँढने लगे। लेकिन सब जगह ढूँढ आये, एकांत कहीं नहीं मिला ! जंगल में जाओ तो भी एकांत नहीं मिलता, वहाँ भी मच्छर मिलते हैं, दूसरे जंगली जानवर तो हैं ही।

भगवान् वशिष्ठ के मन में इच्छा हो गई थी कि एकांत का आनंद लेना है, क्योंकि एकांत में एक विशिष्ट आनन्द होता है। उस एकान्त के आनंद को अधिकतर लोग नहीं समझते हैं, इसलिये जब किसी को कठोर दण्ड दिया जाता है तो उसे जेल में एकांतवास (सॉलिटरी कन्फाइनमेण्ट) दे देते हैं। विचारशील हो तो परम सुखी हो जाये और उस एकांत में ही आनंद से रहे क्योंकि जहाँ लोग रहेंगे वहाँ तुम कभी भी खुद नहीं बन सकते। यह एकान्त का रहस्य है। जैसे ही कोई आयेगा, वैसे ही उसके साथ कुछ न कुछ बनकर व्यवहार करना पड़ेगा। स्वाभाविक और सहज अवस्था में नहीं रह सकते। एकांत में स्वाभाविक और सहज अवस्था में रहोगे।

एक हमारे बड़े प्रिय मित्र हैं। उनकी तबियत कुछ खराब थी। हमने उनसे कहा कि एक नौकर रख लो क्योंकि रसोई बनाने में तकलीफ होती है। यह बात नहीं थी कि उनके पास इंतजाम न हो। उन्होंने बड़ी अच्छी बात कही 'रखने को तो रख लें, वैसे भी लोग सेवा करने को तैयार हैं। यहाँ तक भी ठीक है कि मुझसे कोई भौतिक पदार्थ की माँग नहीं करता लेकिन जो मेरे पास रहता है, वह मेरे मन की माँग ज़रूर करता है !' उसका ध्यान रखना पड़ता है तो मन में स्पंद हो जाता है। जो भी व्यक्ति रहेगा वह मन पर प्रभाव डालेगा चाहे चेतन अवस्था में अथवा

अवचेतना- वस्था में। इसलिये रोटी बनाने की किल्लत अच्छी, वह रोज़ की माँग खराब क्योंकि एकांत नहीं मिलेगा। वशिष्ठ जी को यही इच्छा थी।

जब कहीं जगह न मिली तो अंत में सोचा कि इस सारे ब्रह्माण्ड को छोड़कर कहीं आकाश में ही जाकर आसन जमायें। वशिष्ठ जी आकाश में चले गये। चारों तरफ देख लिया कि यहाँ से आगे पीछे कहीं कोई ब्रह्माण्ड नहीं है। वहीं पर उन्होंने अपनी एक कुटिया बनाई कि आनंद से भजन इत्यादि करें। वहाँ कुछ नहीं था, एक अखण्ड आकाश था। उन्होंने अपने संकल्प के बल से ही वहाँ आकाश की ही कुटिया बनाई। वशिष्ठ जी स्वयं उस कुटिया का वर्णन करते हैं—'कल्पितार्थमया तत्र कुटी प्रकट-कोटरा।' हे राम ! मैंने वहाँ एक कुटी की कल्पना की। लेकिन तब का भारतवर्ष आज का भारतवर्ष तो था नहीं। यहाँ के रहने वाले लोगों में कला का ज्ञान होता था। सब कुछ परित्याग करके एकांत आकाश में जाकर कुटी बनायी। लेकिन वह कुटी कैसी थी ? इतनी सुन्दर कुटिया बनाई जैसे कमल की कली होती है। आजकल जब हम अपने मकानों को चांदनी चौक की गलियों में देखते हैं तो प्रायः वशिष्ठ जी का यह श्लोक याद करते हैं कि जिसके हृदय में काव्य रसधारा होगी, वही समझ सकेगा। परमात्मा ने इतनी सुन्दर सृष्टि की, क्या वह कभी असुन्दरता में रह सकता है ? लेकिन आज हज़ार साल से मुसलमानों और ईसाइयों के राज्य के बाद हमारे मन में ये सब बातें रह ही नहीं गईं। जिस देश में एकांत और शांति का इतना महत्त्व था, उस देश के अन्दर लोग गले में घोंचा (ट्रांजिस्टर) टाँगकर सड़कों पर घूमते हैं। तुम

गाना सुनो, हम मना नहीं करते, लेकिन दूसरों पर तुम्हारा इतना ज़ोर कि हर रास्ते चलने वाला तुम्हारे द्वारा प्रपीडित हो ! इसका कारण यही है कि शान्ति की दृष्टि नहीं है।

वशिष्ठ जी सब कुछ छोड़कर एकांत में आकाश-कुटी बनाते हैं। केवल इतना कहकर नहीं छोड़ा कि कमल की तरह सुन्दर थी। आगे कहते हैं—'पूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा' ऐसी सुन्दर कुटी थी कि उसमें जो उदर (रहने की खाली जगह) था, वह ऐसे बिम्ब की तरह था मानों चन्द्रमा की ज्योत्सना छाई हो। इस ढंग की कुटिया थोड़े दिन रहने के लिये बनाई थी। फिर आगे और वर्णन है कि बगीचा बनाया, उसमें फुलवारी भी लगाई। यह सब करने के बाद वह समाधि लगाने के लिये बैठे। समाधि कहाँ लगती है ? जहाँ चारों तरफ का वातावरण मन को सुन्दर लगे, जहाँ बैठकर प्रसन्नता हो। एक तरफ से बदबू आ रही हो, एक तरफ मच्छर काट रहे हों, वहाँ क्या ध्यान करोगे ! उपदेश करने वाले कहेंगे कि 'आपको क्या फर्क पड़ता है, आपको तो शरीर का होश ही नहीं होना चाहिये। मच्छर काटते हैं, काटते रहें।' यहाँ वशिष्ठ जी ने ऐसी कुटिया बनाई कि उसमें कहीं छेद नहीं था कि मच्छर घुस आयें। ब्रह्मसूत्रों में भी विचार है कि ध्यानादि के लिये किस दिशा में मुख किया जाये, कैसे किया जाये पर अंत में भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ये सब सहारे के लिये हैं। असल में उधर मुख करो जहाँ चित्त के अन्दर प्रसन्नता उत्पन्न हो। आनंदरूप ब्रह्म का ध्यान करना है। दूसरों की तरह दुःखरूप ब्रह्म तो हमारे यहाँ नहीं है। वहाँ वशिष्ठ जी ने पद्मासन लगाकर एक इच्छा रखी कि सौ साल की समाधि लगाकर उठूँगा।

कहते हैं कि मैं बैठ गया, समाधि में स्थित हो गया। वहाँ हल्ले-गुल्ले का कोई प्रश्न ही नहीं था। मैं जानूँ, इसके पहले ही सौ साल बीत गये। सौ साल निमेष की तरह बीत गये। जिस समय समाधि खुली तब पता लगा कि एक निमेष बीता है। जब ब्रह्मानंद होता है तब आनंद की अवस्था में कभी पता नहीं लगता कि कितना समय बीत गया। दुःख के क्षण तो बिताये नहीं बीतते, मानो एक-एक क्षण साल की तरह लगता है। सुख में घण्टे भी बीत जाते हैं तो पता ही नहीं चलता कि कहाँ चले गये, होश ही नहीं रहता। ऐसे ही सौ वर्ष का समाधिकाल निमेष की तरह निकल गया। आगे वशिष्ठ जी स्वयं कहते हैं कि जब बुद्धि की एकाग्रता हो जाती है, उस समय बहुत लम्बे काल की गति भी एक क्षण की तरह पता लगती है। वह एक संकल्प बच गया था कि सौ साल बाद उठना है, उसी ने उठाया। सौ साल बीते और समाधि खुल गई। 'ततो ध्यानात् प्रबुद्धोऽहं श्रुतवान् तत्र निःस्वनः' जैसे ही मेरी समाधि खुली तो मेरे कान में बड़ा सुन्दर संगीत सुनाई दिया। मैंने विचार किया कि मैं तो बिल्कुल एकांत समझ कर यहाँ बैठा था, यह आवाज़ कौन पैदा कर रहा है ? चारों तरफ देखा तो कई चीज़ें दिखाई दीं। मैं उस ध्वनि की ओर चला। शब्द के देश को ढूँढने की दृष्टि को लेकर वे चले। जब आगे पहुँचे तब देखा कि एक लड़की गा रही है। वशिष्ठ जी ने उससे पूछा 'तुम कौन हो ?'

वशिष्ठ जी वर्णन करते हैं कि जो सुन्दर स्त्री मैंने वहाँ देखी, वह कैसी थी ? बड़े साहित्यिक ढंग से वर्णन करते हैं

'ततस्तत् कुवलोल्लासमालतीमाल्यलोचना।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलया लापिता मया।।'

वह मुझे देखकर मेरे ऊपर मानों अनेक कमलों के फूलों की वर्षा अपनी आँखों से कर रही थी, मानों अपनी आँखों के द्वारा मालायें पहना रही थी। इस श्लोक में अनेक लकारों के प्रयोग का कारण है। हमारे यहाँ *ल* पृथ्वीबीज है। यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति पृथ्वी तक बतानी है, यह वशिष्ठ जी ने लकार का प्रयोग करके बता दिया। इसका केवल हिन्दी अनुवाद पढ़ते रहो, यह रहस्य कभी समझ में नहीं आयेगा। इसके द्वारा ही पृथ्वी की उत्पत्ति बता दी, यह कहीं नहीं कहा कि पृथ्वी पैदा हो गई।

उससे जाकर पूछा कि 'तू कौन है ?' उसने बड़े प्रेम से नमस्कार किया और कहा कि 'आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गई।' मैंने कहा, 'मेरे दर्शन करके तो कृतार्थ हुई, लेकिन तू है कौन ?' उसने कहा, 'आपकी ही पैदा की हुई हूँ।' मैंने सोचा—गजब हो गया! अरुन्धती को तो मैं भारतवर्ष छोड़कर आया था, यह कहाँ से आ गई ! इसलिये मैंने उससे कहा कि 'मैंने तो पैदा नहीं किया, मैं तो समाधि में बैठा था, सच्ची बात बता कि तू कौन है ?' तब उसने कहा कि आपने समाधि से पूर्व संकल्प किया था कि सौ वर्ष के बाद उठना है। यह इच्छा ही तो माया है। आप इस सृष्टि के ब्रह्मा हो गये और इच्छा माया हो गई और हम सब उत्पन्न होने वाले हो गये। देखिये, आपने कितनी बढ़िया सृष्टि की है। वशिष्ठ जी ऊपर-नीचे देखने लगे और विचार करने लगे कि आखिर यह मामला क्या है। कहते हैं, हे राम ! मैंने वहाँ पाताल पर्यन्त देखा, ऊपर आकाश, द्यु लोक, स्वर्गादि उत्तम लोकों को

देखा। खड़े रहने वाले पेड़ और चलने वाले जीव-जंतु सबको मैंने देखा, 'नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं' कहते हैं कि उस अनंत जगत् में ऐसी कौन-सी चीज़ थी जो मैंने नहीं देखी। भिन्न-भिन्न प्राणी देखे। सृष्टि का लम्बा-चौड़ा वर्णन वहाँ वशिष्ठ जी ने किया है। जहाँ जायें, वहाँ लोग कहें कि 'आपने बड़ा अच्छा पैदा किया, आप धन्य हैं।' यह सब देखकर मुझे इस बात का ज्ञान लुप्त नहीं हुआ कि 'मैं ही एक चित्-समुद्र के अन्दर चंचल बुद्बुदे (के रूप में) पैदा हो रहा हूँ'; इस दृष्टि से सारा जगत् और ब्रह्माण्ड मैंने देखा। यह देखकर उन्होंने विचार किया कि यह सारा ब्रह्माण्ड एक इतनी इच्छामात्र से उत्पन्न हुआ कि 'मैं सौ वर्षों के बाद उठूँ।' इतना संकल्प हुआ तो उसकी पूर्ति के लिये सारा ब्रह्माण्ड तैयार हो गया। कहने लगे कि मैं सोचने लगा कि यदि एकमात्र इच्छा से मेरे द्वारा इतना जगत् उत्पन्न हो गया तो जो लोग न जाने क्या-क्या इच्छायें करते हैं, उनका क्या हाल होता होगा ! बड़े प्रेम से मैंने आत्मदेव को नमस्कार किया और वह इच्छा छोड़ दी कि एकांत में बैठूँ। यह सोचकर वापिस आ गया कि इससे तो एक अरुन्धती का पोषण ही अच्छा है।

इच्छा ही माया है, इसे योगवाशिष्ठ में वशिष्ठ जी ने बताया। श्रुति भी यही कहती है 'सोऽकामयत' बस यह कामना ही तो माया है। ऋग्वेद भी कहता है 'कामस्तदग्रे समवर्तत।' सबसे पहले काम या इच्छा है। चार शिवाध्वाओं में पहली माया है, उसी के विस्तार का यहाँ स्पष्ट भान रहा। जब वापिस आये तो अरुंधती हँसकर कहती है, 'आ गये !' वशिष्ठ जी ने कहा, 'हाँ जी, आ गये।' अरुंधती ने पूछा, 'कहाँ गये थे भगवन् ! आप

समझते हैं कि आप चले गये थे, लेकिन मैं जो आपको बाँध कर बैठी थी, यह भूल गये : 'न केवलमहं बद्धा यावत् भर्तापि तत्र मे' जब तक आप मेरे भर्ता हो तब तक केवल अकेली मैं ही नहीं बँधी हूँ, आप और मैं दोनों एक-दूसरे को बाँधे हुए हैं।' वशिष्ठ जी समझ गये कि वस्तुतः मेरी जो इच्छा है, वही अरुंधती के रूप में विद्यमान है।

वशिष्ठ मायने जो सबसे बड़ा हो। सबसे बड़ा ब्रह्म है, उसकी इच्छा कभी रुकती नहीं, उसका कभी रुन्धन नहीं होता, इसीलिये वशिष्ठ की पत्नी अरुंधती है। ब्रह्म सत्यकाम, सत्यसंकल्प है यह श्रुतियों का उद्घोष है। समझ गये कि रुंधन की इच्छा ही मेरे बंधन का कारण हो गई। माया इच्छा है लेकिन अरुंधती सत्य-संकल्प वाली, सत्यकाम वाली इच्छा है। परमात्मा का संकल्प हुआ 'एकोऽहं बहुस्याम्' तो पूरा होने में देर नहीं लगती। यही माया ब्रह्मरूप में किस प्रकार परिणत हो जाती है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१६

किस प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा सृष्टि-चक्र को विकसित करता है, इसे श्रीचक्र के आधार पर समझ रहे थे। जैसा बताया, श्रीचक्रादि केवल प्रतीकमात्र नहीं हैं, वरन् अनुभूति के द्वारा ग्रहण की जाने वाली अवस्थायें-विशेष हैं। साधना में जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे जो चीज़ें दिखाई देती हैं उनका आधार अनुभूति

होती है, केवल प्रतीकात्मकता नहीं होती। यह सत्य है कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतीकात्मकता भी रहती है, प्रतीक को समझना बड़ा ज़रूरी भी होता है कि कौन-सी चीज़ किसका प्रतीक है; लेकिन प्रतीक है इसका मतलब यह नहीं कि प्रतीक के द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ नहीं है।

शास्त्रों को पढ़ते हुए बहुत बार लोग भूल करते हैं। एक भूल कि पदार्थों का वाच्यार्थ सत्य है, उनका रहस्य कुछ नहीं है। प्राचीन काल में भगवान् सायणाचार्य ऋग्वेद भाष्य-भूमिका के प्रारंभ में पूर्वपक्ष उठाते हैं कि वेद के मंत्रों की व्याख्या उचित नहीं होती क्योंकि उन मंत्रों के अंदर कोई अर्थ नहीं होता ! केवल उनके उच्चारण से अमुक विधि करते हुए क्रिया करने से फल उत्पन्न होता है, मंत्र का और अर्थ कुछ नहीं होता। एक सीमा यह हुई कि मंत्र का अर्थ माना ही नहीं है। कुछ लोग उससे आगे आये तो कहा—मंत्रों का जो वाच्यार्थ प्रतीत होता है, बस उतना ही है, उसके अन्दर के रहस्य को वे नहीं समझते। तीसरे वे हुए जिन्होंने मंत्र को वाच्यरूप से भी समझा और रहस्यरूप से भी समझा। कुछ लोग दूसरी भूल करते हैं कि वैदिक मंत्र के केवल रहस्यार्थ को ही स्वीकार करते हैं, वाच्यार्थ को छोड़ देते हैं, कुछ लोग रहस्यार्थ को छोड़ते हुए यहाँ तक कह जाते हैं कि वैदिक मंत्रों में कोई शक्ति है ही नहीं। बस केवल रहस्य ही है, बाकी उनके अन्दर कोई विशेषता नहीं है। इन सब भूलों से बचना चाहिये। एक कहता है वैदिक शब्दों का कोई महत्त्व नहीं, दूसरा कहता है शब्दों का ही महत्त्व है, अर्थ का कुछ महत्त्व नहीं है। ये दोनों बातें गलत हैं। शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व है।

शब्द और अर्थ कैसे होते हैं, इसे बताते हुए कविकुलगुरु कालिदास कहते हैं 'वागर्थौ इव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' वाणी और अर्थ एक-दूसरे से ऐसे मिले हुए हैं कि उनको अलग करना सम्भव नहीं है। शब्द बोलें और अर्थ न बोलें, वह नहीं हो सकता। अग्नि का अर्थ जब आग कहते हैं तब याद रखना कि अग्नि का अर्थ आग नहीं है ! आग शब्द का प्रयोग करने वाले को भी पता नहीं लगता कि अग्नि का अर्थ है 'आगे ले जाकर जो प्राप्ति करावे'। अग्नि का अर्थ आग जानने वाला यह कभी पता नहीं लगा सकता। इसी प्रकार 'आदमी' शब्द का प्रयोग करने वाला कभी यह पता नहीं लगा सकता कि मनुष्य का मतलब होता है 'मनुते, विचारयति' जो प्रत्येक चीज़ को विचारपूर्वक निर्णय करता है; यह बात 'मनुष्य' का अर्थ 'आदमी' जानने वाला कभी नहीं समझ सकता।

कुछ वर्ष पूर्व हमारे पास एक विदेशी आये और कहने लगे कि 'मैं कुछ साधना करना चाहता हूँ।' हमने पूछा—क्या पढ़े-लिखे हो ? उसे संस्कृत और हिन्दी भी नहीं आती थी। हमने कहा कि पहला साधन तो यह है कि संस्कृत का अध्ययन करो। कहने लगा 'संस्कृत बड़ी कठिन है, मैं तो समाधि का सुख चाहता हूँ।' हमने कहा, यदि सोचते हो कि समाधि लगाना संस्कृत पढ़ने से सरल है तो यह तुम्हारी बड़ी भूल है। संस्कृत का ही अध्ययन नहीं कर पाओगे तो समाधि का क्या अभ्यास करोगे ? वेद कहता है, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं' जिसने वेदों का स्वाध्याय नहीं किया, वह उस ब्रह्म को नहीं समझ सकता। ऋग्वेद कहता है कि वह पुरुष ऐसा है कि केवल उपनिषद् के द्वारा ही उसका ज्ञान हो

सकता है 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।'

यह सब इसलिये कह रहे हैं कि प्रत्येक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ होता है जिसका तुम कभी परिवर्तन या तर्जुमा नहीं कर सकते। यदि ऐसा करोगे तो उसके अर्थ में भेद आ जायेगा। सनातन धर्म के विषय में जो अधिकतर शंकायें लोगों के हृदय में हैं, उनका मूल कारण यह है कि कदाचित् वे लोग तर्जुमे पढ़कर, अंग्रेजी-हिन्दी में किताबों को पढ़कर समझते हैं कि हमने पुराणों को बाँच लिया और फिर शंका करते हैं। वेद ने क्या कहा है, इसे नहीं समझ पाते। इसलिये प्रतीकों को समझना ज़रूरी है। प्रत्येक मंत्र के वैदिक आख्यान-उपाख्यान के रहस्य को समझना ज़रूरी है। लेकिन वहाँ केवल रहस्य है, वाच्यार्थ नहीं है, ऐसा मत समझो। इसलिये शब्द, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ तीनों आवश्यक हैं। जब इस चक्र का निरूपण करते हैं, उसका तात्पर्य कहते हैं तब केवल यह नहीं समझना कि इसे समझाने के लिये ही है। चक्र की आध्यात्मिक अनुभूति में प्रवेश करने पर इन चीज़ों का साक्षात्कार होता है।

लोगों के मन में बड़ा भ्रम बैठा हुआ है, विशेषकर चक्रों के विषय में; मूर्तियों के लिये लोगों के मन में संदेह है कि ये खाली ध्यान करने के लिये ही हैं। जब कहते हैं कि 'इन्द्र बल का अधिष्ठाता देव समष्टि अभिमानी है' तब बहुत से लोग भूल जाते हैं कि इन्द्र देवराज भी हैं। जैसे कहते हैं कि 'राष्ट्रपति भारत का प्रतीक होता है।' कुछ साल बाद लोग कहें कि 'पुराने ज़माने में राष्ट्रपति नहीं हुआ करता था, किताबों में लिखा हुआ 'राष्ट्रपति' भारत का प्रतीक था।' किन्तु ऐसा है नहीं, वह प्रतीक और व्यक्ति-

भी है। उसी प्रकार इन्द्र का मतलब केवल बल का अधिष्ठाता समष्टि अभिमानी देवता नहीं है, 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' वज्र हाथ में रखने वाला इन्द्र भी है। देव-विग्रह के विषयों के सम्बन्ध में लोगों के मन में संदेह है। कुछ लोग देव-विग्रह स्वीकार कर लेते हैं लेकिन मंत्रों के विषय में संदेह रहता है। ब्रह्मसूत्रों में एक प्रकरण ही देवता-अधिकरण है। क्योंकि पूर्वमीमांसा में देवताओं को विग्रह वाला नहीं माना है इसलिये भगवान् वेदव्यास ने और भगवान शंकराचार्य ने बड़े ऊहापोह के साथ उनके मत का खण्डन किया है और कहा है कि देवता विग्रह वाले हैं।

जैसे देवताओं का वैसे ही आध्यात्मिक साधना में कहे हुए चक्रों का अनुभव भी होता है। उन चक्रों के अनुभव में सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों प्रकार बताने वाला श्रीचक्र बड़ा प्रधान है। इस चक्र को समझाते हुए भगवान् भाष्यकार ने कहा

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि।

प्रभिन्नाभिःशंभोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।।'

पहले चार शिवतत्त्वों का प्रतिपादन किया। माया, शुद्धविद्या, महेश्वर, सदाशिव—ये चार शिवतत्त्व हैं। इनमें से प्रथम माया तत्त्व कल बताया।

वह माया तत्त्व जिस प्रकार से छिपाता है, शुद्ध विद्या उसी प्रकार से उस तत्त्व को उघाड़ती है। माया तत्त्व के ऊपर पर्दा डाल देती है और शुद्ध विद्या उसे उघाड़कर जैसा रूप है, वैसा प्रकट कर देती है। 'शुद्ध विद्या' का प्रयोग इसलिये करना पड़ता है कि माया के अंतःपाती थोड़ी-थोड़ी चीज़ों को प्रकट करने वाली

अशुद्ध विद्या भी मौजूद होती है। जैसे घड़ा पड़ा है तो घड़े के साथ आँख का सम्बन्ध होने पर घटज्ञान होगा। इसे भी ज्ञान कहते हैं, लेकिन इसके द्वारा वस्तुतः वहाँ जो चीज़ है, उसे नहीं उघाड़ा गया, इसलिये उसे अशुद्ध विद्या कहते हैं। तदपेक्षया जब सच्चिदानंद भूमा का अनावरण होता है, जब इसे खोल दिया जाता है तब उसे शुद्ध विद्या कहते हैं। लोक में भी दो प्रकार के अनावरण प्रसिद्ध हैं। पहला, आदमी जब अपनी लड़की का ब्याह करता है तब उनका एक रूप खुलता है। खूब ठाठ-बाट से बिजलियाँ जलती हैं, खूब बड़ी पार्टी देते हैं, तब उनका माया वाला रूप उघड़ता है। सब लोग कहते हैं कि 'ये बहुत बड़े आदमी हैं, करोड़पति हैं।' उनका असली रूप बैंक वालों के सामने खुलता है कि इस ब्याह में कितने ओवरड्राफ्ट (कर्जा) ले रखे हैं! इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना। माया के द्वारा आवृत होता है, शुद्ध विद्या के द्वारा अनावृत होता है। यह दूसरा शिवतत्त्व है।

महेश्वर मायातत्त्व का शासन करने वाला है और विद्यातत्त्व का शासन करने वाला सदाशिव है। अपने यहाँ जहाँ शक्ति वहाँ शक्तिमान् और जहाँ शक्तिमान् वहाँ शक्ति होती है। माया का नियंत्रण करने वाला तत्त्व महेश्वर और विद्या का नियंत्रण करने वाला तत्त्व शिव है। ये चार शिवतत्त्व हैं।

इन्हें विशेषकर क्यों शिव-तत्त्व कहा जाता है ? यह याद रखना कि परमात्मा के पाँच कृत्य होते हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, आविर्भाव और तिरोधान। सृष्टि—किसी चीज़ को पैदा करना, स्थिति—किसी चीज़ को बनाये रखना, संहार—किसी चीज़ को नष्ट करना। लेकिन इन तीनों का आधार तिरोभाव है। जब तक

से आयेगी? 'वस्त्वधीना भवेद् विद्या' इसी प्रकार जहाँ सुखरूपता है, वहाँ लाख कहो कि दुःखरूप है, लेकिन सुख ही नज़र आयेगा। ज्ञान हमेशा पदार्थ के अधीन होता है, जिस चीज़ को विषय करो, उसके अधीन है।

क्रिया के अन्दर मनुष्य अर्थात् चेतन जीव खुद स्वतंत्र है, वह पदार्थ के अधीन नहीं है। कलकत्ते के बाग बाज़ार से बनकर आया हुआ बढ़िया रसगुल्ला सामने रखा हुआ है, यदि वस्तु के अधीन होता तो देखते ही झट खा लेता लेकिन खाने-न खाने में परतंत्र है। बढ़िया रसगुल्ला है, लेकिन अभी नहीं खायेंगे। शाम को पति जब घर आयेगा, तब दोनों जने मिलकर उसे खायेंगे। रसगुल्ला सफेद है, यह ज्ञान तुम्हारे अधीन नहीं है, लेकिन उस रसगुल्ले से क्या क्रिया करो, यह तुम्हारे अधीन है। चाहे थोड़ा उसी समय खा लो, बाकी शाम को या सारा ही खा लो। 'उन्हें क्या फ़र्क पड़ता है ? वे तो दिन भर पत्ते चाटते हैं। मुझे तो कभी-कभी मिलता है'—इसमें तुम्हारी स्वतंत्रता है। सुन्दर चीज़ को सुन्दर समझना तो अपने अधीन नहीं है। लेकिन उस सुन्दर पदार्थ के साथ क्या क्रिया की जाये, इसमें तुम्हारी स्वतंत्रता आ जाती है। 'कर्त्रधीनो भवेद् विधिः।' इसीलिये उपासना को शास्त्रों में कर्म में गिना है। भगवान् भाष्यकार ब्रह्मसूत्रभाष्य में लिखते हैं 'उपासना नाम मानसी क्रिया' उपासना एक क्रिया है, क्योंकि उसमें तुम स्वतंत्र हो। हम कहते हैं कि इस मूर्ति में विष्णुबुद्धि करके ध्यान करो। तुम कहते हो 'यह कैसे विष्णु हैं ?' तुम स्वतंत्र हो।

वस्तु के अधीन ज्ञान और कर्त्ता के अधीन विधि हुई। जब तुमने ब्रह्म को अज्ञान से विषय किया तब जो हुआ, वह ब्रह्म के

अधीन हुआ क्योंकि उसका विषय ब्रह्म ही है। जब तुमने ब्रह्म के ज्ञान द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बनाई, उस समय भी तुम्हारा ज्ञान ब्रह्म के अधीन है। तुम जैसा चाहो वैसा ब्रह्म को नहीं देख सकते। वह तो जैसा है, वैसा ही उसका अनुभव होगा। चाहे तुमने आज तक कभी नहीं सुना कि ब्रह्म का रूप सच्चिदानंद भूमा है, लेकिन जब उसका अनुभव होगा, तब सच्चिदानंद भूमा ही होगा। वह तुम्हारे सुनने-न सुनने के अधीन नहीं है। इसलिये यहाँ माया और शुद्ध विद्या दोनों ही शिव के अधीन होने के कारण उसे महेश्वर और सदाशिव कहा तो जगत् के अंतःपाती शुद्धाध्वा हो गये। ये चार शिवतत्त्व हैं।

आगे 'शिवयुवतिभिः पंचभिरपि' पाँच शक्तितत्त्व है। शक्तितत्त्व को यहाँ शिवयुवति कहा है। 'युवतिः —यौति मिश्री भवति इति युवतिः' जो किसी चीज़ के साथ मिलकर एक हो जाये, उसे युवती कहते हैं। शिव के साथ शक्ति हमेशा एक होकर रहती है, यह बताने के लिये यहाँ युवती शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द के प्रयोग का एक साहित्यिक कारण भी है। आगे हमको सारी सृष्टि की उत्पत्ति बतानी है और लोक में युवती से ही संतानोत्पत्ति के कारण सृष्टि आगे बढ़ती है, इस साहित्यिक दृष्टि से भी युवती कहना ठीक ही है। शिव तो नित्य है, इसलिये हिन्दी भाषा के किसी कवि ने विष्णु भगवान् के साथ मज़ाक किया है : विष्णु की पत्नी लक्ष्मी हैं। कोषकार कहते हैं 'चंचला चपला लक्ष्मी' लक्ष्मी चंचला होती है, लोक में भी देखने में आता है कि आज लक्ष्मी इसके पास तो कल उसके पास है। लक्ष्मी चंचला क्यों है, कवि कहता है 'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।'

पुरुष पुरातन भगवान् विष्णु कितने बुड्ढे हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिये बुड्ढे आदमी की वधू चंचला हो जाती है ! इस चांचल्य में हेतु क्या है ? 'शिवयुवतिभिः' यह सामान्य चांचल्य नहीं है। शक्ति के जो भिन्न-भिन्न अनेक आकार बनते चले गये हैं, अनंत वृत्तियाँ बनती चली जाती हैं, उन सारी वृत्तियों के साथ ज्ञानरूप से शिव एक ही बना रहता है। वृत्ति तो तीन क्षण से ज़्यादा नहीं रहती। दार्शनिक दृष्टि से तीन क्षण कहते हैं, वैसे तो 'सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनः' जितने पदार्थ और अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं, वे क्षण-क्षण में बदलती हैं। वृत्तियाँ अत्यंत चंचल हैं जो क्षण में बदलती हैं। क्षण-क्षण में बदलने पर भी उनके अंदर प्रतिबिम्बित चेतन वैसा का वैसा बना रहता है। घटज्ञान और ब्रह्मज्ञान के अन्दर ज्ञान में कोई भेद नहीं है। भेद केवल विषय को लेकर है, ज्ञान में कोई भेद नहीं है। शक्ति तत्त्व को यहाँ पंच-त्रिकोणों के द्वारा बताया। ये ही पंचमहाभूत हैं। क्योंकि आविर्भाव, तिरोभाव शिव-भाव के अन्दर, और पंचमहाभूत शक्तितत्त्व के अन्दर हैं। सारी सृष्टि पंचमहाभूतों से चलनी है।

इनमें से प्रत्येक शिव-युवती है, क्योंकि शिव के साथ मिश्रीभूत होता है। यह वेदांत की प्रक्रिया है। प्रायः ग्रंथों में लिख दिया जाता है कि 'आकाश से वायु उत्पन्न हुआ', लोग भी ऐसा समझ लेते हैं। लेकिन यह वेदांत का सिद्धान्त नहीं है। वेदांत सिद्धान्त में सब पदार्थों के प्रति कारण केवल एकमात्र ब्रह्म ही है, और कोई दूसरा कारण नहीं है। इसलिये आकाशविशिष्ट ब्रह्म ही वायुविशिष्ट ब्रह्म के प्रति कारण है। वायुविशिष्ट ब्रह्म ही तेजोविशिष्ट ब्रह्म के प्रति कारण है। कारणरूपता सिवाय ब्रह्म के

और कहीं वेदांत स्वीकार नहीं करता। वेदांत आकाश से वायु को उत्पन्न नहीं मानता। आकाश शरीर लिये हुए परमात्मा ही वायु शरीर को उत्पन्न करता है, वायु शरीर को लिये हुए परमात्मा ही आगे अग्नि शरीर को उत्पन्न करता है। चूँकि वह एकमात्र कारण है, इसलिये वह बन्धन में भी नहीं है कि पहले आकाश उत्पन्न करे, तभी वायु को उत्पन्न करे यह उसके लिये ज़रूरी नहीं है। कभी आकाश से वायु उत्पन्न करे और कभी सीधे भी कर ले; क्योंकि उत्पन्न करने वाला वही है, इसलिये स्वतंत्र है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो प्रायः मिट्टी गूँथकर उसे थोड़े समय तक पड़ा रहने देता है। फिर चाक पर चढ़ाकर घड़ा बनाता है। घड़ा बनाने का क्रम तो यह है। लेकिन कई बार काम ज़्यादा होने के कारण मिट्टी को गूँथकर पड़ा नहीं रहने देता या कई बार चाक खराब हो तो हाथों से थाप कर भी घड़ा बना लेता है। कोई ज़रूरी नहीं कि एक ही ढंग से बनाये। घर में भी प्रायः औरतें आटा गूँथकर उस पर पानी डालकर आधे घण्टे तक रख देती हैं और भींजने के बाद फुलका बनाती हैं। कभी अकस्मात् घर में मेहमान आ गये तो आटे को गीला करके ज़्यादा देर तक नहीं रखतीं, नमक डालकर ही बनाने लगती हैं। उसी प्रकार परमात्मा पहले आकाश की सृष्टि करे, फिर आकाश-शरीर होकर वायु और अग्नि आदि की सृष्टि करे, यह कोई नियम नहीं। वह सीधे भी वायु, पृथ्वी की सृष्टि कर सकता है क्योंकि कारण एकमात्र परमात्मा ही है।

एक कथा आती है कि दो चेले आपस में झगड़ा कर रहे थे। थोड़ी दूर पर गेरू झंडा लहरा रहा था। दोनों खड़े हो गये और

आपस में शास्त्रार्थ कर रहे थे कि वहाँ झण्डे का कपड़ा चल रहा है या वायु चल रही है। एक कहता था कि 'झण्डा चल रहा है।' दूसरा कहता था 'यदि झंडा चल रहा होता तो थोड़ी देर पहले भी चलता जबकि झंडा वहाँ मौजूद था, इसलिये वायु ही चल रही है।' पहले ने कहा 'यदि वायु ही चल रही होती तो वहाँ से दो फीट दूर भी चलती दीखनी चाहिये, लेकिन झंडे से दूर कुछ नहीं हिलता दीखता।' जब दोनों में झगड़ा होने लगा और कोई निर्णय नहीं हुआ तो दोनों गुरुजी के पास पहुँचे। गुरुजी से जाकर पूछा 'किसे कारण मानें, वायु चल रही है या झंडा चल रहा है ?' गुरुजी ने सोचा कि ये अभी शुरू के साधक हैं। उन्होंने कहा, 'वायु और झंडा दोनों मिलकर चल रहे हैं।' दोनों को संतोष हो गया और चले गये। दूसरे दिन सवेरे गुरुजी कहते हैं—'आज रात भर झण्डा चलता रहा या बीच में रुक गया था।' दोनों एक-दूसरे की तरफ देखकर कहने लगे—'हमें पता नहीं।' गुरुजी ने पूछा—'तुम उसके नीचे ही सोये थे, बताओ।' कहने लगे—'रात में नींद आ गई थी, इसलिये कुछ पता नहीं चला।' गुरुजी ने बताया था कि केवल वायु या केवल झण्डा नहीं चल सकता, दोनों मिलकर चल सकते हैं। रात में दोनों मिले हुए तो थे ही, फिर क्या बात हुई ? उनका मन वहाँ नहीं था। गुरुजी ने कहा—'अच्छा, तब यह मानना पड़ेगा कि झण्डा और वायु मिलकर कब चलते हैं ? जब मन भी वहाँ होगा, मन भी उनके साथ मिला हुआ हो। इसलिये केवल झण्डा नहीं, केवल वायु नहीं, मन भी मिला हुआ हो, तभी दोनों चलते हैं।' शिष्यों ने कहा—'समझ लिया।' गुरुजी ने कहा—'रात को वहीं सोना।' मन में संस्कार तो पड़ गये थे कि गुरु जी ने पूछा

था कि रात भर क्या चलता रहा। तीसरे दिन फिर गुरु जी ने पूछा 'आज रात में सोते रहे या जागते रहे ?' कहा—'सोते रहे और बढ़िया नींद आ रही थी।' फिर गुरुजी ने पूछा—'और कुछ हुआ ?' कहा, 'रात भर झण्डा चलता रहा !' संस्कारवश स्वप्न आता रहा कि झण्डा चल रहा है। नींद तो आई, पता कुछ नहीं लगा, लेकिन रात भर झण्डा और वायु दोनों चलते ही रहे। गुरुजी ने कहा—'मैं रात भर जगकर बैठा रहा था क्योंकि रात बड़ी गर्मी थी, नींद नहीं आई। हवा बिल्कुल नहीं चली। झण्डा तो वैसा का वैसा रहा, हिला तक नहीं, तुम कहते हो कि रात भर चलता रहा!' शिष्यों ने कहा—'महाराज हमें तो यही स्वप्न आया था।' तब गुरुजी ने कहा—'अब समझो : वायु और झण्डा मिलकर तब चलेंगे जब मन मिला हुआ हो। जब वायु और झण्डा दोनों आपस में न भी मिले हुए हों, लेकिन मन मिला हुआ हो तो वायु और झण्डे के बिना भी दोनों चलते ही रहे ! इसलिये शिष्यो ! न वायु और न झण्डा चला, केवल मन ही चला।'

इसी प्रकार पूछो कि सारी सृष्टि पंचमहाभूतों की सृष्टि के कारण है या चार शिवतत्त्वों की सृष्टि के कारण ? तो पहले-पहल यही समझाया जाता है कि 'शिवयुवतिभिः' दोनों मिलकर कारण बनते हैं। आगे बतायेंगे कि यदि विचार करके देखो तो दोनों में से कोई भी कारण नहीं बनता। झण्डे की जगह शिव-तत्त्व स्थिर है। वायु की जगह शक्ति-तत्त्व चंचल है। दीखता है कि वायु और झण्डा अर्थात् शिव और शक्ति दोनों मिले हुए हैं। लेकिन वस्तुतः दोनों मिश्रिभूत हुए भी स्थिर ही हैं। चलने वाली चीज़ मन है। इसीलिये भगवान् गौडपाद कहते हैं 'मनसो हि अमनी भावे द्वैतं

नैवोपलभ्यते' जहाँ मन *अमन* हो गया, वहाँ द्वैत की प्रतीति नहीं है। मन के अमनीभवन पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-१७

भगवती श्रुति परब्रह्म परमात्मा से किस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया प्रारंभ होती है, इसे बता रही है। विराट् पुरुष की उत्पत्ति बताई और विराट् पुरुष के बाद परिच्छिन्न उपाधियों के द्वारा अनंत जीवों की उत्पत्ति बताई, उन जीवों के शरीरों की उत्पत्ति बताई और उनके लिये भोग्य सामग्री की उत्पत्ति बताई। अब प्रश्न होता है कि इन सब उत्पत्तियों के होने पर उस विराट् पुरुष के अन्दर कोई परिवर्तन आया या नहीं, अर्थात् विराट् पुरुष के इन अनंत रूपों और अनंत पदार्थों के अन्दर बँट जाने पर वह स्वयं विकृत-भाव को प्राप्त होता है या नहीं ?

दर्शनशास्त्र में यह एक भारी समस्या है। विशेषकर आस्तिक दर्शनों की समस्या यह है कि यदि ईश्वर में जीवों के कारण विकार स्वीकार करें अर्थात् जीवों के कारण यदि उसके अन्दर किसी प्रकार का परिवर्तन आता है ऐसा स्वीकार करें, तब वह विकारी और विनाशी हो जाता है। इतना ही नहीं, अधिकतर जीवों का आपस में एक काल के अवच्छेद अर्थात् एक समय में ही सुख-दुःख का जो भेद है, वह उस पर किस प्रकार के विकार को ला पायेगा, इसका निर्णय नहीं हो सकता। इसलिये कुछ लोगों ने यह माना कि ईश्वर सर्वथा निर्लेप है। श्रुति भी कहती है 'असंगोह्ययं पुरुषः'

यह पुरुष असंग, निर्लेप है। यह एक मान्यता है। दूसरी तरफ, विचार करके देखो तो यदि परमात्मा सर्वथा निर्लेप ही बना रहे तो न वह परमात्मा तत्तत् कर्मों के फल-प्रदान के प्रति आवश्यक रह जाता है और न सारे उपासना-राज्य का वह उपास्य या पूज्य ही बन सकता है ! जैमिनी की पूर्व-मीमांसा, बौद्धों का बुद्ध, जैनियों का महावीर इत्यादि सारे इस बात को पकड़कर रखते हैं कि यदि परमात्मा कर्मफल में कमी-बेशी करता है, अथवा उपासना के भेद से फलभेद करता है, तब वह असंग नहीं रहेगा, निर्लिप्त न रहकर विकारी हो जायेगा, राग-द्वेष वाला हो जायेगा, अर्थात् किसी के साथ राग और किसी के साथ द्वेष करेगा। और यदि वह इन सब भावनाओं का विषय बनता ही नहीं है तो उसकी उपासना व्यर्थ हो जायेगी, यहाँ तक कि उसको स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी !

आस्तिक दर्शनों में इसलिये सांख्य और पूर्वमीमांसा तथा नास्तिक दर्शनों में बौद्ध और जैन परमात्मा को स्वीकार ही नहीं करते, कहते हैं कि परमेश्वर को सृष्टि का कारण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, कर्म स्वतः फल दे देंगे। मीमांसक कर्मफल-प्रदाता *अपूर्व* को मानता है। कर्म किया, अपूर्व उत्पन्न हुआ और फल प्रदान करके वह अपूर्व समाप्त हो गया। ईश्वर की ज़रूरत नहीं है। कुछ लोगों ने ईश्वर को निर्लेप माना। दूसरों ने कहा कि ऐसी बात नहीं है, बार-बार श्रुति का उद्घोष है कि वह परमात्मा अक्रम सृष्टि के द्वारा जीवों की प्रार्थना का भी उत्तर देता है। बल्कि उपनिषदों का तो यहाँ तक उद्घोष है कि वह जीवों के दुःख के साथ दुःखी होता है ! उन श्रुतियों के आग्रह

से कुछ अन्य आचार्यों ने यह माना कि वस्तुतः परमेश्वर निर्लेप नहीं है। जहाँ उसको निर्लेप या असंग कह दिया गया है, वहाँ तात्पर्य केवल यह है कि बुरे पदार्थों से उसका लेप नहीं है, वह बुरे संग से रहित है। निर्गुण का अर्थ भी वे लोग करते हैं कि असद्-गुणों से रहित होने के कारण उसे निर्गुण कह दिया गया है, सारे गुणों से रहित होने के कारण नहीं। एक ने निर्लेपता स्वीकार की, दूसरे ने निर्लेपता, असंगता को सर्वथा संकुचित कर लिया। ये दो प्रकार के दृष्टिकोण हुए। विदेशों के अन्दर भी (Transcendent God) प्रपंचातीत ईश्वर और (Immanent God) सप्रपंच ईश्वर का भेद माना गया। परमेश्वर इतिहास के मध्य में प्रवेश करता है या नहीं, इसे लेकर बड़ा मतभेद है। कोई कहता है कि परमेश्वर ने सृष्टि की, बस उसके बाद उसकी छुट्टी! कोई कहता है ऐसा नहीं, परमेश्वर जीवों के प्रत्येक व्यवहार में भाग लेता है जिसको वे 'इन्वाल्वमेण्ट' (involvement) कहते हैं। जीव पाप करता है, उस पाप से निकल नहीं पाता। वह कौन-सा पाप है ? वह 'आदि पाप' है। छोटे-छोटे पापों से तो जीव निकल जाता है, आदि पाप से नहीं निकल पाता जिसे 'ओरिजिनल सिन' (Original sin) कहते हैं। उस पाप से कब निकले ? जब उस पाप को परमात्मा स्वयं अपने ऊपर धारण कर ले। उनका कहना है—ईसा के रूप में परमात्मा ने उस पाप के फल को स्वयं अपने ऊपर लिया। उसके लिये अंग्रेज़ी में 'एटोन' (atone) शब्द का प्रयोग करते हैं। 'एटोन्मेण्ट' (atonement) का मतलब at one-ment होता है ! अर्थात् जीव के साथ तादात्म्य हो जाना, एक हो जाना। कब जीव इस पाप के चक्र से निकले? जब

परमात्मा स्वयं जीव के साथ एकभाव को प्राप्त कर ले। जीव की अपनी सामर्थ्य से वह नहीं निकल पायेगा। इसलिये परमात्मा जीव के साथ अपने आपको एक कर देता है। एक यह विचार- धारा हुई। जीव के साथ उसकी एकत्वापत्ति हुई तो जीव के सारे सुख-दुःख उसी के होंगे। फिर असंगता, निर्लेपता कैसे बताओगे?

इन दोनों विचारधाराओं का कैसे सामंजस्य किया जाये ? हमारे शास्त्रों में जो अवतार की दृष्टि है, वही एकत्व को प्राप्त करने की दृष्टि है। भगवान् कृष्ण का जन्म-दिन हर वर्ष मनाते हैं। अवतार क्या चीज़ है, अवतार का मतलब क्या होता है ? अवतार बड़ा विचित्र शब्द है। अवतार शब्द के दो अर्थ होते हैं और दोनों अर्थ साभिप्राय हैं। 'अव' मायने नीचे और 'तरण' मायने आना। अवतार का ही हिन्दी में अपभ्रंश 'उतरना' है। यह एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ होता है 'अवतारयति जनान्' अर्थात् जो लोगों को उतारता है। हिन्दी में भी प्रयोग होता है जैसे 'नाव खेने वाला नाव से इस पार से उस पार उतारता है।' अवतार के अन्दर दो विरुद्ध धर्म मानने पड़ेंगे—पहला तो यह कि वह अपने निर्लेप असंग भाव को छोड़कर जब तक जीव के साथ सर्वथा एक नहीं हो जाता, तब तक उसको अवतार नहीं कह सकते। यह उसका उतरना हुआ। प्रत्येक जीव ही अपने ब्रह्मभाव को छोड़कर जीव-भाव में उतरा हुआ है, फिर प्रत्येक जीव का ही अवतार मान लिया जाये ? क्योंकि हरेक जीव ब्रह्म है और जीवभाव में उतरता है। श्रुति का उद्घोष है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत् जीवरूपतः' उसे बनाकर जीवरूप से वही तो प्रविष्ट होता है। स्वयं ही जगत् बनकर जीवरूप से वही प्रविष्ट

होता है। फिर प्रत्येक जीव को ही अवतार मान लें ? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि ऐसा नहीं है, कुछ फ़र्क है। जीव ब्रह्म है लेकिन अपने आपको भूला हुआ ब्रह्म है। अपने स्वरूप को न जानकर ब्रह्म है। अवतार का वैशिष्ट्य यह है कि अपने स्वरूप को पूर्णरूप से जानते हुए भी जीवभाव से एकता को प्राप्त करता है। भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः' वह परब्रह्म परमात्मा एक क्षण के लिये भी अपनी ज्ञान-शक्ति से दूर नहीं होता है, कभी वह अपने स्वरूप को भूल जाता हो, ऐसा नहीं होता। ऐश्वर्य अर्थात् उसको अपने ईश्वरभाव का, अपनी सामर्थ्य का ज्ञान नहीं, अथवा उसमें सामर्थ्य नहीं होती, यह भी नहीं है। बल, वीर्य और तेज उसके अन्दर हमेशा रहेंगे, एक क्षण को भी उससे दूर नहीं जायेंगे। लेकिन ऐसा होते हुए भी अपने आपको 'देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते' सर्वथा अपने आपको बिना भूले हुए भी वह ऐसा व्यवहार करेगा मानो वह देहाध्यास से पूरा भरा हुआ है। देहवान् *की तरह* व्यवहार करेगा।

भगवान् गीता में अर्जुन से यही कहते हैं : भगवान् ने अर्जुन से कहा—'अरे अर्जुन ! इस तत्त्व का उपदेश मैंने किसी काल में सूर्य को दिया था।' अर्जुन ने कहा 'मैं कैसे मान लूँ कि सूर्य को आपने उपदेश दिया था ?' उस समय जवाब देते हुए भगवान् ने एक बड़ी विचित्र बात कही है। कहते हैं—'अर्जुन ! तू मेरा भक्त है, मैं तुझे गुप्त बात (रहस्य) बताता हूँ कि मैंने सूर्य को कैसे उपदेश दिया था।' अर्जुन ने कहा 'आपके बहुत से भक्त हैं, जैसे देवर्षि नारद इत्यादि, उनको बता देते। मुझे ही बताते हो,

इसमें क्या हेतु है ?' इसलिये भगवान् ने दूसरा विशेषण दिया 'मे सखा चेति' 'तू मेरा केवल भक्त है, ऐसा नहीं, तू मेरा अभिन्न मित्र है।' सखा शब्द का मतलब मित्र होता ही है; 'ख' नाम आकाश का है, आकाश के साथ जो हो, वह सखा है। आकाश अर्थात् जहाँ कुछ नहीं (शून्य) है। सखा वह है जिसके साथ एक होने पर सारा संसार शून्य हो जाये। सखा यदि अपने पास हो तो सारा संसार नहीं के जैसा हो जाता है और वह यदि अपने पास न हो तो भी सारा संसार शून्य की तरह हो जाये ! यह सखा का लक्षण है। वह पास है तो संसार शून्य अर्थात् इस संसार की वक़्त (कीमत) नहीं है। इसीलिये श्रुतियों ने बार-बार जीव को सखा बताया है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। सखा का लक्षण शून्यवत् इसलिये है कि वह साथ में हो तो सारा संसार शून्यरूप है और उसकी कोई कीमत नहीं है, यदि वह साथ में नहीं है तो भी सारा संसार शून्यरूप है। अभिलाषाष्टक में कहा है

'शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे।
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।।'

विरह से जब मैं उससे अलग हुआ तब सारा जगत् शून्य हो गया। एक निमेष मैं जब उससे अलग हुआ तो वह निमेष एक युग की तरह लगा। बताया था कि भगव़ान् वशिष्ठ कहते हैं कि जिस समय समाधि के आनंद में बैठा, उस समय सौ वर्ष निकल गये, लेकिन लगा कि एक निमेष ही बीता है। दूसरी तरफ विरह में भी सारा जगत् शून्य होता है। बीच में एक कड़ी और दे दी कि एक युग के जैसा एक निमेष लगा। 'चक्षुषा प्रावृषायितम्' यह पता ही नहीं लगा कि मेरी आँखें हैं या बादल! जैसे बादलों से

वृष्टि होती चली जाती है, ऐसे ही आँखों से अश्रु-जल निकलता चला जाता है। तात्पर्य यह है कि चक्षु में विश्व रहता है 'दक्षिणाक्षिस्थितो विश्वः' दक्षिणाक्षि में ही जाग्रत् काल में जीव का निवास है। लगता है, न जाने कितने अनंत जीवन बीत गये उस परमात्मा से दूर हुए, लेकिन एक निमेषमात्र को आत्मदृष्टि वहाँ से हटी तो लगता है कि अनंत युग बीत गये। युग बीते-बिताये नहीं, लेकिन प्रतीति ऐसी होती है। जहाँ उससे आँख हटी, निमेष भी युग की तरह हुआ और जाग्रत् काल के अभिमानी विश्व में से न जाने पंचमहाभूत और उन पंचमहाभूतों के अनंत विकार, अनंत देह सारे मानो उसमें से वर्षा की तरह निकलते चले गये। उस परमात्म-दृष्टि से भिन्न होने पर यह सारा संसार लम्बा-चौड़ा और अनंत जीवों का दीखता है। ये अनंत जीव क्या हैं ? अपनी उस आत्मा के विरह के एक-एक आँसू की बूंद ही तो हैं ! उससे दूर होने पर जो निकला, वही तो यह सारा संसार है।

संसार में इतने दुःख क्यों हैं, कभी सोचा ? इतने दुःख इसीलिये तो हैं कि यह उस परमात्मा के अश्रुओं से ही उत्पन्न हुआ है। उसका रूप बताया 'शून्यायितं जगत् सर्वं' जैसे ही इस बात को समझा, वैसे ही यह जगत् शून्य हो गया। यह संसार शून्य क्यों है, बड़े-बड़े हेतु दिये 'परिच्छिन्नत्वात् जडत्वात्।' हम कई बार सोचते हैं कि जितने हेतु देते हैं, उतना ही तुम्हारे मन में जगत् बैठा हुआ है ! ज़रा कड़ी बात कहेंगे : मनोविज्ञान का नियम है कि जो चीज़ अन्दर से दिल को खाती है, उसको हटाने के लिये मनुष्य बार-बार उस चीज़ को दोहराता है! जितना हम जगत् को असत्य सिद्ध करने जाते हैं, उससे पता चलता है कि जगत् की

सत्यता हमारे हृदय को खाये जा रही है, उससे बचने के लिये हम बड़े-बड़े हेतु देते हैं। वस्तुतः जब परमात्मा के अन्दर सखाभाव आ गया, जब हमने समझ लिया कि हम उसके साथ हैं, तब सारा संसार शून्य है। वहाँ बैठकर यह नहीं कहेंगे कि 'हम तुम दो हैं।' वस्तुतः जब सखा के साथ बैठ जाते हैं तब संसार का ध्यान ही नहीं आता, संसार है या नहीं, इसका ही नहीं पता लगता।

इसलिये भगवान् ने कहा कि 'भक्त तो मेरे और भी हैं लेकिन तू मेरा सखा है, इसलिये मैं तुझे यह रहस्य बता रहा हूँ। तुझ से नहीं छिपाऊँगा, सच्ची बात बताऊँगा।' अर्जुन ने कहा 'बता दो।' भगवान् ने कहा कि 'ज़रा उलट-पुलट बोलूँगा क्योंकि विषय ही ऐसा है !' कभी ऐसा होता है कि बोलने वाला ठीक भाव से बोलता है, लोग उलटा समझते हैं। भगवान् ने सोचा कि यह रहस्य भी ऐसा ही है। कहने जाऊँगा तो लोग उलटा ही समझेंगे। तब से अब तक लोग उलटा ही समझते हैं। भगवान् ने कहा 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चाऽर्जुन' 'तेरे भी और मेरे भी अनेक जन्म बीत गये।' अर्जुन ने पूछा—'आपके बहुत जन्म बीत गये, यह कैसे ?' भगवान् ने यहाँ 'बहूनि' शब्द का प्रयोग एक ही बार किया है। संस्कृतज्ञ शब्दों को बड़ा विचार कर रखते हैं। एक ही बार 'बहूनि' इसलिये कहा कि जितने तेरे जन्म उतने ही मेरे जन्म बीते हैं ! जितनी बार प्रमाता की वृत्ति उतनी ही बार साक्षी-भाव की वृत्ति बनती है, यह इसके द्वारा बताया। सखा कहकर एकता तो बता दी। अर्जुन को साहस हुआ, कहने लगा—'फिर तुम्हारे में और मेरे में क्या फ़र्क़ है, फिर तो अपने एक जैसे ही हैं ?' भगवान् ने कहा—'मेरी बात को ग़लत नहीं समझना। एक फ़र्क़

है, वह भी बता देता हूँ 'जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः' फ़र्क़ इतना ही है कि मेरे जन्म और कर्म में दिव्य-भाव रहता है।' यह दिव्यता क्या है जो भगवान् में है और अर्जुन में नहीं है ? यह भी भगवान् ने बता दिया 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' कहते हैं 'मेरा अपना बंधन है, तेरा अपना बंधन है। मेरा बंधन है 'अजोऽपि सन्' मैं जन्म ले नहीं सकता। जैसे जीव तो जन्म लिये बिना नहीं रह सकता, ऐसे मैं जन्म ले नहीं सकता।' भगवान् और जन्म दोनों बातें आपस में विरोधी मालूम पड़ती हैं। जो पहले नहीं हो और फिर हो, उसे जन्म कहेंगे। जीव के लिये तो 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य' यह बात गीतामें दूसरे अध्याय में कह आये हैं कि जीव के लिये जन्म लेना आवश्यक है, उसका धर्म है। ईश्वर का बंधन है कि वह जन्म ले नहीं सकता।

बहुत से लोग ऐसा भी मानते हैं कि भगवान् खुद जन्म नहीं लेते, लेकिन उनका कोई टुकड़ा या कोई हिस्सा जन्म ले लेता होगा। इसीलिये पुराणों के अन्दर अनेक जगह अंशावतार का विचार है। इसलिये शंका होती है कि शायद वही बात होगी कि स्वयं अज भी किसी एक हिस्से से जन्म ले लेता होगा। खुद निर्विकार रहते हुए भी शायद एक हिस्से से विकार का नाटक करता होगा, उसमें सचमुच विकार नहीं आता होगा। तब भगवान् ने कहा कि 'मेरे हिस्से होते नहीं हैं अर्थात् एक हिस्से से निर्लेप बना रहूँ और दूसरे से नाटक कर लूँ, यह नहीं होता। 'अव्ययात्मा', मैं अव्यय हूँ, मेरे टुकड़े नहीं हो सकते। मैं जो करता हूँ, पूर्ण रूप से करता हूँ। नहीं तो मैं अपूर्ण हो जाऊँगा।' जो एक हिस्से से

एक काम करे और दूसरे हिस्से से दूसरा, उसका नाम पाखण्डी और मिथ्याचारी होता है। भगवान् ने कहा 'मुझे इतना पाखण्डी नहीं समझ लेना। मैं जो करता हूँ, वह पूर्ण होकर करता हूँ। मेरे ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अन्दर कोई भेद नहीं आता। मैं अव्यय हूँ। मेरे टुकड़े नहीं हो सकते, जो करूँगा, पूरा होकर ही करूँगा। मेरा एक तीसरा बंधन और है 'भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्'; एक तो मेरे टुकड़े नहीं हो सकते; दूसरा, मैं जन्म नहीं ले सकता और तीसरा—जितने भी संसार के जड पदार्थ व प्राणी हैं, इनका कभी गुलाम नहीं हो सकता। हमेशा इनका अधिपति ही रहूँगा, ये मेरे ऊपर शासन कर लें, यह कभी नहीं हो सकता।' भगवान् ने अपनी तीन कमज़ोरियाँ बता दीं।

अर्जुन ने कहा 'आप तो टुकड़े वाले भी दीख रहे हैं, जन्म लिये हुए भी दीख रहे हैं, आपको जब बाण लगता है तब खून निकलते हुए भी देखता हूँ।' भगवान् ने कहा 'मेरी अपनी एक शक्ति है।' वह शक्ति कैसी है ? बिल्वमंगल कृष्णकर्णामृत में कहते हैं कि एक बार भगवान् ने पृथ्वी का उद्धार करने के लिये वराह अवतार लिया। उस समय अपने नथुने के ऊपर सारी पृथ्वी को रख लिया। उस समय उनका शरीर इतना बड़ा था कि सात समुद्र मिलकर भी उनके शरीर के रोमकूपों को भर नहीं पा रहे थे, इतना विशाल शरीर था। बिल्वमंगल कहते हैं कि वह कोई दूसरा नहीं है। ठण्ड का मौसम है, पानी गरम नहीं है, यशोदा ने निर्णय किया है कि आज कृष्ण को नहलाना है। जब माता नहलाती है तो लोटे से नहीं नहलाती, अंजलि भरकर पानी उनके शरीर पर डालती हैं। बाल्टी में से अंजलि से पानी भरकर निकाल

रही है और कृष्ण भाग रहे हैं। बच्चे को ठण्ड लगती है तो भागता है। जिसके शरीर के रोमकूपों को सात समुद्र मिलकर नहीं भर पा रहे थे, वही आज एक अंजलि पानी से डरकर भाग रहा है! क्या क्रीडा कर रहे हैं ? नहीं, सचमुच भाग रहे हैं। कैसे भाग रहे हैं? 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया।' अपनी आत्म-शक्ति से, स्वतंत्र इच्छा के द्वारा। यहाँ सांख्य प्रकृति नहीं समझना। भगवान् अपनी प्रकृति को ही आधार बनाकर सृष्टि करते हैं।

प्रश्न हुआ कि परमात्मा की प्रकृति क्या है जिसका सहारा लेकर परमात्मा सब करते हैं ? भगवान् ने कहा कि संसार के सारे प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हैं 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।' जिसकी प्रकृति क्षण-क्षण में बदलने की है, उसमें स्थिरता नहीं हो सकती। जिसकी प्रकृति पत्थर की तरह न बदलने की है, वह स्थिर ही रहता है। भगवान् की क्या प्रकृति है ? 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' यह परमात्मा की प्रकृति है, स्वभाव है जिसे वे नहीं छोड़ सकते। भगवान् ने कहा 'जो भी मेरे पास आता है'; किस रूप से आता है ? जो बाकी सब चीज़ों का सहारा छोड़कर केवल मेरे ही पास चलकर आता है। इसीलिये भक्तिशास्त्रों में प्रपत्ति का मतलब ही यह है कि अन्य सारी शरणों को छोड़कर एकमात्र परमात्मा की शरण लेना। 'मेरी प्रकृति है कि जो जिस प्रकार सारे भावों को, सारे सहारों को छोड़कर मेरे पास आता है 'तांस्तथैव भजाम्यहं' मैं उनका भजन उसी भाव से करता हूँ।'

शब्द बड़े विचित्र लगेंगे। भगवान् ने पहले ही कह दिया था

कि शब्दों की गड़बड़ी नहीं समझना क्योंकि रहस्य की बात है। प्रायः भजन कौन करता है ? लोग समझते हैं कि जीव भजन करता है। लेकिन यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि जीव बेचारा क्या भजन करेगा ? जीव तो सोचता है कि मैं भजन करता हूँ, परमात्मा से प्रेम करता हूँ। क्या जीव में परमात्मा से प्रेम करने की शक्ति है ? लोग समझते हैं कि भुनगा उड़कर दीपक की तरफ जाता है। लेकिन कभी सोचा कि भुनगा दीपक की तरफ कब जायेगा? जब दीपक आँख के द्वारा पहले उसके हृदय में अवतार ले लेगा, उसके हृदय में उतर आयेगा। दीपक तो व्यापक है, उसकी ज्योत्स्ना चारों तरफ फैली हुई है। लेकिन जब तक वह व्यापक दीपक अपने आपको छोटा-सा परिच्छिन्न न बना ले, तब तक वह इतने छोटे भुनगे की आँख में कैसे उतरेगा ? कभी सोचा कि वह व्यापक दीपक क्यों अपने को परिच्छिन्न बनाता है ? दीपक चारों तरफ फैल सकता है। सुई से छोटा भुनगा, उससे भी छोटी उसकी आँख, उस आँख के अन्दर भी अत्यंत छोटा छिद्र (तारा)। फिर वह व्यापक और सर्वत्र प्रसृत दीपक अपने आपको इतना संकुचित, इतना छोटा क्यों बना लेता है ? मानना पड़ेगा कि दीपक का प्रेम भुनगे के प्रति अत्यधिक है। यदि उसके प्रेम में इतनी अत्यधिकता न होती तो क्या अपने को संकुचित करता? वह चारों तरफ फैला हुआ तो था ही, उसके फैलाव में कोई रुकावट नहीं थी। फिर दीपक उसकी आँख में क्यों घुसा ? अपने को इतना परिच्छिन्न क्यों बनाया ? उस भुनगे के प्रति उसका जो अत्यधिक प्रेम है, उसको वह भुनगा नहीं समझ सकता।

प्रमाता का दुःख कितनी देर का होता है ? जितनी देर वृत्ति

रही। वृत्ति समाप्त होने के बाद उस दुःख की समाप्ति है। पर साक्षिभास्यता बनी रहती है। हमारे पेट का आपरेशन हुआ। पेट के कटने का दुःख हुआ। वह पेट के कटने का दुःख तो महीने भर में दूर हो गया, लेकिन आज भी जब उस दुःख की याद आती है तब शरीर सिहर जाता है। यह याद किसे आती है ? प्रमाता तो उस समय खत्म हो गया, प्रमेय दुःख भी नहीं है, साक्षिभास्यता है। जीव के साथ उसका इतना अधिक प्रेम है कि जीव तो एक क्षण के दुःख को भोगकर समाप्त कर लेता है, लेकिन उसके दुःख से वह, जिसे तुम निर्लेप समझते हो, इतना दुःखी हो जाता है कि उसके लिये उस दुःख की छाप अनंत काल के लिये रहेगी, कभी मिटने वाली नहीं है, क्योंकि यह उसकी प्रकृति है। उसकी प्रकृति नित्य है, स्थिर है, कभी बदलने वाली नहीं है।

लोग समझते हैं कि जीव परमात्मा का भजन करता है। भगवान् ने कहा—अरे ! जीव क्या प्रेम करेगा ! जिस प्रकार अत्यंत व्यापक दीपक प्रेम के कारण आँख की छोटी सी तारिका में घुसकर हृदय में उतर गया, उसी प्रेम का फल हुआ कि पतंगा उड़कर दीपक की तरफ जाता है। वस्तुतः पतंगा नहीं जा रहा है बल्कि हृदय में उतरा हुआ दीपक खुद ही उस शरीर को अपनी तरफ खींच रहा है। किसलिये ? बिजली के जमाने के पहले पहुँच जाना। लोग कहते हैं कि वहाँ जाकर पतंगा जल जाता है। दीपक क्या जलाने के लिये ले जाता है ? दीपक का स्वरूप ही जलना है। वह पतंगे को जलाने के लिये नहीं ले जा रहा है, अपने से बिल्कुल एक करने के लिये ले जा रहा है ! जो उसका अपना स्वभाव जलना है, उसी भाव को वह उस पतंगे को देना चाहता है कि

'जैसा मेरा स्वभाव है, वैसा ही तुम भी जलो।' कभी-कभी पतंगा सोचता होगा कि दीपक का अच्छा प्रेम है ! क्योंकि वह दीपक को समझ नहीं पा रहा है कि यह इसका स्वभाव है। यह जिसको अपने साथ करेगा, अपने जैसा करेगा। सामान्य दृष्टि से पतंगा जलता है, विचारदृष्टि से जलता नहीं है बल्कि दीपक के साथ एक, अभिन्न हो जाता है। यही दीपक का भजन है। भज् सेवायां धातु से भजन का अर्थ सेवा है और भजन का अर्थ प्रेम भी होता है। दोनों समझ लेना।

परमात्मा को पहले दीपक के दृष्टांत में समझ लो। दीपक जिस आँख में प्रवेश करेगा, उसी आँख की शक्ल का बनकर प्रवेश करेगा। जैसी आँख के तारे की शक्ल होगी, वैसा ही बनकर दीपक को प्रवेश करना पड़ेगा। इसलिये भगवान् ने कहा कि 'मैं पहले जीव के साथ एक हो जाता हूँ।' पहले परमेश्वर अपने अज, अव्यय, सारे प्राणियों के अधीश्वर, इन सारी भावनाओं को छोड़कर उस जीव के साथ एक हो जाता है। यह उसका पहला भजन हुआ। दूसरा भजन है कि वह फिर उसकी सेवा करता है, उसे धीरे-धीरे अपने रूप का बना लेता है। पहले ईश्वर ने जीव का रूप धारण किया, यह पहला अवतरण हुआ। दीपक उतरकर पतंग-भाव को प्राप्त हो गया, पतंगे के हृदय में उतर गया। यह पहला अवतार प्रेम का है। लेकिन यदि यहीं तक स्थिर रह जाये तो काम नहीं होता। पहले खुद पतंगरूप में बना और फिर उस पतंग को अपनी तरफ उड़ा कर अपना रूप प्रदान कर दिया। यही आदान-प्रदान है। भगवान् ने कहा कि यह उनकी प्रकृति है। उपाधियों के अनंत भेद हैं। लेकिन जिसके अंतःकरण में जो

भाव है, परमात्मा उसमें उसी भाव की उपाधि वाला होकर प्रविष्ट होता है।

भगवान् ने कहा 'मैं अपनी इस प्रकृति को नहीं छोड़ सकता।' इसी उपाधि को लेकर 'संभवामि' कहा। मतलब सीधा है 'पैदा होता हूँ।' लेकिन *सम्भव* शब्द की ध्वनि है कि 'मेरे लक्षण को देखकर निर्लेपता का भान होगा, लेकिन मुझे सर्वथा निर्लेप नहीं समझ लेना ! मैं सखाभाव को प्राप्त हुआ सर्वथा उसके साथ एक हो जाता हूँ, उसके सुख-दुःख के साथ एक रहता हूँ। फिर दूसरा भजन होता है, धीरे-धीरे उसे अपने साथ अभिन्न करके वैसा ही बना लेता हूँ। यह प्रकृति है कि असंभव होकर सम्भव, अज होकर जन्म वाला, आनन्दघन होकर दुःख वाला, निर्लेप होकर क्षण-क्षण में लेप वाला, असंग होकर जीव के प्रत्येक भाव के साथ संग वाला लगूँ।' भगवान् ने कहा 'इस बात की ज़्यादा खींचतान मत कर क्योंकि यह रहस्य की बात है। बस इतना समझ ले कि मुझ असंग, निर्लेप के अन्दर भी यह सम्भव हो जाता है।' अर्जुन ने पूछा 'कुछ तो समझाओ कि कैसे सम्भव हो जाता है ?' भगवान् ने सोचा कि यह मज़ा किरकिरा करेगा ! इसलिये जवाब दे दिया 'आत्ममायया'; 'यह बात तेरी समझ में नहीं आने वाली है। यह काम मैं अपनी आत्ममाया से करता हूँ।' 'स्वां प्रकृतिं' और 'आत्ममायया' कहा है, कुछ विचित्र लगता है। स्व और आत्मा का एक जगह प्रयोग है। इसके द्वारा कहना है कि 'मैं जो कुछ भी करता हूँ, उसके लिये किसी और साधन की अपेक्षा नहीं रहती। यह मेरा स्वरूप है।' 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' यही उसका दिव्य जन्म है। बिना अपने स्वरूप को भूले हुए पहला अवतार जीव

के हृदय में हुआ जो प्रपन्न हुआ। उसके हृदय में उतर कर फिर वहाँ से उसे तार देना है अर्थात् अपने साथ एक कर लेना है। यही आत्ममाया और यही उनकी स्व-प्रकृति है।

भगवान् प्रपत्ति को बीच-बीच में परख लेते हैं। जीव की साधना की परीक्षा भगवान् नहीं करते, प्रपत्ति को जाँचना पड़ता है। शरत् पूर्णिमा की कथा आती है। भगवान् ने रात्रि में वंशीवादन किया। गोपियाँ पहुँचीं। भगवान् ने कहा—'क्यों आई हो ?' गोपियों ने कहा 'प्रेम से आई हैं।' भगवान् ने कहा—'ठीक है, दर्शन हो गये। रात का समय है, अब घर चली जाओ।' भगवान् ने यह भी नहीं कहा कि 'रुकना चाहो तो रुको या जाओ तो अच्छा है।' सीधा ही कहा कि 'रात का समय हो गया, यहाँ रहना ठीक नहीं है।' गोपियाँ नहीं मानीं, कहा—'आई हैं तो नहीं जायेंगी।' भगवान् ने तरह-तरह से समझाया कि जाना ही ठीक है। अंत में जब किसी तरह नहीं मानीं तब भगवान् ने एक भयंकर कोडा उठाया जिसे सहन करने की ताकत नहीं होती है। भगवान् ने कहा—'मुझसे प्रेम करती हो तो मेरी स्वाभाविक प्रकृति पहले समझ लो।' गोपियों ने कहा—'समझी हुई हैं, अब क्या समझेंगी!' भगवान् ने कहा—'नहीं, अभी नहीं समझीं।' प्रेम करने वाले तीन तरह के लोग होते हैं—एक वे कि जो उनसे प्रेम करे वे उससे प्रेम करते हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे होते हैं कि कोई उनसे प्रेम करे, न करे, वे प्रेम किये जायेंगे। तीसरे वे होते हैं कि तुम चाहे जितना प्रेम किये जाओ, उन्हें प्रेम करना ही नहीं ! भगवान् कहते हैं कि 'यह समझ लेना कि मैं तीसरी तरह का हूँ, मैं तो साक्षी हूँ। तुम चाहे कितना प्रेम किये जाओ, मुझे शास्त्र कहता है 'असंगो

ह्ययं पुरुषः' असंग, निर्लेप हूँ। मैं प्रेम करने वाले से भी प्रेम नहीं करता तो न प्रेम करने वाले से करूँगा ही क्या !' जब यह बात कही तो गोपियों ने कहा 'ज़रा इधर देखो तो सही कि आप किसको चक्कर में डाल रहे हो ? आकाश की तरफ देखकर क्यों घूर रहे हो ? अपना दिव्य भाव प्रकट करना चाहते हो तो ज़रा हमारी तरफ देखकर बोलो।' श्रीमद्‌भागवत में बताया है कि क्यों भगवान् यह बात कहते हैं और गोपियाँ क्यों ऐसा कहती हैं ? गोपियाँ कहती हैं 'आपके स्वभाव का हमें पता है कि जो जिस समय आपके सामने आता है, आप तदाकार हो जाते हैं। जब आप आकाश की तरफ देखोगे तो निर्लेप ही लगोगे ! इसलिये आकाश की तरफ न देखकर हमारी तरफ देखोगे तो हमारे असली रूप को पहचानोगे। तब आपकी आँख में हमारा प्रतिबिम्ब पड़ेगा। आकाश की तरफ देखने से उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिये निर्लेपता की बात कहते हो। अब हमारी तरफ देखकर बात करो।' भगवान् समझ गये कि 'अब अपनी दाल गलने वाली नहीं है, ये मेरे स्वभाव को समझ गई हैं।' फिर रास मण्डल की रचना की।

यही परमात्मा के अवतार का स्वरूप है। वही परमात्मा पहले जीवों की भक्ति को रोकता है। जब जीव सारे सहारों को छोड़कर उनका सहारा लेते हैं तब वे स्वयं उससे प्रेम करते हैं, उसका भजन करते हैं और उसकी सेवा करते हैं। सेवन करके उसे अपने से अभिन्न बना लेते हैं। यही असंग रहते हुए संग वाला बन जाना है। झूठमूठ नहीं, सचमुच बन जाना है। साक्षिभाव, प्रमाता के ज्ञान से ज़्यादा सत्य है, यह हमेशा याद रखना। वेदांत की भाषा

में प्रमाता के ज्ञान का बाध हो जाता है, साक्षी के ज्ञान का बाध नहीं होता। प्रमाता की अपेक्षा साक्षी का ज्ञान नित्य है। इसी प्रकार लगता है कि जीव संगभाव को प्राप्त होता है लेकिन साक्षी तो ईश्वर है। जीव बेचारा तो आसक्ति भी नहीं कर सकता ! लोग कहते हैं कि 'बड़ी आसक्ति है' तो हमें हँसी आती है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'कति नाम सुता न लालिता' ! तुमने पूर्व जन्मों में अपने न जाने कितने बच्चों के साथ, पति पत्नी के साथ आसक्ति की थी, कोई नज़र आ रहा है ? अनादि काल से न जाने कितनों का पालन कर आये हो, अनासक्त हो। सच्ची आसक्ति तो परमात्मा की है कि अनादि काल से हम को ही देखता है। अनादि काल से जीव की तरफ दृष्टि स्थिर है, 'अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति।' जीव तो बेचारा अनासक्त है। ईश्वर बिना कुछ खाये हुए युगों से एकाग्र दृष्टि से तुम्हारी तरफ देखता हुआ बैठा है, क्योंकि एक बार तुम्हारी नज़र उसकी तरफ जाये तो तुम्हारी नज़र में प्रविष्ट होकर तुम्हारे हृदय में बैठ जायेगा। बाकी वह सब बाद में कर लेगा। इसलिये आसक्ति ईश्वर की है, जीव की नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि मुझे शास्त्र असंग कहते हैं, लेकिन सच यह है कि मैं बड़ा आसक्त हूँ। यही परमात्मा के अवतार का रहस्य है।

वह अवतार जैसे जीव के हृदय में जाता है, वैसे ही समाज के हृदय में उतरता है। जब समाज उसको भूलने लगता है, जब सारा समाज ही अनीश्वरवादी हो जाता है, उसकी तरफ से दृष्टि हटाने लगता है, तब उसी को दूर करने को राम, कृष्ण आदि विग्रह का अवतार बताया। केवल एक हृदय में नहीं, बल्कि उस समग्र

समाज में अनीश्वरवाद था, उस सारे समाज को ईश्वर की तरफ ले जाने के लिये उन्होंने क्या किया ? पूतना के द्वारा उड़वाये गये। जैसे समाज के दुःख से दुःखी होते हैं, ऐसे ही परमात्मा समाज के अन्दर समाज के नेत्र के द्वारा प्रवेश करेंगे। वहाँ भी किसे नेत्र बनाना है ? जैसे तुम्हारे शरीर में छोटी-सी आँख और उसमें छोटा सा तारा है, ऐसे ही सारे भारत के समाज के अन्दर छोटा-सा चन्द्रकुल और उसमें भी छोटे से वसुदेव और देवकी के द्वारा समाज में प्रवेश किया। समाज के दुःख से वैसे ही दुःखी हैं। पूतना उड़ा ले जाती है। बचपन से दुःखों को इसलिये सहन करते हैं कि समाज के दुःख से दुःखी होना है। तब से लेकर कंसवध पर्यन्त समाज के अन्दर हैं। चूँकि किसी प्रकार के रिश्ते सच्चे नहीं हैं, इसलिये भगवान् भी अपने मामा को मार देते हैं। समाज के अन्दर जिस प्रकार लोग दुःख से भागते हैं, ऐसे ही भगवान् भी मथुरा छोड़कर भागते हैं। व्यक्ति के दुःख से भी जैसे दुःख है, उसी प्रकार समाज के दुःख से भी दुःख होता है। शरणार्थी बनकर गये, द्वारिका बसाई, नरकासुर को मारने के लिये गये। यहाँ तक कि अपने लिये पैदा हुई रुक्मिणी को भी आसानी से घर नहीं ला पाये ! बड़ा युद्ध किया तब घर ला पाये। यह सब समाज के दुःख से दुःखी होना है। अपनी प्रिय गोपियों से दूर रहे, क्योंकि समाज के अन्दर जो विकार आया है, वह अपने सिर पर ओढ़ते हैं। महाभारत का सारा युद्ध भी अपने ऊपर ओढ़ा, गांधारी ने भी उन्हीं को शाप दिया। इस युद्ध के अन्दर बड़े नियम टूटने थे, टूटे। युद्ध को जब अपने ऊपर ओढ़ा तब सबसे पहले खुद नियम तोड़ा। प्रतिज्ञा की थी कि चक्र नहीं उठायेंगे, वह भी उठा लिया। यह सब किसने

किया ? जो असंग हैं, निर्लेप हैं, आसरक्तिरहित हैं। अंततोगत्वा देखा कि सबसे ज़्यादा कुटुम्ब लोगों के बंधन का कारण होता है, इसलिये कुटुम्ब-नाश को अपने ऊपर ओढ़ा। स्वयं सारे यादव-कुल को नष्ट हो जाने दिया और नष्ट कर दिया। व्यक्ति के जीवन में आकर उसका अवतरण और समाज के जीवन में अवतरित होकर समाज का अवतरण किया। इसीलिये हम विशेष दिनों में उनके अवतारों की उपासना करते हैं।

प्रवचन-१८

परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि किस क्रम से उत्पन्न हुई, इस संदर्भ में बताया कि पहले उस परमात्मा से विराट् की उत्पत्ति, ब्रह्माण्ड देह की उत्पत्ति, ब्रह्माण्ड देह से पुरुष का, चेतन का सम्बन्ध होने पर विराट् पुरुष की उत्पत्ति, आदि जीव की उत्पत्ति हुई। वह विराट् पुरुष पुनः किस प्रकार अनेक देव, तिर्यक्, मानव आदि योनियों में परिणत होता है, इसका विचार करते हुए बताया कि वह वस्तुतः परिवर्तित नहीं होता हुआ भी परिवर्तित होता है। अवतार की मीमांसा से बताया कि किस प्रकार वह बिराट् पुरुष अनंत शरीरों को परिग्रह करते हुए अनंत अंतःकरणों के अन्दर प्रतिबिम्बित हुआ भी उन सबका नियामक रहता है इसलिये स्वतः परिवर्तित नहीं होता, यह अवतार के विचार से बताया। जिस प्रकर अवतार अपने अजभाव का परित्याग किये बिना ही जायमान हो जाता है, इसी प्रकार वह विराट् पुरुष भी अनंत जीवों और अनंत अंतःकरणों

से सम्बन्धित हुआ भी स्व-स्वरूप से परिणाम-रहित रहता है। वह जो अनंत जीवरूपों में बनता है, उसको श्रीचक्र के आधार से बता रहे थे

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि।
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।।'

सृष्टि-क्रम बताते हुए पहले चार शिवतत्त्व—माया, शुद्ध विद्या, महेश्वर और सदाशिव—फिर पाँच शक्तितत्त्व, पंच महाभूत बताये। वेद-सिद्धान्त के अन्दर जड कभी भी किसी का कारण नहीं होता, जड उपाधि लिये हुए कारणता चेतन में रहती है। यह सांख्यवाद से वेदांत का मूल भेद है। भगवान् सुरेश्वर आचार्य कहते हैं कि सारे जगत् का कारण ब्रह्म ही है। यद्यपि अज्ञात ब्रह्म जगत् का कारण है, लेकिन कारण तो ब्रह्म ही है

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।'

जब कारणता का विचार करते हैं तब यह सारा द्वैत जगत् इन्द्रजाल लगता है। जाल इसलिये कहते हैं कि इसके अन्दर आदि और अंत दोनों एक जैसे होते हैं, मध्य में केवल प्रतीतिमात्र है। यही इंद्रजाल का लक्षण है जहाँ पदार्थ कुछ न हो, आदि और अंत दोनों में पदार्थ कुछ न हों, मध्य में पदार्थ की प्रतीति हो जाये। जैसे समुद्र के अन्दर पहले भी लहर नहीं, अंत में भी लहर नहीं, निस्तब्ध समुद्र रहता है, मध्य में लहर, बुद्बुदों की प्रतीति हो जाती है। अथवा जैसे स्वप्न के पहले कुछ नहीं और स्वप्न के अंत में भी कुछ नहीं, स्वप्न के मध्य में प्रतीति हो जाती है। इसी का

नाम इन्द्रजाल है। जब बाजीगर खेल दिखाना शुरू करता है तब आदि में कुछ नहीं, जब वह खेल दिखा चुकता है तब अंत में भी कुछ नहीं, मध्य में सारा खेल दिखाई दिया। ऐसे ही यह सारा द्वैत जगत् इन्द्रजाल है।

लेकिन इन्द्रजाल किस के आधार पर निर्णय करते हैं ? अज्ञान—पहले अज्ञान को ग्रहण करो, तब आगे सारा खेल आये। बाजीगर के खेल में भी यही बात है। इन्द्रजाल के अन्दर जब तक वास्तविक जगत् की दृष्टि न हटे, तब तक इन्द्रजाल नहीं दीख सकता। इसीलिये जिनका मन अत्यंत दृढ होता है, उनको इंद्रजाल दिखाई नहीं देता। उनका कहना गलत नहीं है। लेकिन जो कहते हैं कि 'हमें दीखता है' उनका कहना भी गलत नहीं है ! जैसे आँख वाले को रूप दीखेगा, बिना आँख वाले को नहीं, इसी प्रकार जिसका मन वास्तविकता से हटेगा, उसीको इन्द्रजाल दीखेगा, दूसरे को नहीं। इसी प्रकार स्वप्न तब आयेगा जब वास्तविकता से, नींद के दोष के कारण तुम दूर हो जाओगे। स्थिति बड़ी विचित्र है : पहले तुमको वास्तविक जगत् दीख रहा है, थोड़ी देर बाद नींद का पर्दा आ गया। अब तुमको जब स्वप्न की दुनिया दीखने लगती है तब तुम सोचते हो कि शायद पहले जो हमें दीख रहा था वह झूठ था और अब जो दीख रहा है, वह सच्चा है! यह विचित्र स्थिति है क्योंकि 'स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सति असद् भवेत्।' भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि स्वकाल के अन्दर, प्रतीतिकाल में वह सत्य लगता है और प्रबोध होने पर मिथ्या लगता है। स्वप्न काल में लगता है कि यह स्वप्न सच्चा है। मानो उसके पहले 'मेरी आँख के सामने कोई

पर्दा था जिसके कारण मुझे स्वप्न नहीं दीख रहा था !' जितने काल तक स्वप्न दीखता है, ऐसा नहीं लगता कि सामने पर्दा आ गया। उलटा लगता है कि 'अब पर्दा हट गया तो मुझे दीख रहा है। पहले नहीं दीख रहा था।' जब पुनः स्वप्न से वास्तविकता में आओगे, तब पता लगेगा कि वस्तुतः नींद के पर्दे के कारण स्वप्न दिखाई दिया था, स्वप्न वास्तविक नहीं था। स्वप्न दीखने के पहले जो चीज़ थी, वही सच्ची थी। यह जो पर्दे का उपादान है, पर्दे का ग्रहण अथवा सामने आ जाना है, बस यही अज्ञान है। ब्रह्म के ऊपर अज्ञान का आ जाना ही अज्ञात ब्रह्म है। उसकी वास्तविकता से दृष्टि हट गई। इसी प्रकार वास्तविकता से दृष्टि हटी, तब इन्द्रजाल दीखा। इसी प्रकार वास्तविकता से दृष्टि हटी, तब स्वप्न दिखाई दिया। रज्जु-सर्प आदि स्थल में भी रस्सी से दृष्टि हटने पर ही सर्प दिखाई देगा। रस्सी देखने वाले को सर्प नहीं दीखेगा।

अज्ञान को ही कारण नहीं मान सकते। अज्ञान स्वतः जड होने से कारण नहीं बन सकता। अज्ञान तो एक तरह का कैंसर है। ज़ख्म दो तरह के होते हैं—एक ज़ख्म नासूर का होता है जो यदि एक बार हो गया तो ऊपर से चाहे दूसरे को दीखे कि घाव भर गया है, लेकिन वस्तुतः घाव भरता नहीं। ऊपर से बन्द हो जाता है, लेकिन अन्दर ही अन्दर घाव बना ही रहता है। इसी को नासूर, कैंसर इत्यादि शब्दों से कहते हैं। घाव दो तरह के हुए, एक घाव भर जाता है, दूसरा नहीं भरता। यदि किसी तरह से एक कोने को तुमने ठीक किया भी तो दूसरी जगह फिर हो जाता है। कैंसर रोग हो जाता है तो एक जगह से डाक्टर काट कर

निकाल भी दे तो दूसरी जगह हो जाता है। जैसे लकड़ी को घुन खा जाता है, उसी प्रकार से ऐसा घाव शरीर को खा जाता है। खून में भी कैंसर होता है जिसे ल्यूकेमिया कहते हैं। उसमें थोड़े समय के लिये मनुष्य को यदि ऊपर से खून आदि दे देते हैं तो महीना-बीस दिन वह आदमी ठीक लगता है। एक बच्चे को जन्म से ही ऐसा रोग है। वह तीन-चार महीने तक धीरे-धीरे कमज़ोर होता जाता है, फिर उसके बाद दूसरा खून चढ़ा देते हैं। लगता है कि महीना-पन्द्रह दिन कोई तकलीफ नहीं हुई, लेकिन फिर वह दिया हुआ खून कम होता जाता है। खून में घुन लगने से धीरे-धीरे कमज़ोर हो जाता है। इसलिये यह नहीं समझना कि हर-एक घाव भर जाता है। वह घाव तभी भरेगा जब शरीर के अन्दर घाव होने का कारण दूर हो जायेगा।

अज्ञान ही न भरने वाला घाव है। हम जितनी संसार की कामना करते हैं, वह अज्ञान के घाव को बिना दूर किये हुए ऊपर की मलहम पट्टी से लगता है कि घाव भर गया, लेकिन अन्दर घाव बना रहता है। धन, पुत्र, स्त्री, प्रतिष्ठा आदि सब के द्वारा हम अज्ञान का घाव भरना चाहते हैं लेकिन यह घाव भरता नहीं है, अन्दर ही अन्दर जीव को घुन की तरह खाता रहता है। सारे संसार का एकछत्र चक्रवर्ती राजा होने पर भी उसके दुःख की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान का घुन खा रहा है। ऊपर से चाहे जितना कर लो, हँस भी लोगे, अपने घमण्ड को प्रकट भी कर लोगे, बाहर से तो सब कुछ कर लोगे और दूसरा तुमको उपाधि भी दे देगा कि तुम बड़े सुखी हो। देखने वाले को अन्दर का पता नहीं लगेगा। लेकिन अन्दर अज्ञान का घाव थोड़े समय

के बाद ही झट प्रकट हो जाता है। ध्यान से देखो तो पता लगता है कि इसकी हँसी में खोखलापन है, उमंग और उत्साहपूर्ण हँसी नहीं है। अज्ञान एक बहुत बड़ा घुन है। वस्तुतः जितने ग़लत ज्ञान हैं, उन विक्षेप ज्ञानों के प्रति कारण अज्ञान, आवरण है। पहले परमात्मा के ऊपर पर्दा आ गया तब वास्तविक परमात्मा नहीं दीखा। जब वास्तविक परमात्मा नहीं दीखा तब सारा जगत् दीखने लग गया, सारा विक्षेप सामने आ गया। वस्तु को गलत समझना विक्षेप और वस्तु को नहीं समझना या पर्दा आ जाना आवरण है। पर्दा आ जाने से अवस्तु दीखने लग गई। जब तक यह आवरण नष्ट नहीं हो जायेगा, पर्दा नहीं हटेगा तब तक अज्ञान रहने से विक्षेप दूर नहीं होगा। जिस परमात्मा के ऊपर आवरण आया है, जब तक उस परमात्मा के वास्तविक स्वरूप में फिर से स्थिति नहीं होगी तब तक विक्षेप बना ही रहेगा, क्योंकि आवरण बना हुआ है।

ब्रह्म अज्ञान को पकड़ता है, अज्ञान उसी के सहारे है। अज्ञान का सहारा परमात्मा ही तो है, और कोई नहीं है। घुन का सहारा पेड़ ही तो है, घाव का सहारा शरीर ही तो है। इसी प्रकार अज्ञान का सहारा भी ब्रह्म ही है, और कोई नहीं है। ब्रह्म ही इसलिये कारण है। वेद-राद्धान्त के अन्दर कारणता हमेशा चेतन में रहेगी, जड में नहीं। जड उपाधि का आश्रयण करके कारणता रहे, यह दूसरी बात है। यही कारण है कि हमारे यहाँ आकाश, वायु आदि की उत्पत्ति में भी आकाश आदि उपाधियों से विशिष्ट चेतन को ही कारण माना है। सर्वत्र चेतन-कारणता ही वेदांत में स्वीकृत है। जड की कारणता कहीं नहीं है।

'प्रभिन्नाभिः शम्भोः नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।' दो चार और पाँच तत्त्व प्रकर्षेण भिन्न होते चले गये, आपस में एक-दूसरे से मिलते हुए उनमें अनेक भेद आते चले गये। पहले उन भेदों का रूप बना 'नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः' नव मूलप्रकृतियों का रूप उसने लिया। मनुष्य के शरीर में नव धातु हैं, उनमें से कुछ शक्तिमूलक और कुछ शिवमूलक हैं। आगमों में बताया है

'त्वग्-असृङ्-मांस-मेदोस्थि-धातवः शक्तिमूलकाः।
मज्जा-शुक्र-प्राण-जीव-धातवः शिवमूलकाः।।'

त्वक् (चमड़ा), असृक्, मांस, मेद, अस्थि ये पाँच शक्तिमूलक धातु हैं। मज्जा, शुक्र, प्राण और जीव ये चार शिवमूलक हैं। मज्जा हड्डी के बीच में होती है, शुक्राणु जीव की उत्पत्ति का साधन है, प्राणस्वरूप ईश्वर, मांस और जीव अर्थात् अंतःकरण इन चार में शिव प्रधान है। पाँच शक्तिमूलक हैं, जिनमें शक्ति प्रधान है। इन्हीं से मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है। इन जड धातुओं के द्वारा ही ये सारे शरीर बनते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के शिव-तत्त्व, पाँच प्रकार के शक्तितत्त्व और उनसे उत्पन्न होने वाले नव धातु हैं। यह नहीं समझना कि एक-एक से एक-एक उत्पन्न होता है। इसलिये 'प्रभिन्नाभिः' कहा, अर्थात् सबके अन्दर मिला हुआ होगा लेकिन एक का प्रकर्ष होगा। चारों शिवतत्त्व और पाँचों शक्तितत्त्व प्रत्येक धातु में मौजूद होंगे। त्वक् के अन्दर गंध भी है, इसलिये पृथ्वी तत्त्व है, स्वाद है, इसलिये रस तत्त्व है, त्वक् दिखाई भी देती है, इसलिय रूप तत्त्व भी है, त्वक् का स्पर्श तो है ही, इसलिये वायु तत्त्व भी है, त्वक् में आवाज़ भी होती है, इसलिये शब्द तत्त्व भी है। इनमें से जितने हैं, उन सबमें नौ मौजूद

हैं लेकिन एक प्रधान और बाकी गौण हैं। यही भेद है। एक-एक की प्रधानता को लेकर एक-एक धातु बनता चला जाता है।

यह व्यष्टि और समष्टि दोनों जगह समझ लेना। यह नहीं समझ लेना कि केवल शरीर के अन्दर ही धातु हैं। जैसे व्यष्टि शरीर में, ऐसे ही समष्टि शरीर में भी धातु हैं। सर्वत्र यही नियम लगाते चले जाना। जैसे शरीर के अन्दर घावरूप घुन, ऐसे ही ब्रह्म के ऊपर अज्ञानरूप घुन, ऐसे ही समाज के अन्दर भी अज्ञान-रूप घुन स्वार्थ रूप में आता है। विचार करके देखो तो जीव अपने को समाज से अलग समझता है, द्वैत मानता है, तभी समाज में घुन लगता है कि 'मैं अपने स्वार्थ सिद्ध करूँ।' जिसकी द्वैत-दृष्टि नहीं होगी, उसकी कभी स्वार्थ-दृष्टि बन नहीं सकती। 'मेरे पुत्र के पास धन गया तो ठीक, नौकर के पास धन गया तो ग़लत हुआ। पुत्र ने दो घण्टे काम किया, तो बीस हज़ार का अधिकारी और नौकर ने बीस घण्टे काम किया तो भी दो सौ का अधिकारी नहीं।' द्वैत-बुद्धि आने पर ही यह बुद्धि आयेगी। बिना स्वार्थ के द्वैत नहीं। जिस समाज में द्वैतबुद्धि बढ़ती चली जायेगी, उतना ही वह समाज स्वार्थ से पतित होता जायेगा। जैसे वहाँ अज्ञान को हम ढाँकना चाहते हैं, वैसे ही यहाँ भी हम स्वार्थ को ढाँकना चाहते हैं। इसलिये समाज के अन्दर आये हुए द्वैत को छिपाने के लिये हम उसमें अनेक कारण बताते हैं कि अपने-अपने प्रारब्ध से कोई बड़ा, कोई छोटा होता है। जब चोर तुम्हारी चोरी करके ले गया तो अपने ही प्रारब्ध से ले गया। यदि तुम्हें प्रारब्ध से मिला तो चोर को भी प्रारब्ध से ही मिला। लेकिन वहाँ तो प्रारब्धवाद है और मज़दूर या काम करने वाले के साथ द्वैत

है। उसको पुष्ट करने के लिये एक द्वैतवाद खड़ा कर देते हैं।

बहुत-से लोग कहते हैं कि आजकल जात-पांत कोई नहीं मानता। हम उनसे एक बात पूछते हैं कि मान लो किसी वैश्य के घर में भोजन का निमंत्रण है। हमारे साथ कोई ब्राह्मण गया हुआ है। यह हमने खुद अनुभव करके देखा है। वहाँ जाकर ब्राह्मण ने कहा कि 'मैं तो खाली फल लूँगा क्योंकि चावल की कच्ची रसोई नहीं खाऊँगा।' वर्णाश्रम के अभिमान को रखने वाला वैश्य कहता है—'क्या हम कोई अछूत हैं जो नहीं खाओगे ?' इस पर भी ब्राह्मण कहता है कि 'मैं कच्चा नहीं खाऊँगा।' क्या वैश्य को चोट लगती है या प्रसन्नता होती है ? चोट लगती है कि क्यों नहीं खाते। जिस शास्त्र ने भोजन का नियम बनाया और कहा कि इसका पानी पियो, इसका नहीं, वहाँ यह भी कहा है कि ब्राह्मण वैश्य के हाथ का न खाये। जहाँ वैश्य का शूद्र के साथ खाने का प्रश्न होता है वहाँ शास्त्र याद करते हैं, लेकिन ब्राह्मण को साथ खिलाने में स्मरण नहीं करते। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र वैश्य को आदर न दे तो उसके दिल में चोट लगती है, कहते हैं कि 'वर्णाश्रम व्यवस्था ऐसी हो गयी है, ये हमें कुछ नहीं समझते हैं।' वही वैश्य जब क्षत्रिय के सामने जाता है तब क्या उसको अपने से उत्कृष्ट मानता है ? शास्त्र ने क्षत्रिय को वैश्य से ऊपर माना है। लेकिन वहाँ नहीं स्वीकारते। धर्मशास्त्र तो एक ही है। कहते हैं कि 'यह कैसा क्षत्रिय है, यह तो दुकान करता है, बनिया है। यह भी कोई ब्राह्मण है, यह हमारी तरह दुकान करता है। अब हम इन्हें वैसी मर्यादा कैसे दें ?' हम कहते हैं कि फिर यही नियम सर्वत्र मानो। जिसे अनुसूचित जाति का कहते हो वह दुकान करे

तो उसे वैश्य मानो; यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यभाव को प्राप्त कर जायेंगे तो शूद्र भी वैश्यभाव को प्राप्त कर जायेगा। जब ब्राह्मण, क्षत्रिय को हम नीचा करना चाहते हैं, तब कर्म और गुण से जात या वर्ण-व्यवस्था और शूद्र के लिये जन्म से वर्णाश्रम व्यवस्था मानते हैं ! इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था को हमने नष्ट किया, क्योंकि हमारे अन्दर सही भावना नहीं है।

धर्मशास्त्रों का प्रयोग और उपयोग हम अपने स्वार्थों की सिद्धि करने के लिये करते हैं। इसीलिये हम अपने स्वार्थों को छिपाने के लिये प्रारब्ध, परमेश्वर की इच्छा, शास्त्रादि का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि अन्दर से स्वार्थ-घुन खाता चला जाता है। समाज की विशृंखलता बढ़ती चली जाती है। इसी स्वार्थ के कारण राजा का प्रजा से विरोध है, दोनों के अपने-अपने स्वार्थ हैं। राज्य अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। दूसरी तरफ प्रजा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहती है। बड़ी विचित्र परिस्थिति है। लोग कहते हैं कि भारत के अन्दर अणुबम बने। लेकिन किस से बनेगा? पैसा लगने से बनेगा। पैसा कहाँ से आयेगा ? टैक्स देने से आयेगा। लेकिन सरकार टैक्स न ले! दोनों स्वार्थ हैं। पुलिस हमारी रक्षा करे। आजकल पुलिस हमारी रक्षा नहीं करती है। पुलिस रक्षा तभी करेगी जब उसे वेतन मिलेगा और वह वेतन तुम्हारे टैक्स से मिलेगा। लेकिन प्रजा की चिंतन-प्रणाली है कि हम टैक्स न दें और राजा यह सारा काम कर ले। उधर राजा सोचता है कि हम इससे टैक्स तो सारे लें लेकिन न जनता को पुलिस का रक्षण और न देश को दूसरे देश के आक्रमण से बचायें। यही सारी खींचतान है।

जैसे अज्ञान ब्रह्म का घुन, ऐसे ही अज्ञान से जन्य स्वार्थ, द्वैत-दृष्टि समाज का घुन है। उसी प्रकार से अपने अंतःकरण में जो अज्ञान है, किसी चीज़ को गलत समझ लिया, तो वह व्यक्ति का घुन हो जाता है। यहाँ 'व्यक्ति' से आत्मा को नहीं लेना बल्कि सामान्य दृष्टि से जीव लेना। आत्मा की दृष्टि तो बता दी कि अनंत काल से अनंत पदार्थों की प्राप्ति हुई, लेकिन उनसे घाव भरा नहीं, यह आत्मा की दृष्टि है। जीव की दृष्टि से भी हमारा आनंद इसलिये नहीं हो पाता कि हमने अपने अन्दर द्वैत बना रखा है। 'इस कामना और वासना को अंतःकरण ने किया, हाथ ने किया, पैर ने किया अर्थात् अलग-अलग ने अलग-अलग काम किया, मैंने कुछ नहीं किया।' यह वेदान्त का विरोध हुआ या समर्थन ? वेदान्त कहता है कि कारण चेतन है। अगर यह कहते हो कि 'आँखरूप बना हुआ मैं इसका कारण हूँ, अंतःकरणरूप मैं कारण हूँ', तब तो ठीक है। कारणता को जड में प्रतिपादित कर दिया तो वेदांतविरुद्ध स्थिति हो गई। अंतःकरण तो जड है, वह अपनी बुराई दूर नहीं कर सकता। चेतन कहता है कि मुझ में इसकी बुराई है ही नहीं तो दूर क्यों करूँ ?

समाज के अन्दर राज्य को दोष दिया जाता है कि 'मैं क्यों दूर करूँ, राजा करे।' चुनाव हुए छह महीने नहीं हुए लेकिन शोर मचाने लग गये हैं कि राजा कुछ नहीं करते अभी छह महीने पहले क्या किया था, क्या कह रहे थे ? मानते हैं कि राजा कोई एक पदार्थ है जो अपना सुधार करे। राजा को तो हम बनाते हैं। कहते हैं कि चुनाव के समय तो घूस आदि देकर फँसा लेते हैं ! कहो कि 'हमने अपने आपको फँसाया।' प्रजा की दृष्टि से राजा जड

है क्योंकि प्रजा द्रष्टा और राजा दृश्य हो गया। जैसे वेदांत-दृष्टि से घड़े के प्रति आँख चेतन है। तभी कहते हो कि आँख देख रही है अर्थात् चेतन-प्रकाश से युक्त हुई आँख देख रही है। घड़े के प्रति कामना चेतन है। घड़ा जड है। लेकिन आँख स्वयं मन के प्रति जड हो जाती है। क्योंकि मन कहता है कि 'मेरी आँख ठीक नहीं है, साफ़ नहीं दीख रहा है।' मोतियाबिन्द को मन देखता है। इसलिये यह नियम नहीं कि आँख हमेशा जड या चेतन हो। घट की अपेक्षा से आँख चेतन और मन की अपेक्षा से आँख जड है। आँख की अपेक्षा से मन चेतन है लेकिन साक्षी की अपेक्षा से मन भी जड है। 'आज मन नहीं लगा', इस बात को मैं साक्षी जानता हूँ। ध्यान करने बैठा, मन नहीं लगा। इसी प्रकार राजा को बनाने वाली प्रजा है। इसलिये प्रजा की अपेक्षा राजा दृश्य (जड) है। स्वयं राजा की दृष्टि से प्रजा भोग्या है, इसलिये प्रजा जड है। ये दोनों ही अपने चेतन-कारणता को नहीं लेते, इसी कारण समाज में द्वैत की दृष्टि बनी, फिर सुधार कौन करे ? जैसे व्यक्ति-जगत् के अन्दर अंतःकरण को अंतःकरण तो सुधार नहीं सकता क्योंकि जड है और चेतन को तुमने अलग कर दिया तो अब कौन सुधारेगा ? इसी प्रकार प्रजा ने अपने को राजा से अलग कर लिया और राजा ने अपने को प्रजा से अलग कर लिया तो अब कौन सुधारे ? यदि प्रजा कहती कि 'हम राजा का निर्माण करने वाले हैं' तो वह राजा को सुधार देती। यदि राजा कहता है कि 'मैं प्रजा को सुख देने वाला हूँ' तो वह प्रजा का सुधार कर लेता। लेकिन यहाँ दोनों एक-दूसरे पर दोष देते हैं। जडांश को दोष दे रहे हैं, चेतनांश को नहीं।

व्यक्ति और समाज में ऊपर से लेकर नीचे तक सर्वत्र यह देखते जाना। पिता कहता है कि लड़का बिगड़ रहा है। लड़के को कौन सुधारे ? लड़का पिता के लिये भोग्य जड है और लड़के के लिये पिता भोग्य है। जब पिता कहता है कि लड़का बिगड़ रहा है तो जड में कारणता बता रहा है, वेदांत के अनुसार नहीं बोल रहा है। वेदांत के अनुसार बोलेगा तो दृष्टि बनेगी कि मैंने लड़के को बिगाड़ा है। जब लड़का कहता है कि 'पिता जी बात नहीं समझते' तो वह पिता को जड समझकर उस पर दोष डाल रहा है। छोटे से बड़े पर्यन्त सर्वत्र जब दृश्य और द्रष्टा का सम्बन्ध ठीक प्रकार से समझ में आयेगा तब पता चलेगा कि कारण चेतन है, जड नहीं। भले ही चेतन जड अज्ञान का आश्रयण करके ही कारण हो, लेकिन कारण चेतन ही है। 'मेरे मुँह से बात गलत निकल गई।' बात तो मुँह से ही निकलेगी ! लेकिन जब चेतन उसके साथ है, तभी मुँह से बात निकली। इसीलिये वेदांत-दृष्टि वाला कभी यह नहीं कहता कि 'मुँह से बात निकल गई।' वह कहता है कि 'मुझ से भूल हो गई।' भूल को स्वीकारने में उसे एक क्षण का संकोच नहीं होता। हो सकता है कि उसने अच्छे भाव से बात कही, क्योंकि कई बार ऐसा होता है कि हमारा भाव बिल्कुल ठीक था और बात कह दी, लेकिन सामने वाले ने गलत समझ ली। तब कहता है 'मैं क्या करूँ, मैंने तो ठीक कहा था।' वेदान्ती यह नहीं कहता। वह कहता है कि मैं जिसको सुना रहा था, मैंने क्यों नहीं उसके अंतःकरण को पहले से ही टटोला कि इस शब्द का इस पर क्या असर पड़ेगा ? इसलिये वह कभी नहीं कह सकता कि 'मैंने तो ठीक कहा था, तुमने गलत समझा है।'

उसकी दृष्टि है कि यहाँ तक तो ठीक है कि मेरा भाव ठीक था लेकिन मैंने शब्द गलत चुना और बोलने का तरीका गलत चुना इसलिये भूल मेरी ही है। उसका प्रायश्चित्त मुँह नहीं, मैं करूँगा। वेदांत की दृष्टि से सारी चीज़ों में विचार-सरणि परिवर्तित होने लगती है।

इसका सर्वप्रथम परिणाम यह होता है कि मनुष्य कभी अपने आपको असहाय अनुभव नहीं करता। जब तक जड को कारण मानेगा, तब तक असहाय अनुभव करता है। अंतःकरण अपने को बदलेगा नहीं तो मेरा क्या बनेगा ? मैं तो वैसे ही शोक-मोह में पड़ा रहा ! 'प्रजा नहीं बदलेगी तो मैं क्या करूँगा, अकेला राजा गरीबी नहीं हटा सकता'—यह असहायता हुई। इसी प्रकार, 'प्रजा अकेले क्या कर सकती है, राज्य वाले सब मिलकर ही कुछ कर सकते हैं'—यह असहायता अनुभव करते हैं, क्योंकि परमुखापेक्षी हैं, दूसरे के अधीन हैं। लेकिन चेतन को कारण मानने वाला असहाय अनुभव नहीं करता, क्योंकि जानता है कि मुझे करना है, मेरा करना मेरे हाथ में है। वह उसी क्षण से अपना कार्य प्रारम्भ कर लेता है। उसने कितनी भी बड़ी गलती कर ली हो, लेकिन कहता है कि 'मैंने की है। न अंतःकरण ने और न किसी और ने की है बल्कि अंतःकरण, अज्ञान और स्वार्थ के द्वारा मैंने की है। चूँकि मैंने की, इसीलिये धीरे-धीरे इसे सुधार कर इससे हट जाऊँगा।' यह रोग का निवारण हो गया।

यह घाव दूसरी चीज़ों से भरने वाला नहीं है। बाहर से चाहे जितनी बढ़िया मलहम-पट्टी दिखाई दे, ऊपर से घाव चाहे नज़र न आये, लेकिन वह अज्ञान का घाव कभी भरने वाला नहीं है

जब तक कि ज्ञान के द्वारा उसका मूल कारण अज्ञान नष्ट न हो जाये। जब तक रोग नष्ट न हो जाये, जिस कारण से यह पर्दा आ गया है, वह जब तक न हट जाये, जो वास्तविकता पहले थी वह जब तक फिर से प्रकट न हो जाये, पूरी तरह से जब तक वही स्थिति न हो जाय जो 'ततो विराड् अजायत' या 'सदेव सौम्य' से बताई कि 'उस समय एक अद्वितीय अखण्ड परब्रह्म परमात्मा था और अज्ञान का पर्दा आने से द्वैत दृष्टि बंनी है', जब तक अज्ञान ज्ञान से हटकर वैसी ही एकता न आ जाये, वैसा ही अद्वैत फिर से कायम न हो जाये, तब तक यह घाव और किसी चीज़ से नहीं भरना है। ज्ञान से ही यह घाव भरना है। पुनः अद्वैत, अखण्ड तत्त्व में स्थिति होने से ही घाव भरना है और किसी दवाई से नहीं।

इसीलिये यहाँ कहा 'प्रभिन्नाभिःशम्भोः नवभिरपि मूल-प्रकृतिभिः' इन नव को मूल प्रकृति बताया क्योंकि यह अज्ञान ही वह मूल है जिसके कारण प्रकर्ष से ये सारी परिस्थितियाँ अर्थात् विक्षेप-जगत् उत्पन्न हो गया है। इसी के कारण अनंत कोटि ब्रह्माण्ड में अनंत वेदनायें (पीडायें) हुई हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इसी कारण सिवाय क्रन्दन के और कुछ सुनाई नहीं देता। इतना बड़ा विक्षेप मूल प्रकृति से हो रहा है। अज्ञात ब्रह्म ही इसके प्रति कारण है। जैसे ही ज्ञान के द्वारा इसका निराकरण हुआ वैसे ही मूल प्रकृति भंग हो जाती है।

प्रवचन-१९

ब्रह्माण्ड देह, विराट् पुरुष की उत्पत्ति के बाद जगत् का विस्तार किस प्रकार से होता है, यह बता रहे हैं। जगत् के विस्तार में तैंतालीस तत्त्व आगे बढ़ते हैं। अथर्ववेद ने भगवती का वर्णन करतें हुए कहा 'एका सा आसीत् प्रथमा सा नवासीत्'; वहीं 'चत्वारिंशद् अथ तिस्रः' यों चालीस और तीन अर्थात् तैंतालीस तत्त्व शक्ति का स्वरूप बताये हैं। बिन्दुरूप शिव को मिलाकर चवालीस हो गये। तैंतालीस तत्त्वों का विकास बताया—पंच महाभूत, उनमें होने वाले पाँच गुण (रूप, रस आदि), उनसे उत्पन्न होने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, अंतःकरण-चतुष्टय, इनके आपस में मिलने से उत्पन्न पाँच कोष, मूलाविद्या, पुरुष, जीव, राग, द्वेष, शुद्ध विद्या, कला, नियति और काल। महेश्वर को मिला देने से 'चतुश्चत्वारिंशत्' चवालीस तत्त्व हो गये। महेश्वर से यहाँ सदाशिवतत्त्व समझना। यह विस्तार हुआ। इन्हें बिन्दु (दल) की तरफ कैसे ले जाया जाय ?

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोः नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः।।'

पहले आठ दल मिलते हैं। इन आठ दलों का तात्पर्य है—विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और

श्रद्धा। जब कोण से बिन्दु की तरफ चले तो ये आठ दल मिले। उसके बाद सोलह कलायें हैं। सोलह अश्र अर्थात् दल हैं। वैसे 'दल' और 'अश्र' में किंचित् भेद ज़रूर करते हैं : वह किंचित् भेद इतना ही है कि यदि कमल या गुलाब के फूल को ध्यान से देखो तो बाहर की अपेक्षा अंदर वाले दल छोटे होते हैं, उसकी अपेक्षा और अन्दर के छोटे होते हैं। अन्दर वाले इन छोटे दलों को 'अश्र' और बाहर वालों को 'दल' कहते हैं। वस्तुतः एक ही हैं। इसी प्रकार बाह्य साधनक्रमों की अपेक्षा वे साधन क्रम चूँकि आंतरिक पड़ते हैं इसलिये उन्हें यहाँ कलाश्र कह दिया। इन षोडश दलों को षोडश विद्या कहते हैं। जब मनुष्य श्रद्धा को प्राप्त कर ले तब उसका विद्या में प्रवेश होता है।

हमारे यहाँ विद्या का कुछ विशिष्ट अर्थ है। विद्या का अर्थ 'पढ़ना' जो आजकल के लोग समझते हैं, वह हमारे यहाँ नहीं है। विशेषकर वैदिक ग्रंथों में यह अर्थ नहीं है, परवर्ती ग्रंथों में कुछ थोड़ा भेद मिल जाता है, लेकिन वैदिक ग्रंथों में विद्या का विशिष्ट अर्थ है। 'सा विद्या या विमुक्तये।' जो मोक्ष को दे, वह विद्या है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' जो अमृत तत्त्व को दे, उसी को हम लोग विद्या कहते हैं। उससे भिन्न को हम लोग अविद्या कहते हैं।

इसीलिये भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ने काण्व उपनिषद् में अविद्या का अर्थ कर्म किया है और विद्या का अर्थ उपासना किया है। इसमें बहुत बार लोग गड़बड़ा जाते हैं। चूँकि कर्म मनुष्य को बंधन की तरफ ले जाते हैं, इसीलिये उसे अविद्या कहते हैं। यहाँ दोनों ही जगह वाच्यार्थता नहीं है, लक्षणा है। साक्षात् मोक्ष

का हेतु ज्ञान है। ज्ञान का लाभ कराने वाला होने से उपासना को भी विद्या कह दिया। विद्या का असली अर्थ ज्ञान होना चाहिये था लेकिन ज्ञान के नज़दीक होने के कारण लक्षणा के द्वारा उपासना को विद्या नाम से कह दिया। जहाँ एक बात कही जाये और पास वाली बात समझ ली जाये उसे लक्षणा कहते हैं। जैसे लोक में कहते हैं कि 'बम्बई समुद्र पर है।' यह कभी नहीं हो सकता ! बम्बई तो शहर है और समुद्र का मतलब तो पानी है। इसलिये वहाँ 'समुद्र' का मतलब है समुद्र का किनारा; पास ही पड़ता है इसलिये वैसा नाम पड़ गया। इसी को लक्षणा कहते हैं। व्यवहार में बहुत-सी जगह हम लोग लक्षणा का प्रयोग करते हैं। किसी मकान में बड़ी तरेड़ आ जाये तो कहते हैं कि 'यह मकान गिरना ही चाहता है।' मकान कोई आदमी तो नहीं है जिसमें गिरने की चाहना होती हो, वह तो जड है। यहाँ पर भी लक्षणा है। 'गिरने वाला है' इस अर्थ में 'गिरना चाहता है' कह दिया। इसी प्रकार यहाँ भी उपासना में ज्ञान की लक्षणा है। मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान और ज्ञान का साधन उपासना है। 'अविद्या' का प्रधान अर्थ अज्ञान है। लेकिन अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण और अज्ञान की तरफ ले जाने वाला होने के कारण कर्म को अविद्या कह दिया। यहाँ भी लक्षणा है।

हमारे यहाँ चौदह विद्याएँ मानी हैं। वे सभी साक्षात् या क्रम से मोक्ष की तरफ ले जाती हैं। इनसे अतिरिक्त मोक्ष का साधन न होने के कारण जिसे तुम लोग विद्या कहते हो, उसे हम लोग अविद्या कहते हैं। 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां' ज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रियों का उपशमन करे। इन्द्रियों को विषयों की

तरफ ले जाने के तरीके से, जैसे अखबार या मासिक पत्रिका इत्यादि से अज्ञान बढ़ेगा। लोग कहते हैं कि बाइस्कोप में जाकर ज्ञान होता है। लेकिन वहाँ ज्ञान नहीं अज्ञान होता है क्योंकि नये-नये कपड़ों को देखकर कहोगे कि 'हम भी ऐसा पहनें', नया सोफासेट देखकर होता है कि 'हमारे घर में भी ऐसा होवे'; ये सारे अज्ञान के साधन हैं। हम यह नहीं कह रहे हैं कि ये सब नहीं देखना या नहीं खरीदना चाहिये लेकिन इतना जान लेना चाहिये कि ज्ञान और अज्ञान किसे कहते हैं। जो इन्द्रियों को उपशांत करे, उसी को ज्ञान कहा जाता है।

यहाँ जिन विद्याओं को सोलह विद्या के नाम से कहा गया है, वे इन्द्रियों को प्रशान्त करके परमात्म-मार्ग में ले जाने वाली होने से विद्या हैं, बाकी अविद्या हैं। षोडश विद्याओं के अन्दर सबसे प्रधान वेद है, क्योंकि मोक्ष का साधन साक्षात् वेद ही है। श्रुति वाक्य से अतिरिक्त और कोई मोक्ष या ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं है। इसका कारण भी बताते हैं—कोई भी पुरुष परमात्मा का उपदेश कभी नहीं कर सकता। कोई उपदेश इसलिये नहीं कर सकता कि परमात्मज्ञान-काल के अन्दर अंतःकरण नहीं रहता है। अंतःकरण अध्यस्त है। ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होने के बाद अन्य अज्ञानों को नष्ट करने के साथ स्वतः अपने उपादान कारण को भी नष्ट कर देगी। इसलिये ब्रह्मज्ञान होने के बाद जब अज्ञान नष्ट हो जायेगा तो अन्तःकरण कहाँ से बचेगा, वह भी नष्ट हो जायेगा। यदि कहते हो कि 'जीवन्मुक्त देखते हैं, इसलिये हम अज्ञान का कार्य मान लें', तो वहाँ भी उसका उपादान कारण अविद्यालेश मानना पड़ेगा। भगवान् भाष्यकार और उनके

अनुयायियों के ग्रंथों में अविद्यालेश, अविद्यागन्ध, अविद्याछाया, अविद्याविशेष आदि शब्द एकार्थक ही हैं। यदि किंचित् अविद्या की अनुवृत्ति तुमने मानी तो तुमको हुआ ज्ञान पूर्ण नहीं ! दूसरी बात; यदि कहो कि अज्ञान सर्वथा नष्ट हो गया तो अध्यस्त भी सर्वथा चला गया। जब अध्यस्त चला गया तब अज्ञान और शिष्य कहाँ रह गये ? अब किसे उपदेश किया जाये ? इसलिये आत्मज्ञान को स्वीकार करने के बाद न उपदेष्टा की स्थिति अंतःकरण में बनती है और न उपदेश्य की स्थिति बनती है जिसे उपदेश किया जा रहा है। यदि उपदेष्टृ-उपदेश्य भाव है तो ज्ञान की पूर्णता नहीं है।

इसलिये उपदेश का तरीका वेद में बार-बार बताया। केनोपनिषद् में उपदेश करते हुए कहते हैं कि 'जिन्होंने हमें उपदेश किया था, उन्होंने हमें ऐसा बताया था।' गुरु अपने ऊपर नहीं लेते हैं कि 'मैं ऐसा कह रहा हूँ।' यह उपदेश देने का तरीका है। गुरु का स्वात्मानुभव पूर्ण नहीं है, ऐसा नहीं कह रहे हैं, लेकिन उसे प्रकट करने के लिये वे स्वयं असमर्थ हैं। 'इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।' हमारे पूर्वजों ने इस बात को हमें बताया था, यह वेद-वाक्य है। इसका मतलब है कि जब भी कोई उपदेश देगा, वह पूर्व की ही बात कहेगा। जितना पूर्व-पूर्व चले जाओ, आचार्य यही कहेंगे कि 'हमारे पूर्व ऋषियों ने यह बात कही थी जिन्होंने इस तत्त्व को हमें सिखाया।' गुरुवाक्य वेदवाक्य है। उनके गुरु ने भी उन्हें वेदवाक्य सिखाया था। शतपथ ब्राह्मण में कहा है 'स्वयंभुब्रह्मणे नमः' वेदवाक्य ही एकमात्र स्वयंभू है। यह वेद की अपौरुषेयता है।

ब्रह्मज्ञान के प्रति साक्षात् कारण वेद-वाक्यों को या संवित् को पड़ना है और विद्या का मूल चार वेद हैं। हर वेद के दो खण्ड होते हैं—१. मंत्र भाग और २. ब्राह्मण भाग। वेद को समझने के लिये जिन की ज़रूरत पड़ती है उन्हें भी विद्या कह दिया जाता है। वेदों का अर्थ करने के लिये व्याकरण की बड़ी ज़रूरत है। शब्द का निर्माण कैसे हुआ ? इसका तात्पर्य क्या है ? प्रत्येक मंत्र में कितने अक्षर, कितनी मात्रायें हैं ? यह जानने के लिये छंदश्शास्त्र की ज़रूरत है, उसे भी जानना पड़ेगा। इसी प्रकार किस-किस मंत्र का किस प्रकार विनियोग है, इसे जानने के लिये कल्पसूत्रों की ज़रूरत है। वेद में कर्तव्य कर्मों को करने के लिये काल बताया है। काल का निर्णय करने के लिये ज्योतिषशास्त्र की ज़रूरत है। यह भी पता लगाना पड़ता है कि संदर्भानुसार शब्द का अर्थ कैसे किया जाये। कई शब्दों के अर्थ संदर्भ के बिना केवल व्याकरण के बल से निर्णीत नहीं होते। संदर्भों में शब्दों के अर्थ निकालने का तरीका निरुक्त है। इन सब चीज़ों को जानो तब वेद का अर्थ ठीक लगेगा। ये सब मिलकर छह हो गये, इन्हें वेदांग कहते हैं।

इतने ज्ञान से वेद के अक्षरार्थ का पता लग गया लेकिन वेदों का तात्पर्य समझने के लिये ये पर्याप्त नहीं हैं। वेद का तात्पर्य समझने के लिये पुराण, न्याय, धर्मशास्त्र और मीमांसा की ज़रूरत पड़ती है। पुराण से यहाँ इतिहास-पुराण दोनों का संग्रह है। इतिहास मायने 'ईश्वरी प्रसाद का इतिहास' नहीं समझना ! वाल्मीकि रामायण और व्यास जी का महाभारत, इन दो को ही हम इतिहास कहते हैं। यहाँ तक लिखा है कि 'बिभेत्यल्पश्रुताद्

वेदः मामयं प्रहरिष्यति' जिस व्यक्ति ने वेदांग, पुराण, न्याय, धर्म-शास्त्र और मीमांसा का अध्ययन नहीं किया वह केवल अक्षरार्थ के बल से जब वेद का अर्थ करता है तो जो वेद संसार के मूल कारण अज्ञान को भी नष्ट करने में समर्थ है, वह भी काँप जाता है। 'अल्पश्रुतात्' अर्थात् इन ज्ञानों को प्राप्त किये बिना जो वेद का अर्थ लगाने जाता है उससे 'वेद' को डर लगता है कि अब यह मेरा वध करने आ गया ! आजकल अधिकतर लोग कहते हैं कि 'वेद ही पढ़ना है तो सीधे पढ़ लें।' ऐसे लोगों से वेद ही बेचारा काँपता रहता है कि न जाने कहाँ का कहाँ अर्थ कर जायेंगे ! वेद का तात्पर्य बताने में ये चारों शास्त्र भी ज़रूरी हैं। इतिहास, पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण करना पड़ता है। पुराण के अन्दर सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि कथानकों के द्वारा पता लगता है कि वेद के अमुक मंत्र का क्या तात्पर्य है जिसको उन ऋषियों ने बताया।

न्याय शास्त्र ने बताया कि जो-जो युक्तियाँ वेद ने दी हैं, उन्हें कहाँ और कैसे लगाना चाहिये। नहीं तो लोग युक्तियाँ बजाय ठीक जगह लगाने के उल्टी जगह लगा देते हैं। एक गुजराती सज्जन थे। गुजराती बहादुर कम होते हैं। वह व्यापार के चक्कर में कहीं ऐसी जगह फँस गया जहाँ डाके बहुत पड़ने लगे। उसने सोचा कि कुछ इन्तजाम करना चाहिये। वहाँ के लोगों से सलाह ली तो उन्होंने कहा कि 'इसमें क्या है, घर में हथियार रखना चाहिये।' वह व्यापारी आदमी था, झट कागज़ पैंसिल निकाली और नोट करने लगा कि क्या-क्या हथियार होते हैं। लोगों ने कहा—'बंदूक, तलवार इत्यादि रख लो।' उसने नोट कर लिया

और मुनीम जी से कह दिया 'बढ़िया से बढ़िया माल लाना।' मुनीम जी जाकर बढ़िया से बढ़िया बंदूक ले आये, लाइसेन्स भी बन गया और सिरोही की बनी सुन्दर तलवार भी आ गई। सोचने लगा कि अब बढ़िया इन्तजाम हो गया। थोड़े ही दिन बाद सेठ पर डाकुओं की चढ़ाई हो गई। घर वाली ने कहा 'कुछ इंतजाम करना चाहिये।' कहने लगा—'बिल्कुल, पूरा इन्तजाम है।' उसने बन्दूक से कहा—'पाँच सौ वाली बंदूक ! सम्भाल इनको।' लेकिन उसने क्या करना था ! कहा—'धोखा हो गया।' अब तलवार से कहा 'तू ही आगे बढ़।' उससे भी क्या होना था ! तब तक डाकू लोग माल लेकर भाग गये। इसने गुस्से में तलवार म्यान से निकाली, कहा—'क्या बात है ? तूने काम क्यों नहीं किया ? सारे रुपये खा गई !' गुस्से के मारे लात मारी तो उसका अपना ही पैर उड़ गया ! डाक्टर को बुलाया गया। जिसे शस्त्र चलाने का तरीका न आये तो वह किसी दिन अपने ही पैर को काट देता है। इसी प्रकार वेदों में अनेक युक्तियाँ हैं। वे युक्तियाँ ऐसी हैं कि ग़लत ढंग से प्रयोग करो तो जिस बात को वेद सिद्ध करना चाहता है उसको ही काट जाओगे। इसलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्' दुस्तर्कों से दूर रहना। दूर इसलिये रहने को कहा कि यदि दूर नहीं रहोगे तो किसी न किसी दिन अपने पर घाव कर जाओगे। वेद में जिस सिद्धान्त को बताया है, उसकी पुष्टि करने वाले तर्कों को सोचना, उसका ही खण्डन करने वाले तर्कों को नहीं सोचना, नहीं तो उलटे रास्ते पड़ जाओगे। वेद-सिद्धांत को सिद्ध करने वाले तर्कों का तो विचार करना, उनका अनुसंधान

करना अर्थात् उन्हें खोज-खोज कर निकालना। लेकिन उलटा नहीं कि वैदिक तर्कों से वेद का ही खण्डन करने चल पड़े। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ने जहाँ नैयायिक मत का खण्डन किया है वहाँ कहा है कि इन्होंने श्रुतियों से ही ईश्वर-सिद्धि के तर्कों को निकाला और बाद में अपना स्वतंत्र सिद्धांत बना दिया और उसी वेद में कही हुई ईश्वर-जीव एकता को उन्होंने हटा दिया। यदि वैदिक तर्कों को ठीक प्रकार से काम में नहीं लोगे तो ग़लत जगह काम कर जायेंगे। दूसरी जगह भी कहा है 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्' तर्क करो, कुतर्क मत करो। स्वयं भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्रों में एक सूत्र ही बना दिया 'तर्काप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। भगवान् भाष्यकार अपने भाष्य में लिखते हैं कि यदि संसार के सारे तार्किकों को—जो अनादिकाल से आज तक हुए और भविष्य में आने वाले हैं सारे तार्किकों को—एक जगह इकट्ठा किया जाये, जो कि असंभव है, क्योंकि कुछ लोग साल भर पहले मर गये और कुछ होंगे जो साल बाद पैदा होंगे! फिर भी कहते हैं कि वर्तमान, भूत और भविष्य के तार्किकों को यदि इकट्ठा किया जाये, तब तो निर्णय हो सकता है कि 'तर्क का यह उत्तर है या तर्क के द्वारा इस विषय का यह उत्तर है।' पहले जो तर्क दिये गये, बाद में आने वालों ने उनका खण्डन किया। यह कभी पता लगने वाला नहीं कि भविष्य में आने वाला क्या जवाब देगा। अतः जब तक समस्त तार्किक एकत्र होकर एक निर्णय न दे दें तब तक तर्कानुसारी निश्चय पर पहुँचा नहीं जा सकता। संसार समुद्र को पार करने की, परमात्मा को प्राप्त करने और परमानन्द की प्राप्ति करने की नौका इतनी कमज़ोर

करके चलोगे तो काम नहीं चलेगा। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने सूत्र बनाया कि तर्क चीज़ को समझने का उपाय है, तथ्य का निर्णय तर्क नहीं कर सकता।

आज के युग की सबसे बड़ी भूल ही यह है कि हम लोगों ने यह मान लिया है कि हमारी बुद्धि का निर्णय कुछ अच्छी बात बता सकता है। हमने तर्क और बुद्धि को ही सब चीज़ों का निर्णायक मान रखा है। तर्क निर्णय में सहायता तो कर सकता है, स्वयं निर्णय करने में असमर्थ है। निर्णय वेद का है। लोक में भी देख लो कि आँख से हमने कोई चीज़ देखी तो उसे समझने के लिये बुद्धि काम दे सकती है। लेकिन अंधे की कितनी भी बुद्धि हो, वह निर्णय नहीं कर सकता कि अमुक रंग का कपड़ा यहाँ है या नहीं। यह निर्णय तो आँख ही करेगी। बुद्धि का काम होता है किये हुए अनुभव की व्यवस्था बनाना। बुद्धि स्वयं अनुभव को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।

पुराण के द्वारा पता लगा कि वेद में आई हुई सृष्टि, सहांर, कथानक आदि का वास्तविक तात्पर्य क्या है। न्याय से पता लगेगा कि वेद की युक्तियों का उपयोग कैसे करना चाहिये। धर्मशास्त्र के द्वारा पता चलेगा कि वेद में कहे हुए कर्तव्य को किस प्रकार करना चाहिये। मीमांसा से पता चलेगा कि वेद में बताये हुए विषय समझने के लिये, वाक्यों का अर्थ कैसे किया जाये, कौन-कौन से प्रकरणों को आपस में कैसे मिलाया जाये आदि। वेद सीधे-सीधे ईश्वर को एक ही स्थल पर नहीं बताता। समझाने का अपना-अपना तरीका होता है, प्रथम मण्डल में कुछ कह दिया, उसका दूसरा हिस्सा द्वितीय मण्डल में तो तीसरा सामवेद में कह

दिया ! बच्चों के खिलौने आते हैं; कुछ चीज़ें रख देते हैं और कहते हैं 'इनसे एक मकान बनाओ।' उसे जोड़ते जाओ। जिसे पता है कि मकान क्या होता है, वह तो इन टुकड़ों को जोड़कर मकान बना लेगा। जिसे पता ही नहीं है कि बनाना क्या है वह चाहे जितना जोड़ता रहे, मकान की शक्ल बनने वाली नहीं है। इसी प्रकार यदि मीमांसा का पता है कि वेद के कौन-कौन से खण्डों को मिलाकर कौन-सा चित्र तैयार होना है, तब तो काम हो जायेगा और यदि मीमांसा के द्वारा पता ही नहीं कि क्या चित्र बनना है तो सारे टुकड़े जोड़ते रहो, कुछ नहीं बनेगा। उपासना काण्ड के प्रकरण में बताया कि किस प्रकार से उस चित्र को सजीव करें, उसके अन्दर जीवन कैसे लाया जाये। इस तरीके को बताने वाला आगम शास्त्र है। उपासना के द्वारा कर्म में जीवन आ जाता है। जो उपासक नहीं होता, वह कर्म करके थक जाता है। यह फ़र्क देखोगे कि एक आदमी रुद्रीय का पाठ करके उठता है तो शरीर में इतनी ताकत होती है, सोचता है कि 'अब कुछ काम करूँ'। और जो पण्डित केवल दक्षिणा लेने वाला है, वह पाठ करके जब घर जाता है तो कहता है कि 'थक गया।' कारण यह है कि उस काम में दिल नहीं था। लोक में भी यही बात है। बड़ी उम्र वाला छह बजे दुकान में जा बैठता है, वहीं दूध भी पीता है, ठण्डी पूड़ी और आलू के साग का भोजन भी वहीं करता है, शाम को चाय भी वहीं पी लेता है, रात में नौ बजे घर आता है और खुश नज़र आता है क्योंकि वह दुकान में बैठा हुआ कर्म ही नहीं, उपासना भी कर रहा है। उसका इष्ट धन है, उस की उपासना कर रहा है ! इसलिये सवेरे छह बजे से लेकर रात नौ बजे तक

खूब काम किया और पच्चीस हज़ार रुपया फायदा लेकर आता है तो चेहरा खिल उठता है क्योंकि कर्म और उपासना मिली हुई है। लड़के से कहता है कि दुकान पर बैठा कर, लेकिन वह ग्यारह बजे आकर चार बजे टेनिस खेलने के लिये जाता है ! कहता है 'थक गया'! उसकी थकावट का कारण यह है कि उस कर्म में उसकी उपासना नहीं है। बेचारा रोटी के चक्कर में दुकान में आ तो गया, लेकिन धन उसका उपास्य देव नहीं है। उसका उपास्य देव मौज लेना है, उसके लिये पैसा चाहिये, इसलिये कर्म करना *पड़ता* है। इसलिये वह ग्यारह बजे आकर चार बजे थक जाता है, खेल के लिये घड़ी देखने लगता है, क्योंकि उस कर्म में उसकी उपासना नहीं चल रही है, केवल कर्म चल रहा है; और पिता जी की उपासना और कर्म दोनों चल रहे हैं। जैसे धन में, वैसे ही सब जगह समझ लेना कि जो कर्म के अन्दर अपना हृदय दे देगा, वह उससे आनन्द को प्राप्त कर लेगा। एक विद्वान् के हाथ में एक पुस्तक आई। घरवाली कहती है कि 'बरसात हो रही है, गरम गरम पकौड़े बने हैं, आकर खा लो।' कहता है 'तुम्हीं खा लो।' वह कहती है कि 'दो घण्टे पहले खुद ही ने तो कहा था कि भूख लगी है।' कहता है 'अब भूख मर गई है।' क्योंकि सार्ट की बायोग्राफी छप गई है, जो उसके हाथ में है। जब तक वह खत्म न हो तब तक संसार की किसी चीज़ में मन नहीं जाता। वह उसकी उपासना है। वह लड़के से कहता है—'अरे ! कम से कम तीन घण्टे पढ़ लिया कर, प्रथम श्रेणी नहीं आई तो इंजीनियरिंग कॉलेज में कैसे जायेगा ?' वह कहता है—'पढ़ता तो हूँ लेकिन दो घण्टे पढ़कर सिर में दर्द हो जाता है।' क्योंकि उस

कर्म के साथ उपासना नहीं है। जहाँ कर्म के साथ उपासना होगी, वहाँ कर्म सुखद होगा और जिस कर्म के साथ उपासना नहीं होगी, वहाँ वही दुःखद हो जायेगा।

आगम बताता है कि कर्म में प्राण कैसे दिये जायें, किसी कर्म को प्राण वाला कैसे बनाया जाये। कर्म में प्राण दोगे तो उसमें अपना प्रतिबिम्ब दीखेगा; जहाँ प्राण चलेगा, वही चीज़ अपने प्राण से प्राणवाली होकर, उसमें अपना ही रूप दीखेगा। क्या कारण है कि मनुष्य को अपने पुत्र के बड़े होने में खुशी होती है ! पुत्रोत्पत्ति का लक्ष्य क्या है ? जिस पैसे को मनुष्य इतनी मेहनत से कमाता है कि रिक्शेवाला यदि थोड़ी दूर की जगह के छह आने की जगह सात आने माँगता है तो अगले मोड़ तक पैदल ही चल देता है, सोचता है कि एक आना बर्बाद कैसे कर दूँ ! जिस धन का एक आना वह खर्च नहीं करना चाहता उस पाँच करोड़ की कमाई को अपने बेटे को दे जाता है। हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि कहाँ तो एक आना बचा रहा था, और कहाँ सारी कमाई दे दी ! बात क्या है ? इसका कारण यही है कि पुत्र में अपना प्रतिबिम्ब देखता है। बेटे को बड़ा होता हुआ देखकर प्रसन्न होता है क्योंकि अपने प्राणरूप से उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है, उसमें अपना स्वरूप स्फुट होता हुआ देखकर प्रसन्न होता है। बच्चा सच्चा हो, झूठा हो, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता ! आजकल अस्पतालों में बच्चे होते हैं। एक साथ दो बच्चे पैदा होते हैं, उन्हें एक साथ ले जाकर नहला कर ले आते हैं। कुछ पता नहीं कि कौन किसका है! लेकिन जब तक प्रतीति है कि 'यह मेरा पुत्र है' तब तक उसमें अपनी प्रतिबिम्बरूपता देखता है। इसी प्रकार जब आगमों के द्वारा कर्म

में प्राण डाल दिया तब उसमें प्रतिफलित अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया, पता लगा कि 'यही मेरा स्वरूप है।' अपना यथार्थ स्वरूप बताने वाला वेदांत है।

एक कथा आती है : प्राचीन काल में एक शबर था। संस्कृत में व्याध को शबर कहते हैं। वह बड़ा बहादुर, लम्बा-चौड़ा और बहुत ताकत वाला था। निशाना लगाने में भी वह एक नम्बर था, उसके जैसा निशाना लगाने वाला और कोई आसपास नहीं था। इन सब गुणों के होने से उसमें बड़ा घमण्ड था कि 'मुझ जैसा दूसरा कोई नहीं है' 'कोन्योस्ति सदृशो मया।' एक दिन जंगल में जा रहा था। सामने से किसी को आते हुए देखा जो उसके जैसा लम्बा-चौड़ा और तगड़ा था। जैसे एक राजा के राज्य में कोई दूसरा राजा आने की कोशिश करता है तो वह राजा युद्ध करने को तैयार हो जाता है कि 'मेरी सीमा में इसने कैसे पैर रख दिया', इसी प्रकार जंगल में साँप होते हैं। उनका भी अपना क्षेत्र होता है, दूसरा कोई साँप यदि उस क्षेत्र में आ जाये तो लड़ मरते हैं। आबू में हमारे आश्रम में एक साँप रहता है। खूब मोटा तगड़ा है। एक बार आश्रम की तरफ दूसरा साँप आया तो दोनों साँप लड़ने लगे। हमारे साथ जो ब्रह्मचारी था, वह डरने लगा। हमने कहा 'ये तो आपस में लड़ रहे हैं, हमें कुछ नहीं कहेंगे, आँख खोल कर देख !' हम कहते हैं, 'यह हमारा आश्रम है', कोई दूसरा इसमें आने की कोशिश करे तो मुकदमे-बाजी करते हैं। साँप उस स्तर के नहीं हैं, इसलिये खम ठोककर कूद पड़ते हैं। फिर व्यर्थ का ही अभिमान है कि यह हमारा आश्रम है ! ऐसे ही उस व्याध ने देखा कि उसके क्षेत्र में दूसरा व्याध आ गया, यह कभी सहन

नहीं होना था।

वहाँ पहुँचा, बड़ा क्रोध आया हुआ था; पास जाकर पूछने लगा—'तू कौन है, तेरा नाम क्या है ?' वह बोला—'मेरा नाम शबर ही है।' उसने सोचा कि हम दोनों का नाम एक ही निकल आया। यह मेरे ही जैसा काला, लम्बा-तगड़ा भी है, धनुष बाण लिये हुए है और नाम भी एक ही बता रहा है। कहने लगा—'कहाँ से आया है ?' उसने कहा—'बड़ी दूर से आया हूँ, लेकिन याद नहीं है कहाँ से आया हूँ।' पहले वाले ने सोचा कि यह तो अच्छा हुआ कि दूर का है, कहीं आस-पास का निकल आता तो मामला गड़बड़ हो जाता। उससे कहा—'तू मेरे यहाँ क्यों आया है ?' उसने कहा 'यह मेरा स्वभाव है कि मैं घूमता रहता हूँ और जहाँ पहुँचता हूँ, वहाँ का मालिक हो जाता हूँ।' उसने सोचा गजब हो गया। अब तो इससे लड़ना ही पड़ेगा, लेकिन पहले ठोक-बजाकर देख लिया जाये क्योंकि जिससे लड़ना है उसकी ताकत को पहले देख लेना चाहिये। उसने कहा—'तू एक बाण से कितने सूअर मार सकता है ?' जंगल के सूअर तुम्हारी गलियों में घूमने वाले सूअर की तरह नहीं होते। जंगली सूअर लम्बे-चौड़े दाँतों वाले होते हैं। उसने जवाब दिया 'इस तरह एक बार में तीन सौ सूअर मार सकता हूँ।' व्याध ने सोचा, यह अव्वल दर्जे का झूठा है। मैं इतना बहादुर हूँ और सब लोग मुझ से काँपते है। मैं तो केवल दो को ही मार सकता हूँ और मेरा सब जगह नाम है। यह तीन सौ इकट्ठे मारने को कहता है ! मुझे तो यह घमण्डी लग रहा है।

वह यह सोच ही रहा था कि उधर से लगभग पाँच सौ सूअरों का एक समुदाय निकला। व्याध ने कहा 'मार कर दिखा।' दूसरे

व्याध ने पूछा—'जैसा मैंने कहा, उसके अनुसार एक साथ तीन सौ ही मारूँ या कम ?' उसने कहा, 'सौ को ही निशाना लगा।' जैसे ही उसने एक बाण मारा वह सौ को लगा। पहला व्याध आँखें मलने लगा। दूसरे ने कहा—'अच्छी तरह पास जाकर देख कर आ कि मरे हैं या नहीं।' वह वहाँ जाकर एक सूअर को उठाने लगा लेकिन सारी ताकत लगा ली, उसे नहीं उठा सका। तब वह शबर के पास आकर कहने लगा 'बड़ा व्याध बनता था। तुम से एक सूअर नहीं उठता है ! इसी ताकत के पीछे इतनी बातें कर रहा था ? तुझे किसने व्याध बनाया है ?' वह धीरे से कहने लगा 'भारी ज़्यादा है।' उस व्याध ने दस सूअरों को दाँत पकड़ कर उठा लिया ! दस और उठाने लगा कि वह व्याध उसके पैरों पर पड़ गया। कहा—'मुझे भी अपना चेला बना लो और यह विद्या सिखाओ।' शबर हँस पड़ा। कहा 'कोई बात नहीं, एक वर्ष तक इस प्रकार का ध्यान करो। शिव-शक्ति का पूजन करो और ब्रह्मचर्य का पालन करो, तब यह विद्या तुम्हें सिखाऊँगा।' अब उसे पूर्ण विश्वास हो गया था। एक वर्ष तक वह उसी नियम से सब करता रहा जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया।

एक वर्ष समाप्त हुआ तो उसे दीक्षा दी और कहा 'अब मैं तुझे वह विद्या सिखाऊँगा।' उसके लिये एक मण्डल (चक्र) बनाया। यही श्रीचक्र है। उसने कहा—'इसमें ध्यान देकर देख।' इतने दिन के ध्यान से उसमें शक्ति आ गई थी। एकाग्र करके देखा तो उसमें उसे सारे ब्रह्माण्ड दिखाई दे गये। सब कुछ उस चक्र में ही तो था। कहने लगा 'इसके अन्दर पाताल की भी कोख दीख रही है।' उसने कहा—'और अच्छी तरह से देख।' और

गहराई में जाकर देखा तो वहाँ उसे आठ नरक दिखाई दिये। कहने लगा 'इसमें तो लोग महान् दुःखी दिखाई दे रहे हैं, बड़ा धुआँ निकल रहा है, लोग चिल्ला रहे हैं।' उसने कहा—'और ध्यान से देख, कैसा दीखता है ?' उसने और चित्त एकाग्र किया। जब चित्त को अत्यंत एकाग्र किया तो देखकर बिल्कुल चुप हो गया। उसने पूछा—'बता तो सही कि क्या दीख रहा है ?' कहने लगा 'वहाँ तो मेरा ही चेहरा दीख रहा है, उस नरक में तड़पते हुए मैं अपने को ही देख रहा हूँ।' फिर पैरों पर गिर गया कि 'इस नरक से निकलने का उपाय बताओ।' उसने कहा—'देख लिया ? इस तड़पन से बचना चाहता है तो मेरी तरफ देख।' जैसे ही उसने उसकी तरफ देखा तो उसने वही अक्षिपुरुष की उपासना बताई। दक्षिणाक्षि में देखते ही उसे अपने स्वरूप का पता लगा। अब जब आँख से ध्यान हटाकर देखा तो वहाँ शबर नहीं, खुद ही था।

यह कथा केवल एक व्याध की कथा नहीं है। संसार में प्रत्येक जीवरूप व्याध की यह कथा है। हर जीव व्याध ही तो है। उसकी कामना भी यही है कि दूसरे पदार्थों को अपने बाणों से बींधे। तुम लोग अपनी कामनायें दूसरे पदार्थों में बींधते हो, अपनी कामनाओं से, अपने कर्मों से दूसरे जीवों को बींधते हुए जीवन भर यही कर रहे हो। घमण्ड बहुत बढ़ जाता है। यहाँ तक कहता है 'कोऽन्योस्ति सदृशो मया' अथवा 'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी' मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं, मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ। किसी को पैसा देकर खरीद लूँगा, किसी को ताकत से तो किसी को पद के द्वारा दबा दूँगा। कभी जब भगवती की कृपा होती है तब उसे पता लगता है। पता तो भगवान् जगह-जगह

पर देते हैं। बड़े से बड़ा घमण्डी व्यक्ति भी नियम से संसार में जाता है तो कामनाओं में असफलता मिलती है। उन असफलताओं के रूप में साक्षात् परमात्मा ही तुम्हारे सामने आते हैं और कहते है कि 'देख, तुझ से ज़्यादा लंबा-चौड़ा और तगड़ा हूँ, केवल अपने को ही बड़ा नहीं समझना।'

लेकिन मनुष्य ध्यान देकर नहीं देखता; अपनी असफलताओं को ढाँक देता है और अपनी थोड़ी-बहुत सफलताओं को गिनने लगता है। संसार में दूसरे विदूषक उसकी बड़ाई करते हैं कि 'तूने यह किया, तूने वह किया।' क्या नहीं किया और क्या नहीं करता, यह कोई उससे नहीं कहता। असफलताओं के द्वारा साक्षात् परमात्मा ही बताते हैं कि तू व्यर्थ ही घमण्ड करता है। जब वह परमात्मा की असीम शक्ति को देखता है तब वह परमात्मा की शरण में जाकर कहता है कि 'अब आप ही मेरा मार्गदर्शन करो।'

पहले जब पूछा कि 'तू कौन है ?' तब उसने कहा—'मैं शबर हूँ', अर्थात् 'जो तू है, सो मैं हूँ।' लेकिन इतना सुनने-मात्र से काम नहीं बना। अंततोगत्वा उन्होंने उससे साधना कराई। एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया, पूजन इत्यादि नियम से करता रहा। तब जाकर उसको इस श्रीचक्र के रहस्य को बताया। सारे ब्रह्माण्ड उसे इस श्रीचक्र में दीखे। यह श्रीचक्र में देखने की प्रक्रिया बताई। यह बताने से ही सोलह विद्यायें साधन हो गईं। तब पाया कि 'इस संसार चक्र में बँधा हुआ मैं हूँ और आठ नरकों में मैं ही पड़ा हुआ तड़प रहा हूँ !' पुर्यष्टक ही आठ नरक हैं। अविद्या, काम, कर्म, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचमहाभूत, पंचप्राण और अंतःकरण-चतुष्टय, इन पुर्यष्टकों में पड़ा हुआ मैं ही कष्ट

पा रहा हूँ। तब कहता है 'मुझे इस नरक से बचाओ।' भगवान् कहते हैं कि 'बचना चाहता है तो साधना कर।' जब व्याध ने समझाया तो 'ईश्वरोऽहं' की बात को भूल गया और बचना चाहता है। परमात्मा कहते हैं 'बड़ा सरल है, तू मेरी तरफ देख।' जब तक दूसरी तरफ देखता है, तब तक नरक है। जहाँ दूसरी तरफ देखना हटाया, परमात्मा की तरफ दृष्टि की, वहीं पता लग गया कि यह तो आनंदस्वरूप है और यह आनंदस्वरूप मेरा ही है। मैं ही तो यह आनंद हूँ। जहाँ परमात्मा की तरफ दृष्टि बनी कि वह अपना ही स्वरूप हो गया, प्रयोजन सिद्ध हो गया। सोलह कलाओं के उपपादन से, चार वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र, आगमशास्त्र और वेदांत के द्वारा यह जानना है कि यह सारा वस्तुतः एकमात्र परमात्मा का ही विस्तार है। लेकिन इसी पुर्यष्टक के अन्दर फँसा हुआ रो रहा है, तड़प रहा है। जब भगवान् से कहता है कि 'कुछ नज़र नहीं आ रहा है' तब वह उसे आगे की साधना बताते हैं जिससे वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

प्रवचन-२०

भगवती श्रुति परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न सृष्टि चक्र का निर्देश कर रही है। सृष्टि चक्र के अन्दर चवालीस सोपानों के द्वारा बिन्दु से स्पन्दन होते हुए कोणों तक की प्राप्ति और पुनः उन कोणों के द्वारा स्पन्द-संकोच होते हुए बिन्दुभाव की प्राप्ति होती है।

श्रीचक्र के चौदह चक्र वस्तुतः ऊर्ध्व गमन करने वाले सात चक्र और फिर उसी के द्वारा नीचे आने वाले सात चक्र हैं। आगमों में ज्ञानी की स्थिति के चक्र को 'वृन्द चक्र' कहा है। चक्र शब्द के कई अर्थ होते हैं। 'चकि कर्तने' धातु से भी चक्र शब्द बनता है, लेकिन यहाँ इसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं है। 'चकि तृप्तौ' धातु से चक्र शब्द बनता है। इस अर्थ में यहाँ चक्र शब्द का प्रयोग है। चूँकि ज्ञान के पूर्व अज्ञान को काटा जाता है, इसलिये वहाँ का चक्र तो 'चकि कर्तने' धातु से निष्पन्न होता है, लेकिन यहाँ अज्ञाननाश तो पहले हो चुका है इसलिये ज्ञानी की स्थिति को बताने वाला होने से यहाँ का चक्र 'चकि तृप्तौ' धातु के अर्थ में है। इसीलिये चक्र का मतलब हुआ जहाँ तृप्ति हो। इस तृप्ति के अन्दर मानो यह विस्तार या भेद हुआ।

इसे 'वृन्द-चक्र' कहा है। 'वृन्द' का मतलब समूह होता है। कई चीज़ें जहाँ इकट्ठी हों, उसे वृन्द कहते हैं। इसी वृन्द को न समझने के कारण कई जगह शास्त्रों में जहाँ वर्णन आता है कि 'परब्रह्म परमात्मा भगवान् कृष्ण वृन्दावन से बाहर एक पैर भी नहीं रखते थे' वहाँ ग़लत मतलब निकाल लेते हैं। बहुत-से लोग इसीलिये मानते हैं कि भगवान् कृष्ण कभी मथुरा गये ही नहीं ! वृन्दावन का मतलब है कि वृन्द चक्र के बाहर कभी नहीं जाते अर्थात् सप्त तृप्तियों के बाहर परमात्मा की स्थिति कभी नहीं होती। यदि इसका उलटा अर्थ कर दिया, जैसा आजकल के लोग करते हैं, तो भगवान् हम लोगों से भी ज़्यादा परिच्छिन्न हो जायेंगे।

यहाँ वृन्द शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इन सात चक्रों के

अन्दर वस्तुतः पदार्थगत भेद नहीं है। केवल तृप्ति के अन्दर आधिक्य या न्यूनत्व का भेद है। इतना ही नहीं, जैसा प्रारंभ में ही कह दिया कि इन सात चक्रों की ऊपर और नीचे दोनों तरफ गति है। किसी काल में एक चक्र की कभी एक रूप में स्थिति तो कभी दूसरे रूप में स्थिति होती है। एक को छोड़कर दूसरे की प्राप्ति नहीं है बल्कि एक को लेते हुए ही दूसरे की प्राप्ति है। जैसे किसी को आठ आने देने हों और पहले उसके हाथ में एक चवन्नी पकड़ाते हो और कहते हो कि 'यह एक चवन्नी हुई।' वह कहता है—'जी, आठ आने देने हैं।' वह चवन्नी तुम वापिस ले लेते हो और फिर दूसरी चवन्नी उसे पकड़ा दो। कहो—'आठ आने हो गये।' वह कहेगा कि 'यह तो फिर चवन्नी की चवन्नी ही रह गई, एक और दो।' कहते हो 'पहले वाली चवन्नी तो तुमने ना कर दी थी ?' वहाँ चवन्नियों के दो समूह मिलकर ही अठन्नी बनती है। एक चवन्नी देकर वापिस ले लो और दूसरी दे दो तब अठन्नी बनती है। एक चवन्नी देकर वापिस ले लो और दूसरी दे दो तो अठन्नी नहीं हुई। इसे वृन्द कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी जो सात अवस्थायें (चक्र) बतायेंगे, वे सारी वस्तुतः मिली हुई या इकट्ठी होकर रहती हैं, इसीलिये इसे वृन्दचक्र कहा।

इस वृन्द चक्र के छह रूप पहले बताये—मंत्रेश, विद्येश, महेश और मंत्रेश्वर, विद्येश्वर व महेश्वर। ये छह भेद हुए। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर ज्ञानी की स्थिति को विस्तार से बताया जिसका इन भेदों से सम्बन्ध समझा जा सकता है। इसी उपनिषद् में इन सात चक्रों की अवस्थायें बतायीं। पहला हुआ 'व्युत्थाय', व्युत्थान। इसके बाद उपनिषद् ने एषणाओं के स्वरूप का वर्णन कर दिया,

यह दूसरा चक्र हुआ। फिर कहा 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य', यह तीसरी अवस्था हुई। 'बाल्येन तिष्ठा सेत्' चौथी अवस्था हुई। 'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य' यह पाँचवी हुई। 'अथ मुनिः', यह छठी अवस्था हुई और 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः' यह सातवीं अवस्था हुई। इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति इन क्रमों को बताती है। ब्राह्मणत्व की प्राप्ति सप्तम बताई। 'एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा' से बताया कि आत्मज्ञान को प्राप्त करने के बाद आगे के जितने चक्र हैं, वे ज्ञानी का वृन्द चक्र है। इस तृप्तिमें अज्ञानी का प्रवेश नहीं है।

हर प्रकार की तृप्ति हर प्रकार के व्यक्ति को नहीं मिलती, तृप्ति का भी भेद होता है। जिस आदमी को रसगुल्ले की तृप्त मिलती है तो ज़रूरी नहीं कि उसे दही-बड़े की तृप्ति भी मिले। बहुत-से लोग रसगुल्ले खाकर बड़ी तृप्ति का अनुभव करते हैं और दही-बड़े में उन्हें कोई स्वाद नहीं आता। दूसरे दही-बड़े को बहुत अच्छा मानते हैं, उन्हें रसगुल्ला अच्छा नहीं लगता। जैसे हर व्यक्ति को हर चीज़ की तृप्ति का अनुभव नहीं होगा, इस प्रकार ज्ञानी की तृप्ति का अनुभव अज्ञानी को नहीं होता है। जिस तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता, उस तृप्ति की कल्पना सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि जब तक उस तृप्ति की प्राप्ति नहीं होगी तब तक चाहे जितना समझाया जाये, उसका फल कुछ नहीं होना है। ज्ञानी की तृप्ति और अज्ञानी की तृप्ति में बहुत बड़ा भेद है। यहाँ जो वृन्द चक्र बता रहे हैं, यह ज्ञान की स्थिति है अर्थात् ज्ञान से होने वाली तृप्ति है। अज्ञान से होने वाली सारी तृप्ति विषयों पर निर्भर है।

दोनों तृप्तियों का मूलगत भेद यहाँ बताते हैं। अज्ञान हमेशा

मुझ से बाहर रहेगा। अज्ञान कहते किसे हैं—यह जानना ज़रूरी है। बाह्य प्रतीति का ही तो कारण अज्ञान स्वीकार किया गया। श्रुतियों का उद्घोष है कि आत्म-भिन्न कुछ नहीं है। आत्म-भिन्न पदार्थ की प्रतीति हुई तो इसको समझाने के लिये अज्ञान की कल्पना की गई। इसलिये बाह्य प्रतीति ही तो अज्ञान की कल्पिका है। भीतर रहने वाला अज्ञान नहीं, वह ज्ञान है। विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए दर्पण में प्रतिबिम्ब बताया था। वह बाहर ही तो दीखता है लेकिन बाहर होता नहीं है। शरीर में रहते हुए ही मुख बाहर हो जाता है, अर्थात् बाह्यता की प्रतीति-मात्र है। बाह्य प्रतीति की अन्यथा अनुपपत्ति ही अज्ञान की कल्पना कराती है, अथवा उसे सिद्ध करती है या उसकी साधिका है। इसीलिये अज्ञान की जितनी तृप्तियाँ होती हैं, वे सब बाह्य विषयों को लेकर हैं। चाहे यहाँ से वैकुण्ठ लोक, गोलोक, तीसरे स्वर्ग में या सातवें स्वर्ग में चले जाओ, वहाँ सर्वत्र होने वाली तृप्ति विषयों को लेकर अर्थात् किसी न किसी बाहर की चीज़ को लेकर ही है।

ज्ञानी की तृप्ति किसी बाहर की चीज़ को लेकर नहीं है। उसकी तृप्ति तो अन्दर की चीज़ को लेकर होगी, वही उसकी तृप्ति का साधन है। इसलिये ज्ञानी और अज्ञानी की तृप्ति सर्वथा एक दूसरे से विपरीत हैं। एक को जो चीज़ तृप्ति देगी, दूसरे को वही अतृप्ति देगी। विषय अज्ञानी को तृप्ति देते हैं और ज्ञानी के उद्वेजक बनते हैं, उसे उद्विग्न करतें हैं। दूसरी तरफ पदार्थों का अभाव ज्ञानी को तृप्ति देता है और अज्ञानी में उद्वेग उत्पन्न करता है। इसलिये ज्ञान और अज्ञान का साथ हो जाये तो बड़ी कठिनाई होती है। एक जगह कहा भी है

'रहिमन यह कैसे बने केर बेर को संग।

वे रस डोलत आपने उनके फाटत अंग।।'

केले और बेर का पेड़ साथ-साथ हों तो दोनों का साथ बड़ा दुखदाई होता है क्योंकि बेर की कँटीली झाड़ी जब आनंद से अपना सिर हिलाती है तो बेचारा केले का पत्ता कटता है ! ज्ञानी को अज्ञानी कहता है कि 'मेरा जवान लड़का मर गया', तो ज्ञानी कहता है कि बड़ा अच्छा हुआ, टण्टा मुका, अब उसकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। ज़िन्दा रहता तो न जाने कितनी चिन्ता करते, कहीं बीमार न हो जाये। ज्ञानी से अज्ञानी कहता है कि 'मेरी दुकान खत्म हो गई', तो ज्ञानी कहता है—बड़ा अच्छा हुआ, अब जाने की कोई जल्दी नहीं, बारह बजे तक सत्संग सुनते रहना। यह तो ज्ञानी का वृन्द-चक्र है। अज्ञानी कहेगा कि 'यह तो मेरा नाश करने पर उतारू है !' दूसरी तरफ अज्ञानी विषय-सामग्री को इकट्ठा करेगा। ज्ञानी को लगेगा कि ये सब तो दुःख देने वाली चीज़ें आ रही हैं। दोनों की दृष्टि के अन्दर सर्वथा एक-दूसरे से विरोध हो जाता है। ज्ञानी अज्ञानी से दूर भाग जाये या अज्ञानी ही ज्ञानी के पास आना छोड़ दे तो काम बन जाये। लेकिन कठिन परिस्थिति तब होती है जब अपने ही हृदय में दोनों हो जाते हैं! तब दोनों तड़फड़ाते हैं। जब विषय सामने आता है तब अज्ञानाकार वृत्ति सुख की तरफ दौड़ती है और ज्ञानाकार वृत्ति दुःखी होती है। विषय के अभाव में ज्ञानाकार वृत्ति सुख दे जाती है लेकिन अज्ञानाकार वृत्ति कहती है कि यह हाथ से चला गया। अंतःकरण में जब ये दोनों इकट्ठे रहने लग जाते हैं तब बड़ा भयंकर कष्ट होता है। यह याद रखना कि इस कष्ट की परिधि में से निकलना सब

को है।

इस आत्मतत्त्व को जानकर अज्ञान को काट दिया, अज्ञान का कर्तन हुआ। आत्मज्ञान के बाद दूसरा चक्र प्रारंभ हुआ 'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय'। तृप्ति का पहला हेतु है कि ज्ञानोत्तर काल में उस ब्राह्मण ने तीनों एषणाओं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा—को छोड़ दिया। पुत्रैषणा का मतलब है पुत्र से साध्य इह लोक पर विजय की कामना। इसलिये पुत्रैषणा-त्याग का मतलब है कि इस लोक में किसी प्रकार कीर्ति-अपकीर्ति, मान-अपमान की उसे कोई इच्छा नहीं है। पुत्र के द्वारा जीव मनुष्य लोक की विजय करता है। उत्तम पुत्र के द्वारा बड़ी कीर्ति होती है और बुरे पुत्र के द्वारा बड़ी अपकीर्ति होती है। बुरा पुत्र हो तो वह छाती को चालनी की तरह छेदों से भर देता है। मरा पुत्र उतना दुःख नहीं देता ! कुपुत्र तो राह चलते मनुष्य को दूसरे के सामने नज़र भिड़ा कर बात नहीं करने देता। पुत्र ही इस लोक का साधन है। आत्मज्ञान होने के बाद पहला काम हुआ कि इस लोक की जय की कामना चली जाती है, पुत्रैषणा चली जाती है।

दूसरी वित्तैषणा है। ये दो प्रकार की एषणा है : दैवी वित्त उपासना या शुद्ध कर्म हैं जिनके द्वारा आगे अच्छे लोकों की प्राप्ति होगी। उसकी ज्ञानी को कोई कामना नहीं है। दूसरा लौकिक वित्त है जिसके द्वारा इस शरीर के सुख की प्राप्ति होती है, उसकी भी उसे कोई कामना नहीं है। पुत्रैषणा के द्वारा तो देह से बाह्य लोक में जय बताया। वित्तैषणा के द्वारा देह में होने वाला जय बताया। यहाँ का धन यहाँ के देह को सुख देता है और दैवी धन शरीर

के अन्दर होने वाले मन को आगे सुख देगा। इन दोनों वित्तों की उसे एषणा नहीं है। बाहर होने वाला धन और शरीर में होने वाला धन भी विषय ही देगा और विषयों के प्रति ज्ञानी की एषणा नहीं बनती। संसार में दुःख नहीं है, बल्कि संसार स्वतः ही दुःखरूप है। सेंधे नमक की डली में नमकीनपना नहीं है, सेंधे नमक की डली खुद ही नमकीन है। मिश्री की डली में मिठास नहीं है, मिश्री की डली मिठास ही है। इसी प्रकार संसार में दुःख नहीं है, संसार दुःख ही है। भगवान् ने यह संसार बनाया ही ऐसा है। जब तक शिवदृष्टि नहीं, तब तक यहाँ कहीं सुख का लवलेश नहीं है। गीता में भगवान् ने संसार को कैसा बताया है ? बड़ा सुन्दर मकान बनाया लेकिन ईंट, गारा एक चीज़ का लगाया : भगवान् स्वयं कहते हैं 'दुःखालयम् अशाश्वतं' दुःख ही दुःख लगाकर इस मकान को तैयार किया है। जैसे मिश्री की डली में मिठास के सिवाय और किसी चीज़ की आशा करोगे तो निराश होना पड़ेगा, उसी प्रकार संसार के अन्दर दुःख के सिवाय और किसी चीज़ की आशा करोगे तो निराश होना पड़ेगा। दुःखी होना पड़ेगा ! एक बार जब समझ लेते हो कि संसार में दुःख नहीं, बल्कि संसार दुःखरूप ही है तो उसका फल होता है कि फिर आगे संसार दुःख देता नहीं है ! जैसे नमक की डली को जानने के बाद उसका नमकीनपना दुःख नहीं देता। विषय का स्वरूप असुख (दुःख) है। समझने की बात तो सीधी-सी है कि आत्मा आनंदरूप है और अनात्मा दुःख-रूप है। जैसे अनात्मा में जडता नहीं है, अनात्मा खुद ही तो जड है, ऐसे ही अनात्मा में दुःख नहीं है, अनात्मा खुद ही दुःख है।

तीसरी लोकैषणा है। व्यक्ति जिसे दुःखरूप समझेगा, वह

एषणा के लायक नहीं होगा, क्योंकि वह तो दुःखरूप है। इसलिये श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि जब मेरी बड़ी कृपा होती है तो मैं क्या करता हूँ ? भगवान् की भक्ति से बड़ा धन-माल, अच्छी चीज़ें मिलेंगी, लेकिन अगर कहीं कृपा हो गई तो क्या होगा? भगवान् कहते हैं—'अनुगृह्णाम्यहं येषां हरिष्ये तद्धनं शनैः'। जिनके ऊपर हमारा अनुग्रह हो जाता है, उनके जितने भी संसार के भोग हैं, उन्हें मैं धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ। इकट्ठे ही हरण नहीं करता क्योंकि तब वैराग्य दृढ नहीं होता जैसे पाकिस्तान बनने पर लोग आये लेकिन उनका वैराग्य दृढ नहीं हुआ। अतः भगवान् ने कहा कि बड़े धीरे-धीरे हरण करता हूँ। यह एक चक्र हुआ। इन तीनों एषणाओं से विपरीत उत्थान (व्युत्थान) होता है। व्युत्थान का मतलब है, मुँह फेर देना। विपरीत उत्थान व्युत्थान है। उत्थान मायने खड़े होना अर्थात् चलने के लिये तैयार हो जाना। व्युत्थान का मतलब है मुख उल्टी तरफ करना। वह पदार्थों के न मिलने से होने वाला श्मशान वैराग्य नहीं है। बहुत से लोग इसी को वैराग्य समझ लेते हैं। पदार्थ है नहीं, इस बात का वैराग्य नहीं है बल्कि पदार्थ होने पर भी वैराग्य की पूर्णता है, क्योंकि वह दुःखदाई चीज़ है। यह व्युत्थान कैसे होता है ? बताया 'प्रत्यक्पुष्पीप्रसवविधया यस्य चेतो' जैसे प्रत्यक्पुष्पी का फूल हमेशा ही मुड़कर पेड़ की तरफ जाता है उसी प्रकार जिसका चित्त स्वाभाविक ही प्रत्यगात्मा की तरफ जाता है, यह व्युत्थान का रूप है। यह प्रथम तृप्ति हुई।

जब इन तीनों एषणाओं से व्युत्थान करता है तब बड़ी भारी तृप्ति होती है। साधारण चीज़ के त्याग से भी तृप्ति आती है तो इसके त्याग से जो तृप्ति आयेगी, उसका क्या कहना ! मोटी भाषा

में समझ लो : यदि तुम्हारे सिर का बोझ उतारा जाये तो कितनी तृप्ति होगी ? यह इस पर निर्भर करेगा कि कितने दिन और कितना बड़ा बोझ सिर पर था। इसी प्रकार विषयरूपी तुम्हारा बोझ जब उतरता है तो इन तीनों एषणाओं के त्याग से अनंतकोटि ब्रह्माण्डों का बोझ तुम्हारे सिर से उतर गया ! जितनी तृप्ति तुम्हें विषयों के मिलने से प्राप्त होती है, जब उनके अभाव से तुमको तृप्ति देनी है तो उतनी तो देगा ही। दूसरी दृष्टि से समझ लो : तुमको दुर्गन्धि जितना दुःख देगी, उतना ही सुगन्धि सुख देगी। दुर्गन्धि का हटना ही तुम्हारे सुख का कारण बन जाता है। जिसको दुर्गन्धि आ ही नहीं रही है, दुर्गन्धि का पदार्थ हट जाने पर भी उसे सुख का अनुभव नहीं होता, क्योंकि पहले उसे दुर्गन्धि आ ही नहीं रही है। जो पदार्थ अपनी एषणा का विषय नहीं है, जिसे हम नहीं चाहते, उसका हटना उतना ही सुख देता है जितना इष्ट पदार्थ की प्राप्ति। इष्ट पदार्थों की प्राप्ति यदि अनंतकोटि ब्रह्माण्डों की हो जाये, सारे मिल जायें, तब उनसे जो सुख होगा, उतना ही सुख सारे अनिष्ट पदार्थों की जब निवृत्ति होगी तब भी हो जायेगा! इसलिये किसी ने कहा है

'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः।।'

देवराज इन्द्र को भी कोई सुख नहीं है। बेचारे को क्या सुख है! आँख खोलकर देखो तो समझ लोगे : गत पचीस वर्षों में सब ने मिलकर तुम्हारा क्या बढ़ाया है ? थोड़ा सोच लो तो जवाब मिलेगा कि विषयों को बढ़ाकर तुम्हारा दुःख बढ़ाया है और आज भी यही कहा जा रहा है कि 'और अधिक विषय बढ़ायेंगे' अर्थात्

तुम्हें और जबरदस्त दुःख देंगे। विषयों की वृद्धि तो दुःख देने का हेतु है।

कलकत्ते में एक सज्जन थे, भगवत्कृपा से उनके ग्यारह लड़के और एक लड़की थी। वे मर गये तो उनके बड़े लड़के ने सारा व्यापार अपने हाथ में ले लिया और हर भाई को एक-एक मोटर और सौ रुपये रोज़ का खर्च बाँध दिया। करोड़पति तो थे ही। वे बेचारे बचपन से ही गलत खर्च करें, मोटरों में घूमते-घूमते बिगड़ गये। सारा व्यापार बड़ा भाई चलाता है। लोग तब समझ रहे थे कि वह अपने भाइयों को बड़े प्रेम से रख रहा है जबकि बड़ा भाई उन्हें सर्वथा बेकार बनाकर सारा धन हथियाने का प्रक्रम कर रहा था। इसी प्रकार आजकल गरीबों को कहते हैं कि 'तुम्हें सुखी करेंगे' लेकिन अन्दर ही अन्दर उन्हें दुःखी बनाने की योजना बनती है। किसी को सुखी करने की योजना होती तो लोग ज़्यादा दुःखी तो न होते। कहते हैं 'और ज़्यादा भोग करो।' किसी को दुःखी करना होता है तो उनके भोगों को बढ़ाते हैं।

जब देवराज इन्द्र को सुख नहीं तो चक्रवर्ती को कहाँ से होगा! सुख तो तब होगा जब वीतराग बनोगे, उसके बिना सुखी नहीं हो सकते। 'मुनेरेकान्तशीलिनः'; सुख इसमें है।

व्युत्थान करने पर क्या करता है ? 'अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' उसके बाद वह भिक्षा के लिये ही चर्या करता है। भगवान् भाष्यकारों ने यहाँ चतुर्थी समास किया 'भिक्षार्थम् चर्या भिक्षाचर्या'। भिक्षा ही उनकी चर्या है। जिसके लिये कोई प्रयत्न न किया जाये और उस चीज़ की प्राप्ति हो जाये, उसका नाम भिक्षा है। तुम नौकर को जो तन्ख्वाह देते हो वह भिक्षा नहीं है

क्योंकि नौकर ने अपने कार्य की साधना के बदले तुमसे साध्य की प्राप्ति की है। किसी दुकान से कपड़े खरीद कर रुपया देते हो तो उसका नाम भिक्षा नहीं है, क्योंकि उसने तुम्हें कुछ पदार्थ देकर रुपया लिया है। लेकिन जिस व्यक्ति ने तुम्हारे प्रति न आज तक कुछ किया और न करने की कुछ आशा है, उसे तुम कुछ देते हो वह भिक्षा होती है। तुमने किसी को पाँच सौ रुपये उधार दिये तो वह भी भिक्षा नहीं क्योंकि तुम्हें आशा है कि कभी न कभी वापस देगा और शायद ब्याज समेत देगा। जो तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं कर रहा है, न पहले किया है और न आगे करना है, उसे जो दिया जाता है, उसका नाम भिक्षा है। इस अनात्म-जगत् के लिये ज्ञानी विचार करता है कि यह नहीं है। जगत् के लिये भूतकाल में कभी कुछ किया भी हो, लेकिन वह करने वाला अज्ञानी अब मर चुका। जगत् के लिये न आज कर रहा है और न भविष्य में उसके प्रति कुछ भी करने की आशा है। इतने पर भी जो अनात्म-जगत् है, वह अपनी सत्ता रखने के लिये कुछ न कुछ पकड़ा देता है, वही भिक्षा है। अनात्म-पदार्थों के प्रति यह दृष्टि है कि ये न उपकार के लायक थे, न हैं और न रहेंगे; इनसे न कभी हमारा उपकार हुआ और न हम इनका कभी उपकार कर सकते हैं। उसकी दृष्टि केवल आत्मामें है। आत्मा ही उसका एकमात्र साधन है, और उसका कोई साधन नहीं है। भिक्षा के साथ चर्या शब्द का प्रयोग है। इसका मतलब यह नहीं कि वह कुछ करता ही नहीं है ! चर्या तो है, क्रिया तो करता है लेकिन इस दृष्टि से करता है कि यह अनात्म-जगत् न कभी लाभ पहुँचाने के लायक था, न है और न ही रहेगा। इस

दृढ निश्चय के साथ वह खेल खेलता है, यह उसकी भिक्षाचर्या है।

चर्या का एक अर्थ होता है जो स्वभाव से किया जाये। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भिक्षा के द्वारा चर्या की उपलक्षणा की है। लोग समझते हैं कि संन्यासी भिक्षा करता है, अर्थात् चार रोटी माँग कर खा लीं तो हो गई भिक्षा। लेकिन श्रुति को यह अर्थ विवक्षित नहीं है। अनात्म-जगत् के प्रति असाधन-असाध्य दृष्टि ही चर्या है।

गीता में इसीको दूसरे प्रकार से कह दिया है 'कर्मणि अकर्मयः पश्येत्' कहते हैं—वह सारे कार्यों को करते हुए ही उसमें अकर्म देखता है। कर्म का मतलब होता है जो क्रिया का लक्ष्य हो। 'मैं गाँव जाता हूँ', जाने का लक्ष्य गाँव हुआ। 'मैं रोटी खाता हूँ', खाने का लक्ष्य रोटी है। क्रिया का लक्ष्य ही कर्म होता है। लेकिन इसकी क्रिया का लक्ष्य अकर्म अर्थात् क्रिया की निवृत्ति है। इसीलिये कह दिया अकर्म ही क्रिया का लक्ष्य है, न प्रारब्ध है और न कुछ और। इसलिये कहा था कि ज्ञानी की तृप्ति अज्ञानी की समझ में नहीं आती। ज्ञानी की क्रिया का कभी कोई लक्ष्य नहीं होता। उसका लक्ष्य क्रियाहीनता है। जिस चीज़ को करता है, उसीको काटता है। वेद का उपदेश भी किस लिये देता है ? 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' वेद की यदि कोई विशेषता है तो वह यही कि वह अपने को भी खत्म करके तुम्हारा संरक्षण करता है ! संसार के अन्य शास्त्र कहते हैं कि हम सत्य हैं। लेकिन वेद स्वयं कहता है कि वहाँ पहुँचने पर वेद भी अवेद हो जायेंगे।

उपनिषदों के अन्दर एक कथा आती है कि एक बार महर्षि

याज्ञवल्क्य महाराजा जनक के पास गये। जनक ने पूछा—'किसलिये आये हैं ? कुछ रुपये-पैसे की दक्षिणा या गौ आदि लेने आये हैं अथवा कुछ ब्रह्मविद्या का उपदेश करने आये हैं ?' महर्षि हँस पड़े, कहा—'दोनों कामों के लिये आया हूँ।' जनक ने कहा—'पहले ब्रह्मविद्या का उपदेश कर लो।' महर्षि कहने लगे—'रीति तो यह है कि पहले गुरु पढ़ाते हैं और फिर दक्षिणा लेते हैं।' महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'यह रीति ब्रह्मविद्या में नहीं चलेगी, क्योंकि उपदेश देने के बाद तो जो तू सो मैं ! इसलिये दक्षिणा पहले लूँगा और ब्रह्मविद्या बाद में दूँगा।' जनक मान गये और पूछा कि 'ब्रह्मविद्या की दक्षिणा क्या लोगो ?' महर्षि ने कहा कि 'तूने सुन रखा है कि ब्रह्मविद्या के बाद सब कुछ छोड़ना पड़ता है। इसलिये जो कुछ तेरा है, वह सब मुझे दे।' जनक भी ऐसा ही था, मान गया। आज के बड़े आदमी हों तो कहें कि 'तुम्हारा ब्रह्म नहीं चाहिये, अपने पास रखो !' जनक ने कहा, 'सारी चीज़ें देता हूँ !' महर्षि ने कहा, 'ज़रा इच्छा-पत्र बना दे।' उसने अपना सारा राज्य लिख दिया। महर्षि ने पूछा—'बस यही तेरा है ?' जनक ने कहा—'हाँ, जो मेरा है, वह सब लिख दिया।' महर्षि ने रानियों की तरफ संकेत करके कहा 'ये रानियाँ किसकी हैं ? ये भी लिख, बेटों को भी इसमें लिख। और कुछ है तो वह भी लिख दे।' कहा—'कपड़े हैं।' महर्षि ने कहा 'इन कपड़ों के नीचे भी तो कुछ है।' जनक ने कहा—'यह शरीर भी आपकी सेवा के लिये देता हूँ।' कहा—'इस शरीर के अन्दर भी कुछ है।' जनक ने कहा—'शरीर के अन्दर के मन, बुद्धि भी देता हूँ। अब तो कुछ नहीं रहा ?' महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा 'फिर बोल किस से रहा

है ? बिना मन के या मन से ? मन से बोल रहा है तो मेरी आज्ञा के बिना कैसे बोलता है ? अब तेरा मन तब तक कुछ नहीं सोच सकता जब तक मेरी आज्ञा न हो।' जनक भी पक्के गुरु का पक्का और सच्चा चेला था। उसी समय मन को निर्विकल्प बनाकर बैठ गया। याज्ञवल्क्य ने उसके अंतःकरण में प्रवेश करके ज्ञान की ज्वाला को जगा दिया। थोड़ी देर बाद जनक से पूछते हैं 'अब बता तेरी क्या स्थिति हुई ?' जनक ने कहा—'क्या बताऊँ ? समाधि के द्वारा जिसके चित्त का मैल धुल गया है, उसमें जब आपने आत्मा का प्रवेश कराया, अपने आपको प्रवेश किया, ब्रह्मरूपता का प्रवेश हुआ, तब जो सुख हुआ उसको वाणी से नहीं कह सकते हैं। आप आदेश दे रहे हैं कि मैं बताऊँ। लेकिन यह तो अंदर का अनुभव है, कहाँ से बताया जाये !' याज्ञवल्क्य ने कहा—'ठीक है, अब क्या करेगा ?' जनक ने कहा 'करिष्ये वचनं तव।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'बैठा-बैठा राज्य ही किये जा।' यह है 'व्युत्थाय' और 'भिक्षाचर्यं चरन्ति।' मन-पर्यन्त सब कुछ परमेश्वर या गुरु को अर्पण कर दिया। केवल दाल-रोटी लेने वाली भिक्षा नहीं है। ब्रह्मविद् तीनों एषणाओं को छोड़ देता है तब उसके अन्दर जिसे लोग कर्म का कारण समझते हैं, वह उसका उद्देश्य नहीं रहा, क्रियाहीनता ही उसका लक्ष्य है। जिसके पास जायेगा, उससे ही क्रियाहीनता की भिक्षा लेगा।

प्रवचन-२१

भगवती श्रुति बता रही है कि किस प्रकार से उस परब्रह्म परमात्मा से सृष्टि उत्पन्न होती है, उसमें भी इस मनुष्य देह की सृष्टि का निरूपण श्रीचक्र के आधार पर कर रहे हैं। मानव देह किस प्रकार श्रीचक्र का रूप बनता है, किस प्रकार दलों के द्वारा कोणों की तरफ जाना सृष्टि-प्रक्रिया और फिर कोणों से धीरे-धीरे बिन्दु की तरफ गमन करना, यह उपसंहार-प्रक्रिया है इस पर बृहदारण्यक श्रुति के आधार पर विचार किया। भिक्षाचर्या का तात्पर्य संक्षेप में बताया कि वह अकर्तृत्व आत्मबोध ही है। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में इसी मंत्र के वार्तिक में स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि

'भिक्षया लक्ष्यते चर्या ह्याऽकिंचन्यैकसंश्रया।
अममापरिग्रहोक्तेः निष्कर्मा मुनिरुच्यते।।'

कहते हैं—वस्तुतः भिक्षा द्वारा चर्या की लक्षणा है। श्रुति ने यहाँ कोई विधि नहीं की है। भिक्षा के द्वारा चर्या की लक्षणा का तात्पर्य है 'आकिंचन्यैकसंश्रया।' भिक्षा का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिय वस्तुतः भिक्षा की चर्या का मतलब है अममता और अपरिग्रह अर्थात् ममता-रहित और परिग्रह-रहित होना। नैष्कर्म्यभाव ही मुनि का भाव है। अमम और अपरिग्रह ही वस्तुतः भिक्षा चर्या है। किसी भी पदार्थ में, यहाँ तक कि अपने शरीर और मन के अन्दर भी 'यह मेरा' यह भाव नहीं होना चाहिये। जब शरीर मेरा नहीं तो शरीर-सम्बन्धी मेरे कहाँ से हो सकते हैं ! यह भिक्षाचर्या

का तात्पर्य हुआ जो प्रतिक्षण अपने अन्दर बार-बार विचारने का है। निषेध वाक्य का तात्पर्य होता है कि 'अमुक काम नहीं करना'—इसकी सूक्ष्म वृत्ति सब काल में बनाये रखना। 'झूठ नहीं बोलो' इस वाक्य का तात्पर्य है कि 'मैं झूठ नहीं बोलूँगा' ऐसी सूक्ष्म वृत्ति हमेशा बनी रहे। तभी झूठ बोलने का प्रसंग आयेगा तब 'झूठ न बोलो' की वृत्ति उसे काट देगी। इसी प्रकार 'देह मेरा नहीं' यह वृत्ति सब काल में रखोगे तो देह-सम्बन्धियों से वह वृत्ति अपने आप सारे सम्बन्धों को काट देगी, क्योंकि सारे सम्बन्ध देह को लेकर ही हैं। जब देह मेरा नहीं तब देह-सम्बन्धी सर्वथा मेरे नहीं हैं। केवल देह ही नहीं, मन भी मेरा नहीं। मन तो पंचमहाभूतों से बना है, तुम्हारा अधिकार उन पर कहाँ से आ गया ? प्रतिक्षण अनुभव भी करते हो कि मन तुम्हारे कहने में नहीं है। श्लोक याद करना चाहते हो, खूब अच्छी तरह रट लेते हो लेकिन बोलते समय अगली पंक्ति याद नहीं आयेगी ! जिस मन को तुमने बार-बार एक श्लोक रटाया, वह भी समय पर धोखा दे जाता है, फिर यह कहना कि 'यह मन मेरा है, व्यर्थ बात है। इसलिये देह मेरा नहीं, मन भी मेरा नहीं है।

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य'। जब अममता और अपरिग्रह पूर्ण हो गये तब ममता और परिग्रह के त्याग के अनन्तर पाण्डित्य को प्राप्त करे। पाण्डित्य मायने क्या ? यह अगला कदम है। चक्र का प्रथम रूप था 'व्युत्थाय', दूसरा 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' और अब तीसरा है 'पाण्डित्यं निर्विद्य'। 'पण्डितस्य भावः पाण्डित्यं' अर्थात् जो पंडित का भाव है, वह पाण्डित्य है। संसार में पण्डित उसे कहते हैं जो जितना दूसरे को ठग ले ! यही पण्डित का लक्षण

है। कहते हैं कि वह आदमी बड़ा बुद्धिमान् है, उसने दस लाख रुपये कमा लिये। यही आजकल बुद्धिमत्ता का लक्षण है। लेकिन वेद आदि सच्छास्त्रों के अन्दर उसे बुद्धिमत्ता नहीं गिना है। वास्तविक बुद्धि कैसी है ? 'पण्डेति बुद्धिनामैतत् सा जाता यस्य मानतः।' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—पाण्डित्य मायने 'जिसे बुद्धि प्राप्त हो गयी'। निघण्टु के अन्दर पण्डा शब्द बुद्धि के नामों में गिना गया है। आजकल तो पण्डा उसे कहते हैं जो तीर्थों में रहकर संकल्प कराता है। उन्हें भी पण्डा इसलिये कहते हैं कि उस काल में तीर्थ में रहने वाले बड़े विद्वान् हुआ करते थे और वेदादि सच्छास्त्रों में ही हमेशा लगे रहते थे। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'सा जाता यस्य मानतः' अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्य-रूप इस प्रमाण के द्वारा जिसे वह बुद्धि उत्पन्न हो गई उसीको पण्डित कहा जाता है। इस प्रकार जब मनुष्य ने अममता और अपरिग्रहता को प्राप्त कर लिया तभी उसके अन्दर वेदांत के तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होगी।

जैसे बढ़िया से बढ़िया डनलप या सीएट का टायर खरीद लो और उसमें बढ़िया ट्यूब भर लो लेकिन इससे मोटर या साइकिल तब तक नहीं चलेगी जब तक उसमें हवा नहीं भर लोगे। चाहे जितना बढ़िया टायर ट्यूब हो, बोझा हवा ही लेगी। कहोगे कि 'फिर टायर पर पैसे क्यों खर्च किये जायें ? हवा पर ही बोझ देना है तो सीधे हवा में ही गाड़ी चला लें !' लेकिन केवल हवा में भी गाड़ी नहीं चल सकती। बोझा हवा ही लेगी लेकिन टायर-ट्यूब के माध्यम से ही लेगी। ठीक इसी प्रकार वस्तुतः ब्रह्म-ज्ञान का बोझ निर्ममता लेगी, ममता का अभाव ही ब्रह्मविद्या

के बोझ को सम्भाल सकेगा। जिस व्यक्ति में शरीर और शरीर-सम्बन्धी मन इत्यादि में ममता होगी, उसके ऊपर यदि ब्रह्मविद्या का बोझ रखोगे तो वह बोझ सम्भाल नहीं सकेगा। इसी प्रकार चाहे जितने पाण्डित्य प्राप्त करने के प्रयत्नस्वरूप वेदांत ग्रंथों को रट लो लेकिन जब तक अममता, अपरिग्रहता नहीं आयेगी तब तक ब्रह्मविद्या का बोझ अंतःकरण नहीं ले सकेगा। जब इनकी प्राप्ति हो तभी पाण्डित्य काम आयेगा। उससे पहले चाहे जितने ग्रंथों का अध्ययन करने पर भी वह वृत्ति बनेगी नहीं। कुछ वादियों के अनुसार ज्ञान और कर्म का समुच्चय है। कुछ लोग मानते हैं कि ज्ञान के साथ कर्म करना चाहिये। लेकिन श्रुति के मत के अनुसार ज्ञान और नैष्कर्म्य का समुच्चय है।

यह नहीं समझना कि कर्म अन्यथा-सिद्ध है। कर्म-परित्याग ज्ञान में हेतु है। परित्याग किसका करोगे ? जो माल पहले पास में होगा, उसीको छोड़ोगे। कहो कि 'हमने राष्ट्रपति भवन दान कर दिया !' तुम्हारी मिलिकयत तो है नहीं, दान क्या किया ? कर्म का परित्याग वही करेगा, जिसके पास कर्म का मसाला है। आजकल लोग जब कहते हैं कि 'हमें स्वर्ग की इच्छा नहीं' तो हमें हँसी आती है, क्योंकि स्वर्ग की बात तो जाने दो, तुमने जहाँ चवन्नी देखी तो झट उठा लेते हो ! क्या स्वर्ग जाने का साधन तुम्हारे पास है ? जिस व्यक्ति ने कम से कम पाँच अश्वमेध यज्ञ या ब्राह्मण है तो तीन अश्वमेध यज्ञ या कम से कम तीन बार त्रिणाचिकेताग्नि के वर्ष-वर्ष भर के यज्ञ कर लिये हों, वह यदि कहता है कि 'स्वर्ग की इच्छा नहीं है' तो उसका कुछ मतलब है। तुमने अश्वमेध यज्ञ तो छोड़ो, अग्निहोत्र तक किया नहीं और

कहते हो कि 'स्वर्ग नहीं चाहिये' तो 'अंगूर खट्टे हैं' वाला मामला है, और कुछ नहीं। साधन पास कुछ है ही नहीं तो चाहोगे क्या! इसी प्रकार कहते हैं कि 'हमें सिद्धियाँ नहीं चाहिये।' क्या सिद्धियों की प्राप्ति है जो नहीं चाहिये ? कोई चीज़ प्राप्त हो, तब त्याग हो। जब प्राप्त ही नहीं तो त्याग क्या करोगे ? इसलिये जब कहते हैं कि 'कर्म-त्याग का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है' तब मतलब है कि जिसने सारे कर्म करके देख लिया और उनका फल उसे उपलब्ध है, वह फलों सहित कर्मों की इच्छा छोड़कर कर्मत्याग करे। कोई आठवाँ दर्जा तो पास नहीं है और कहे कि 'एम. ए. की डिग्री में क्या रखा है' तो निरर्थक है।

जब ममता और परिग्रह का त्याग हो गया तभी पाण्डित्य का बोझ लिया जा सकेगा। उसके बिना यदि मनुष्य इन शास्त्रों का अध्ययन कर भी लेता है तो भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'पतिहीना न शोभन्ते' औरत का बढ़िया से बढ़िया शृंगार कर दो और उसका पति मरा हुआ हो तो क्या वह शृंगार शोभा देगा ? उलटा बदनामी करायेगा। जिस प्रकार शृंगार की शोभा पति के पीछे है, पति नहीं तो शृंगार दोष वाला हो जाता है, गुण वाला नहीं रहता। इसी प्रकार जहाँ ममता और परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं होता है, वहाँ यदि वेदांत आदि शास्त्रों के कुछ सूत्र याद भी कर लिये तो वे शोभा देने के बजाय भद्दे लगते हैं। अनधिकारी के मुख से निकलते वाक्यों में ओज कहाँ से आयेगा ! इसीलिये श्रुति ने अपने क्रम में पहले कहा कि नैष्किंचन्य को प्राप्त करने के बाद इस निर्वेद को प्राप्त करना है। तभी पाण्डित्य पूर्ण होगा।

इस पाण्डित्य की चार सीढ़ियाँ समझना, चार सोपानों के द्वारा

इस पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। 'पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदभिसंगतिः' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि पाण्डित्य की ये चार सीढ़ियाँ हैं। सबसे पहले पद के अर्थ की अधिगति अर्थात् साक्षात् ज्ञान। महावाक्य में दो पद हैं—एक ईश्वर-वाचक और दूसरा जीव-वाचक। 'अहं ब्रह्म' में 'अहं' जीव-वाचक और 'ब्रह्म' ईश्वर-वाचक। 'तत्' ईश्वर-वाचक और 'त्वं' जीव-वाचक। 'अयामात्मा ब्रह्म' में 'आत्मा' जीव-वाचक और 'ब्रह्म' ईश्वर-वाचक। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' में 'प्रज्ञान' जीव-वाचक और 'ब्रह्म' ईश्वर-वाचक। इस प्रकार महावाक्यों के अन्दर जीव-ईश्वर के वाची दो पद होते हैं। पदार्थाधिगति का मतलब केवल अनेकार्थ कोष को रट लेना नहीं है! 'अहं मायने जीव, जीव मायने अंतःकरणावच्छिन्न चेतन और अंतःकरणावच्छिन्न चेतन मायने पुर्यष्टक', आदि सब रट लेने का मतलब पदार्थ का ज्ञान नहीं है। गंगा सहस्रनाम रट जाओ, क्या पता लगेगा कि हरद्वार की गंगा में गोता लगाने में ठण्डक का कितना आनंद है ? बहुत से लोग समझते हैं कि एक शब्द के अनेक अर्थ याद कर लिये तो पदार्थ का ज्ञान हो गया। किंतु पर्याय जानना अर्थ जानना नहीं है। 'घट' से यदि वह विशिष्ट बर्तन तुम्हें पता चलता है तब कहेंगे कि तुम्हें घट शब्द के अर्थ का ज्ञान है। यदि केवल 'घट' से तुम्हें 'कलश' यह शब्द याद आ जाये, बर्तन का कोई भान न हो तो तुम्हें अर्थज्ञान नहीं है।

बहुत से लोग जीव-वाचक अनेकार्थक कोषों को याद कर लेते हैं और कहते हैं कि 'समझ गये कि यह जीव है'। यह जीव समझना नहीं, पर्याय याद करना है। जब तक देहादि समग्र पदार्थों से वृत्ति हटकर समाधि के अन्दर सारी उपाधियों से रहित स्थिति

नहीं बनेगी, तब तक जीव का साक्षात्कार कहाँ किया ! सांख्यवादी हमें ठेठ तक नहीं पहुँचाते हैं, यह ठीक है, लेकिन त्वं-पदार्थ का बोध कराते हैं, सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्याति से जीव-ज्ञान तो होता ही है। अभी हमारा जीव का ज्ञान भी सही नहीं है क्योंकि जब अपने को देखते हैं तब अंतःकरणविशिष्ट को ही देखते हैं। बिना मन के तुम्हारा क्या रूप है, क्या पता है ? 'किसी शब्द के सहारे ही मेरा मन लगता है', इसका मतलब है कि पदार्थ मेरे हाथ में नहीं है। अभी तो जीवात्मा का ही साक्षात्कार नहीं है, ईश्वर तत्त्व के साक्षात्कार की तो बात ही दूर रही। 'मायाविशिष्ट चेतन, अविद्योपाधि उपहित चेतन', ये सब तो शब्द हैं, इनका अभिप्राय समझना पड़ेगा, केवल इन शब्दों को जानना पर्याप्त नहीं। 'पदार्थाधिगतिःपूर्वं' तत्, त्वं (ईश्वर, जीव) के वाचक शब्दों का जो अर्थ है, उसको पहले समझना है, बुद्धि से नहीं बल्कि अनुभव से अर्थात् अधिगत करना है। हम चाहे जितना समझायें कि अमुक चीज़ मीठी होती है लेकिन बिना खाये कभी पता नहीं चलेगा कि स्वाद, मिठास कैसा है।

एक कथा है। एक लड़का शराब पीने लग गया था। पिता रोज़ समझाये कि शराब पीना छोड़ दे, लेकिन उससे बेचारे से शराब छूटे नहीं। पिता रोज़ डाँटे। एक दिन उसने कहा—'पिताजी, एक काम कर लो, एक दिन आप मेरे साथ बैठकर पी लो, फिर मैं पीना छोड़ दूँगा।' पिताजी मान गये। उस दिन उसने पिता को बढ़िया शेरी पिलाई तो उनको बड़ा आनंद आया। बेटे ने कहा—'पिताजी, आज आखिरी दिन है, इसलिये थोड़ी और पी लूँ ?' पिता बोला—'तुझे छोड़नी हो तो छोड़ देना, मैं तो अब कभी

छोड़ने वाला नहीं हूँ।' स्वाद जो आ गया।

इसी प्रकार जिसे परब्रह्म परमात्मा का स्वाद आया होगा, उसे शब्दों से अर्थ का पता लग जायेगा। उसके बिना मुँह से कहते रहो, उससे कुछ नहीं होगा। रसगुल्ला कहने से मिठास का पता नहीं, खाने से पता लगेगा कि असली स्वाद कैसा है। न हमने जीव का स्वाद चखा है, न ईश्वर का स्वाद चखा है। चूँकि स्वाद चखा नहीं है, इसीलिये दूसरी-दूसरी तरफ मन जाता है, क्योंकि दूसरी चीज़ों को, संसार के विषयों को मन ने चखा हुआ है। जब हम उस स्वाद को चख लेते हैं तब जबरदस्ती दूसरे काम में लगना भी पड़े तो मन उसमें रुचि नहीं ले सकता, क्योंकि उससे उत्तम चीज़ के स्वाद का पता लग गया है। इसलिये पहले जीव तत्त्व का साक्षात्कार और फिर ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार होना चाहिये। मेरा अपना आपा अन्दर का कैसा है, यह पहले जानना है, क्योंकि जिसने अपने आपे को नहीं पहचाना, वह ईश्वर को नहीं पहचान सकेगा। इसलिये पहले अपने जीव तत्त्व को पहचानना है कि मैं क्या हूँ, कैसा हूँ, वस्तुतः मेरा स्वरूप क्या है। फिर उसी के अन्दर ईश्वर तत्त्व को समझना है। ईश्वर जब मेरे अन्दर जगमगाता है, तब उसका स्वाद कैसा है, यह ईश्वर को जानना हुआ। यह हमेशा याद रखना कि ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार अंतःकरण में ही होगा। अहंकारात्मिका वृत्ति होने पर ज्ञान होगा। अंतःकरण से बाहर देवताओं का ज्ञान हो सकता है, ईश्वर का ज्ञान तो अंदर ही होगा। इसलिये पहले जीव तत्त्व का साक्षात्कार और फिर जीव तत्त्व के अन्दर ही ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार होना है।

'ततस्तदभिसंगतिः' तब उन दोनों के रिश्ते का पता लगेगा

कि वस्तुतः जीव और ईश्वर का रिश्ता है क्या ? जब तक दो चीज़ों को जानोगे ही नहीं तब तक रिश्ते का क्या पता लगेगा? जब दोनों का साक्षात्कार किया तब अभिसंधि (दोनों के रिश्ते) का पता लगा। दोनों का रिश्ता क्या है ? विचित्र रिश्ता है। विचित्र इसलिये है कि जीव और ईश्वर दोनों आपस में चिन्मात्र के द्वारा तादात्म्य सम्बन्ध वाले हैं। कपड़े के दृष्टांत से समझो : जैसे कपड़े में दो चीज़ें रहती हैं—एक तो रंग, और दूसरा स्पर्श। रंग और स्पर्श का आपस में क्या सम्बन्ध है ? रंग और स्पर्श कपड़े के द्वारा तादात्म्य सम्बन्ध वाले हैं क्योंकि रंग भी कपड़े से अलग नहीं और स्पर्श भी कपड़े से अलग नहीं है। इसी प्रकार एक ही चैतन्य, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वराकार लिये हुए है और वही अल्पज्ञ अल्प-शक्तिमान् जीवाकार लिये हुए है। यह उन दोनों का सम्बन्ध है। रंग स्पर्श नहीं है, स्पर्श रंग भी नहीं है लेकिन स्पर्श और रंग दोनों कपड़े के साथ अभिन्न हैं। यह अभिसंधि (अभिसंगति) है। इसी प्रकार जीव ईश्वर नहीं है, ईश्वर जीव भी नहीं है लेकिन जीव और ईश्वर दोनों चिन्मात्र के साथ तादात्म्य पाये हुए हैं। यह दोनों का विचित्र रिश्ता है।

तीसरा सोपान है 'विरुद्धार्थद्युतिः पश्चात्' । जीव और ईश्वर विरुद्ध अर्थ हैं। एक में अल्पज्ञता, दूसरे में सर्वज्ञता, एक में अल्पशक्तिमत्ता, दूसरे में सर्वशक्तिमत्ता, एक में व्यापकता और दूसरे में परिच्छिन्नता है। इन्हें एक कहना विरुद्ध प्रतीत होता है, उस विरोध को हटाना तीसरा क़दम है। कपड़े का ही दृष्टांत ले लो : ग्राहक तुम्हारी दुकान पर आया। कोई ग्राहक पहले कपड़े को देखता है, खासकर शहर का जानकार ग्राहक, और फिर कपड़े

के रंग (डिज़ाइन) को देखता है। गाँव का आदमी पहले रंग देखता है, फिर कपड़ा देखता है ! बस उसी में दुकानदार समझ लेता है ग्राहक को। हिन्दुस्तानी कपड़े को 'फ्रैन्च शिफान' करके बेच देता है। यदि तुमने पहले डिज़ाइन को पसन्द कर लिया तो फँसे, अब कपड़े की पहचान करना मुश्किल हो जायेगा। कपड़ा और डिज़ाइन दोनों को देखने के बाद उन दोनों की विरुद्धार्थता को हटा देते हो : भाव-मोल करते समय कपड़ा और डिज़ाइन दोनों का भाव-मोल नहीं करते; इन दोनों का मूल्य नहीं है, बल्कि ये दोनों जिस कपड़े में हैं, उस अखण्ड कपड़े का ही मूल्य है। ऐसा नहीं कि साढ़े बारह आने रंग के और साढ़े तीन आने उसकी मुलायमियत के हो गये ! विरुद्धार्थ हटाकर एक अखण्ड कपड़े को पकड़ना पड़ता है। लेकिन जब कपड़े को पकड़ा तब उसके अन्दर रंग और डिज़ाइन दोनों कहीं चले नहीं गये ! कपड़े का स्पर्श और रूप दोनों साथ ही हैं लेकिन तुमने विरुद्धार्थता हटा दी। अब तुम अखण्ड कपड़े से व्यवहार कर रहे हो। इसी प्रकार उस चिन्मात्र के अन्दर कल्पित जीव और ईश्वर भाव बने हुए भी तुम चिन्मात्र से व्यवहार करते हो, न केवल जीवभाव से, न केवल ईश्वरभाव से। लेकिन ये दोनों भाव कहीं गये नहीं हैं।

'ततो वाक्यार्थबोधनं' तब वाक्य का अर्थबोध होता है, यह चौथा सोपान है। तभी पाण्डित्यभाव आता है। केवल महावाक्यों के उच्चारण या उनके तात्पर्यार्थ को बोलने से पाण्डित्य नहीं आता। इन तीन सोपानों से जाकर वाक्यार्थ-बोध होता है तब पता लगता है कि जिन वाक्यों ने जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन किया था, उनका तात्पर्य क्या है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् की एक लीला आती है। भगवान् गाँव से मथुरा पहुँचे। पहली बार इतना बड़ा बाजार उन्होंने देखा था, इसलिये बड़े शौक से बाजार में बढ़िया-बढ़िया चीज़ें देखते जा रहे थे। तब तक उनको एक स्त्री दिखाई दी जो चन्दन, इतर, फुलेन आदि शृंगार की सामग्री लेकर जा रही थी। भगवान् ने विचार किया कि 'इसके पास तो बड़ी अच्छी चीज़ें हैं। अपने यहाँ तो केवल घी और दूध की सुगन्धि थी।' नंद के घर ये चंदन इतर, फुलेल आदि कहाँ होते थे ! आज भी गाँव के लोगों को गाय-भैंसों से सुगन्धि आती है। शहर वाले बेचारे कहते हैं कि 'गाय तो रख लें, लेकिन बदबू बड़ी आती है !' गाँव का आदमी बड़ी प्रसन्नता से गोबर लीपता है। उसमें उसको सुगन्धि आती है। शहर का आदमी हो तो नाम सुनकर ही मुँह बिगड़ने लग जाता है। भगवान् ने पहली बार यह शृंगार सामग्री देखी थी। शरीर पर लेपन करने वाले पदार्थों को एक सोने के बर्तन में रखकर वह चली जा रही थी। भगवान् ने सोचा कि यह सामान लेना चाहिये। कैसे लें ? जाने वाली का वर्णन करते हुए भगवान् शुकदेव बड़ी सुन्दर बात कहते हैं 'विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननाम्'। भगवान् कृष्ण की विलक्षण शक्ति को बताते हैं : सामने जो औरत जा रही थी वह कुब्जा थी। उसने खुद कहा 'मैं तीन जगह से टेढ़ी हूँ।' पूरी कुबड़ी थी। दूसरा आदमी देखे तो लगेगा कि कैसी भद्दी औरत जा रही है। लेकिन मनुष्य की संसार को देखने की दृष्टि कैसी होनी चाहिये, यह बताते हैं। भगवान् ने कुब्जा को देखा। दृष्टि ने विरुद्ध चीज़ों को छिपाया नहीं था। उसका मुख बड़ा सुन्दर था और उम्र से वह युवती थी। यह है विश्व को देखने की ज्ञानी और ईश्वर की

दृष्टि कि हर चीज़ में कुछ अच्छाई है और कुछ बुराई। कुबड़ी तो थी लेकिन मुख सुन्दर था। यह कोई नियम नहीं कि कुबड़ा हो तो मुख भी खराब हो। यह भी नहीं कि कुबड़ापना भूल जाये और केवल मुख देखे ! अच्छी-बुरी दोनों चीज़ों को देखना ही ठीक दृष्टि है।

भगवान् की प्रत्येक लीला में व्यवहार और परमार्थ दोनों चलते हैं। हँसकर और रसप्रद वचनों से भगवान् ने उससे बात की। उससे कुछ माँगना है। किसी से कुछ लेना हो तो क्या करना पड़ेगा, भगवान् अपनी इस लीला से बता रहे हैं। पहले अपना रस दोगे तब सामने वाले से कुछ मिलेगा। अधिकतर लोग संसार में दुःखी क्यों हैं ? क्योंकि देने के पहले लेने की सोचते हैं। कपड़ा देने के पहले दाम लेने की सोचते हैं कि ग्राहक से कितना ले लूँ। कैसा माल दूँ—यह नहीं सोचते। इसी प्रकार बहू ब्याह करके घर में आई। इसको मैं क्या दे दूँ—सास यह नहीं सोचती, वरन् इससे क्या काम ले लूँ। जैसे सास, वैसे बहू भी यही सोचती है कि मैं अपने सास-ससुर से क्या झटक लूँ। उन्हें कितना दूँ—यह नहीं सोचती। भगवान् बता रहे हैं कि पहले अपने आपको यदि तुमने दे दिया तब लेने के अधिकारी बनोगे। जिसने जिससे ले लिया, वह किसी परिस्थिति में उसे ना कर सके यह संभव नहीं। इसलिये भगवान् जब उससे बोले तो पहले रस दे दिया। कैसा रस दिया? उन्होंने संबोधित किया 'श्रेष्ठ ऊरुओं वाली।' उसके सुन्दर रंग की उसे याद दिलाते हुए पूछा 'तुम सुन्दर अनुलेप किसके लिये लेकर जा रही हो ?' शुकदेव जी कहते हैं कि किसी को जो दोगे, वही लोगे। कुब्जा ने भी जवाब देते हुए कहा, 'मैं कंस के द्वारा

प्रशंसित दासी हूँ। मैं दासी तो हूँ लेकिन वह मेरे कार्य की बड़ी प्रशंसा करता है। मेरा काम इन्हीं इत्र फुलेल आदि शृंगार सामग्री को तैयार करके देना है। मेरा नाम ही त्रिवक्रा (तीन अंगों से टेढ़ी) है। मैं बड़े ढंग से इत्र, फुलेल में सुगन्ध की भावना देती हूँ।' इत्र बनाने का एक तरीका होता है ! है तो वह तेल ही लेकिन उसमें सुगन्ध की भावना देने की विशेषता है। 'मैं कंस के लिये लेकर जा रही हूँ, लेकिन सच्ची बात यह है कि कंस इन चीज़ों के लायक है नहीं ! पैसे के कारण मैं उसे देती हूँ। इसको लेने के असली अधिकारी तो आप ही हैं।' पहला ही विशेषण कहा—'हे सुन्दर ! मैं जो यह पदार्थ लेकर जा रही हूँ, इसके योग्य आप हैं। इसलिये आप ले लें।' यहाँ विचित्र पद्धति देखो : भगवान् ने नहीं कहा था कि 'यह मुझे दे दो।' वह खुद कहती है 'आपके लायक है इसलिये आप ले लें।' भगवान् ने सोचा कि 'हम कंस के यहाँ तो जा ही रहे हैं, आखिर हैं तो राजपुत्र ही। ज़रा यह सब प्रसाधन लगाकर जायेंगे तो ठीक रहेगा। इसकी सुगन्धि कंस तो दसों सालों से लेता रहा है। सुगन्धि की कोई विशेषता है। कंस को पता है कि यह सुगन्धि कुब्जा ही बनाती है। इसलिये इसे लगाकर जायेंगे तो कंस का गुस्सा और तेज़ हो जायेगा और हमारी शोभा बढ़ेगी।' अच्छी तरह से सुगन्धि को लगा लिया और कहा कि 'इसने मुझे सुशोभित कर दिया। मैं तो गाँव का अहीर बनकर ही जा रहा था, अब राजकुमार बनकर जा रहा हूँ।' उन्होंने निश्चय किया कि 'इसके बदले मुझे भी इसको सुशोभित करना चाहिये।' भगवान् ने अपने दोनों पैर उसके दोनों पैरों पर रख दिये और फिर दोनों अंगुलियों से उसकी ठोढी में हाथ लगाया और ज़ोर

से झटका दिया तो वह सीधी हो गई! कुब्जा ने देखा कि 'गजब हो गया ! मैं तो सुंदरी बन गयी।' जब कुब्जा थी तब उसका सौन्दर्य दबा हुआ था, जब सीधी हुई तब सौन्दर्य प्रकट हो गया। वह भगवान् का उत्तरीय पकड़कर कहने लगी कि 'मेरे घर चलो।' भगवान् ने विचार किया कि यह कहती है और मुझे कहीं रात बितानी ही है। कंस के घर रहना नहीं है, अन्य यहाँ कोई विश्वासी नहीं है, तो इसीके घर क्यों न रहा जाये ?' भगवान् ने कहा—'अभी तो नहीं, आज शाम को आऊँगा, इस समय कुछ कार्य करने हैं।'

इस कथा के द्वारा भगवान् ने क्या बताया ? यह कुब्जा कोई सामान्य नहीं, इसका त्रिवक्र नाम बताया है। रीढ़ की हड्डी भी तीन जगह से टेढ़ी होती है। इसीके अन्दर कुलकुण्डलिनी रहती है। वह कुण्डलिनी अनादि काल से हमें कंस के लिये शक्ति देती है। हमारी जितनी आसुरी वृत्तियाँ हैं, जितने भी भोग हैं, उसकी सामर्थ्य और शक्ति उसी कुण्डलिनी से आती है। इसकी जितनी सामर्थ्य है, वह आज तक कंस को, आसुरी वृत्तियों को ही अर्पण कर रखी है। है वह शक्ति अन्दर ही—लेकिन उसे असुर को देते रहे हैं। भगवान् उसीको लेने की इच्छा करते हैं। कहते नहीं कि 'मुझे दे दो।' वे तो केवल उसकी विशेषता का, सौन्दर्य का निरूपण करते हैं। यही पाण्डित्य है। जब निर्ममता और अपरिग्रहता पूर्ण हो जाती है, तब पाण्डित्य के तीन सोपान आते हैं, इनके द्वारा ही पता लगता है कि वस्तुतः उस परमात्मा की स्वरूप-सुन्दरता कैसी है। इसीलिये कुब्जा ने 'सुन्दर' कहा। जब परमात्मा में सुन्दरता का पता लग गया तब वह कुण्डलिनी अपनी सारी शक्ति परमात्मा की तरफ खर्च करती है। अब वह अपनी शक्ति विषयों

की तरफ खर्च नहीं कर सकती, अनात्मा की तरफ अब उसकी शक्ति जा नहीं सकती। पूर्व संस्कारों या पूर्व वासनाओं के कारण पहले वाले पदार्थ सामने आ जाते हैं, संसारवासना अभी जली नहीं है, वह तो आगे जाकर 'मुनि तत्त्व' में जलेगी। उन संस्कारों और वासनाओं के कारण वैषयिक पदार्थ सामने आते भी हैं, उनके साथ हमारी इन्द्रियों का सम्बन्ध भी होता है, लेकिन वह सम्बन्ध होते हुए भी हम अपने आपको, हमारी कुण्डलिनी शक्ति अपने आपको उस विषय को दे नहीं पाती। अब वह देगी तो परमात्मा को ही देगी। वासनाओं के अन्दर एक विलक्षणता है। जिस वासना को हम अपने आपको देंगे, वह तो बढ़ेगी और जिस वासना को हम अपने आपको नहीं देंगे, वह वासना घटती चली जायेगी। लोक में भी रोज़ देखते हो कि कितना भी रसगुल्ला अच्छा लगता हो, धीरे-धीरे संस्कार करो कि 'रसगुल्ला मेरे लिये बुरा है, डाक्टर ने कहा है कि मुझे मधुमेह का रोग है', तो रसगुल्ले का आकर्षण जाता रहेगा। बेचारे अच्छे-अच्छे ब्राह्मण भी शक्कर बढ़ने के डर से रसगुल्ला खाना छोड़ देते हैं। इच्छा तो अब भी होती है। एक परिचित व्यक्ति पूर्व संस्कार के कारण मांस खाया करते थे, फिर सत्संग में आने से उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया, कई साल बीत गये। एक दिन बात हो रही थी तो कहने लगे कि 'अब मुझे मांस से इतनी घृणा है कि दूसरा भी खाता हो तो सहन नहीं होता। लेकिन उसमें स्वाद ज़रूर होता है।' उसका स्वाद अभी भी उन्हें स्मरण है। यह उस पाण्डित्य की स्थिति है। अभी वासनाएँ खत्म नहीं हुईं, इसलिये विषय सामने आते हैं तो उन विषयों के स्वाद का भी उसे पता है, विषयों से सम्बन्ध भी हो जाता है,

उनके रूप, रस का भी स्मरण है लेकिन सब होते हुए भी उसका नाम लेने से एक तरह से उबकाई (उलटी) आती है कि 'ये कुछ नहीं है, असली चीज़ तो वह दूसरी ही है।' यह तब जब कुण्डलिनी की सुन्दरता को पहचान लिया है। अब परमात्मा भी उसे स्वीकार करते हैं, उसका कुबड़ापन मिटा देते हैं।

प्रवचन-२२

पुरुषसूक्त में पंचम मंत्र की व्याख्या करते हुए श्रीचक्र के आधार पर बता रहे थे कि किस प्रकार देव, तिर्यङ्, मनुष्य और उनके शरीरों तक सृष्टि बनती है। बिन्दु तत्त्व से चवालीस भूमिकाओं के द्वारा आगे बढ़ते हुए किस प्रकार कोणों को प्राप्त करते हैं, पुनः किस प्रकार वापस आते हुए लीन होते हैं यह बताया। 'मंत्रेशो व्युत्थितः प्रोक्तो विद्येशो भिक्षुकस्तथा। पण्डितश्च महेशः स्यात्' से बताया कि श्रुति ने जिसे व्युत्थित कहा वही मंत्रेश है। 'एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति.... तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'—इस व्युत्थित को मंत्रेश कहा। 'मंत्र' वेद की शब्दराशि को कहते हैं। मंत्र शब्द का अर्थ है 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः' मनन करने से जो त्राण करे वह मंत्र है। वेदवाक्य सारे मंत्र हैं। मंत्र, खासकर वैदिक मंत्र, मशीन की तरह जप करने केलिये नहीं हैं। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' अर्थ की भावना ही मंत्र है। संन्यास प्रतिपादक मन्त्र अनात्म-पदार्थों

से हटने में गतार्थ है। मंत्र में कौन सी चीज़ त्यागने को कही है, इसे मंत्रेश जानेगा। अंत में सर्वमेधयाग होना है। उसी के मंत्र 'त्वचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' आदि आयेंगे। सारे मंत्रों का तात्पर्य अनात्म-पदार्थों का त्याग करने में ही है।

बहुत से लोग गायत्री मंत्र जपते हैं। कभी सोचा कि यज्ञोपवीत के समय गायत्री मंत्र में क्या छोड़ने को बताया है। गायत्री मंत्र का जपना बड़ा कठिन है। यों जपने को सभी जपते हैं ! सबसे पहले कहते हैं 'तत्सवितुःवरेण्यं' उस जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के सिवाय मैं और किसी का वरण करूँगा ही नहीं। परमात्मा के सिवाय और कोई *वर* बनने लायक है ही नहीं। जैसे मीरा ने एक बार कहा 'ऐसे वर को क्या वरूँ जो जन्मे और मर जाये। जो जन्मने-मरने वाला है, उसे क्या चुना या वरण किया जाये ! आज वरण किया और थोड़े दिन बाद वह मर गया, अगर पचास साल बाद भी मरा तो भी थोड़े ही दिन हैं। वह मर गया तो वह अपने रास्ते और मैं अपने रास्ते। उसके बाद दस-बीस साल बैठकर रो भी लिया तो क्या फ़ायदा ? फिर आगे जाकर मरण, जन्म, किसी और का वरण करना पड़ेगा। इसलिये ऐसे वर को क्या वरूँ! ऐसे को वरूँ जो जन्म और मरण से रहित हो। वही वर के योग्य है।' गायत्री मंत्र का जप तब करो जब सबसे पहले सोचो 'तत्सवितुःवरेण्यं' जगत् को उत्पन्न करने वाले उस परब्रह्म परमात्मा के सिवाय मैं बाकी सबका वरण त्याग रहा हूँ। इसीलिये हम लोग स्त्रियों को गायत्री मंत्र का निषेध मानते हैं क्योंकि स्त्री को एक वर बनाना ही है, फिर वह कैसे कहे 'तत्सवितुःवरेण्यं' ! अगर कहती है तो फिर ब्याह-शादी के लायक

नहीं रह जायेगी।

फिर 'भर्गो देवस्य धीमहि।' यह सुनकर घबराना नहीं। 'भर्गः' परमात्मा के सिवाय और किसी को मैं अपने पापों का भर्जक नहीं बनाऊँगा। इसीलिये पुराने समय में ब्राह्मण लोग दूसरे-दूसरे अनुष्ठान तो ले लेते थे लेकिन गायत्री-पुरश्चरण करवाओ तो मना कर देते थे। कहते थे, 'एक मंत्र तो अपने लिये भी छोड़ दें' अर्थात् 'तुम्हारे पापों के प्रायश्चित्त के लिये तो हम दूसरे मंत्रों का जप कर लेंगे, तुम्हारे ऊपर आपत्ति आयेगी तो त्र्यम्बक मंत्र के जप से तुम्हारे रोग की पीडा को हटा देंगे। हमारे ऊपर पीडा या आपत्ति आयेगी तो किस के पास जायेंगे ? क्योंकि जिस मंत्र को हमने दूसरे के लिये उपयोग किया, फिर उस मंत्र में हमारा अपना अधिकार नहीं रह सकता।' इसलिये भर्गः से कहते हैं—हे परमात्मा! मैं अपने पापों के भर्जन के लिये तो केवल तेरे ही सहारे को पकड़ूँगा। घर-घर नहीं भटकूँगा। अब क्या होता है ? आज गण्डा तो कल ताबीज़ बँधवाओ, परसों मौलवी से फूँक मरवाने जा रहे हैं तो अगले दिन ईसामसीह का पानी लिया जा रहा है। भैरव, मराल न जाने किस-किस के पास जा रहे हैं। फिर गायत्री मंत्र का जप तो करते ही हैं कि एक परब्रह्म परमात्मा ही जगत् को उत्पन्न करने वाला है, उसके अतिरिक्त मैं और किसी को अपने पापों का भर्जक नहीं बनाऊँगा!

'देवस्य धीमहि' मैं अगर अपना मन किसी में लगाऊँगा तो केवल उस परब्रह्म परमात्मदेव में ही लगाऊँगा। बैठे हुए बड़े चिंतन में लगे हुए हो, किसी ने पूछा—'क्या सोच रहे हो ?' कहते हैं, 'क्या बतायें, सेल्स टैक्स का रिटर्न भरना है, उसके लिये सोच

रहे हैं कि क्या किया जाये।' जप गायत्री का करते हो ! अगर जप करते हो तो किसी भी काल में बैठकर सोच रहे हो और कोई आकर पूछे तो कहो कि 'परमात्मा का ध्यान कर रहा हूँ।' ठीक है, व्यवहार-काल आयेगा तो लिख देंगे, उसके लिये चिंतन क्या करना है ? मंत्र जाप का तात्पर्य है कि अन्य सब चीज़ों का वरण छोड़ना है। परमात्मा के सिवाय बाकी जितने भी कल्पित या सत्य देवी-देवता हैं, उनके सहारे को और भूत-प्रेत, पिशाचों के सहारे को, अपने पापों के प्रायश्चित्त के लिये भी किसी कर्म के सहारे को छोड़ना है, अन्य सब चीज़ों का चिंतन छोड़ना है।

इन सब चिन्तनों को करने वाला जो बुद्धि तत्त्व है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उस बुद्धि-तत्त्व को भी मैं अपने काम में नहीं लूँगा। हे परमात्मा तू ही मुझे प्रेरणा कर, अर्थात् मेरी बुद्धि में जो विचार उठेगा, वह तेरे लिये ही उठेगा, संसार की और किसी चीज़ के लिये नहीं। आपके तेज को लेकर इस बुद्धि से अपना काम सिद्ध नहीं करूँगा। इन चार चीज़ों को जो छोड़ सके, वह कह सकता है कि मैं गायत्री मंत्र का जप कर रहा हूँ। मंत्रेश अर्थात् जो ऐसा समझे, वह गायत्री मंत्र का ईश हुआ। नहीं तो लोग सोचते हैं कि कितनी जल्दी दस मालायें खत्म हों और यहाँ से जाकर गरम-गरम चाय पियें। ध्यान तो चायदेवी का हो रहा है! वह मंत्रेश नहीं। इसलिये कहा, 'मंत्रेशो व्युत्थितः प्रोक्तो' सात वृन्दों में मंत्रेश वह है जो व्युत्थान को प्राप्त हुआ है।

अब एक बात ज़रा कठिन है : हमारे यहाँ ज्योतिष शास्त्र के हिसाब में और पाश्चात्य ज्योतिष के हिसाब में एक फ़र्क होता है। ज्योतिष जानने वाले समझ जायेंगे। भाव की स्थितियाँ कहाँ

मानी जायें ? पहला हुआ तनुभाव, उसकी स्थिति कहाँ मानी जाये? पाश्चात्य ज्योतिष के हिसाब से प्रारंभ से भाव शुरू होता है और फिर भाव समाप्त हो जाता है। इसलिये ऊपर घर में वह भाव रहता है। हम लोगों के हिसाब से भाव का जो मध्य होता है उसको तो हम पूर्ण ज़ोर वाला मानते हैं और मध्य से पहले बालभाव और मध्य के बाद वृद्धभाव मानते हैं। इसलिये हमारी ज्योतिष में जो मध्य बिन्दु है, वह एक रेखा है। फिर उसके 'पूर्व' और 'पर' ये दो भाग हुए। पर वाला भाग आगे को विषय करता चला जायेगा, ज़्यादा-ज़्यादा अगले भाव को देखता जायेगा। मध्य बिन्दु से प्रथम भाव आगे बढ़ा तो द्वितीय बिन्दु पर पहुँचने लगा। मध्य बिन्दु से पहले वाला भाग पूर्वभाव को विषय करेगा। प्रथम भाव का पूर्व भाग बारहवें भाव को पूर्ण करेगा। इसी प्रकार यहाँ जितने भाव बता रहे हैं, उनमें हरेक में दो-दो हो जाते हैं, भाव एक ही है। जैसे मंत्रेश अगर मध्य भाग से आगे बढ़ गया तो उतना विद्येश भाव के पास जाने लगा और व्युत्थान के पूर्व वाली अवस्था हुई। ये दो हिस्से हुए। इसलिये जितने भाव हैं, उनके दो भेद हो जायेंगे। इसीलिये ये चौदह बनेंगे। सात भावों में पूर्व और पर भेद से चौदह बन जायेंगे। स्थितियाँ ऐसी नहीं होती हैं कि एक स्थिति खटके की तरह बन्द हुई और दूसरी शुरू हुई। वह तो क्रमिक विकास है। इसीलिये यहाँ पूर्व और पर भेद से दो हिस्से होते चले जायेंगे। एक में कमल खिल जाता है और दूसरे में बन्द हो जाता है। यदि कमल का खिलना और बन्द होना कभी देखा होगा तो समझ जाओगे। ऐसा नहीं होता कि मशीन की तरह झट बन्द हो गया जैसे दरवाज़ा बन्द होता है, या झट खुल गया। कमल धीरे-धीरे

बन्द होगा, उसके बन्द होने में घण्टा-डेढ़ घण्टा लग जायेगा। खिलेगा तो भी ऐसे नहीं कि झट खुल गया, बल्कि धीरे-धीरे उसकी पंखुड़ियाँ खिलेंगी। अगर जल्दी में चढ़ाना हो तो कमल की पंखुड़ी को हाथ से पकड़कर जल्दी खोलना पड़ता है। उसमें कमल खुल तो जाता है लेकिन *खिलता* नहीं जैसे वह अपनी स्वकीय शोभा से खिलता है।

इसी प्रकार यहाँ एक-दूसरे भावों में जाना समझना। 'मंत्रेशो व्युत्थितः प्रोक्तो' व्युत्थान की अवस्था मंत्रेश पहले बताई। आगे जो भिक्षाचर्या कही थी, उसी को विद्येश कहते हैं, क्योंकि भिक्षाचर्या का तात्पर्य बताया था

'भिक्षया लक्ष्यते चर्याह्याकिंचन्यैकसंश्रया।
अममाऽपरिग्रहोक्तेर्निष्कर्मा मुनिरुच्यते।।'

अकिंचनता, अममता, अपरिग्रहता ही विद्या है। जिसे यह अनुभव हो गया कि 'मेरा कुछ नहीं' उसे विद्येश कहा। हर मंत्र का तात्पर्य किसी न किसी चीज़ के त्याग में है, ऐसे ही हर विद्या का तात्पर्य यह बताने में है कि यहाँ मेरा कुछ नहीं है। सारी विद्यायें यही तो बताती हैं अर्थात् विद्या पढ़ ली इसका पता इसी से लगता है कि जिस चीज़ को तुम अपना समझ रहे हो वह तुम्हारी नहीं है। मशीन को बनाने वाले आविष्कारक के दिमाग ने अपना काम किया तो तुम्हें चीज़ प्राप्त हुई। उस मशीन से उत्पन्न होने वाली सारी चीज़ों को अपना समझना चोरी है। दुकान में जो फायदा होता है उसका कारण केवल मुनीम और पल्लेदार ही नहीं है, रेलवे विभाग के कर्मचारी, मशीन आदि सब उसमें कारण पड़ेंगे। इसलिये जो कुछ होता है, वह किसी एक का नहीं है। यह

अर्थशास्त्र को पढ़ोगे तो समझ में आयेगा, नहीं तो लगता है कि हमने खुद कमाया है। ज़रा विश्लेषण करो कि खुद का क्या है : इतना विश्लेषण तो करते हैं कि देह का द्रष्टा मैं, देह मैं नहीं। ऐसे ही वहाँ भी विश्लेषण करो कि कमाई किस की होती है, तो पता लगेगा कि जैसे देह आदि समष्टि के हैं, वैसे ही वहाँ रखा हुआ धन भी सब समष्टि का है। इसी प्रकार राजशास्त्र पढ़ लोगे तो पता लगेगा कि राज्य मेरा नहीं। मैं चुन लिया गया इतने मात्र से राज्य मेरा नहीं हो गया। इसीलिये चुनने के बाद भी कहते हैं कि 'अब आपत्ति का समय आया है, हमारा सहयोग करो।' लोग भी ऐसा नहीं कहते कि 'तुम तो राजा हो खुद ही सब चला लो।' प्रत्येक विद्या तुम्हें अंततोगत्वा अममता सिखायेगी कि मेरा कुछ नहीं है। इसलिये वह विद्येश हुआ जिसने विद्या का स्वरूप समझ लिया। किसी चीज़ में उसकी ममता नहीं रही।

'पण्डितश्च महेशःस्यात्'—महेश को पण्डित शब्द से कहा। ऐसा क्यों कहा ? जैसे कल बताया कि चार अवस्थाओं के द्वारा ज्ञान का पाक होता है 'पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदभिसंगतिः' आदि, ये ही चार अवस्थायें यहाँ पाण्डित्य, बाल्य, मौन और ब्राह्मण शब्दों से कही गई हैं। पाण्डित्य में पण्डा आत्मबुद्धि को बताया था। 'पाण्डित्यं निर्विद्य' पाण्डित्य को प्राप्त करने का तात्पर्य है कि पहले त्वम्पद के अर्थ को समझना है। भगवान् वार्तिककार बृहदारण्यकवार्तिक में पाण्डित्य का स्वरूप बताते हुए कहते हैं

'प्राणेन प्राणितीत्युक्तो दृष्टेर्द्रष्टेति चोदितः

स आत्माऽनुभवात् सिद्ध आ देहाद् आ परात्मनः।।'

उपनिषद् में 'जो प्राणों का प्राण है' द्वारा जिसे कहा गया है उसी को द्रष्टा कहकर याज्ञवल्क्य महर्षि ने समझाया है, वही दृष्टि का द्रष्टा है। जो प्राणों का भी प्राण है, दृष्टि का भी द्रष्टा है, अर्थात् प्राणों को भी जो प्राणरूप बनाता है, दृष्टि को भी जो दृष्टि देता है, उसी का नाम आत्मा है। वह आत्मा है इसका कैसे पता लगता है ? वह अनुभवसिद्ध है। दृष्टि का द्रष्टा अनुभव से ही सिद्ध है। 'मेरी नज़र ठीक काम नहीं कर रही है', इस बात को जो जानता है वही तो आत्मा है। शरीर से लेकर ईश्वर पर्यन्त सर्वत्र यह नियम याद रखना कि उसके भी प्राणों का जो प्राण है, वह आत्मा है और इस शरीर के प्राणों का प्राण भी आत्मा है।

'अस्य प्रत्यक् पदार्थस्य ह्यासमाप्तेर्विधीयते।
धीः पाण्डित्यगिरा साक्षाद् अन्वयव्यतिरेकतः।।'

यह प्रत्यक् अर्थात् त्वं-पद का अर्थ है। यहाँ कह रहे हैं कि आत्मा वह है जो इस शरीर के, सारे शरीरों के और ईश्वर के भी प्राणों का प्राण है। इस प्रत्यक् पदार्थ की समाप्ति पर्यंत अर्थात् परमात्मा पर्यन्त यदि साक्षात्कार हो जाये तो इस बुद्धि को वेद ने पाण्डित्य कहा है। यह पाण्डित्य कैसे प्राप्त होता है ? दो साधन बता दिये— अन्वय और व्यतिरेक। जहाँ यह है वहाँ वह भी है, वह अन्वय; और जहाँ यह नहीं, वहाँ वह नहीं, इसका नाम व्यतिरेक है। जैसे जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है, यह अन्वय और जहाँ आग नहीं वहाँ धुआँ नहीं—यह व्यतिरेक हुआ। इसी प्रकार जहाँ आत्मा है, वहाँ प्राण है—यह अन्वय और जहाँ आत्मा नहीं वहाँ प्राण नहीं—यह व्यतिरेक है। सब स्थलों में ऐसे ही समझना। त्वं-पद का साक्षात्कार अन्वय व्यतिरेक से है। यही पाण्डित्य है।

इस पाण्डित्य की प्राप्ति के बाद श्रुति ने दूसरा कदम बताया, 'बाल्येन तिष्ठासेत्' पाण्डित्य के बाद बाल्य को प्राप्त करे अर्थात् बालभाव को प्राप्त करे। पाण्डित्य पर पहले विचार कर चुके हैं। ज्ञान का दूसरा सोपान, त्वंपद के बाद तत्-पद को समझना ही बाल-भाव को प्राप्त होना है। जैसे छोटा बच्चा जहाँ मर्जी टट्टी पेशाब कर देता है ऐसे ही ज्ञानी भी बालभाव को प्राप्त हो—यह अर्थ नहीं है। बाल्य का मतलब है बाल-भाव। बालभाव का मतलब बताते हुए भगवान् भाष्यकार भाष्य में लिखते हैं कि 'ज्ञानबल-भावेन' वह ज्ञान के बल में रहता है। 'साधनफलाश्रयणं हि बलम् इतरेषाम्'। क्या ज्ञान का बल सबको रहता है ? आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं, ज्ञान का बल सबको नहीं रहता। दूसरे लोग तो साधन और फल का सहारा लेते हैं। कहीं बाहर जाना हो तो साधन का सहारा लेते हैं। कहते हैं कि 'कुछ रुपया भी साथ रख लेना' या और भी अनेक साधनों का सहारा लेते हैं। कोई ग्रहों का सहारा लेते हैं कि आज दिशाशूल है। इस प्रकार किसी ने धन का तो किसी ने ग्रहों का सहारा लिया। ज्ञानी किसका सहारा ले ? वह कहेगा कि 'मैं जैसे यहाँ हूँ, वैसे ही वहाँ हूँ।'

दक्षिण भारत में ज्ञान संबंध नाम के बड़े प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं। सोलह वर्ष की उम्र में ही उनका शरीर शांत हो गया था। एक बार कहीं जा रहे थे तो लोगों ने कहा कि 'आज उधर जाने का मुहूर्त नहीं बनता, इसलिये वहाँ मत जाइये।' उन्होंने कहा 'पहले यह बताओ कि शिव कहाँ नहीं है ? जहाँ शिव नहीं वहाँ अशिव है।' यह है ज्ञान का बल।

ज्ञानी साधनों का आश्रयण नहीं करता, उनका उपयोग भले

ही कर ले। और न उनके फल का ही भरोसा करता है। फल का आश्रयण करने वाला काम करने के बाद सोचेगा कि 'अब फल मिलेगा, अब फल मिलेगा।' ज्ञानी कहता है कि फल को कहाँ आना है! कार्य और कारण भाव आज तक सिद्ध नहीं हो सके। लेकिन हमें बड़ा विश्वास है कि कार्य हुआ है तो कारण अवश्य होना चाहिये। आज इस विषय में हमारी सरकार ने बड़ा अच्छा इन्तजाम किया है। धीरे-धीरे हम लोगों के मन से कारण-कार्य का विश्वास उठ गया है। अफसर कहते हैं 'काम करो-न करो, वेतन-वृद्धि तो उतनी ही मिलनी है।' व्यापारी से कहो कि 'ठीक से रिटर्न भरो' तो कहता है कि 'चाहे ठीक भरो तो भी, गलत भरो तो भी अफसर कहता है कि चोरी करते हो।' कारण-कार्यभाव पर लोगों का विश्वास घटता जा रहा है। लेकिन एक महाकारण अर्थ-पिशाच बैठा हुआ है। कहते हैं 'बाकी सब कारण-कार्य बन्द, लेकिन जिसके पास अर्थ है उसके सामने प्रधानमंत्री और पुलिस वाले भी ढीले हैं, और जिसने इसे सिद्ध नहीं कर रखा है, वह चाहे जितना भला हो जाये, प्रधानमंत्री कहेगा बेवकूफ़ है। पुलिसवाले भी उसे डण्डा मारेंगे।' इस एक पिशाच की सिद्धि का कारण-कार्यभाव अभी तक लोगों में बैठा है। बाकी सबके बारे में यह भाव हट गया है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति है। वेदांती इस बात को पहले से जानता है कि कारण-कार्यभाव असिद्ध हैं, इसीलिये वह न साधनों का और न फल का आश्रयण करता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकारों ने लिख दिया कि दूसरे लोग साधन और फल का सहारा लेते हैं, उनका वह बल है। पंडित के लिये यह दूसरी सीढ़ी है, आत्मज्ञान का ही उसके पास बल

है, उसी से वह रहता है।

यह प्रतिष्ठा कैसी होती है ? इसी बाल्य भाव को बताते हुए भगवान् वार्तिककार कहते हैं

'तथैव योशनायेति परमात्माऽपि शब्दितः।

तस्य निष्ठाविधानार्थं बाल्येनेति परं वचः।।'

यह जो परब्रह्म परमात्मा का वचन है, वह किस ज्ञानबल को कहता है ? जो भूख और प्यास इत्यादि सारे विकारों से रहित है, वह परमात्मा है। यहाँ तत्-पदार्थ को बताते हैं। सारे विकारशून्य को परमात्मा नाम से कहा है। इस तत्-पदार्थ के अन्दर जो बैठा है 'नितरां तिष्ठेत्', वह ज्ञानी कहता है कि भूख-प्यास मुझे तीन काल में नहीं हैं। 'ट्रैवलर्स चेक' चोरी हो जायेंगे लेकिन यह आत्मज्ञान की निष्ठा चुरा नहीं सकते। संसार के यावत् दुःखों की निवृत्ति के लिये बाकी सब किसी न किसी साधन और फल का सहारा लेते हैं। ज्ञानी किसी का सहारा नहीं लेता, केवल ईश्वर का ही सहारा लेता है। यह तत्-पद का अर्थ है।

सारी उपासना का स्वरूप यही है, क्योंकि उपासना का तात्पर्य है कि जिसकी उपासना करते हैं वह अपने हृदय में उदय हो जाता है। जब तुमने ध्यान किया कि परमात्मा भूख-प्यास से रहित है तो इसकी अंतिम सीढ़ी यह ज्ञान है कि 'परमात्मरूप मैं भूख-प्यास से रहित हूँ', जिसकी उपासना करोगे तद्रूप बनते चले जाओगे। यह 'बाल्येन तिष्ठासेत्' का स्वरूप है।

इसमें कुछ साहित्यिक दृष्टि भी है, वह भी समझ लो : वैसे तो बताया कि बलभाव को बाल्य कहते हैं। लेकिन विचार करो

कि छोटे बच्चे को भी बालक क्यों कहते हैं ? जो अत्यंत छोटा बालक है, उसको सिवाय माता के न किसी साधन की और न किसी फल की अपेक्षा है। छोटा बालक कहता नहीं, फिर भी माँ दूध की बोतल साथ रख लेती है, यदि दो तीन-महीने का बालक हो तो। किसी भी परिस्थिति में बालक क्या बात देखता है ? किसी भी स्थिति में वह बालक दायें-बायें सब तरफ सिर मोड़कर देखता है कि माँ है या नहीं। यदि माँ नज़र आ गई तो चुप रहता है। नज़र नहीं आई तो उसे चाहे बढ़िया से बढ़िया गद्दे पर लिटा दो, चाहे बढ़िया दूध की बोतल दो, बढ़िया इत्र-फुलेल की सुगन्धि दो, सुन्दर झुनझुनिया लटका दो, सब कर लो, लेकिन जहाँ उसने इधर-उधर नज़र मारी और माँ नज़र नहीं आई, वह रो देगा। जहाँ माँ पास आई तो चुप हो जाता है। संसार में दूसरे लोगों को तो अन्य-अन्य साधनों का आश्रयण है। बालक को एक ही आश्रयण है, माँ। इसी प्रकार तत्पदार्थ का विवेकी बालभाव वाला होता है। वह देखता है कि अशनायाद्यतीत-भाव उसका ठीक है या नहीं। यदि पाता है कि वह भाव ठीक नहीं है तो झट तत्-पद ईश्वर की तरफ दृष्टि कर लेता है। जब तक ईश्वर की तरफ दृष्टि नहीं करता, ऐसा तड़पता है जैसे पानी से बाहर निकली हुई मछली तड़पती है। उसकी इस तड़प में भी फ़र्क है। पानी से बाहर निकली हुई मछली तो घण्टा आधा घण्टा तड़प कर मर जाती है और उसकी तड़प बन्द हो जाती है लेकिन ज्ञानी के ईश्वर से दूर होने के बाद फिर जब तक उसकी ईश्वर-दृष्टि नहीं बनी, तब तक कल्पांत बीत जाये तो भी उसकी तड़प मिटने वाली नहीं है। यह उसका बालभाव है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखो तो अनादि काल से लेकर आज तक जीव की तड़प है तो उसी बात की कि ईश्वर से दूर हुआ है और इतने अनंत युग बीत गये, लेकिन आज तक वह तड़प नहीं मिटी, क्योंकि आज तक ईश्वर-दृष्टि नहीं बनी। इसीलिये तड़प वैसी की वैसी बनी है। वह नित्य निरंतर केवल एक चीज़ की तरफ देखता है कि 'अशनायाद्यतीतोऽहम्'। अशनायाद्यतीत-भाव अहंकारात्मिका वृत्ति में मिला हुआ है, मेरे साथ मिला हुआ है, यही उसकी स्थिति है। यदि यह उसके साथ एक हुआ है, अलग हुआ नहीं है तो उसको और किसी साधन और फल की आवश्यकता नहीं रही। यदि वह भाव उसके साथ एक हुआ है तो चाहे पेट में अन्न है या नहीं, कुछ फर्क नहीं पड़ता, लेटने के लिये मखमल का गद्दा हो या पथरीली ज़मीन, उसे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। यदि वह उसके साथ एक हुआ है तो स्पर्शेन्द्रिय का सम्बन्ध ईंट-पत्थर पर पड़ता हो तो क्या और मखमल के गद्दे पर पड़ता हो तो क्या ? और यदि उससे अलग है तो मखमल के गद्दे पर पड़ा हुआ है तो क्या ? यदि उसके साथ एक है और कंकड़ों पर पड़ा हुआ है तो उसका सुख कम नहीं होगा और यदि उसके साथ एक नहीं है तो मखमल के गद्दे में कम दुःख नहीं है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'धर्मोप्यधर्मायते' वह फिर धर्म को भी अधर्म समझता है। उससे किसी प्रकार दूर करने वाला धर्म भी अधर्म और उसके साथ एक करने वाला अधर्म भी धर्म है। ज्ञानी आत्म-चिन्तन में मस्त हुआ बैठा है। कोई भला आदमी आकर कहता है कि 'सांध्या का समय हो गया, संध्या कर लो।' वह अपने इष्ट के चिन्तन में मग्न हुआ अशनायाद्यतीत

भाव को प्राप्त हुआ कहेगा, 'अरे ! संध्यावंदन न करने का पाप ही तो लगेगा, लगने दो। अभी तो मैं इष्ट के साथ हूँ।' इसीलिये शास्त्रकारों ने बता दिया 'धर्मोप्यधर्मायते'।

एक महात्मा के पास कोई कर्मकाण्डी पहुँचा। कहा, 'क्या बात है, तेरे लिये बहुत से नियम शास्त्र में कहे हैं लेकिन तू उन्हें पूरा नहीं करता ? नियम सभी को बताये जाते हैं। रोज़ सवेरे उठकर अग्निहोत्र करना चाहिये, तू और कुछ करता रहता है।' लोग तो दुनिया भर के काम बताते हैं। उन सबके काम करो तो आज से लेकर कल्पांत तक करते रहो, कभी पूरे नहीं होने हैं। पिता-पुत्र का कर्तव्य, पति-पत्नी का कर्तव्य बतलाते हैं। पुत्र पिता का कर्तव्य बतलाता है कि 'पिता मर गये, मेरे लिये कुछ छोड़ नहीं गये।' पुत्र पिता को कहता है, 'पिता जी कुछ बचा कर रखो।' उसी पुत्र का बाप कहेगा, 'देख, मुझे तीर्थ यात्रा करनी है। लायक पुत्र तीर्थ यात्रा करवाते हैं, उसका खर्चा दे।' वह कहता है, 'अपने ऊपर क्यों खर्च करते हो ? मैं तो ओबेराय इण्टरकाण्टिनेन्टल में जाकर काफी पियूँगा।' अब दोनों की इच्छायें कहाँ तक पूरी करोगे ? घरवाले उपदेश सुनाते रहते हैं। इतना ही नहीं पड़ोसी भी उपदेश देते हैं कि पड़ोसी का कर्तव्य क्या है। इतना ही नहीं आज के राजनैतिक नेता भी उपदेश देंगे कि देश के लिये क्या-क्या करना चाहिये। हरेक पार्टी वाला आकर एक-एक उपदेश देगा कि तुम्हारा क्या कर्तव्य है। इतना ही नहीं विदेशी भी उपदेश करते हैं कि मानवता के लिये क्या करना चाहिये। इन सब कर्तव्यों को पूरा करने में कल्पांत तक लगे रहो। उनकी तृप्ती होनी नहीं और तुम दुःख से तड़पते रहो।

उसी कर्तव्य को कर्मकाण्डी आकर महात्मा से कहने लगा। महात्मा ने सोचा कि यह रोज़ तंग करेगा। इसे एक बार ही ऐसा जवाब दो कि रोज का टण्टा मुके। वह 'धर्मोप्यधर्मायते' इस बात को नहीं समझ रहा था, महात्मा ने समझ रखा था। कहा, 'क्या बताऊँ, वह सब काम मैं करूँगा लेकिन आजकल मुझे अशौच है।' कभी कोई मर जाये या पैदा हो जाये तो उस समय यह सम्भव नहीं होता कि आदमी कोई पूजा आदि का काम करे, क्योंकि छुआछूत हो जाती है। महात्मा ने भी यही कहा कि 'अशौच लगा हुआ है। मेरी माँ मर गई है।' उसने पूछा, 'कितने दिन हुए ?' महात्मा ने कहा, 'यह बड़ा टेढ़ा मामला है, मेरी माँ रोज़ मरती है।'

'मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसंप्राप्ते कथं संध्यामुपास्महे।।'

जब-जब अज्ञानरूप जगत् सामने आता है, तब-तब उस अज्ञान माता को, अविद्या को ब्रह्माकार वृत्ति, विद्या मार देती है। रोज़ ही यह मरती है। इसमें एक सूक्ष्म ध्वनि है। 'मृता' शब्द का प्रयोग है अर्थात् अभी उसकी अंत्येष्टि क्रिया करके जलाया नहीं है। कहते हैं जलाने का समय ही नहीं मिला। जला दी होती तो तेरी बात भी न सुनाई देती ! 'जातो बोधमयः सुतः' इधर, मेरे एक लड़का पैदा हुआ है ऐसी खबर आ गई है। उसने पूछा, 'कितने दिन हो गये ?' कहा, 'वह भी मैं रोज़ पैदा करता रहता हूँ !' ब्रह्माकार वृत्ति रोज़ बनती है। ये दोनों अशौच लगे हैं। यह मिटे तो कर्मकाण्ड करूँ। कर्मकाण्डी घबराकर वहाँ से चला गया।

भगवान् ने भी गीता में कहा कि वह धर्म और अधर्म को एक करके देखता है। उसी को भगवान् भाष्यकारों ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है। भगवान् ने कहा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' शंका उठती है कि भगवान् ने धर्म छोड़ने को कहा है, अधर्म छोड़ने को नहीं कहा। हमने एक बार एक बनिये की –गीता पर टीका देखी, उसमें लिखा था कि भगवान् ने अर्जुन से कहा–'सारे धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जा।' इसीलिये उसे बाँचने वाले सेठ चोरबाजारी, झूठ, पाप करते हुए मानते हैं कि भगवान् ने सारे धर्मों को छोड़ने को कहा है, अधर्म छोड़ने को नहीं कहा। इसलिये किये जा रहे हैं। भगवान् भाष्यकार उन्हें अच्छे नहीं लगते। वे स्पष्ट कहते हैं कि धर्म और अधर्म दोनों चूँकि वहाँ एक हो गये हैं इसलिये वहाँ धर्म का मतलब है कि धर्म-अधर्म दोनों को छोड़ो। जब दोनों को छोड़ोगे तब तो निष्किंचन, निष्कर्मा हो जाओगे। यहाँ तो भगवान् को आत्मनिष्ठा बतानी है, इसलिये धर्मशब्द से कहा। ज्ञान दृष्टि से धर्म और अधर्म दोनों बंधन वाले हैं।

यदि मेरा परम प्रिय अशनायाद्यतीत परमात्मा मेरे साथ है तो चाहे बहुत कष्ट होता है—अधर्मरूप कंकड़-पत्थरों पर भी वह पड़ा है तो क्या, और यदि वह साथ नहीं है तो मखमल के गद्दे में लेटना जो धर्म का फल है, वह भी व्यर्थ है। छोटा बच्चा एक बार देखता है कि मेरी माँ आँख के सामने है या नहीं; और कुछ नहीं देखता। वह यह नहीं सोचता कि माँ मेरी इतनी मदद कर सकेगी या नहीं। उसका सिर दर्द करता है तो रोये जाता है। माँ से चिपटा जाता है। माँ क्या करे ? दर्द तो दवाई से दूर होगा लेकिन बच्चा सोचता

है कि माँ के सामने रोवें, ठीक कर देगी। उस समय और कहीं दृष्टि नहीं करता। उल्टा उस समय और ज़्यादा माँ से चिपटता है। बस इसी तरह ज्ञानी 'बाल्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् अशनायाद्यतीत-भाव की निष्ठा को प्राप्त करे। इसी को 'बालो मंत्रेश्वरस्तथा' कह दिया। अब यह मंत्र का ईश्वर हो गया। इस प्रकार मंत्र शब्द के दो तात्पर्य हुए त्वं-पद को छोड़ना और तत्-पद को पकड़ना।

प्रवचन-२३

श्रीचक्र के आधार पर सृष्टि-प्रक्रिया, किस प्रकार देव, मनुष्य और उनके शरीरों तक सृष्टि बनती है, यह बता रहे थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर देखा कि तत्-पदार्थ का साक्षात्कार त्वंपदार्थ के साक्षात्कार के बाद होता है। यजुर्वेद का महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि' इसमें पहले 'अहम्' से जीव को कहा। लेकिन यह नियम सर्वत्र नहीं समझ लेना। छांदोग्य उपनिषद् के आधार पर सामवेदी लोग पहले उपासना से ईश्वर तत्त्व का साक्षात्कार करके फिर जीव तत्त्व का विचार करते हैं, क्योंकि उनका महावाक्य 'तत् त्वम् असि' है। ईश्वर तत्त्व के साक्षात्कार के बाद भी त्वंपदार्थ का साक्षात्कार होता है और त्वंपदार्थ के साक्षात्कार के बाद भी तत्पदार्थ का साक्षात्कार हो सकता है। कोई पहले जीव को और कोई पहले ईश्वर को देखता है। कोई पहले ईश्वर का साक्षात्कार करता है और फिर उसकी जीवरूपता को समझता है। यह साधकों के भेद से है। लेकिन इतना निश्चित

है कि तत्-त्वंपदार्थों के साक्षात्कार के बिना अगला कदम नहीं बनता। 'पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तदधिसंगतिः' जब तक दोनों का साक्षात्कार न हो जाये, तब तक उन दोनों की क्या संगति है, दोनों का क्या संबंध है, यह समझ में नहीं आ सकता। पदार्थों के ज्ञान में तो क्रम नहीं है, लेकिन पदार्थज्ञान के बाद ही उनके सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव है, यह बात निश्चित है। पाण्डित्य के द्वारा जीव-तत्त्व का साक्षात्कार बताया, बाल्य के द्वारा तत्पदार्थ का साक्षात्कार बताया।

तत्पदार्थ के साक्षात्कार के बाद एक अद्भुत ज्ञान का बल आता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'संसारोऽनर्थ इत्येष प्रत्यङ्मोहैकहेतुतः' बड़ी ज़बरदस्त बात कहते हैं कि बहुत सुनते हैं कि अनर्थ है, अनर्थ है। हर चीज़ को आदमी अनर्थ कहता है। टट्टी से आकर नहाये तो अर्थ, नहीं तो अनर्थ; वहाँ से लेकर सर्वत्र अनर्थ-अनर्थ की पुकार सुनाई देती है। सारा संसार अनर्थ है 'अनर्थः इति।' यह अनर्थ क्यों है ? अर्थ का मतलब प्रयोजन होता है। संसार का कुछ प्रयोजन नहीं है। अनादि काल से आज तक न जाने कितने बच्चों को बड़ा किया और कितने कर्तव्यों का पालन किया तो क्या मिला ? अनादि काल से आज तक न जाने कितने घर-बार संभाले और न जाने कितने देशों के नेता बने, न जाने कहाँ-कहाँ फौज में भरती होकर कहाँ-कहाँ लड़ाईयों को जीता। क्या मिला, कोई प्रयोजन सिद्ध हुआ ? गांधी जी को मरे आज तेईस साल हो गये। इतना निश्चित है कि आत्मज्ञान न होने से उनका जन्म ज़रूर हुआ और यह भी निश्चित है कि भारत के प्रति उनकी

अत्यधिक आसक्ति के कारण जन्म भी भारतवर्ष में ही हुआ, क्योंकि गीता में भगवान् ने कहा है

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः'।।

जिस चीज़ का जन्मभर स्मरण करते रहे, उसी भावना से भावित हुए अन्तकाल में उसी भावना को प्राप्त करोगे और तदनुसार ही नया जन्म पाओगे। इतना भी निश्चित है कि गांधी जी शुभ कर्म करने वाले थे, किसी की बुराई नहीं करते थे। इसलिये भारत में भी मनुष्य जन्म में ही पैदा हुए होंगे। अब शायद एम. ए. में पहुँच गये होंगे और राजनीति या इतिहास का विषय ले रखा होगा। उसमें पढ़ रहे होंगे कि महात्मा गांधी नाम का बड़ा भारी नेता हुआ। मन में सोचते होंगे कि 'वह कितना बड़ा नेता था, मैं भी वैसा हो सकूँ तो अच्छा है।' यह पता नहीं कि मैं ही आया हूँ! विचार करो कि इतना कुछ करने से कोई प्रयोजन सिद्ध हुआ? कुछ नहीं। अगर कहीं तीक्ष्ण विचार वाले बन गये हों, यह भी हो सकता है, तो वर्तमान अव्यवस्था देखकर कहते होंगे कि 'गांधी जी ने फालतू में ही इतना परिश्रम करके स्वतंत्रता ली। क्या इसी सब के लिये इतना झगड़ा किया ?' जिस स्वतंत्रता के लिये आजन्म लड़ते रहे, उस स्वतंत्रता को देखते हुए स्वयं उनके मन में होता होगा कि बड़ा गलत काम किया। पहले देश को शिक्षा देते, फिर आज़ादी लेते। क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? न अपना प्रयोजन सिद्ध हुआ और न देश का प्रयोजन सिद्ध हुआ।

संसार का विचार करो तो यह संसार अनर्थरूप ही है अर्थात्

प्रयोजनहीन है, इसका कोई उद्देश्य नहीं। इसलिये यह सर्वथा आदि से अंत तक अनर्थरूप है। अणुबम के आविष्कार में सबसे पहले हाथ दिया आइन्स्टाइन और ऑपेनहेमर ने और उसमें भी आइन्स्टाइन का ज़्यादा हाथ था। कोई विश्वास नहीं करता था कि अणुबम बन सकता है। अंत में रूज़वेल्ट को स्वयं आइन्स्टाइन ने एक पत्र लिखा कि यह हो सकता है। अणुबम के विस्फोट के पहले न्यूटन का सिद्धान्त था कि पदार्थ शक्ति से उत्पन्न होता है। पदार्थ और शक्ति दोनों अलग-अलग हैं। वैशेषिक पहले ही कहता था 'अणवः सर्वशक्ताःस्युः' लेकिन दूसरे हम लोगों की हँसी उड़ाते थे और हम भी चुप रहते थे कि इसका और ही कुछ मतलब लगेगा। लेकिन अणुबम के विस्फोट से पता लगा कि शक्ति ही पदार्थ के प्रति कारण है। पदार्थ और शक्ति का अद्वैत उस विस्फोट ने सिद्ध किया। वैशेषिक बड़ा खुश है क्योंकि यही बात तो वह पहले कहता था। कैमिस्ट्री और फिज़िक्स उस दिन से एक विज्ञान हो गये। फिज़िक्स शक्ति का शास्त्र है और कैमिस्ट्री पदार्थों का शास्त्र है। अब ये केवल एक ही विज्ञान के दो खण्ड हो गये। आइन्स्टाइन ने पत्र लिखा, तब लोगों को विश्वास हुआ कि यह हो सकता है। तब अरबों रुपया खर्च हुआ और अणु बम बना। बनने के बाद वही आइन्स्टाइन कहता रहा कि 'हमने तो खाली विज्ञान की दृष्टि से इसे बनाया था, लोगों को मारने के लिये थोड़े ही बनाया था! इसलिये अब आगे नहीं बनाओ।' लेकिन किसी ने नहीं सुना। राजनीतिक नेता लोग इस पर हँसते थे।

इसी प्रकार आज़ादी के बाद गांधी जी कहा करते थे कि 'आज़ादी इसलिये थोड़े ही दिलाई कि गुलछर्रे उड़ाओ।' उन्होंने

एक लेख में खुद ही लिखा था कि 'अब मैं खोटा सिक्का हूँ जो अब चलता नहीं।' उनके चेले कहते थे कि 'आज़ादी लेनी थी, आपने ले ली, अब क्या चिन्ता है, अब गुलछर्रे उड़ाने दो।' आइन्स्टाइन और गांधी इस प्रयोजनहीनता को समझकर भी कुछ नहीं कर सके। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य बड़ी कड़ी बात लिखते हैं। जब इस बात को समझ लेते हो तो इस संसार के पीछे दौड़ना छोड़ देते हो, क्योंकि जानते हो कि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।

किसी ने पूछा कि यह संसार अनर्थ क्यों है ? इसका उत्तर भी भगवान् सुरेश्वराचार्य बताते हैं 'प्रत्यङ्मोहैकहेतुतः' इसका कारण प्रत्यगात्मा के प्रति मोह का होना है। इसका कारण ही ग़लत है, इसके कारण में ही अनर्थरूपता है। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा। जैसा धागा होगा, वैसा ही कपड़ा बनेगा। इसका धागा ही गया-बीता है। सत्य और असत्य, नित्य और अनित्य, कर्तव्य और अकर्तव्य, ज्ञातव्य और अज्ञातव्य इन सब चीज़ों के अविवेक से ही जगत् उत्पन्न है। जो उत्पन्न ही अविवेक से और ग़लती से है, वह कभी कुछ अच्छाई कर सकता है ? साक्षात् अनुभवसिद्ध संसार की यहाँ बात है, केवल जन्म-मरण को अनर्थ कह रहे हों यह बात नहीं। इसका एकमात्र कारण प्रत्यगात्मा का मोह अर्थात् अविवेक ही है। सच्चाई को न जानना ही इस जगत् की उत्पत्ति में कारण है। जो चीज़ गैर-सच्चाई से पैदा है क्या वह कभी अच्छी हो सकती है ? इसलिये जब यह उत्पन्न ही प्रत्यगात्मा के मोह से होता है तो इसमें सिवाय अनर्थरूपता के और क्या होगा ?

किसी ने कहा कि 'ऐसा अनर्थ कहते हो तो दिखाओ, क्योंकि हमें तो अच्छा भी लगता है।' अब सच्ची बात बता देते हैं 'यतो बिभ्यति भूतानि परोत्कर्षगतान्यपि।' इसकी अनर्थता का एक ही दृष्टांत दे देते हैं कि प्राणियों को इससे भय लगता है। क्या सब को भय लगता है ? सभी को भय लगता है। 'यदि मैं उत्कर्ष को प्राप्त हो गया तो जो इस उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ उससे भय लगता है। अगर मेरे पास रुपया ज़्यादा हो गया तो जिनके पास रुपया नहीं है, उनसे भय लगता है। यदि कहीं मैं चुनाव में जीत गया तो जो चुनाव में नहीं जीता है, उससे भय लगता है। यदि मेरा रूप सुन्दर है तो जिनका रूप सुन्दर नहीं है, उनसे भय लगता है। यदि मैं पढ़ने में तेज़ हूँ तो जो पढ़ने में तेज़ नहीं हैं उनसे भय लगता है। लड़के आपस में एक-दूसरे की किताब फाड़ देते हैं। दूसरी तरफ, यदि दूसरा उत्कर्ष को प्राप्त हो गया तो ईर्ष्या के मारे भी मुझे भय लगा रहता है कि कहीं और ऊपर न चला जाये ! जो ऊँचे पद पर पहुँच गया वह डरता है कि 'कोई मेरी कुर्सी को खींच न ले', और जो पद पर नहीं पहुँचा, वह डरता है कि 'पद वाला कहीं मेरे को दबाकर खत्म न कर दे।' धन वाला डरता है कि 'कहीं कोई मेरे धन को लूट न ले।' बेधन वाला डरता है कि 'धन वाले मिलकर कहीं मुझे खत्म न कर दें।' अब एक न एक उत्कर्ष तो होना ही हुआ। लेकिन न खुद के उत्कर्ष से और न दूसरे के उत्कर्ष से भय मिटता है। पुत्र यह भय करता रहता है कि 'कहीं पिता मेरे को फिजूल के कामों में न लगाये रखें, मेरे को बर्बाद न कर दें।' पिता डरता है कि 'कहीं पुत्र मेरे सारे अधिकारों को छीनकर मेरी ही छुट्टी न कर दे।' पति और

पत्नी को एक दूसरे से भय लगता है। यह न समझना कि यह भय कहीं भी रुकता है। सुन्दर पत्नी मिल गई तो भय कि 'यह कहीं इधर-उधर न चली जाये', अपने-अपने दिल में समझ लेना। बदसूरत हो तो समाज में हँसी का भय रहता है। इसी प्रकार सुन्दर पति मिल गया तो भय और असुन्दर पति मिल गया तो भी भय लगा रहता है। लड़का लायक और सेवा करने वाला निकल आया तो भय, अन्य कोई भय न भी हो तो यह भय तो है कि 'कहीं मर न जाये !' लड़का नालायक निकल आया तो भय।

पर उत्कर्ष अर्थात् परम उत्कर्ष से, विराट् हिरण्यगर्भ आदि पदों को प्राप्त किये हुए भी भय लगा रहता है। पुराणों में आता है कि जब कोई शतक्रतु बनने की प्रवृत्ति करता है तब इन्द्र उसे आकर खत्म करता है क्योंकि उसे भय लगता है। पुराणकार उसके द्वारा यही समझा रहे हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह संसार अनर्थरूप है, प्रयोजनहीन है। जिस प्रयोजन के लिये कार्य करोगे, वह प्रयोजन कभी सिद्ध होना ही नहीं है, चाहे जितना प्रयत्न कर लो। जब इस बात को समझ लिया तब ज्ञान का बल आया। जब तक यह बल नहीं आयेगा तब तक संसार की प्रयोजनहीनता देखते रहोगे और तब तक निर्बल बने रहोगे। चाहे तुम ब्रह्मा, विष्णु बन जाओ तो भी इस अनर्थ से बच नहीं पाओगे। साधारण चीज़ों की तो गिनती ही क्या है, ब्रह्मा, विष्णु हो जाने पर भी यह भय और अनर्थता हटने वाली नहीं है। हमेशा निर्बलता का अनुभव करते रहोगे। वास्तविक बल का अनुभव तब करोगे जब इसकी निष्प्रयोजनीयता को समझ लोगे। फिर चाहे कुछ भी हो, कुछ फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि सब एक जैसे ही अनर्थ

हैं। इसी को यहाँ ज्ञान बल कहा है।

जब बल को प्राप्त कर गये फिर क्या करें ? कहा, 'अथ मुनिः' अब इस ज्ञानबल के द्वारा संसार की प्रयोजनहीनता समझते हुए केवल एकमात्र ईश्वर के बल पर आश्रित होते हुए, अपने (जीव के) स्वरूप को समझते हुए, अपने दूसरे सारे सम्बन्धों के विचार छोड़ते हुए परमात्मा से अपने आत्यंतिक अभेद में स्थिर रहे। हम लोग लौकिक संबंधों में फँसकर विवेक नहीं कर पाते अतः पदार्थ बोध ही नहीं हो पाता तो संबंधबोध की क्या संभावना। लौकिक संबंधों को परमात्मसंबंध से बहुत ज़्यादा महत्त्व देते हैं। एक दामाद घर आ जाये तो सत्संग सुनना बंद हो जाता है! लेकिन दो दामाद आ जायें तो दोनों के लिये समय निकल आता है। दूसरे के लिये काम करने का समय आ जाता है लेकिन ईश्वर के लिये समय नहीं है। इसी प्रकार महँगाई बढ़ती है तो सबसे पहले किस का हिस्सा कटता है ? कहते हैं, 'महाराज ! क्या बतायें दो बच्चियों की शादी आ गई।' हम कहते हैं, 'ठीक है, लेकिन तीसरी लड़की हो जाती तो क्या उसका गला टीपकर मार देते?' लेकिन यह तो ईश्वर है न ! इसका संबंध तो सबसे अंत में आना है।

बाकी सब सम्बन्धों का विवेचन हो जाता है, ईश्वर के सम्बन्ध का विवेचन नहीं होता। हृदय से विवेचन समझना, बाहर से विवेचन की बातचीत तो होती ही रहती है, लेकिन हृदय उसमें नहीं जाता। इसीलिये धर्म भी दुर्बल रहता है। हम कहें 'अंडा-मांस मत खाओ' तो कहते हैं 'रिश्तेदार, दोस्त ज़बर्दस्ती करते हैं, इसलिये सर्वथा नहीं छोड़ सकते।' समधी शर्त रख दे कि ब्याह के समय कुछ भी मांसाहारी पदार्थ नहीं होना चाहिये तो सारे

रिश्तेदार-दोस्त कितना ही कहें, तुम वहाँ कोई माँस बनने नहीं दोगे। धर्म की अपेक्षा समधी का सम्बन्ध बलवान् है। वह सम्बन्ध तगड़ा है और ईश्वर का सम्बन्ध कुछ नहीं क्योंकि ईश्वर तो दिल को समझता है!

यह सारा दृष्टिकोण कब हटेगा ? जब मनुष्य यह समझ लेगा कि बाकी सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं और केवल जीव और ईश्वर का ही सम्बन्ध सच्चा है। तब उसे पदार्थों का भान होगा। जब पदार्थाधिगति आयेगी तब दोनों का सम्बन्ध समझ आयेगा। पहले लगता है कि दोनों में विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध है। जीव की विशेषता है कि वह सदा ज्ञात रहता है। कोई क्षण ऐसा नहीं जब जीव हमको अज्ञात हो। अपना आपा हमेशा जानते हो। यह जीव की विशेषता है। ईश्वर की विशेषता है कि वह भूख, प्यास आदि सभी ऊर्मियों से रहित है। 'षडूर्मिरहितः शिवः' वह परमात्मा सारे दोषों से रहित है। परिच्छिन्नभाव से रहित है, यही उसकी विशेषता है। लेकिन वह परमात्मा परोक्ष है। साक्षी अपरोक्ष है। जब दोनों के सम्बन्ध को देखते हैं तो भगवान् सुरेश्वराचार्य बताते हैं 'विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धो यः पदार्थयोः।' जीव और ईश्वर इन दोनों पदों के जो अर्थ हुए हैं उनका आपस में विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध हुआ। परिच्छिन्नता के द्वारा जीव में विशेषता और अपरिच्छिन्नता के द्वारा ईश्वर में विशेषता है। वेदांत में यह तादात्म्य सम्बन्ध है।

मोटी भाषा में समझ लो। हम कहते हैं 'यह नीला कमल है'। इसका मतलब हुआ कि नीले और कमल दोनों का समानाधिकरण है, अर्थात् दोनों एक ही जगह हैं। यह मतलब

नहीं कि नीला कुछ और है, कमल कोई और है। कहने में दो की प्रतीति होती है। लेकिन सचमुच दो नहीं हैं। सचमुच तो जो नीला वही कमल है। इसलिये दोनों का सामानाधिकरण्य हो गया, क्योंकि दोनों एक ही जगह हैं, एक हैं।

'विरुद्धार्थनिवृत्त्यात्र मुनिरित्यभिधीयते।' आगे श्रुति ने कहा था 'अथ मुनिः।' भगवान् सुरेश्वराचार्य ने मुनि शब्द का अर्थ किया है कि यह जो सम्बन्ध हुआ, इसमें दोनों में होने वाले विरुद्ध अर्थ को हटा दो। जब इस विरुद्ध अर्थ को हटा दिया तो यही मुनि बन जाना है। यह मुनि की अवस्था हो गई। जीव-ईश्वर का विरोध खत्म हो गया। लगता तो विरोध है, दोनों एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध लगते हैं, लेकिन जब यह विरुद्ध अर्थ मिट गया तब दोनों एक हो गये। चने के दो टुकड़ों को लो। एक का जिधर मोटा पेट निकला होगा, दूसरे का उधर ही पेट पतला होगा। इस टुकड़े का अगर दायाँ हिस्सा ज़्यादा घूमा हुआ है तो उसका बायाँ हिस्सा ज़्यादा घूमा होगा। एक का यदि बायाँ हिस्सा ज़्यादा सीधा है तो दूसरे का दायाँ ज़्यादा सीधा होगा। दोनों विपरीत दीख रहे हैं। जहाँ एक की नाक दाईं तरफ उठी है वहाँ दूसरे की बाईं तरफ को उठी रहेगी। यदि तुमने दोनों के विरोध को दूर करना है तो कैसे करोगे ? आरी से नहीं कर सकते। दोनों को मिला दो तो विरुद्ध अर्थ चला गया। इसी प्रकार ईश्वर और जीव दोनों को मिला दो तो विरुद्ध अर्थ हट गया ! अब एकमात्र चिन्मात्र ही रह गया। मुनि का काम जीव और ईश्वर के अभेद को प्रकट कर देना है। दोनों की एकता सिद्ध हो गई, इसी को यहाँ मुनि शब्द से कह दिया। सांख्य के द्वारा जीव की विद्या (ज्ञान) और

उपासना के द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया। इन दोनों विद्याओं का वह ईश्वर हो गया। इसलिये जिसे यहाँ मुनि कहा, उसे ही आगमों में विद्येश्वर कहा है।

जब मुनि हो गया तब क्या करे ? श्रुति कहती है 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।' इसको जो पूर्ण रूप से जान लेता है, वह ब्राह्मण बन जाता। अमौन और मौन दोनों के एक होने का क्या मतलब है ? अमौन का मतलब था जब तक मनन नहीं किया था, जीव ईश्वर दो थे, और मनन करने के बाद जीव ईश्वर एक हो गये। एक होने की प्रतीति तब तक है जब तक चने के दाने चिपक न जायें। वह दृष्टांत पूरा नहीं घटेगा, वे कभी एक नहीं हुए होंगे, क्योंकि उनका विभाजन सच्चा है। इसलिये यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव समझ लेना।

'भेदसंसर्गहीनोर्थः स्वमहिम्नि व्यवस्थितः।

साक्षाद् इत्यादिरूपोऽथ ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते।।'

ब्रह्म ही ब्राह्मण है। उसके पहले जो ब्राह्मण कहा जाता है, वह इसलिये कि वह ब्रह्म की तरफ चल रहा है। ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य वेद का अध्ययन और अध्यापन है। ब्रह्म की प्राप्ति का साक्षात् साधन वेद के पठन और पाठन में लगना उनका प्रधान कर्तव्य हुआ, इसीलिये उन्हें ब्राह्मण कहा। वस्तुतः ब्रह्म ही ब्राह्मण है। इसीलिये ब्राह्मण का पूजन करते हुए हम लोग ब्रह्म के प्रतिपादक मंत्र बोलते हैं।

'नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।

सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटियुगधारिणे नमः।'

करोड़ों कल्पों को अपने में धारण करने वाले, करोड़ों मुख लिये हुए को नमस्कार है, क्योंकि हम उसमें साक्षात् ब्रह्मस्वरूप की बुद्धि करते हैं। कई बार लोग कहते हैं कि 'यदि ऐसा ब्राह्मण न हो तो क्या करें ?' हम हमेशा कहते हैं कि हम लोग तो शंकर के पूजक हैं। शिवलिंग टेढ़ा-मेढ़ा, गोल-चौकोर कैसा भी हो, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार शिव के गण हैं, कोई तीन पैर वाला, कोई चार पैर वाला, भूत, पिशाच ऐसे भयंकर भी सारे शिवस्वरूप हैं। इसलिये चाहे कोई ब्राह्मण दुर्वासा जैसा क्रोधी हो, कोई शान्त ब्राह्मण हो, किसी भी रूप में हो, वह ब्रह्मस्वरूप ही है।

यह ब्रह्म कैसा है ? जब तक मुनि है तब तक दोनों की एकता देखता है, अब एकता भी नहीं देखता ! क्योंकि जहाँ भेद हो, वहाँ *अभेद* करना पड़ता है। जहाँ दो हों, वहाँ तो एक करना पड़ता है और जहाँ भेद सर्वथा मिट गया वहाँ एक करना नहीं पड़ता। एक अब स्वभाव हो जाता है। इसी को भेद के संसर्ग से रहित हो जाना कहते हैं। जैसे अपने शरीर में दो आँखें लगी होती हैं लेकिन दो आँखों से दीखने वाला रूप एक होता है, होंठ दो होते हैं लेकिन उनसे निकलने वाली आवाज़ एक होती है। दो दण्डों को आपस में भिड़ाओ तो उनसे निकलने वाली ध्वनि एक है। क्या कह सकते हो कि उस ध्वनि में इतना हिस्सा दायें खण्ड का और इतना बायें खण्ड का है ? इसी प्रकार आँख से रूप देखने पर भी नहीं बता सकते कि दाईं आँख से रूप का इतना हिस्सा और इतना हिस्सा बाईं आँख से दीखा। होंठों से जो शब्द उच्चरित किया, उसमें नहीं कह सकते कि इतना हिस्सा ऊपर वाले होंठ का और इतना नीचे वाले होठ का है।

इसी प्रकार वेदांत का सूक्ष्म दृष्टांत लो : दृश्य और द्रष्टा मिलकर दर्शन उत्पन्न होता है। जो घटदर्शन हुआ, उस घट-दर्शन में दो कारण हैं—एक घड़ा और एक तुम। दोनों मिलकर ही घट का ज्ञान होगा। घट-ज्ञान में नहीं कह सकते कि कितना हिस्सा घड़े का और कितना तुम्हारा है ! घड़े का ज्ञान अखण्ड है। इसी प्रकार जब रसगुल्ले को तुम मुँह में रखते हो तो दो चीज़ें हैं—रसगुल्ला और जीभ (इच्छा), या तुम और रसगुल्ला दो हुए, लेकिन उससे उत्पन्न होने वाला सुख एक ही है। उस आनंद में भी नहीं कह सकते कि कितना हिस्सा आनंद का रसगुल्ले ने दिया और कितना हिस्सा तुमने दिया, क्योंकि आनंद एक है। इसी प्रकार जीव ईश्वर के एक हो जाने पर, दोनों का विशेषण-विशेष्य, तादात्म्य, सामानाधिकरण्य हो जाने पर उसमें जो अपरोक्ष अपरिच्छिन्न भाव हुआ, उसमें नहीं कह सकते कि जीव ने कितना दिया और ईश्वर ने कितना दिया।

चिन्मात्र का अनुभव भेद के संसर्ग से रहित है। उससे उत्पन्न होने वाला जो स्वरूपज्ञान है वह ब्रह्म है जो अपनी महिमा में ही स्थित है। सनत्कुमारों से नारद ने पूछा कि भूमतत्त्व किसमें स्थित है? सनत्कुमार ने बताया कि सब ब्रह्म में हैं, वह ब्रह्म किसमें होगा! कहते हैं 'स्वे महिम्नि' वह अपने आप में स्थित है, और किसी में स्थित नहीं है। जब तक भेद का सम्बन्ध है तब तक 'कौन किसमें' यह व्यवहार चलेगा लेकिन जब भेदसंसर्गहीन हो गया तब कौन किसमें गया ? जीव ईश्वर में या ईश्वर जीव में ? इसको नहीं कह सकते। वहाँ तो अखण्ड चिन्मात्र ही है, आनंदस्वरूप ही है। यह जो 'स्वे महिम्नि व्यवस्थिति' है, इसी को साक्षात्

अपरिच्छिन्न ब्रह्म कहा। 'ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते' वही ब्राह्मण की स्थिति है। जब दोनों को समाप्त कर दिया, निःशेषेण पूर्ण रूप से पूर्णतत्त्व प्राप्त कर लिया तब वह ब्राह्मण-भाव को प्राप्त हो गया।

उसी को आगमों में कहा 'मुनिर्विद्येश्वरः प्रोक्तः ब्राह्मणस्तु महेश्वरः'। अब यह पाण्डित्य से परे चला गया। उसे महेश्वर इसलिये कहा कि त्वंपदार्थ का विवेक पाण्डित्य था और अब त्वंपद के अधिपति ईश्वर के साथ एक हो गया। इसलिये आगमों में उसका नाम महेश्वर रख दिया। यह छह की पूर्णता हो गयी।

सातवाँ 'वृन्दचक्रमिति प्रोक्तः'; इस चक्र का मध्य बिन्दु साक्षात् शिव है। चक्र का मध्यबिन्दु शिवस्वरूप क्यों बताया ? बहुत से लोग समझते हैं कि जब इस प्रकार से जीव ईश्वर का एक भाव हो गया तो फिर उसे कुछ प्रतीति नहीं होती, उसे कुछ नहीं दीखता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं समझ लेना।

'सुषुप्तेऽप्यतिमूढस्य सर्वसंसारनिह्नुतिः।
गम्यते लक्षणं तादृक् न चासौ ब्रह्मवित्तमः।।'

जब कहा कि भेदसंसर्गहीन हो जाता है, तब शंका होती ही है कि बिना भेद के कोई ज्ञान होता नहीं है तो तब भी कोई ज्ञान नहीं रहता होगा। इसलिये कहते हैं कि यदि भेद-संसर्गहीनता का अर्थ 'भेद की प्रतीति नहीं होना' समझोगे तो सुषुप्ति में पड़े हुए को भी कुछ प्रतीति नहीं होती उसी को ब्रह्मवेत्ता मानना पड़ेगा! भेद-संसर्गहीनता का अर्थ किसी तरह के भेद का ज्ञान न होना

मानो तो यह लक्षण सुषुप्ति में मिल जायेगा। यहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा दो अर्थ निकल आते हैं—सुषुप्ति में अतिमूढ, या जो अतिमूढ हो उसे भी इस भेद का ज्ञान नहीं होता ! जैसे गाँव वाले को सूती कपड़ा टैरी काट करके दिखाओ तो धोखे में आ जाता है। ऐसे ही अतिमूढ व्यक्ति को भेदज्ञान नहीं होता क्योंकि भेदज्ञान के लिये प्रतियोगिप्रसंजन आदि ज़रूरी है जिन्हें वह कर नहीं पाता। अथवा सीधा ही अर्थ है कि सुषुप्ति में भेदज्ञान नहीं ही है। लक्षण वहाँ मिल गया लेकिन सोये को या अतिमूढ को ब्रह्मवेत्ता नहीं कहा जाता। यदि ऐसा हो तो सभी मुक्त हो जायें! इसलिये भेद की अप्रतीति नहीं कहा, बल्कि 'भेदसंसर्गहीनता' कहा है। यही वस्तुतः अनुत्तर शिव तत्त्व है। समग्र भेद होते हुए भी भेद-संसर्ग नहीं है। यह शिवरूपता ही उस शिव की स्वतंत्रता है। 'स्वातंत्र्यं शिवता प्रोक्ता शिवो हि मण्डलेश्वरः' यह ब्रह्मवेत्ता की स्थिति है। छह मण्डल हो गये। इन स्थितियों में रहते हुए सप्त-मध्य में वही शिव अधिपति है। 'शिवो हि मण्डलेश्वरः' वही मण्डलेश्वर है और वही उसकी स्वतंत्रता है कि भेद रहते भी भेद-संसर्गहीन है। यहाँ दो 'ईश्वर' हुए—महेश्वर और मण्डलेश्वर। पूर्णता को ही यहाँ मण्डल शब्द से कहा गया है और शिव ही उसके ईश्वर हैं।

'वृन्दं मण्डलमित्याहुः शिवस्तस्यैव ईश्वरः।'

अब चक्र में समझ लो। सारा चक्र प्रक्रति (योनि) है। 'योनि-मध्ये स्थितो बिन्दुः स एव शिवमन्दिरम्' यह सारा चक्र योनि अथवा प्रकृति का विस्तार है। यदि श्रीचक्र को देखो तो सबके बीच में एक बिन्दु है। योनि के मध्य में बिन्दु स्थित है। वहीं शिव

का निवास है। यह सारा चक्र उसका मन्दिर (घर) है। जैसे दूध के कण-कण में मक्खन रहता है, ऐसे ही संसार के कण-कण में क्या है ? रोज़ कहते हो—'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्' । संसार का प्रत्येक कण-कण एक श्रीचक्र ही है और उसके मध्य में एक शिव संसार के सार स्वरूप में बैठा हुआ है।

आगे श्रुति में प्रश्न आया कि वह ब्राह्मण जिसको 'ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते,' उसका किस प्रकार पता लगे कि यह ब्राह्मण है ? 'ब्राह्मणः केन स्यात् ? येन स्यात्तेन ईदृश एव' जहाँ तुम ब्रह्मवेत्ता को जैसा करते देखो, वही उसका लक्षण है। रावण के रूप में वही सीता का हरण करता है और राम के रूप में वही दण्ड देता है। चोर-रूप में वही शिव चोरी करता है और पुलिसरूप में वही शिव दण्डा मारता है। इससे आगे प्रश्न मत करो। चोर सामने आये तो उसका लक्षण चोर, और पुलिस सामने आये तो पुलिस।

एक के दो भाव बताये थे—पूर्व और पर। इस प्रकार बारह हो गये और अनुत्तर तत्त्व दोनों तरफ एक जैसा है। इस प्रकार चवालीस पूर्ण हो गये। इन चौदह में शिव वस्तुतः एक ही रहता है। उत्पत्ति क्रम में भी यही कहा था। इसलिये कुछ लोगों ने तैंतालीस माने हैं। अनुत्तर को उसमें गिनो या नहीं गिनो—यह भिन्न-भिन्न पुरुषों की कल्पना पर निर्भर करता है। इस मंत्र के द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया बताई।

प्रवचन-२४

परब्रह्म परमात्मा द्वारा जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न करने के बाद यह सारी सृष्टि किस रूप में बनी, इस सारी सृष्टि का प्रतिरूप क्या है, इसे बताते हुए श्रुति यज्ञ को ही उसका प्रतिरूप कहती है।

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्या ग्राम्याश्च ये।।'

यह यज्ञ 'सर्वहुत्' है। यज्ञ और हुत (होम) में कुछ भेद है। महर्षि जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों में विचार आया कि यज्ञ, होम और दान केवल एक जैसे हैं या इनमें किंचित् भेद भी है। महर्षि जैमिनि का निर्णय है कि 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियासमुदाये कृतार्थत्वात्।' यज्ञ, होम और दान तीनों में कुछ समानता है। जहाँ यज्ञ की विधि मिलती है, वहाँ द्रव्य, देवता और क्रिया तीनों का सामुदायिक अर्थ होता है अर्थात् जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों वहाँ 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग बनता है। जहाँ कहीं श्रुति में आता है—'यजति, यजेत्' अर्थात् 'यज्ञ करे' वहाँ उसका तात्पर्य इन तीन चीज़ों के समुदाय से है। यज्ञ में किसी न किसी द्रव्य का त्याग होता है, कोई न कोई देवता या इष्ट होता है जिसके निमित्त यज्ञ किया जाता है और क्रिया होती है।

न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में 'द्रव्य' और 'पदार्थ' में किंचित् भेद किया गया है। पदार्थ सात हैं और द्रव्य नौ हैं। द्रव्य उनको कहते

हैं जहाँ गुण और क्रिया रहे। पदार्थ तो उनको भी कहा जाता है जहाँ गुण और क्रिया नहीं हैं। जैसे घड़े का मिट्टी के साथ जो समवाय सम्बन्ध है, वह समवाय भी पदार्थ तो है लेकिन द्रव्य नहीं है। साधारणतः भाषा बोलते समय लोग इन बातों का ख्याल नहीं करते, इसीलिये बहुत-सी बातों में लोगों को भेद नज़र नहीं आता। द्रव्य वह होगा जिसमें गुण और क्रिया रहे अथवा गुण और क्रिया का जो आश्रय हो। अंग्रेज़ी भाषा में मैटर (matter) उसे कहते हैं जिसमें ऊर्जा (energy) रहती है। पदार्थ तो और भी हैं। सम्बन्ध भी एक पदार्थ है, अभाव भी एक पदार्थ है, पदार्थ सारे द्रव्य हों, ऐसा नहीं। गुण स्वयं भी एक पदार्थ है लेकिन गुण द्रव्य नहीं है, क्योंकि गुण हमेशा किसी द्रव्य में रहेगा। इसलिये पदार्थ और द्रव्य में किंचित् भेद है। जहाँ गुण और क्रिया रहें वह द्रव्य है। यदि नैयायिकों के ग्रंथ देखोगे तो उसमें आत्मा और मन को भी द्रव्य माना है। ऐसा क्यों माना है ? ये सब आस्तिक दर्शन हैं। श्रुति कहती है 'आत्मयाजी श्रेयान्'। आत्मा का यज्ञ श्रेष्ठ है। यदि आत्मा को द्रव्य नहीं मानोगे तो आत्म-यज्ञ का मतलब क्या बनेगा ? यह इसलिये समझा रहे हैं कि बहुत बार हम लोग ऋषियों के वाक्यों को विचारपूर्वक नहीं देखते। हमें अपनी बुद्धि का इतना अधिक गर्व होता है कि हम यह कहने में एक मिनट की देरी नहीं करते कि 'नैयायिक लोग कुछ नहीं समझते।' यहाँ ऐसी चीज़ बता रहे हैं जिसके विषय में न्याय और वेदांत में सर्वथा विरोध है।

नैयायिक आत्मा को द्रव्य मानता है, वेदांती आत्मा को द्रव्य नहीं मानता। यज्ञ के लिये द्रव्य, देवता, क्रिया—तीनों को इकट्ठा

करना पड़ता है। आत्म-यज्ञ तब बने जब आत्मा को द्रव्य स्वीकारा जाये। वेदांती आत्मा को द्रव्य स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह आत्मा में गुण और क्रिया को नहीं मानता। तार्किक आत्मा में गुण को मानता है। फ़र्क बहुत थोड़ा-सा है। मिट्टी से घड़ा बना? या घड़े में मिट्टी है? या मिट्टी में घड़ा है ? घड़ा और मिट्टी—ये तो प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं, घड़े और मिट्टी का आपस में सम्बन्ध है—यह भी निश्चित है, लेकिन मिट्टी से घड़ा बना या घड़े में मिट्टी है या मिट्टी में घड़ा है—बस इस विचार को लेकर भेद आता है। यदि मिट्टी से घड़ा बना हो तो मिट्टी नष्ट हो जायेगी और घड़ा रह जायेगा। इसलिये वेदांती कहता है कि मिट्टी से घड़ा नहीं मान सकते। यदि घड़े में मिट्टी मानते हैं तो जो बाद में पैदा हुआ वह पहले वाले को कैसे अपने अन्दर करेगा ? घड़ा बाद में पैदा हुआ और मिट्टी पहले थी। इसलिये वेदांती कहता है कि मिट्टी में घड़ा था, दीखता नहीं था, यह बात दूसरी है।

इसी प्रकार आत्मा में गुण रहता है या आत्मा से गुण और क्रिया होती है, बस इतना ही भेद है। नैयायिक ने 'आत्मयाजी' शब्द को सुना तो आत्मा को द्रव्य माना। इसलिये कहा कि जहाँ आत्मा को निर्गुण और निष्क्रिय कहा है, वहाँ दूसरा मतलब निकाल लो। आत्मा के अन्दर उसने गुण को किस कारण माना है ? आत्ममनःसंयोग होने पर आत्मा में ज्ञान-गुण आ जायेगा, नहीं तो निर्गुण श्रुति का विरोध हो जायेगा। ज्ञान भी एक गुण है। वेदांती ने कहा कि श्रुति आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय कह रही है; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसके द्वारा आत्मा को ज्ञान बताया गया, इसलिये आत्मा *में* ज्ञान नहीं, आत्मा ही ज्ञान है। इससे वह निर्गुण

भी हो गया क्योंकि आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है। आत्मा ज्ञान ही है। ज्ञान में ज्ञान तो रहेगा नहीं ! इसलिये आत्मा निर्गुण और ज्ञानरूप दोनों रह गया। लेकिन वह ज्ञान कब प्रकट होगा ? ज्ञानरूप आत्मा का ज्ञान तब प्रकट होगा जब मन सामने होगा। जब नैयायिक कहता है 'आत्मा और मन के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है' तब वह बहुत गलत या फ़र्क की बात नहीं कहता। वह उत्पन्न (प्रकट) हुए ज्ञान को कहता है और वेदांती अप्रकट ज्ञान को कहता है। ज्ञान शब्द के अर्थ में दोनों की दृष्टि में थोड़ा-थोड़ा फ़र्क है, और कुछ नहीं है। यदि वृत्ति-ज्ञान को ज्ञानशब्द से कहो तो वेदांती भी कहेगा कि आत्ममनःसंयोग से ही ज्ञान है, क्योंकि वृत्तिज्ञान आत्ममनःसंयोग से ही होगा। जैसे 'ज्ञान' के अर्थ में ऐसे ही 'संयोग' के अर्थ में भी दोनों दर्शनों का मतभेद है। पर आत्मा व मन का संबंध होने पर ही वृत्तिज्ञान होगा। यह इसलिये बता रहे हैं कि अविचारशील बड़ी जल्दी ऋषियों की बातों को समझने का प्रयास किये बिना कहते हैं कि ऋषि नहीं समझते थे ! आचार्य मधुसूदन कहते हैं 'न हि ते मुनयो भ्रान्ताः' उन मुनियों में कोई भ्रम नहीं था। भ्रम हम में है। आत्म-यज्ञ की प्रक्रिया बनाने के लिये उन्होंने आत्मा को द्रव्य में गिना, मन को द्रव्य में गिना, क्योंकि तभी ज्ञान यज्ञ बनेगा। ज्ञान यज्ञ में मन की आहुति देनी है। शास्त्रों के अन्दर जो बताया गया है, उसका कोई तात्पर्य है।

महर्षि जैमिनि ने सूत्र बनाया कि प्रत्येक यज्ञ में तीन चीज़ें होंगी—द्रव्य, देवता और क्रिया। केवल द्रव्य से ही यज्ञ होता तो तुम्हारी दुकान में भी हो जावे ! इसलिये प्रत्येक यज्ञ किसी न किसी देवता के निमित्त से किया जायेगा। जैसे गणेश चतुर्थी के

दिन आप लोग इक्कीस लड्डुओं का यज्ञ करेंगे। उसमें लड्डू और दूर्वा द्रव्य हो गये, गणेश जी देवता हो गये। केवल द्रव्य और देवता से भी यज्ञ नहीं होता, साथ में क्रिया करनी पड़ेगी, लड्डू को उठाना और 'ॐ एकदन्ताय नमः' कहकर चढ़ाना पड़ेगा। किसी न किसी मंत्र के उच्चारण करते हुए कुछ क्रिया करो। तब यज्ञ होता है। जहाँ-जहाँ श्रुति के अन्दर कोई भी यज्ञविधि है, वहाँ सर्वत्र इन चीज़ों को याद रखना कि द्रव्य, देवता और क्रिया के समुदाय की बात है। तीनों में से एक भी नहीं तो यज्ञ नहीं होता।

होम में भी ये ही तीन होंगे—द्रव्य, देवता और क्रिया। यज्ञ सामान्य-वचन है और होम उसका एकदेश है। भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक वार्तिक में कहते हैं 'यो देवतां समुद्दिश्य द्रव्यत्यागः स उच्यते यागः' किसी देवता के उद्देश्य से, किसी देवता या इष्ट को सामने रखकर उसे उद्देश्य बनाकर द्रव्य का त्याग यज्ञ है अर्थात् जो चीज़ अपनी है उसका त्याग करना है। इतना याग का सामान्य लक्षण है। 'आसेचनाधिक्याद् होमाख्यः स्यात् स एव तु' यदि उसके अन्दर आसेचन हुआ, किसी चीज़ को सींचा गया, तब उसे होम कहेंगे। सेचन मायने सींचना। यह थोड़ी-सी समझने की और थोड़ी मन की कल्पना की भी बात है ! पेड़ को पानी से सींचते हो, इसका क्या मतलब है ? बहुत से लोग समझते हैं कि सींचना केवल पानी *डालना* है। लेकिन पेड़ को पानी से सींचने का मतलब है कि इस प्रकार से पानी देना जो उस पेड़ को बढ़ाये, उसे पुष्ट करे। अगर तुमने इतना ज़्यादा पानी डाल दिया कि पेड़ मर जाये तो सींचना नहीं कहेंगे। इसलिये सींचने का मतलब है कि इतना ही पानी देना जिससे पेड़ की पुष्टि हो।

यदि तुमने आग में इतना घी डाला जिससे आग पुष्ट हुई तो यह भी सिंचन हुआ। यदि आग में टीन भर उंडेल दिया कि आग बुझ गई तो सिंचन नहीं हुआ। ऐसा नहीं कि घी से आग केवल तेज़ ही होती हो। यदि ठीक मात्रा में पेड़ को पानी दोगे तो वह पुष्टि करेगा और यदि उससे ज़्यादा मात्रा में दोगे तो पुष्टि नहीं करेगा वरन् पेड़ को गला देगा। शहर के रहने वाले लोगों को इस विषय का पता न होने के कारण जब भी पानी बरसे तब कहते हैं कि 'बढ़िया हो रहा है, खूब खेती होगी।' गाँव के रहने वालों को पता है कि अब यदि बरसात हो गई तो ठीक नहीं क्योंकि लोगों ने बीज डाल दिये हैं, अब तो खुलने की ज़रूरत है, नहीं तो दाना सड़ जायेगा। हर बार जब वृष्टि होती है तो उससे बीज पुष्ट नहीं होता। इसलिये अत्यधिक पानी बरसे तो नुकसान और अत्यंत कम बरसे तो भी नुकसान। ज़्यादा पानी बरसने से अनाज गल जायेगा या सड़ जायेगा, उसमें हरियाली नहीं रहेगी, पत्ते नहीं आ पायेंगे। इसी प्रकार आग में यदि तुमने बहुत ज़्यादा घी डाल दिया तो आग बुझ जायेगी, यह भी सिंचन नहीं है। यदि तुमने बहुत कम घी डाला, बीस मन लकड़ी को जलाना है और एक तोला घी लेकर हवन करने बैठे, तो भी सिंचन नहीं है। अग्नि को घी से सिंचन करना है। यहाँ आसेचन क्या है ? अगर यज्ञ को जिसके द्वारा अर्थात् जिस माध्यम से करते हो, उसको उससे पुष्ट करो तो उसका नाम होम हो जायेगा।

इसे सब जगह लगाना, एक जगह सीमित नहीं करना। मान लो तुम पूजा कर रहे हो, वैदिक भाषा में यज्ञ कर रहे हो, क्योंकि पूजा एक यज्ञ है। गीता में भगवान् ने जपयज्ञ को अपनी विभूति

बताया है 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'। इस यज्ञ का द्रव्य क्या है ? वाणी के द्वारा उच्चारण किया जाने वाला मंत्र अर्थात् वाणी ही यहाँ द्रव्य है। कहने को लोग बड़ी सरलता से कहते हैं कि 'हम तो जपयज्ञ कर रहे हैं', पर यह इतना सरल नहीं है, बड़ा टेढ़ा मामला है क्योंकि यज्ञ के अन्दर जो सामग्री डालोगे, वह सामग्री शुद्ध होनी चाहिये। कीड़ा खाये हुए गेहूँ से तो यज्ञ नहीं होने वाला है। जिस तिल का तेल निकल चुका है, उस खली से भी यज्ञ नहीं होना है और जो चावल सड़ चुका है, उससे भी यज्ञ नहीं होने वाला है। यज्ञ होने के लिये तो द्रव्य शुद्ध होना चाहिये। अगर जपयज्ञ करते हो तो पहले विचार करना पड़ेगा कि वाणी में कोई अशुद्धि तो नहीं है। वाणी की सबसे बड़ी अशुद्धि झूठ बोलना है। इसीलिये पुराणकारों ने कहा कि कलियुग में रहने वालों को मंत्रसिद्धि क्यों नहीं होती ? उसमें कारण ही बताया है कि असत्यवदन के द्वारा वाणी दग्ध हो गई है। जैसे जला हुआ पदार्थ यज्ञ के काम का नहीं है, इसी प्रकार जो वाणी झूठ बोलती है, उससे क्या जपयज्ञ हो सकेगा ! ऐसे ही दूसरों की निन्दा करना भी वाणी का दोष है। जो व्यक्ति अपनी वाणी से किसी दूसरे की निन्दा करता है, क्या वह जपयज्ञ कर सकेगा ? इसलिये द्रव्ययाग करना सरल है, जपयज्ञ करना कठिन है। यों कहने को लोग बड़ी जल्दी कह देते हैं कि 'हम जपयज्ञ करेंगे।' अच्छे चावलों का बीनना सरल है, घी बढ़िया खरीदकर लाना सरल है, तिलों को भी अच्छा चुनकर लाना सरल है, लेकिन वाणी को शुद्ध करना बड़ा कठिन है। झूठ न बोलो, निन्दा न करो, तब जपयज्ञ कर सकोगे। यह जपयज्ञ में द्रव्य का विचार हुआ।

यह इसलिये कहते हैं कि यदि विचार नहीं करोगे तो जप किये जाओगे, 'सीताराम सीताराम' जपे जाओगे और बीस साल बाद आकर कहोगे कि 'इतना जप कर लिया, फिर क्या कारण है कि अभी तक चित्त में कुछ नहीं हुआ ?' तब या तो हम भी चोरबाजारी करेंगे—या जिससे भी कहोगे, वह चोरबाजारी करेगा—कि 'इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में हो जायेगा।' विचार करो : यदि इस जन्म में ही नहीं हुआ तो अगले जन्म में तो उसके संस्कार और कम ही हो जाने हैं ! यह वही बात है जैसे आज यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं गणित शास्त्र खूब पढ़ा हूँ, पहाड़े आज तक याद नहीं हुए और सवाल सारे ही गलत निकलते हैं, लेकिन अगले जन्म में गणितज्ञ बन जाऊँगा।' इसीलिए भगवान् यही कहते हैं

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।'

'शरीर छूटने के पहले, यहाँ ही, अपने शरीर में रहते हुए जो काम और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ है, वही व्यक्ति योगी और सुखी है'। वेग आयेगा लेकिन वह वेग को सहन कर जायेगा, यही योग का लक्षण है। वेग जिसको आयेगा ही नहीं, वह जीवन्मुक्त हो गया। जहाँ शरीर छूटने का प्रश्न आता है वहाँ भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'देहाध्यासनिवृत्तेः प्राक्' शरीर छूटने का मतलब खाली मरना नहीं, बल्कि 'मैं शरीर नहीं' ऐसा ज्ञान हो जाना भी शरीर छूटना है। वह चाहे मरने पर हो या पहले हो। जब तक देहाध्यास है तब तक वेग आयेगा लेकिन यदि उसे सहन करने में समर्थ हो गये तो देहाध्यास छूट गया। जो सहन करने

में ही समर्थ नहीं है, वह छोड़ेगा क्या! यदि तुम जपयज्ञ कर रहे हो तो देखना पड़ेगा कि काम-क्रोध को सहन कर जाते हो या नहीं। इसलिये यहीं अर्थात् देहाध्यास की निवृत्ति के पूर्व या देह के त्याग के पूर्व ही असर होना है।

यदि तुमने बीस साल जप किया तो फल क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? उसका जवाब समझ लेना कि परनिंदा और असत्य-वदन के द्वारा तुमने गलत द्रव्य को चढ़ाया है। जैसे सड़े केले चढ़ाने से जितनी भगवान् शंकर को प्रसन्नता हो सकती है उतनी ही होगी, वैसे ही निन्दा आदि दोषों के द्वारा दग्ध जीभ को चढ़ाओगे तो फल भी वैसा ही होगा! जब परमात्मा के लिये चाहे जो भी चीज़ चढ़ानी हो, वह पूर्ण शुद्धि के साथ चढ़ाओगे तब यज्ञ होगा।

अब देवता का विचार करो। देवता का मंत्र जप करते हो जैसे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इसके देवता वासुदेव, 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र के देवता शिव, 'ॐ दुं दुर्गायै नमः' की देवता देवी, 'ॐ नमो नारायणाय' मंत्र के देवता नारायण। जो उस मंत्र में प्रतिपादित तत्त्व है, वही जप-यज्ञ का देवता है, उसे समझना पड़ेगा। अगर देवता के रूप को नहीं जाना तो जप किये जाओ, कुछ नहीं होना है। एक माई थी, उसके यहाँ एक महात्मा आया करते थे। महात्मा ने उससे कहा कि 'तू 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव' का जप कर लिया कर।' वह मंत्र उन्होंने उसे याद भी करा दिया। उस बेचारी ने भी घोटा लगा लिया। वह रोज़ सवेरे उठकर नहाये-धोये और उस मंत्र का जप कर लिया करे। लेकिन उसने कभी पूछा नहीं कि 'यह मैं किसका जप कर रही हूँ।' महात्मा के पास भी समय नहीं था, वे भी बिना

बताये चले गये। उस स्त्री का ब्याह हो गया। इससे उसका जप गड़बड़ा गया! क्योंकि उसके पति का नाम नारायण और ससुर का नाम वासुदेव था ! अब वह उनका नाम कैसे ले ? उसने जप करना छोड़ दिया। साल दो साल में बच्चा पैदा हो गया और उसका नाम लल्ला हो गया। अब उसने अपना जप फिर से शुरू किया 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे लल्ला के बाबूजी और दादा जी।' बाबू जी नारायण और दादा वासुदेव हो गये। उसका पति सत्संगी था, उसने एक बार कहा कि 'यह मंत्र किसी गुरु से लेकर जप शुरू किया है या अपने आप ही शुरू कर दिया है ? यहाँ जब आई थी तब कई दिन तक तो जप नहीं करती थी।' वह कहने लगी कि 'मेरे मंत्र में आपका और ससुर जी का नाम दे दिया था, इसलिये इतने दिन मैंने जप नहीं किया।' उसने पूछा 'अब कैसे शुरू कर दिया ?' उसने बता दिया कि 'अब तो लल्लू के बाबू जी और दादा जी हो गये।' वह अपने सिर पर हाथ रखकर कहने लगा कि 'वह किस नारायण और वासुदेव का जप था और तू किस नारायण और वासुदेव का जप करने लग गई ?' उसे पता नहीं कि नारायण और वासुदेव कौन हैं ? यह कोई किस्सा ही नहीं समझना। बहुत से लोग ऐसे ही मंत्र का जाप करते हैं 'अहं ब्रह्म अस्मि' उन्हें यह पता नहीं कि 'अहं' कौन और 'ब्रह्म' कौन है'। लेकिन जप किये जा रहे हैं। ऐसे कुछ लोग जप करते हैं 'शिवोऽहम्' लेकिन शिव कौन है और अहम् कौन है, यह पता नहीं है। इसलिये मौके पर उसकी जगह वह कुछ और भी बोल जाते हैं, क्योंकि उसके अर्थ का, देवता का पता नहीं है। यदि जप भी करते हो तो उसके लिये वाणी, द्रव्य संभालना होगा और

देवता जो उस मंत्र में प्रतिपादित है, उसके स्वरूप को भी समझना पड़ेगा। और ज़बान से बोलते हो तो क्रिया हो गई। तब जप यज्ञ होगा।

यदि चाहो कि इस जप यज्ञ को होम में बदला जाये तब क्या करोगे ? जपयज्ञ को इसलिये दृष्टांत बना रहे हैं कि बहुत से लोग जपयज्ञ करना चाहते हैं। अगर कहते हो कि हमें होम करना है तो उसमें आसिंचन करना पड़ेगा। इसमें किस चीज़ का आसिंचन करोगे ? जैसे पेड़ को पानी से और आग को घी से सींचा अर्थात् जिसके उद्देश्य से सींचा था, उसे तेज किया। यदि जपयज्ञ के अन्दर सिंचाई करनी है तो उसकी करोगे जिससे जिस देवता का यज्ञ करते हो उसके रूप में अपना ज्ञान बढ़ता चला जाये, देवता के प्रति अपना भाव (प्रेम) बढ़े। यही जप को उद्दीप्त करना है। इतिहास पुराण आदि के अन्दर भगवद्-लीलाओं का उद्देश्य यही सिंचन है। जितना-जितना उनकी लीलाओं का श्रवण करोगे, उतनी-उतनी अपने हृदय के अन्दर उनके प्रति उद्दीप्ति आयेगी। तब यह यज्ञ होम बनता जायेगा।

प्रकरण आया है तो एक बात बता देते हैं, यद्यपि उसका प्रसंग यहाँ नहीं है। द्रव्यादि तीन चीज़ें दान में भी होती हैं। द्रव्य देवता क्रिया का समुदाय दान में भी होता है। दान में भी कोई द्रव्य होता है, किसी देवता के निमित्त देते हो, कुछ क्रिया के साथ देते हो। दे दिया तो उसका नाम दान हुआ। फिर दान में होम से क्या विशेषता है ? दान में लेने वाले की स्वीकृति ज़रूरी है। तुमने जप किया, परमात्मा ने स्वीकृत किया या नहीं, यज्ञ तो हो गया। तुमने आहुति दे दी, देवता ने स्वीकार की या नहीं, इससे कोई

मतलब नहीं है, लेकिन यज्ञ हो गया। दान में विलक्षणता है तुम कहो कि 'गोदान दे दिया' और पंडितजी ने नहीं लिया तो दान नहीं हुआ है। है यह भी यज्ञ ही लेकिन दान में विशेषता है कि सामने वाले ने स्वीकार किया या नहीं। तुम्हारा देना वैसा ही है, द्रव्य है, देवता है, ऐसे ही क्रिया भी है—किसी चीज़ को दे रहे हो, अपने इष्ट के प्रति दे रहो हो और क्रिया करके दे रहे हो। लेकिन उसने स्वीकार कर लिया, यह ज्ञान जहाँ हुआ, वहाँ दान होगा। इसीलिये सबसे कठिन चीज़ दान ही है। सबसे कठिन इसलिये है कि दान तुम्हारे अधीन नहीं है। तुम लाख देना चाहो, यदि सामने वाला स्वीकार करने को तैयार नहीं तो क्या करोगे? है तो वह भी कुछ देना, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन उसके अन्दर सामने वाले की स्वीकृति भी चाहिये, जिस देवता को दे रहे हो, वह देवता उसे स्वीकार करे। दूसरी तरफ दान निश्चित है। निश्चित इसलिये है कि जब देवता ने स्वीकार कर लिया तो अब आगे तुम्हें यह चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं कि 'मेरा यज्ञ ठीक हुआ या नहीं।' स्वीकृति वहीं मिल गई। दान का यद्यपि प्रसंग नहीं था, प्रसंग तो यज्ञ और होम का है, लेकिन उससे मिलता-जुलता होने से दान का विचार भी स्पष्ट कर दिया।

इस स्वीकृति का दृष्टांत आता है : इस यजुर्वेद के अन्दर अंतिम मंत्र के ऋषि दध्यङ् आथर्वण महर्षि के जीवन की दो घटनायें हैं। एक बार इन्द्र ने सुना कि दध्यङ् आथर्वण के पास ऐसा ज्ञान है जिसको जानने से मनुष्य अमरता को प्राप्त कर लेता है। वह उनके पास वह ज्ञान लेने गया। महर्षि ने स्वयं विचार किया, 'ठीक है, इन्द्र हमारे पास ज्ञान लेने को आया है तो उपदेश

देना चाहिये, क्योंकि देवराज है। राजा ज्ञान माँगने आया है तो मना नहीं करना है।' आत्मविवेक ही द्रव्य बन गया। यज्ञ की सीमा असीम है। यह सब जगह समझना। दध्यङ् आथर्वण महर्षि यज्ञ कर रहे हैं उसमें जो आत्मविवेक का उपदेश है, वही द्रव्य बन गया। जो सामने सुनने के लिये इन्द्र आया हुआ है वही देवता बन गया। शब्दों के द्वारा उसका प्रतिपादन करना है, यह क्रिया हो गई। द्रव्य देवता और क्रिया का समुदाय हो गया। महर्षि ने सोचा कि बढ़िया देवता आ गया, वह भी राजा है। जब इन्द्र आ ही गया तो इसका आसिंचन या होम ही कर डालें! ज्ञान के उपदेश का आसिंचन क्या है ? ज्ञान यज्ञ के अन्दर गुरु का उपदेश द्रव्य है, शिष्य ही उसका देवता हो जाता है और शब्दों के द्वारा जो कहा जाता है, वह क्रिया हो जाती है। इसका आसिंचन करना चाहिये। ज्ञान का आसिंचन किससे, ज्ञानाग्नि किससे प्रदीप्त होगी? त्याग से ही प्रदीप्त होगी। इसलिये श्रुति कहती है 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वम् आनशुः' त्याग के द्वारा ही ज्ञान का आसिंचन होता है, ज्ञान बढ़ता है। जहाँ त्याग नहीं होगा, वहाँ ज्ञान बिना सींचा हुआ, मुर्झाया हुआ रहेगा। ज्ञान का फल है तुम्हें सिंह बनाना। ऐसा सिंह बनाना जो दूसरों के ऊपर उछलने के लिये हमेशा तैयार रहता है। चिड़ियाघर वाला सिंह नहीं समझना। शास्त्रों ने कहा है

'तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केसरी।।'

संसार में दूसरे जितने विचारक हैं, वे सियारों की तरह गर्जा करते हैं, बड़ी बातें बोलते हैं, कभी रूस, कभी अमरीका और कभी चीन

जाकर पढ़ आते हैं, लेकिन वे सियारों जैसे होते हैं। सियार कभी अकेला नहीं बोलता, सब सियार मिलकर इकट्ठे हल्ला करते हैं। ऐसे-ही आजकल के रूस, अमरीका, चीन, जापान से पढ़कर आने वाले लोग भी कई लोगों को इकट्ठा करके हू-हू करते हैं। जितने ज़्यादा इकट्ठा कर लें उतनी ही उनकी हू-हू बढ़िया मानी जाती है। लेकिन कब तक ऐसा करते हैं ? जब तक एक वेदांत सिंह न आ जाये। वहाँ 'शास्त्राणि' में बहुवचन का प्रयोग है और 'वेंदांत केसरी' एकवचन में है अर्थात् अकेला ही आता है। वह जब आता है तब महाशक्ति लिये हुए। वह किसी राज्यादि शक्ति के द्वारा या किसी का गुलाम बनकर भी नहीं गर्जता। वेदांत केसरी खुद स्वतंत्र है और दूसरों को स्वतंत्र करने वाला है। उसकी शक्ति त्याग है। ईशावास्योपनिषद् में कहा 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।' त्याग के द्वारा अपने को पुष्ट करो। जितना-जितना त्याग करोगे, उतनी-उतनी ज्ञानाग्नि तेज होगी। नहीं तो ज्ञान-शक्ति मुर्झाई रहेगी, गर्ज नहीं सकोगे।

दध्यङ् आथर्वण महर्षि ने विचार किया कि इसका आसिंचन करें क्योंकि बढ़िया देवता सामने आ गया है तो होम ही करें। लेकिन इन्द्र ठीक देवता नहीं था। त्याग का सिंचन करते हुए महर्षि ने कहा कि संसार के जितने पदार्थ हैं वे सब व्यर्थ के हैं। उनकी व्यर्थता बताते हुए उन्होंने कहा कि 'इन्द्र का जो पद है जिसके लिये लोग परिश्रम करके पहुँचते हैं, वह भी कुत्ते के पेशाब की तरह है।' यह सुनकर इन्द्र को बड़ा गुस्सा आ गया। कहा 'रहने दो अपना ज्ञान, मैं स्वीकार नहीं करूँगा।' दध्यङ् आथर्वण महर्षि ने अपना ज्ञान *यज्ञ* कर लिया ! *होम* भी कर लिया, लेकिन

ने अपना ज्ञान *यज्ञ* कर लिया ! *होम* भी कर लिया, लेकिन जिसके लिये किया था, उसने स्वीकार नहीं किया, स्वीकार कर लेता तो *दान* हो जाता। यज्ञ और होम तक इसकी अपेक्षा नहीं है कि जिसको उपदेश दो वह स्वीकार करे। दान में यह आवश्यकता पड़ती है कि सामने वाला स्वीकार कर ले। स्वीकृति हो गई तो निश्चित पता लग गया, मन में संदेह नहीं कि 'मेरा यज्ञ अधूरा तो नहीं रह गया।' इन्द्र स्वीकार नहीं कर सका। दध्यङ् आथर्वण ने विचार किया कि 'इसने स्वीकार नहीं किया, जाने दो, फिर कभी सिखायेंगे कि कैसे स्वीकार किया जाता है।' इन्द्र ने गुस्से में आकर कहा 'आज जिस बात का उपदेश किया उसका आइन्दा कभी नहीं करना, नहीं तो सिर काट कर रख दूँगा। मेरे पद को ऐसा बताते हो !' महर्षि ने मान लिया। उसके बाद फिर किसी को उपदेश देने की आवश्यकता पड़ी, तब क्या हुआ, वह दूसरी कथा है।

एक बार इन्द्र को आवश्यकता पड़ी कि दध्यङ् आथर्वण की हड्डियाँ मिलें तो वृत्रासुर मारा जाये। इन्द्र ने सोचा कि 'एक बार उन्हें डाँट दिया था, पता नहीं मानें, न मानें।' इन्द्र पहुँचा और कहा कि 'कुछ लेने आया हूँ।' महर्षि ने सोचा कि 'ज्ञान ही लेने आया होगा जो उस समय नहीं लिया।' पूछा 'क्या लेगा ?' इन्द्र ने कहा, 'आपका शरीर चाहिये, वृत्रासुर को मारने के लिये आपके शरीर की हड्डियाँ चाहिये।' महर्षि हँस पड़े। कहा, 'अरे, यही चाहता है ! मैं तो सोच रहा था कि तू मेरी आत्मा लेने आया है, मुझे लेने आया है। शरीर का क्या है, ले जा।' यहाँ किसकी आहुति दे रहे हैं ? शरीर ही यहाँ द्रव्य हो गया। देवता इन्द्र हो

गया। क्रिया क्या हुई ? कहीं-कहीं पुराणों में लिखा है कि उन्होंने गाय की जीभ से चटवा कर अपना शरीर दिया ताकि हड्डियाँ साफ हो जायें, यह हड्डियों के देने की क्रिया हो गई। लेकिन यहाँ इन्द्र ने स्वीकार कर लिया अतः दान हो गया। इसका नाम है दान। अध्यङ् आथर्वण ने सिद्ध किया कि जब देहाध्यास की निवृत्ति होती है तब यह अवस्था बनती है। जिस इन्द्र ने किसी काल में उनको मारने की धमकी दी थी, और एक बार गर्दन काटी भी थी, उसी इन्द्र को उन्होंने अपनी देह का दान कर दिया और इन्द्र ने स्वीकार कर लिया। यहाँ महर्षि ने अपने शरीर को ही द्रव्य बना दिया।

कई बार लोग पूछते हैं कि ऐसा क्यों किया ? हमें लगता है कि सम्भवतः दध्यङ् आथर्वण महर्षि ने यह दिखाने के लिये किया कि जो एक बार माँगने आ जाये उसे दे तो देना ही चाहिये। पहले उसने कहा था कि 'आप अपना आपा दो' अर्थात् आत्मज्ञान का उपदेश माँगा था तब उन्होंने अपना आपा दिया था। किन्तु बहुत कम लोग अपना आपा स्वीकार कर पाते हैं! कहते ज़रूर हैं लेकिन उसे स्वीकार करने में हिम्मत चाहिये। इन्द्र का वास्तविक तात्पर्य शरीर को अमर बनाना था। उसने यह नहीं सोचा था कि अमर कौन बनता है। सम्भवतः उसी समय ऋषिके मन में संकल्प हो गया था कि 'राजा माँगने आ गया है, वह शरीर को अमर बनाना चाहता है, मैं आत्मा देना चाहता हूँ, लेकिन जो मिला उसे नहीं लिया। फिर भी एक बार कह दिया कि 'देना है' तो दूँगा ज़रूर।' वे सत्यकाम, सत्यसंकल्प थे, इसलिये एक दिन उन्हें अपने शरीर को ही देना पड़ा। उसके द्वारा उन्होंने आत्मज्ञान का जो

कहा था कि 'इन्द्र-पद श्वमूत्रवत् है', उसे सिद्ध कर दिया कि 'तेरा इन्द्र पद तब रहे जब मैं अपनी हड्डियाँ दूँ।' वृत्रासुर को उसने नष्ट करना था। 'तू अपने पद की रक्षा के लिये मेरी हड्डियाँ ले लेगा, लेकिन मुझे तेरा कुछ नहीं चाहिये।' इससे सिद्ध कर दिया कि तेरा इन्द्रपद निरर्थक है, क्योंकि तेरे इन्द्र पद की रक्षा मुझ से है लेकिन मेरे पद की रक्षा तेरे पद से नहीं है। 'स्वे महिम्नि'—इस बात को उन्होंने इन्द्र को स्पष्ट समझाया। यह सत्यसंकल्पता है। प्राणाग्निहोत्र, जप आदि जो भी यज्ञ हो, उसमें इन तीनों चीज़ों को करना पड़ता है। यदि आसिंचित हो जाये, उद्दीप्त हो जाये तो होम हो गया और यदि देवता ने स्वीकार कर लिया तो दान हो गया। यहाँ यज्ञ का पूर्ण स्वरूप बताया।

प्रवचन-२५

प्रजापतिरूप परब्रह्मपरमात्मा यज्ञरूप बना। कौन-सा यज्ञरूप? कहा 'सर्वहुतः' जहाँ सब कुछ ही हुत किया जाता है, सब कुछ जहाँ हवि का अंग बन गया है। 'सम्भृतं पृषदाज्ज्यं'; जिसमें दही और घी दोनों मिलाये जायें, उसे 'पृषदाज्य' कहते हैं। उसके बाद उस पृषदाज्य को पशु बनाया, वायुदेवताक पशु का निर्माण किया। पशुओं के फिर दो प्रकार हैं 'आरण्याः' और 'ग्राम्याः'। जो पशु वन में होता है वह आरण्य और जो ग्राम में होता है वह ग्राम्य। जैसे वन में होने वाले सिंह आदि और ग्राम में होने वाले बकरे आदि पशुओं का निर्माण किया।

यहाँ पृषदाज्य (दही-घी) के द्वारा क्या बताया ? घी कार्य और दही कारण होता है। घी दही से पैदा होता है। दही को मथने पर उसमें से घी निकलता है। इसलिये आज्य (घी) कार्य और दही कारण है। ये कारण और कार्य इस संसार में कैसे हैं ? सम्भृत अर्थात् मिले हुए हैं। विचार-दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि प्रत्येक चीज़ इस जगत् में कार्य भी है और कारण भी है। भगवान् सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यकवार्तिक में लिखते हैं

'सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वं सर्वस्य कारणम्।

असंहतं मिथो नालं जडं वस्तु प्रवर्तितुम्।।'

विचार करने पर पता लगता है कि सब चीज़ें सब चीज़ों से उत्पन्न होती हैं। कहने को लगता है कि 'यह चीज़ अमुक से उत्पन्न हुई' लेकिन है ऐसा नहीं। संसार में हर एक चीज़ किसी न किसी दूसरी चीज़ के प्रति कार्य बन जाती है, कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से। आज से कई वर्ष पूर्व फराडे उत्पन्न हुआ था और मर गया। उसने बिजली का आविष्कार किया, उसी के कारण खेत में बिजली के नल लगे। उस बिजली के नल के कारण जो अन्न उत्पन्न हुआ उसमें फराडे भी कारण है। जितना विचार करो उतना पता लगता है कि 'सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात्' सब चीज़ें सब चीज़ों का कार्य हैं, क्योंकि यह विश्व एक है। यदि विश्व अनेक होते तब तो एक कारण और दूसरा कार्य बन सकता था लेकिन विश्व चूँकि एक है, इसलिये सब कुछ सबका कार्य होता है और सब कुछ सबका कार्य है तो सब चीज़ें सब चीज़ों के प्रति कारण भी होती हैं।

इस सिद्धान्त को आधा-आधा लेने से बड़ी गड़बड़ी होती है। कुछ लोग कार्य तो मानते हैं लेकिन कारण मानने से घबराते हैं। जैसे तुम्हारे घर में चोरी हुई तो एक मिनट में कहते हो कि 'इन्दिरा के राज्य की व्यवस्था ठीक नहीं है, इसलिये वह जिम्मेवार है।' इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि 'सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात्।' लेकिन जब इसी को बदलकर कहते हैं कि 'जैसे तुम्हारे घर की चोरी के प्रति इन्दिरा कारण है, वैसे ही याह्या खाँ ने जो बंगाल में गोलियाँ चलाईं उसके प्रति तुम कारण हो' तो चौंक जाते हैं कि 'हम कैसे कारण हो गये?' परम्परा-सम्बन्ध से सोचो तो पता लग जायेगा। तुम्हारे पूर्वज कमज़ोर न होते तो पाकिस्तान में मुसलमान नहीं हुए होते। इसलिये तुम्हारे पूर्वज ही मुसलमान बनाने का कारण हैं। यदि हम प्रबल ताकत वाले होते तो मुसलमानों पर चढ़ाई करके जीत लेते। जब हम दूसरे को कारण और अपने को कार्य मानते हैं तब तो हमें मीठा लगता है लेकिन जब पलट कर अपने ऊपर कारणता आती है तब आदमी घबराता है।

दोनों याद रखने वाले व्यक्ति के सोचने का तरीका है कि जहाँ कहीं कार्य उत्पन्न होता है वहाँ तो वह अपने आपको कारण मान लेता है लेकिन स्वयं अपने ऊपर आपत्ति आने पर दूसरे पर नहीं टालता। प्रमादी इस सिद्धान्त का दुरुपयोग करता है कि अपनी आपत्ति का कारण तो दूसरे को मान लेता है लेकिन दूसरे की आपत्ति का कारण अपने को नहीं मान पाता। विवेकी ठीक इससे उलटा है, वह दूसरे की आपत्ति का कारण अपने को मान लेगा लेकिन अपनी आपत्ति का कारण दूसरे को नहीं मानता। इससे नतीजा यह निकलता है कि विवेकी हमेशा स्वतंत्र रहता

है और प्रमादी हमेशा परतंत्र रहता है। विवेकी सोचता है कि जब तक मैं अपने को कारण समझूँगा तब तक तो मुझे कुछ करने का निर्देश मिलता रहेगा। 'मैं कारण हूँ, मैं ऐसा नहीं करूँगा तो फल उत्पन्न नहीं होगा', इसमें तो स्वतंत्रता बढ़ती है। प्रमादी परतंत्र होता है, क्योंकि अपनी प्रत्येक आपत्ति का कारण किसी दूसरे को बना लेता है और बनाना इसलिये सम्भव है कि 'सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात्'।

एक कहानी आती है। मकान की दीवार गिरकर एक आदमी मर गया तो विधवा ने फरियाद की कि 'मेरा पति मकान-मालिक की लापरवाही से दीवार गिरकर मर गया।' राजा ने मकान-मालिक को बुलाया, कहा, 'मकान ऐसा क्यों बनाया ?' उसने कहा, 'इसमें मेरा क्या कसूर है? मिस्त्री ने दीवार ही कमज़ोर बनाई।' मिस्त्री को बुलाया तो उसने कहा 'मेरा कोई कसूर नहीं, मज़दूरों ने गारे में पानी ज़्यादा डाल दिया, मश्क वाले ने मश्क बड़ी बनाई।' अब भिश्ती को बुलाया गया और पूछा कि 'मशक बड़ी क्यों बनाई?' उसने कहा कि 'बकरा काटते समय उधर से एक बारात निकली, मैं वर को देखने लगा, इसलिये ध्यान नहीं रहा कि कौन बकरा कितना बड़ा है। जो ब्याह करने वाला जा रहा था, यह उसकी गलती है।' राजा ने उसको बुला लिया कि 'इस आदमी के मरने का कारण तू है।' वह भी बुद्धिमान् था, सोचा कहाँ आ फँसा! कहा, 'मैं क्या करूँ, मेरे जो ससुर हैं, उनकी गलती है, न उन्होंने मुझे लड़की दी होती और न मैं ब्याह करता और न बारात निकलती।' अब बुड्ढे को पकड़कर लाया गया और उससे पूछा 'तूने लड़की को पैदा किया, इसलिये तू ही उस आदमी के मरने

का कारण है।' वह बेचारा भोला-भाला था, चुप रहा, निश्चय हो गया कि यही कारण है, उसे फाँसी की सज़ा दी गई। वह बड़ा दुबला और बुड्ढा आदमी था, उसकी गर्दन इतनी पतली थी कि उसमें फाँसी का फन्दा फँस ही नहीं पाया। अब राजा ने कहा, 'फाँसी तो किसी को देनी ही है, इसलिये जिसकी गर्दन इसके फंदे में सही बैठे उसी को बुला लो।' एक महात्मा को पकड़ बुलाया गया क्योंकि सब एक उसे ही फालतू समझते हैं!

प्रमादी प्रमाद के द्वारा अपने ऊपर आने वाली आपत्ति का हमेशा कोई न कोई दूसरा कारण ढूँढता है। मन की वृत्ति खराब क्यों है ? क्योंकि पुराने संस्कार खराब हैं। पुराने संस्कार कहाँ से आये ? पूर्व जन्म के पापों के कारण। पुराने पापों के कारण ही मेरे ऊपर दुःख आया। चोर-बाजारी क्यों करते हो ? क्योंकि सरकार के कानून ही ऐसे हैं। टैक्स की चोरी क्यों करते हो ? क्योंकि नब्बे प्रतिशत टैक्स सरकार काट लेती है। बच्चा इम्तिहान में इसलिये फेल होता है कि दिसम्बर में घर में ब्याह आ गया था, इसलिये पढ़ नहीं सका। निरंतर हम लोग बाहर ही कारण ढूँढते हैं और उसके द्वारा परतंत्रता बढ़ती है, क्योंकि दूसरा क्या करेगा—इस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है।

विवेकी इससे विपरीत प्रत्येक घटना के प्रति स्वयं अपने को कारण मानता है। यदि मेरे मन ने कोई ग़लत काम किया तो इसलिये कि मैं अपने मन को अपने शासन में नहीं रख पाया। संस्कार मेरा क्या करेंगे जब तक मैं संस्कारों को सत्ता नहीं दूँगा? संस्कार तो जड हैं, मेरा क्या बिगाड़ सकेंगे ? पाप कर्म भी दुःख तभी दे सकते हैं जब हम शरीर आदि के साथ एक होकर

अध्यास करें, यह हमारी गलती है। देहाध्यास न होने पर पाप कुछ नहीं कर सकते। इसलिये मेरी ही ग़लती है। यह वेदांत की, विवेकी की दृष्टि है कि वह हर चीज़ को अपने ऊपर लेता है। उसमें उसकी स्वतंत्रता बढ़ती है। बिहार में बाढ़ और भूकम्प आया तो गांधी जी ने उस समय कहा कि इसका कारण हम लोग हैं। उन्होंने ठीक कहा या गलत, यह प्रश्न नहीं है लेकिन उन्होंने कहा कि हम लोगों ने जो तरह-तरह के अत्याचार दूसरों के प्रति किये हैं उसी का फल प्रकृति हमें दे रही है। यह एक दृष्टि है।

विचार करके देखो तो सिवाय हमारे दूसरा कोई कारण नहीं है। जब तक चीज़ों को संहत न कर लो तब तक जड वस्तु की प्रवृत्ति बनती नहीं है; जब तक मैं चेतन उसका कारण न बनूँ, तब तक जड कोई प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यही विश्व की सबसे बड़ी कड़ी है कि जिस चीज़ को मैं सत्ता नहीं दूँगा, वह ख़त्म होती जायेगी। अंतःकरण के जिन-जिन विकारों को मैं सत्ता दूँगा वे आगे बढ़ेंगे और जिन-जिन विकारों को मैं सत्ता नहीं दूँगा वे धीरे-धीरे ख़त्म होते जायेंगे। लोक में यही देखने में भी आता है कि अपने पेट से पैदा हुई लड़की दूसरे के घर में चली गई, उसका ब्याह हो गया। दूसरे के घर में लड़की ब्याह होने पर अपने घर आ गई। दस-बारह साल हो गये। घर में कोई मतभेद हो तो अपने पेट से पैदा हुई लड़की अगर कोई बात कहती है तो कहते हो कि 'हमारे घर के मामले में तुम्हें बोलने की ज़रूरत नहीं है।' क्योंकि यहाँ सत्ता बहू की है। यद्यपि वह लाई बाहर से गई है, लेकिन रात-दिन उसके साथ रहते-रहते उसके साथ सम्बन्ध हो गया और लड़की का सम्बन्ध घट गया। सत्ता तुमने बहू को दे दी और लड़की

को नहीं दी। इसी प्रकार जब तक मन को (संकल्प-विकल्प करने वाले को) सत्ता दोगे तब तक मन प्रबल रहेगा। जब निश्चय करने वाली बुद्धि को सत्ता दोगे तब बुद्धि प्रबल होती जायेगी। जिसको चेतन सत्ता देगा, वह प्रबल होता चला जायेगा।

बाकी विचारक उलटा मानते हैं कि जड चेतन को नचाता है। सांख्य और वेदांत का अत्यंत विरोध इसी प्रश्न को लेकर ही है। सांख्यवादी कहता है कि भोग-मोक्ष प्रकृति देती है, पुरुष कुछ नहीं करता। वेदांती कहता है कि प्रकृति की प्रवृत्ति कौन करायेगा? प्रकृति तो जड है, वह क्या कर सकती है ! केवल सांख्यवादी ही नहीं, दूसरे लोग, नैयायिक, वैशेषिक भी अदृष्ट को कारण मानते हैं। कहते हैं कि जो कुछ भी होता है, वह अदृष्टवश होता है। इसी प्रकार कई लोग सब घटनाओं के प्रति किसी सातवें आसमान में बैठे हुए ईश्वर को कारण मानते हैं कि वही अच्छे बुरे जीवों को बनाता है। इसके आचार्य हमारे ही यहाँ द्वैत सम्प्रदाय के मध्वाचार्य थे। वे कहते हैं कि यदि सब लोग अच्छा काम करने में समर्थ हो जायें तो परमात्मा बुद्धू सिद्ध हो जायेगा। इतने सारे नरक खाली पड़े रहेंगे। इसलिये परमात्मा ने कुछ जीवों को नरक जाने के लिये और कुछ को स्वर्ग जाने के लिये बनाया। इसलिये जो उनके सिद्धांत के बाड़े में बँध गये वे स्वर्ग जाने वाले हैं और बाकी सब नरक जाने के लिये हैं। ठीक जैसे ईसा कहते हैं कि जो ईसा मसीह की शरण लें वे स्वर्ग जाने वाले और बाकी सब नरक जाने वाले हैं, ऐसे ही मोहम्मद साहब कहते हैं। सांख्यवादी ने भी आत्मा से अतिरिक्त को प्रवृत्ति का कारण माना, नैयायिक द्वैतवादियों ने और भारतेतर धर्मों ने भी प्रवृत्ति का कारण दूसरे

को माना। केवल वेदांती कहता है कि कारण तो आत्मा ही है। वह जिसे सत्ता देगा वही चीज़ आगे आयेगी, जिसे सत्ता नहीं देगा, वह खत्म होती चली जायेगी।

आत्मा उनकी प्रवृत्तिमात्र कराता है, इतना ही नहीं, भगवान् सुरेश्वराचार्य आगे लिखते हैं कि 'सर्वं सर्वस्य भोक्तैव चित्-प्राधान्यविवक्षया' सभी लोग सभी जीवों के भोक्ता हैं। जैसे सब क्रियाओं के तुम कारण हो, वैसे ही साक्षात् या परम्परा से सब भोगों के प्रति भी तुम ही कारण हो। तुम्हारे घर में जो रोटी बनी, वह तुम्हें खाने को क्यों मिली ? क्योंकि हमने नहीं खाई! हमने खा ली होती तो तुम कैसे खाते ? तुम्हारे भोग के प्रति कारण हम भी तो बने गये। भोग कैसा है ? घर में यदि धूप जलाकर सुगन्धि करते हो तो सुगन्धि का भोग है, लेकिन घर में चूहा सड़ रहा है तो उसे निकालना भी तो भोग ही है। निकाल दिया तो दुर्गन्धि नहीं रही। बड़ी प्रसन्नता होती है जब सड़ा हुआ चूहा घर से निकल जाये। इसी प्रकार जो फुल्का हमने खाया, उसी के भोक्ता हम हैं ऐसा नहीं, जिन्हें नहीं खाया, उनके भी भोक्ता हम हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पर एक साहित्य का दृष्टांत दिया है : रात में कोई व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ सोने गया। दोनों सो गये। चार घण्टे बाद पति की आँख खुली, उसकी पत्नी सोई पड़ी है। विचार करो : अब पति क्या अनुभव करता है ? उसकी अनुभूति है कि 'सुषुप्ति काल में भी मैं अपनी पत्नी के साथ सोया।' लेकिन वह नहीं सोया, वह तो सुषुप्ति में पड़ा था। उसे यह पता नहीं था कि पत्नी वहाँ है या नहीं। अगर कहीं दिल का दौरा पड़ने से वह मर गई होती तो पति को चार घण्टे बाद पता लगता।

सुषुप्ति काल में अपने आप का ही भोक्ता है। उस काल में पत्नी की देह का ज्ञान न होने पर भी उठने पर अपने को भोक्ता ही मानता है। इसके विपरीत यदि स्त्री वहाँ नहीं है तो सोचता है कि 'उसके बिना आज रात फालतू बीत रही है।' ये पदार्थ तो जाग्रत् के हैं, सुषुप्ति पर्यन्त हैं। सुषुप्ति काल में भान नहीं है, जाग्रत् में पुनः भान हो गया तो अपने को भोक्ता ही समझता है। ठीक इसी प्रकार चाहे तुम्हारे खाये हुए फुल्कों का ज्ञान हमें हो या नहीं, लेकिन फुल्कों के परित्याग का भान तो मुझे प्राप्त ही है।

यह भोग भी एक तरह का कार्य ही समझ सकते हो लेकिन भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि कार्य से इसमें फ़र्क है : कार्य में प्राण की विशेषता होती है और भोग में चेतन की विशेषता होती है। सामान्य दृष्टि से दोनों क्रियाएँ हैं। लेकिन कार्य के अन्दर तो जड की प्रधानता है, जिस चीज़ में क्रिया होती है उसकी प्रधानता है, और भोग में जो क्रिया करता है उसकी प्रधानता है। इसलिये कहा कि उसमें चित् की प्रधानता की विवक्षा होती है अर्थात् कहने की इच्छा होती है। दोनों क्रियारूप होने पर भी जड और चेतन की प्रधानता को लेकर कुछ फ़र्क आ गया। साधारण आदमी क्या करता है ? भगवान् सुरेश्वराचार्य ही कहते हैं कि 'बाह्योपरक्तबुद्धीनां भोगश्चिदवसानता' वह भोग के अन्दर ही चिद् की अवसानता को प्राप्त कर लेता है। बस यहीं वह गड़बड़ा जाता है। केवल बाह्य पदार्थ की प्रधानता मानकर वहीं अटक जाता है। उसके आगे नहीं जाता।

यज्ञ हमें उससे आगे ले जाता है। यही फ़र्क है। यज्ञ कैसे

आगे ले जाता है। इस पर एक कथा आती है : दक्षिण भारत के अन्दर जैनों का बहुत प्रभाव था। उन लोगों ने चिदम्बर पर आक्रमण किया। पाँच महाभूतों की प्रधानता की दृष्टि से चिदम्बर आकाश लिंग है। वहाँ तीन सौ साठ दीक्षितों के घर हैं, चिदम्बर की पूजा वे ही करते हैं। साल में एक बार सब की पारी आती है। तीन सौ साठ तो कुल हुए, एक कुल में फिर दो-ढाई सौ सदस्य हैं। उसी हिसाब से घण्टे मिनट बँट जाते हैं। वहाँ दीक्षितों का ही पूजा में अधिकार है। इसीलिये वह मन्दिर दक्षिण भारत में अब तक बच गया। सरकार ने जो देवस्थान कानून बनाया वह उस पर नहीं लगा क्योंकि जहाँ पचास से अधिक अधिकारी होते हैं वह सरकार की मान्यताप्राप्त समिति हो जाती है। उसका अधिकार तो तीन सौ साठ व्यक्तियों के हाथ में था ! आजकल के लोग सब सांख्यवादी हैं—संख्या गिनते हैं कि कितने किस के पीछे हैं। सरकार ने तीन सौ साठ देखे तो कहा कि ठीक है। यह मूर्ख युग है। मूर्ख युग में संख्या की परीक्षा होती है, बुद्धि की कोई पूछ नहीं है। इसीलिये समाज में, जनता में, राष्ट्र में सब जगह मूर्खता बढ़ रही है, स्वाभाविक ही है। लड़के कालेज में पढ़ते नहीं हैं और ठीक ही करते हैं कि नहीं पढ़ते। क्यों पढ़ें ? क्या इस देश में पढ़ाई से किसीकी उन्नति होती है या नौकरी मिलती है? नौकरी तो तब मिलती है जब किसी मिनिस्टर साहब से तुम्हारा परिचय हो। कोई यह पूछने को तैयार नहीं कि यह जायज़ है या नाजायज़ है, केवल जानना चाहते हैं कि इसके पीछे कोई है या नहीं। यह दृष्टि प्रमादियों की, आलसियों की, मूर्खों की दृष्टि होती है। जीवित देश के अन्दर कार्य की, बुद्धि की दृष्टि होती

है। अर्थात् जो जितना कार्य करे, जो जितना बुद्धिमान् हो उसे श्रेष्ठ माना जाता है। जो जितनी अधिक संख्या इकट्ठी कर ले उसको कोई विशिष्ट नहीं माना जाता।

वहाँ जैनियों ने आक्रमण किया, जीत गये और उन्होंने सारे दीक्षितों को जेल में डाल दिया, भयंकर यंत्रणा देने लगे। कहा, 'तुम सब लोग जैनी बन जाओ।' जैसे आजकल कहते हैं कि 'तुम सब लोग सोशलिस्ट बन जाओ, यदि इस देश में रहना है।' दीक्षितों ने इस बात को नहीं माना, कहा, 'मर जायेंगे लेकिन जैन नहीं बनेंगे।' उस काल में कांजीवरम् के अन्दर एक बहुत बड़े विद्वान् और भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। उन्होंने विचार किया कि इन लोगों की किसी न किसी प्रकार से रक्षा करनी चाहिये। उनका नाम अघोरशिवाचार्य था जिनकी लिखी हुई किताब 'शिवतत्त्वप्रबोधम्' है। विद्वान् तो थे ही, राजा से मिले और तरह-तरह से समझाया कि इन लोगों को मुक्त कर दो। लेकिन जैन राजा को क्या मानना था। अंत में उन्होंने कहा, 'अच्छा राजन्! तू एक बात मान ले। सारे दीक्षित मारे जायें इससे क्या लाभ ! कोई दीक्षित तुम्हारा अनुयायी नहीं बन सकेगा। अगर कुछ दीक्षित जीवित बच जायेंगे तो हो सकता है कि बाद में शायद तुम्हारी बात उन्हें जँच जाये। अभी तो सबको तुमने जेल में डाल रखा है।' राजा को यह बात जँच गई। कहा, 'बात तो ठीक है, लेकिन कौन-कौन बचें ?' उस जेल में एक तालाब था। अघोर शिवाचार्य ने कहा कि 'मैं इस तालाब में डुबकी लगाऊँगा। मेरे डुबकी लगाकर बाहर निकलने तक जो-जो बाहर निकल जायें, उन्हें निकलने दिया जाये और फिर जेल का दरवाज़ा बन्द कर देना।' अघोर शिवाचार्य

विद्वान् थे और उनका व्यक्तित्व भी उत्कृष्ट था। जिस ढंग से उन्होंने बात कही, वह राजा को जँच गई और वह मान गया। राजा ने हुकुम दिया कि 'जब अघोर शिवाचार्य स्नान करने जायें, उस समय जेल का दरवाज़ा खोल देना और जो-जो दीक्षित निकल जायें उन्हें निकल जाने दिया जाये।'

दूसरे दिन अघोर शिवाचार्य ने स्नान के समय डुबकी लगाई, दरवाजा खोल दिया गया। अब दो-चार मिनट हो गये, अघोर शिवाचार्य बाहर नहीं निकले। धीरे-धीरे सारे दीक्षित बाहर निकल गये। राजकीय लोगों को संदेह हुआ कि अब क्या करें ? राजा सो रहा था। अघोर शिवाचार्य तो सवेरे चार बजे गोता लगाने वाले थे। शिवभक्त थे। राजा आनंद से सात बजे उठता था। पहले तो उसे उठाना मुश्किल हुआ। इतने में ही तीन-चार घण्टे बीत गये। राजा उठा, नित्यकर्म आदि से निवृत्त होकर तैयार होते-होते दिन निकल आया। अधिकारियों ने कहा 'सारे दीक्षित निकल गये।' अघोर शिवाचार्य ने वहीं जल-समाधि ले ली थी ! अपने शरीर का त्याग करके दीक्षितों को बचा लिया। इतनी देर में सारे दीक्षित राज्य से बाहर निकल कर विजय नगर साम्राज्य में चले गये। वहाँ के महाराजा को जाकर उन्होंने सारी बातें बताईं। उन्होंने चढ़ाई कर दी और चिदम्बर को जीत लिया।

कांजीवरम् का रहने वाला व्यक्ति समझता है कि 'मैं वहाँ होने वाले अत्याचारों के प्रति कारण हूँ। और उनको मैं ठीक भी कर सकता हूँ।' यह दृष्टि बनी तभी तो जाकर अपने शरीर की आहुति दी। जिन्हें बाह्य पदार्थों का भरोसा है, वे यह नहीं कर सकेंगे। वे तो देखेंगे कि हमें कोई न कोई पदार्थ मिले। जो इस

दृष्टि को छोड़ देगा उसकी सोच भिन्न हो जायेगी। वह समष्टि जगत् के कार्य के प्रति आत्मरूप से अपने को ही कारण मानेगा।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह पशु और देव में फ़र्क है। 'लोको भोज्यः पशुर्ज्ञेयः देवादेरुपकारकः' जो इस प्रकार अपने आपको, अपनी चेतनता को दबाता है वह इन्द्रियों और मन का भोग्य बन जाता है। वह बनने चला था भोक्ता लेकिन भोग उसे नचाने लगे अतः वह भोग्य बन गया। जब कहते हैं, 'गुरुजी ! मन नहीं लगता' तब मतलब हुआ कि मन भोक्ता है। मन भोक्ता हुआ तो जीव भोग्य हो गया! 'क्या करें ! जीभ नहीं मानती, लोभ नहीं मानता।' यहाँ सर्वत्र तुम पशु बन रहे हो। यही पशुता की प्राप्ति है। पशु का मतलब चौपाये ही नहीं समझ लेना। 'पाशबद्धो भवेत् पशुः' पाश से बँधा हुआ ही पशु है। इसलिये जब मन और इन्द्रियों के गुलाम हो गये तब पशु हो गये। देव नाम इन्द्रियों का है, अर्थात् मन और इन्द्रियों आदि का उपकार करने लगे तो तुम इनके पाश में बँधे पशु हुए। जो इनसे भिन्न होगा, वह क्या करेगा? जब अघोरशिवाचार्य ने अन्याय देखा तब रक्षा के लिये अपने प्राणों का त्याग कर दिया। वे अपने शरीर, मन आदि से स्वतंत्र हो गये थे। शरीर, मन आदि ने उनका प्रयोग नहीं किया, उन्होंने ही शरीर मन आदि का प्रयोग किया। सब कुछ सबका कारण है इसे गलत ढंग से समझने से ज़्यादा-ज़्यादा पशुता की प्राप्ति और ठीक प्रकार से समझने से ज़्यादा-ज़्यादा देवभाव की प्राप्ति है।

पूर्व मंत्र में ब्रह्माण्ड देह के साथ विराट् का सम्बन्ध बताया था। विराट् सर्वज्ञ है। कह रहे हैं कि कारण-कार्य के सम्बन्ध के बाद देह आदि में अध्यास हो गया, क्योंकि परिच्छिन्न से ही

सम्बन्ध रखने वाला जीव अज्ञानी है और उसका देहादि से अध्यास ही सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के बाद पशु की उत्पत्ति होगी। वह पशु वायुदेवताक कहा गया है। जहाँ प्राण होंगे, वहीं मन क्रिया करेगा। जहाँ प्राण नहीं हैं, वहाँ देह आदि भी जड हो जाते हैं। इसलिये प्राणदेवताक ही सारे पशु हैं चाहे दो पैरों पर, चाहे चार पैरों पर, या सौ पैरों पर या हज़ार पैरों पर चलने वाला पशु हो। ऐसे कुछ कीड़े होते हैं जैस कनखजूरा आदि जिनके सैकड़ों पैर होते हैं। ये सारे प्राणदेवताक हैं। उनमें फिर दो भेद हैं—आरण्य और ग्राम्य। पशुता से निकलने के उपाय पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-२६

भगवती श्रुति ने सृष्टि में जीवों की उत्पत्ति के अनंतर जीव, जगत् और ईश्वर के अन्दर व्यापक रूप से परमात्मा ने अपना प्राकट्य कैसे किया, इसे बताया कि यज्ञरूप से किया, 'यज्ञो वै प्रजापतिः' यज्ञ प्रजापति है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ ही विष्णु है। परब्रह्म परमात्मा जीव, जगत्, ईश्वर के व्यवहार-काल में यज्ञरूप से अपने को प्रकट करता है। यज्ञ के दो भेद बताये—जिसमें आसिंचन का आधिक्य हो वह होम और जिसमें देवता के द्वारा स्वीकृत हो वह दान। यह यज्ञ ही सारे शास्त्रों का चरम तात्पर्य है।

अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में बताया कि पूर्व दिशा में बहने

वाली नदी अंत में समुद्र को जाती है, पश्चिम दिशा में बहने वाली नदी भी अंत में समुद्र को जाती है, इसी प्रकार दक्षिण और उत्तर दिशा में बहने वाली नदियाँ भी अंत में समुद्र को ही जाती हैं। जिस प्रकार चारों दिशाओं में बहने वाली सारी नदियाँ अंत में समुद्र में ही आकर मिलती हैं, उसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण कहता है

'एवम् इमे सर्वे वेदाःनिर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः सान्वाख्यानाः सस्वराः सवाकोवाक्याः। तेषां यज्ञम् अभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं, यज्ञमित्येवाचक्षते।'

यहाँ वेद में क्या-क्या विषय हैं इसको गोपथ ब्राह्मण ने बताया। इन सारे वेदों में कुछ अंश परब्रह्म परमात्मा देवता के प्रतिपादक हैं, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि उसे साक्षात् बताने वाले वाक्य हैं। कोई यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर जब साक्षी से एकरूप होता है तब उसे 'निर्मित' कहते हैं। मित का अर्थ है जिसको जान लिया। जानने वाला 'माता' कहलाता है, जिसको जानते हैं वह 'अमेय', जिसके द्वारा जानते हैं वह 'मान' और जानने से जो उत्पन्न होता है, वह 'मिति' है तथा उसके बाद मिति जिस साक्षी में लीन होती है, वह 'मित' (ज्ञात) है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति चारों जिस साक्षी चैतन्य के प्रकाश से भात होते हैं वह मित है।

'मित' पुनः दो तरह के हैं। यह वेदांत की प्रक्रिया अच्छी तरह से समझना। ज्ञान दो प्रकार के होते हैं—यथार्थ ज्ञान और भ्रम ज्ञान। मोटी भाषा में एक सच्चा ज्ञान और दूसरा झूठा ज्ञान। ज्ञान दोनों हैं। रस्सी को रस्सीरूप में जानना भी ज्ञान है और रस्सी

को साँपरूप में जानना भी ज्ञान ही है। जैसे ग़लत ज्ञान को भ्रम कहते हैं, ऐसे ही सच्चे ज्ञान को, ठीक ज्ञान को संस्कृत में प्रमा कहते हैं। ठीक ज्ञान का लक्षण क्या है ? ठीक ज्ञान का लक्षण किया गया है अनधिगत अबाधित जिसका विषय हो। पहले उस चीज़ को न जाना होवे। पहले जानी हुई चीज़ की स्मृति होगी, प्रमा नहीं। जैसे 'हमने कल मंगल ग्रह को देखा', यह वृत्ति मन में बनती है लेकिन इस वृत्ति का विषय कल ही देख लिया था, इसलिये वह अनधिगत अर्थात् अज्ञात नहीं है। जिस चीज़ को पहले जाना हुआ न हो, उसका ज्ञान प्रमा है। कहोगे कि रस्सी में साँप पहले नहीं देखा तो वह भी प्रमा हो जायेगी अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो जायेगा ? इसलिये जोड़ा कि अबाधित भी हो। बाद में यह पता न लगे कि मेरे ज्ञान का विषय वहाँ नहीं था। बत्ती आने पर रस्सी में 'साँप नहीं था' इसका ज्ञान हो जाता है। इसलिये रस्सी में साँप का ज्ञान प्रमा नहीं। जो पहले न जाना हो और आगे जिसका बाध न हो, आगे यह पता न चले कि यह विषय नहीं था उसी का ज्ञान प्रमा है।

अगर इस लक्षण को अच्छी तरह घटाओ तो पता लगेगा कि एकमात्र परमात्मा के ज्ञान के सिवाय सारे ज्ञान भ्रम हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होते समय उन सबका बाध हो जाता है ! परमात्मा का ज्ञान होने पर पता चलता है कि ये सारे विषय नहीं थे। इसलिये प्रमा एक ही है और वह परमात्मा की प्रमा है, तदतिरिक्त जितने ज्ञान हैं, वे सारे भ्रम ही हैं। विचार करके देखो तो जीवन में ही पता लगता है कि 'यह मेरा लड़का नहीं था, पैदा हो गया तो लड़का हो गया और थोड़े दिन बाद मर गया तो फिर मेरा लड़का

नहीं रहा।' अतः पता लग गया कि यह मेरा लड़का कभी नहीं है। इसी प्रकार से सब चीज़ों में समझ लो। अनधिगत और अबाधितार्थ का यदि विचार करो तो पता लगेगा कि एकमात्र परमात्मा के सिवाय कोई चीज़ ऐसी नहीं जो हमेशा बनी रहे। जो चीज़ आदि और अंत में न हो वह बीच में दीखते हुए भी नहीं होती है। जिस प्रकार रस्सी में साँप पहले नहीं था, रोशनी आने के बाद नहीं रहा तो जिस काल में दीखता था, उस काल में भी नहीं था। आज से बीस साल पहले यह बेटा मेरा नहीं था, आज से बीस साल बाद यह मेरा बेटा नहीं रहा तो जिस काल में मैंने देखा, उस काल में भी नहीं था। यह हम लोगों का वृथा अभिमान है, और कुछ नहीं है कि इस समय यह मेरा बेटा है।

एक बार देवर्षि नारद और देवर्षि पर्वत कहीं जा रहे थे। अकस्मात् नारद जी हँस पड़े। देवर्षि पूछने लगे कि 'क्यों हँसे ?' नारद जी ने कहा—'जाने दो, ऐसे ही हँसी आ गई थी।' दो आदमी जा रहे हों और एक हँस पड़े तो दूसरा सोचता है कि मुझ पर हँसा, नाराज़ हुआ तो मुझ पर नाराज़ हुआ! क्योंकि सब अपने को ही केन्द्र मानते हैं। नारद जी ने पहले तो दो-चार बार टाला लेकिन पर्वत जिद पकड़ गये तो नारद जी ने कहा, 'वहाँ एक बकरे को दुकानदार ने ज़ोर से लट्ठ मारा था।' पर्वत ने कहा, 'बात बना रहे हो, कोई बकरे को लट्ठ मारे तो दया आती है। बकरे ने उसकी दुकान में मुँह मारा तो उसने लट्ठ मार दिया, इसमें हँसने की क्या बात है ?' नारद जी ने कहा कि 'हँसी की बात यह थी कि दुकानदार ने जिसे लट्ठ मारा, वह पूर्व जन्म में उसका बाप था और उसी ने यह दुकान बनाई थी, इसकी

स्थापना की थी, सब काम-काज चलाया। उन्हीं संस्कारों से संस्कारित होकर यह फिर यहीं आकर पैदा हुआ, उन्हीं संस्कारों के प्रभाव से आज उसकी उसी दुकान में जाने की कामना होती है और यह उसी का लड़का है जो लट्ठ मार कर भगाता है कि यह रोज़ क्यों खाने आ जाता है। इसीलिये मुझे संसारियों के व्यर्थ अभिमान के ऊपर हँसी आ गई।'

यह केवल प्राचीन काल की बात नहीं है, एक अनुभव की बात बताते हैं : एक ब्राह्मण ने हमें सुनाया—'मैंने यक्षिणी सिद्ध कर ली थी। एक बार मैं अपने गाँव से ऊँट पर बैठ कर आ रहा था, मुझे रेल पकड़नी थी। जल्दी होने के कारण मैं उस ऊँट को चाबुक मारता था और जल्दी-जल्दी भगाता था। ऊँट फिर ढीला पड़े, मैं चाबुक फिर मारूँ। इतने में यक्षिणी ने मेरे कान में कहा, 'ज़्यादा मत मार यह तेरा बाप है जो ऊँट हो गया है।' मेरे पसीना छूटा ! सोचा ऐसे ही आवाज़ आई होगी। जब दो-तीन बार कहा तो मैं ऊँट से उतरा। घरवालों को उतारा और अपना सारा सामान उतारा। घरवाले पूछने लगे कि क्या बात है ? सब लोग कहने लगे कि इसका दिमाग बिगड़ गया है। मैंने कहा, 'अब इस ऊँट पर तो बैठना नहीं है, कल की रेल पकड़ेंगे।' उसके बाद मैंने अपना अनुष्ठान बदला, उस जप को खत्म किया और यक्षिणी से कहा कि अब आगे से मुझे कोई बात मत बताया करो।' यह कर्म की गति है। विचार करो—ये जितने सम्बन्ध हैं, 'यह मेरा पुत्र है, यह मेरा पिता है', सारे बाधित हो जाते हैं, स्थिर नहीं रहते। इसलिये ये सारे भ्रम ज्ञान हैं। वेदांत सिद्धान्त में सच्ची प्रमा केवल एक मानी है जो कभी नहीं बदलती, वह ब्रह्म की प्रमा है। उसके सिवाय

सभी ज्ञान बदल जाते हैं, भ्रमरूप सिद्ध हो जाते हैं।

भ्रम भी दो प्रकार का है—एक, ब्रह्म-ज्ञान होने के बाद मिटने वाला और दूसरा, ब्रह्म-ज्ञान होने के पहले मिटने वाला। रस्सी में साँप का भ्रम ब्रह्मज्ञान से पहले मिट जाता है। अंतःकरण आदि में मैंपना, ममता आदि ब्रह्मज्ञान के बाद मिटते हैं।

किसी ने 'निर्मितम्' का अर्थ किया कि ऋषियों द्वारा बनाये हुए वेद हैं। इससे पौरुषेयत्व की सिद्धि की है। वेद को ऐसे अर्थ लगाने वाले लोगों से बड़ा डर लगता है ! 'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदा मामयं प्रहरिष्यति।' जिस व्यक्ति ने अच्छी प्रकार से अध्ययन नहीं कर लिया है, उससे वेद डरता है कि यह मेरे अर्थ का अनर्थ करेगा। एक जगह बोर्ड पर लिखा हुआ देख लिया कि 'यहाँ डी०सी०एम० मिल द्वारा *निर्मित* कपड़ा बिकता है'; वहाँ उसने शक्तिग्रह किया और वेद बाँचने लगा। वस्तुतः यहाँ निर्मित का अर्थ 'बनाया हुआ' नहीं है वरन् स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यों को 'निर्मित' कहा है।

सकल्पाः—केवल स्वरूपप्रतिपादक वाक्य ही नहीं, उनके नजदीक आये अन्य भी वाक्य हैं जैसे सृष्टिप्रतिपादक वाक्य, कि 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु उत्पन्न हुई' इत्यादि। ये सब स्वरूप के 'नज़दीक' के वाक्य हैं क्योंकि ब्रह्मसे सृष्टि की उत्पत्ति बताने से सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे जहाँ केवल सूती कपड़ा बिके ऐसी कपड़े की दुकान में जाकर हम यह कह सकते हैं कि 'यहाँ पर रुई के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' उसी प्रकार जब वेद कहता है कि ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु उत्पन्न हुए तो इसके द्वारा सिद्ध हो जाता है कि चूँकि ये सब चीज़ें परमात्मा से उत्पन्न होती हैं,

इसलिये परमात्मा से भिन्न नहीं हैं, जैसे रुई से बनी हुई चीज़ें रुई से भिन्न नहीं हैं। अलग-अलग टुकड़ों को देखकर लगता है कि ये अलग-अलग हैं लेकिन जब कारणरूप से देखते हैं तब पता लगता है कि सब वही है। आँख, कान आदि देखें तो बिल्कुल अलग-अलग ढंग के हैं। दोनों में कोई एकता नहीं दीखती। काम भी उनके अलग-अलग हैं। एक देखता है, दूसरा सुनता है। उनका स्वरूप भी अलग-अलग है, एक मछली की तरह और दूसरा टेढ़ा-मेढ़ा। रंग भी अलग-अलग हैं, एक में सफेद और काला है, दूसरे में चमड़े जैसा रंग है। फिर अगर जीभ को देखो तो और तीसरी तरह की, लम्बी और लाल है। लेकिन जब इन्हें कारण-रूप से देखोगे तब पता लगेगा कि आँख से देखने वाला, कान से सुनने वाला, जीभ से चखने वाला, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता ये सारे एक ही हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल इत्यादि पदार्थ अनेक रूप से तब तक दीखते हैं, जब तक विचार न करें। विचार करोगे तो पता लगेगा कि इन सारी इन्द्रियों के द्वारा गृहीत अर्थात् जिसका ग्रहण कर रहे हो, वह एक ही है। ग्राह्य के अन्दर भी भेद नहीं और ग्रहण करने वाले में भी भेद नहीं है। ग्राह्य एक ब्रह्म ही है।

इसलिये श्रीमद्भागवत में बताया

'ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।

अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिरूपिणा।।'

संसार में अनंत चीज़ों को देख रहे हो पर उन चीज़ों में फ़र्क नहीं है। चीज़ एक ब्रह्म ही है। कहो, 'उसमें बहुत से गुण होंगे ? बहुत से गुण होने के कारण वह बहुत-सी तरह का दीखता होगा ?

अनेक गुण वाला होने से अनेक दीखता होगा ?' भगवान् शुकदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं, उसमें एक भी गुण नहीं है ! फिर वह कैसा है ? व्यापक है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सारे विशेषण भागों से रहित वह परब्रह्म परमात्मा व्यापक तत्त्व ज्ञानस्वरूप है। फिर इतनी अनेकता क्यों दिखाई देती है? वह एक है, निर्गुण है, सारे गुणों से रहित है, व्यापक है, ज्ञानस्वरूप है तो हमें उसमें भेद नज़र क्यों आते हैं ? कहा अपनी बाहर जाने वाली इन्द्रियों से जब ग्रहण करते हैं तब भेद दिखाई देता है। है तो वह एक ही लेकिन जब आँख से ग्रहण करते हैं तब वह ब्रह्म रूपवाला दीखता है, त्वक् से ग्रहण करने पर स्पर्शवाला, कान से ग्रहण करने पर वही शब्द वाला दीखता है। ब्रह्म में भेद नहीं है, भेद इन्द्रियों के कारण प्रतीत होता है।

दूसरे दृष्टांत से समझ लो। चार आदमी बैठे हैं। एक कहता है यह साड़ी पीली है, दूसरा कहता है लाल है, तीसरा उसे काली और चौथा उसे सफ़ेद कहता है। इतने में एक बुद्धिमान् आकर कहता है 'लड़ाई-झगड़ा शान्त करो। भले आदमियो ! तुमने जो अपनी आँखों पर चश्मे चढ़ा रखे हैं, उनको खोलकर देखो कि यह कैसा है।' कहा, 'साफ दिखाई देने के लिये तो चश्मा लगाया था।' उसने कहा, 'यह मान लिया कि साफ तो दीखता है लेकिन गड़बड़ दीखता है।' चारों का झगड़ा तभी मिटा जब रंगीन चश्मे उतारे। इसी प्रकार से बाह्य जगत् के अन्दर भी है : आत्मा के ऊपर आँखरूप चश्मा लगाने वाला कहता है कि 'मुझे इतना बड़ा रूप दीख रहा है', कानरूप चश्मा लगाने वाला कहता है 'ये शब्द हैं', जीभ का चश्मा लगाने वाला कहता है कि 'यह रस है', त्वक्

का चश्मा लगाने वाला कहता है 'यह स्पर्श है', नाक का चश्मा लगाने वाला कहता है 'गंध है', मन का चश्मा लगाने वाला कहता है कि 'ये सुख और दुःख हैं।' अलग-अलग चश्मों से अलग-अलग रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, सुख, और दुःख दीखते हैं। वस्तुतः यह सारे रंगों से रहित है। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' यह शब्द, स्पर्श, सुख, दुःख आदि सब से रहित है। सब मिलकर झगड़ा करते हैं कि 'हम इतने सालों से देखते आये हैं, तुम हम सबको झूठा बना रहे हो !' शुकदेव कहते हैं कि आँख, कान आदि के चश्मे को खोलकर तो देखो। लेकिन लोग झगड़ा करते हैं कि 'चश्मा कैसे खोल दें जो इतने दिन से हमारे पास है ?' खोलना नहीं चाहते। बहुत समझाने पर निर्विकल्प समाधि के अन्दर सारे चश्मों को खोलते ही वहाँ निर्गुण रह गया। आँख, कान बन्द करो तो रूप, शब्द वहाँ नहीं हैं। यदि यह उसका स्वरूप होता तो बिना आँख, कान आदि के भी प्रकट होता। लेकिन उसका स्वरूप तो ज्ञान है, इसीलिये जब तुम आँख, कान आदि सारे चश्मे हटा लो, निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर लो, तब ज्ञान ही रह जायेगा।

कहोगे कि 'निर्विकल्प समाधि लगाना न आये तो क्या करें?' सस्ता उपाय बता देते हैं। रोज़ जब गहरी नींद में जाते हो तब वहाँ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध, सुख, दुःख कुछ नहीं रहता, केवल ज्ञान ही रहता है। इसलिये उठकर कहते हो कि 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना' अर्थात् कुछ नहीं *को* जाना, तभी कह रहे हो। जब तक इन्द्रियाँ अलग-अलग काम करती हैं, तब तक तो रूप, रस आदि की प्रतीति है और जिस समय तन्मयता हो जाती है उस समय रूप, रस आदि नहीं रह जाते, केवल ज्ञान ही, ब्रह्म ही रह

जाता है। उसका पदार्थरूपों से भान होता है, यही भ्रान्ति है। बाह्य जगत् में सिवाय परब्रह्म परमात्मा के ये सब कुछ नहीं हैं, क्योंकि सब ब्रह्म से ही बने हैं—इन बातों को बताने वाले वाक्यों को कल्प कहते हैं।

सरहस्याः—वेद में रहस्य बताया है। 'रहः' संस्कृत में एकांत को कहते हैं। एकांत में जो चीज़ समझ में आये, जो चीज़ समझाई जा सके, वह रहस्य है। साधारण भाषा में गुप्त बात को भी रहस्य इसलिये कहते हैं कि सबके सामने करने की नहीं है। रहस्य का मतलब हुआ जिस को एकांत में समझ सकें और जिसे एकांत में ही समझाया जा सके। एकांत मायने क्या ? ज़रा संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से विचार करो तो 'रहः' शब्द बड़ा विलक्षण है। संस्कृत में विसर्ग को र और र को विसर्ग हो जाता है। ये एक-दूसरे में बदलते देखे जाते हैं। कुछ नियम हैं कि अमुक-अमुक शब्द आगे आयेगा तो विसर्ग को र हो जायेगा और अमुक-अमुक शब्द आयेगा तो र को विसर्ग हो जायेगा। इसलिये कह सकते हैं कि एक ही चीज़ कभी 'र' और कभी ':' रूप में दीखती है। 'रहः' शब्द के अन्दर 'र' और 'हः' दो हैं। अगर र को ह और ह को र कर दो तो हरः हो जायेगा ! इसलिये दोनों की एकता है। हर का मतलब होता है हरण करना। यदि सब चीज़ों का हरण कर लो, वहाँ कुछ न रहे तो क्या होता है ? एक हर ही वहाँ रह जाता है। जहाँ अकेला रहा जाये, वही परमात्मा है, वही एकांत है, यही रहः का रहस्य है।

इसीलिये बार-बार श्रुतियों में, स्मृतियों में परमात्मज्ञान के लिये एकांत वास बताया। भगवान् ने भी गीता में कहा—'विविक्त-देशसे-

वित्वम्' इस को 'ज्ञान' कहा है। भगवान् भाष्यकारों ने समझाया कि इसे ज्ञान का साधन होने से ज्ञान कहा है। भगवान् ने तो इसे ज्ञान ही कह दिया कि 'जहाँ दूसरे लोग न हों, ऐसे देश में रहना और जहाँ लोग इकट्ठे हों वहाँ अरति होना, जी घबराना'। साधारण आदमी उल्टा चाहता है। भीड़-भड़क्के के लिये पंजाब की भाषा का शब्द है रौनक। कभी-कभी सोचते हैं कि इसका अर्थ हुआ नाक तक रो लो तो रौनक हुई ! संसार के लोग भीड़ भड़क्के में रोते हुए अपने आपको सुखी अनुभव करते हैं। लड़का कहना नहीं मानता, लड़की मर्जी की शादी करती है, नौकर धमकी देते रहते हैं, टैक्स वाले डण्डा लेकर बैठे रहते हैं, रात में चोर आते हैं, पुलिस को बुलाओ तो पुलिस चोर को पकड़ने के बजाय पहले हम ही को पकड़ती है। इतने सारे दुःख-कष्ट उठाते हुए कहते हैं 'रौनक हो रही है', वस्तुतः संसार के लोग इस प्रकार पीडा भोगते हुए उसमें सुखी रहते हैं।

विचारशील कहता है कि संसार दुःखरूप है। उसकी दृष्टि है 'अरतिः जनसंसदि'; जहाँ जनसंसद् होगी वहाँ उसे अरति होगी क्योंकि उसे पता है कि उसमें दुःख बढ़ेगा। अपने-अपने घरों में सब लकड़ी जलाते हैं, यदि सब अपनी लकड़ियाँ इकट्ठी जलायें, तो आग बहुत तेज़ जलेगी, गर्मी बहुत ज़्यादा होगी। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के मन में दुःख की अग्नि जल रही है। संसार में जितने प्राणी हैं, सब दुःखी हैं। जितने आपस में मिलेंगे, अपने-अपने दुःख की अग्नि लायेंगे और आपस में दुःखाग्नि को बढ़ायेंगे, कम नहीं करेंगे। आत्मज्ञान के अन्दर मन को लगाओ, उसमें आनंद आयेगा, संसार की चीज़ों में आनंद नहीं आयेगा।

जन-संसद् से अलग होकर इस रहस्य को समझना है। वस्तुतः एकांत के अन्दर जिस चीज़ को समझना है, वह रहस्य है।

'सब्राह्मणाः' । ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूपों को प्रतिपादित करने वाला ब्राह्मण है। ब्रह्म ही ब्राह्मण है। ब्राह्मण जाति को इसीलिये ब्राह्मण कहते हैं कि वे लोग नित्य-निरंतर ब्रह्मप्राप्ति में लगे रहते हैं। उनका मुख्य कर्तव्य ही शास्त्रों में बताया है कि ब्रह्म की प्राप्ति करें।

सोपनिषत्काः—उपनिषद् का अर्थ है जीव-ईश्वर-जगत् की एकता बताने वाले वाक्य। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म' इन वाक्यों को उपनिषद् कहते हैं जिनके सुनने मात्र से संसार-बंधन शिथिल हो जायें। 'बंधन खुल जायें' नहीं कह रहे हैं, खुलेंगे तो बाद में, लेकिन शिथिल हो जायेंगे। संसार के रस का मज़ा किरकिरा हो जायेगा। कल हम भोजन कर रहे थे तो कोई दाल लेकर आया। जैसे ही मुँह में डाली तो जितनी दाल उतने ही उसमें कंकड़ ! जैसे ही दाँतों ने काम किया तो कुंठित हो गये, कुछ खाया नहीं जाये। इसी का नाम उपनिषद् है ! जहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसके पद-पदार्थ का ज्ञान हुआ वहाँ अब संसार की जितनी चीज़ें देखें, सुनें, सारी कष्टदायक होती हैं। अभी 'ब्रह्म के आनंद की प्राप्ति हो गई'—यह नहीं कह रहे हैं, लेकिन संसार का मज़ा किरकिरा हो जायेगा। यही उपनिषद् का काम है।

सेतिहासाः—आगे गोपथ ब्राह्मण कहता है मज़ा किरकिरा होने पर मनुष्य का हौसला पस्त होने लगता है, क्योंकि आगे का सुख अभी नहीं मिला और जिसे अब तक सुख माना था, उसमें सुख दीखता नहीं। यह विचित्र प्रक्रिया हुई, अतः घबराहट होती है।

उस घबराहट को मिटाने के लिये इतिहास बताता है कि ऐसे केवल तुम नहीं, अनेक ऐसे निकले, सब अंत में परमात्मा के साथ नित्य एक हो गये। जब शुक वामदेवादि की कथाओं का श्रवण करते हैं तब चित्त में स्थिरता आ जाती है कि यदि वे लोग इस मार्ग पर पहुँचे तो हम भी पहुँच जायेंगे। श्रुतियाँ बार-बार क्यों कहानी कहती हैं कि जनक याज्ञवल्क्य के पास गये ? क्योंकि इतिहास सुनकर हमारा हौसला बढ़ता है। लोक में भी देखने में आता है कि कोई आदमी व्यापार करता है। वह यदि राकफेलर और फोर्ड की जिन्दगी बाँचता है कि पहले उसने लोहार आदि का काम शुरू किया, फिर अरबपति बन गया, तो हौसला बँधता है, कि 'उन्होंने मामूली-से काम से इतनी तरक्की की तो हम भी कर सकते हैं।' यही इतिहास का उद्देश्य है। यहाँ इतिहास-शब्दसे वेद में आया हुआ विशिष्ट वर्णन माना गया है। क्योंकि वेद का ही विश्लेषण किया जा रहा है। जितनी श्रुतियों की कथायें हैं वे साक्षात् या परम्परा से बताने के लिये हैं कि ब्रह्म की तरफ जाने से डरो नहीं।

सान्वाख्यानाः—उसकी कहानियों में तरह-तरह के शब्दों की व्युत्पत्ति बतायेंगे। यह मीमांसा शास्त्र है। सपुराणाः—यहाँ भी वेद में आये हुए पुराण वाक्यों को समझना। सस्वराः—स्वरों के बिना वेदों का अर्थ नहीं लगता। हिन्दी भाषा में स्वर का प्रयोग न होने से हमें पता नहीं लगता। लेकिन अंग्रेज़ी भाषा में स्वर (एक्सेण्ट) खास विषय है, उसे यदि गलत जगह लगा दो तो गलत अर्थ हो जायेगा। यही बात संस्कृत में है। सवाकोवाक्याः—वाकोवाक्य तर्कशास्त्र है। इसका भी वेद में अनेक जगह प्रयोग आता है।

अंत में श्रुति ने कह दिया 'तेषां यज्ञम् अभिपद्यमानानां छिद्यते

नामधेयं यज्ञमित्येवाचक्षते।' यह सब मिलकर अंत में प्रजापति-रूप यज्ञ को ही सिद्ध करने के लिये है। जब वह यज्ञभाव को प्राप्त हो गया तब उन सबका नाम ख़त्म हो जाता है। पहले दृष्टांत दिया था कि सारी नदियाँ अंत में समुद्र में ही जाकर मिलती हैं तो उनका नाम ख़त्म हो जाता है। गंगा और सिंधु भी समुद्र में गईं तो समुद्र ही नाम रह गया। उसी प्रकार ये सारे यज्ञ में गये तो उनका भी अलग-अलग नाम समाप्त हो गया। केवल 'यज्ञ' ही नाम रह गया। जब तक प्रजापतिभाव को प्राप्त नहीं किया तभी तक ये सब अलग-अलग हैं। प्रजापति भाव में, यज्ञ में जाकर ये सारे एक हो जाते हैं। इसी यज्ञ को यहाँ बता रहे हैं कि वह प्रजापति रूप यज्ञ है। विश्व के कण-कण और क्षण-क्षण के अन्दर वह प्रजापतिरूप परमात्मा प्रकट है जो यज्ञरूप है।

प्रवचन-२७

भगवती श्रुति प्रजापतिसे सृष्ट जगत् में यज्ञरूप से व्यक्त होने के स्वरूप को बता रही है कि किस प्रकार यज्ञरूप वह परमात्मा व्यक्त हुआ। इसे 'पृषदाज्य' के द्वारा बताया। दही और घी अर्थात् कार्य और कारण आपस में संयुक्त (एक) हो जाते हैं। जो कारण है वही कार्य है। कारण और कार्य के अभेदप्रतिपादन के द्वारा उस यज्ञ की अभिव्यक्ति को बताया। जब कार्य और कारण एक हो जाते हैं तब जगत् की अभिव्यक्ति किस प्रकार से होती है ? समग्र ज्ञानों की परिसमाप्ति वेद है। वह और जितने भी वेदों के

स्वरूप हैं, सब की परिसमाप्ति जब प्रजापतिरूप यज्ञ में होती है तब सारे नाम-रूप समाप्त होकर केवल 'यज्ञ' ही रहता है।

इस यज्ञ में पशु कौन बनता है—यह पहले बता आये हैं। जो भोग्यता में अवसानता करता है, वही पशु है; जो जिसका भोज्य है वही उसका पशु है। जैसे एक महीने तक तुम्हारे मुनीमजी तुम्हारा काम करते हैं तो उस समय वे भोज्य हैं और तुम भोक्ता हो क्योंकि वे तुम्हारे लिये काम करते हैं और उनके काम का भोग तुम करते हो। फिर महीने के अंत में जिस समय वेतन देते हो, उस समय तुम भोग्य हो जाते हो और वह भोक्ता हो जाता है, क्योंकि वेतन पाने का सुख उनको और वेतन देना तुम्हारा काम है। बस में तुम चढ़ते हो तो बस चलाने वाला भोग्य और तुम भोक्ता हो, क्योंकि बस चलाने वाला जो क्रिया करता है उसका फल तुम्हें मिलता है इसलिये वह भोग्य और तुम भोक्ता हुए। अब तुम ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन के प्रति भोग्य और वह कार्पोरेशन भोक्ता है क्योंकि जो धन तुमने दिया, वह ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन को गया। इसलिये कार्पोरेशन भोक्ता और तुम भोग्य हो गये। इसी प्रकार तुम रूप को देखते हो तो रूप भोग्य और आँख भोक्ता हुई। जब आँख के रूप का मन ने आगे विश्लेषण किया उस समय आँख भोग्य और मन भोक्ता हो गया। जब मन के सुख-दुःख को तुमने देखा तब मन भोग्य और तुम भोक्ता हो गये। इसी प्रकार संसार में जिस-जिस सम्बन्ध से जो-जो भोग्य बनता है, वह पशु कहा जाता है। जो-जो भोक्ता बनता है, वह भोग के प्रति स्वातंत्र्य वाला कहा गया है।

इस सृष्टि-चक्र में गड़बड़ी क्या है, उसको पशु क्यों कहा ?

पशु का मतलब होता है जो पाश से बँधा हो। पाश क्या है ? प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मैं भोक्ता रहूँ और भोग्य न बनूँ। हमारे एक मित्र कहा करते हैं कि 'हम तो नौकरी करना नहीं चाहते हैं, यदि हमें महीने के महीने सरकार तनख्वाह भेज दे तो नौकरी करने क्यों जायें ?' वह कह क्या रहे हैं ? सरकार हमारी भोग्य रहे, हम उसके भोग्य न बनें ! यही सर्वत्र है। दुकानदार, व्यापारी चाहता है कि सरकार से सारे संरक्षण तो उसे मिलें, सड़कें ठीक बनी हों, उस पर ट्रक चलें, रेलें ठीक समय से सामान लायें, पुलिस रक्षण दे, दूसरे राज्यों से हमारा रक्षण हो, दूसरे राज्यों में हमारा माल जाये, वहाँ हमारा रुपया न मारा जाये। ये सब इन्तजाम सरकार करे लेकिन एक पैसा टैक्स न ले ! यह आंतरिक इच्छा है। जब कहते हैं कि 'थोड़ा टैक्स ले' तो उसका हृदय है कि बिल्कुल न ले तो और अच्छा है। सरकार हमारी भोग्य बने लेकिन हम व्यापारी उसके भोग्य न बनें। यही बात घर में है। पुत्र चाहता है कि माता-पिता तो मेरे भोग्य बनें। समय पर भोजन का इंतजाम, घर का इंतजाम करें, पिता जी मेरे लिये पैसा कमा कर लायें और मुझे टैरिलीन की पैण्ट और पहाड़ पर घूमने का खर्चा दें, वे मेरे भोग्य बनें, लेकिन मुझे माता-पिता के लिये कुछ न करना पड़े, हम भोग्य न बनें और वे भोग्य बने रहें। अगर माता-पिता बच्चे को पचीस साल की उम्र तक पालकर पचास हज़ार रुपया उसकी पढ़ाई पर खर्च कर दें; उसके बाद लड़का उनसे पाँच हज़ार रुपया माँगें और माता-पिता कह दें कि नहीं दे सकते तो वह लड़का केवल एक बात सबको कहेगा कि 'पिता जी ने पाँच हज़ार रुपयों के लिये मुझे मना कर दिया।' जो पचासों

हज़ार उसने भोग लिये, उन पर दृष्टि नहीं है। निरंतर व्यक्ति चाहता है कि मैं भोक्ता रहूँ लेकिन भोग्य न बनूँ।

सृष्टि अखण्ड, अद्वितीय और एक है। यदि कई आत्मा होते तो काम बन जाता, कुछ लोग भोग्य और कुछ भोक्ता बने रहते, चक्र चलता रहता। कठिनाई यहाँ यह है कि आत्मा एक है इसलिये जितना तुम भोग्य बनोगे, उतने ही भोक्ता बन सकते हो और जितने भोक्ता बनते हो उतने ही भोग्य बन सकोगे। एक कहानी पढ़ी थी—बास्टन में आपेरा के अन्दर शेवेत्स्की वहाँ का बड़ा विलक्षण प्रतिभासम्पन्न संगीतज्ञ था। बीथोवेन की सैवेन्थ सिम्फनी बड़ी आध्यात्मिक है। एक बार उसने बास्टन में इतनी सुन्दर बीथोवेन की सैवेन्थ सिम्फनी को सुनाया कि एक औरत उससे बहुत प्रभावित हुई और जाकर उससे कहने लगी 'यह जो आज तुमने सुनाया है, इससे तो तुम ईश्वर मालूम पड़ते हो।' वह भी बड़ी गम्भीरता से सिर हिलाकर कहने लगा 'कितनी बड़ी जिम्मेवारी है !' इसका रहस्य यह है कि हम ईश्वर की तरह भोक्ता तो बनना चाहते हैं लेकिन ईश्वर की तरह भोग्य बनने को तैयार नहीं हैं। जो व्यक्ति जितना बड़ा होगा, वह उतना ही बड़ा भोग्य भी होगा और उतना ही बड़ा भोक्ता भी होगा। उसके भोक्तापन से तो हमें ईर्ष्या होती है। हम चाहते हैं कि वह भोक्तृत्व मेरी तरह ले। वह अपने आपको कितना भोग्य बनाता है, यह दृष्टि नहीं रहती। जैसे पिता-पुत्र, वैसे ही घर के अन्दर पत्नी चाहती है कि पति रुपया तो बिड़ला की तरह कमाकर लाये लेकिन मेरा सम्मान उनकी तरह न रहे। एक बहुत बड़े अरबपति आदमी हैं। उनकी घर वाली हमसे एक बार कहती थी कि 'मेरा लड़का अपने पिता

के चेहरे को नहीं पहचानता है, मेरे छोटे देवर को ही बाबू जी कहता है। अगर कोई उसे कह दे कि 'यह तेरे बाबू जी हैं' तो कहता है—'नहीं, यह तो साहेब हैं।' तीन-चार साल का छोटा-सा बच्चा था, वह अपने पिता को कभी दस-पाँच दिन में दो-चार मिनट को देखे और सारे घर वाले उससे सावधान और चौकन्ने रहें। बच्चे को खिलाने का उनके पास समय नहीं है। उनकी पत्नी की यह शिकायत कि 'बच्चे के लिये समय नहीं निकालते।' हमने एक बार, दो बार तो सुना, जब उसने तीसरी बार कहा तब हमने कहा—'सेठानी जी ! अगर ये बच्चे को खिलायेंगे तो आप जो ढाई लाख के हीरों के गहने पहनकर घूमती हो, यह कहाँ से आयेंगे?' जब भोक्ता बनने का समय आता है, तब गहने पहनते समय वह भोक्ता बनना चाहती है लेकिन बच्चे को अकेला रहना पड़े, उसको बाप का भान नहीं हो, खुद को भोग्य बनना पड़ा तो बनना नहीं चाहती। जितने सम्बन्ध हैं उन सारे सम्बन्धों में असली झगड़ा यह है कि भोक्ता और भोग्य का समन्वय नहीं हो पाता।

जैसे व्यक्ति के जीवन में ऐसे ही समाज के जीवन में समझ लेना। मज़दूर भोग्य बनते समय कम से कम काम करना चाहता है, भोक्ता बनते समय अधिक से अधिक वेतन चाहता है। उधर मालिक काम लेते समय ज़्यादा से ज़्यादा काम लेना चाहता है और पैसा देते समय ज़्यादा से ज़्यादा खींचना चाहता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना। मकान-मालिक मकान की मरम्मत करने में कम से कम खर्च करना चाहता है, सुविधायें देते समय कम से कम सुविधायें जुटाना चाहता है, लेकिन भाड़ा लेते समय ज़्यादा

से ज़्यादा भाड़ा लेना चाहता है। उधर किरायेदार भाड़ा देते समय कम से कम देना चाहता है, लेकिन सुविधायें ज़्यादा से ज़्यादा चाहता है। जैसे व्यक्ति के जीवन में, वैसे ही समाज के जीवन में, भोक्ता और भोग्य का परस्पर समन्वय नहीं हो पाता। यही दुःख का कारण होता है।

विचारशील भोक्ता और भोग्य के समन्वय को समझता है, इसलिये वह यह सोचता है कि पहले भोग्य बनो, तब भोक्ता बन सकेंगे। जितना अपने को भोग्य बनाओगे उतना ही भोक्ता का सुख लोगे। हिन्दी भाषा में किसी कवि ने पानी से मनुष्य की तुलना की है। नल, पाइप में पानी बहता है तो जिस ऊँचाई से प्रवाह प्रारंभ है उस ऊँचाई तक पानी स्वयं पहुँच जाता है चाहे बीच में उसे जितना भी नीचे जाना पड़े। नर मायने मनुष्य और नलनीर मायने पाइप में जाने वाला पानी, दोनों की एक ही गति है। जितना नीचे नल गया है, उतना ही पानी ऊपर चढ़ेगा। उसी प्रकार मनुष्य जितना अपने को नीचा बनायेगा उतना ही ऊँचा पहुँचेगा। नीचा बनाने का मतलब तहखाने में रहना नहीं समझना! बहुत-से लोग समझते हैं कि हमने अपना सिर बहुत नीचे झुका दिया तो झुक गये। यह मनुष्य का नीचा होना नहीं, यह तो शरीर नीचे हुआ। यहाँ नीचा बनाने का मतलब है कि जितना अपने को अधिक भोग्य बना सकोगे उतना ही तुम्हें भोक्तापने के सुख की प्राप्ति होगी। तुम ही एक रूप से भोक्ता हो और दूसरे रूप से भोग्य हो।

पशु वह हुआ जो भोग्य ही रह जाता है, भोक्ता नहीं बन पाता। क्यों नहीं बन पाता, इसका यह रहस्य है कि वह इच्छापूर्वक

भोग्य बनता नहीं है, जबरदस्ती भोग्य बना लिया जाता है। इसीलिये वह कभी भोक्तृत्व का आनंद नहीं ले पाता। चूँकि भोग्य बनते समय उसकी तड़पन बनी रहती है, सोचता है कि 'मैं भोग्य न बनूँ', इसीलिये भोक्ता का आनंद उसे प्राप्त नहीं होता। जो मज़दूर मालिक की डाँट से काम करता है, वह मज़दूर कभी भी असली तनख्वाह की बढ़ोत्री नहीं पाता। आजकल के मज़दूरों की तनख्वाह बढ़ती थोड़े ही है। मज़दूर समझता है कि मालिक को बेवकूफ बना रहा हूँ, मालिक समझता है कि मज़दूर को बेवकूफ बना रहा हूँ। मज़दूर को काम तो करना न हुआ तो मालिक तनख्वाह तो बढ़ाता है लेकिन संख्या ही बढ़ाता है। जितनी तनख्वाह बढ़ाता है, उससे एक-दो प्रतिशत चीज़ों के भाव और ज़्यादा बढ़ा देता है। जितनी तनख्वाह बढ़ी उतने ही चीज़ों के भाव बढ़ गये। मज़दूर के हाथ में खरीदने की ताकत ज़्यादा नहीं होती क्योंकि वह इच्छापूर्वक भोग्य नहीं बनता। इसी प्रकार पुत्र से माता-पिता ज़बरदस्ती काम ले लेते हैं, उसे भोग्य बना लें, लेकिन चूँकि वह इच्छापूर्वक भोग्य नहीं बना इसलिये जो सुख माता-पिता को मिलना चाहिये, वह नहीं मिलता है। सर्वत्र भोग्य-भोक्ता का यही असामंजस्य है।

ईश्वर इससे ठीक विपरीत करता है। सूर्य क्या कभी हमसे कोई माँग करता है ? कुछ नहीं। स्वयं अपनी रोशनी तुमको देता रहता है और माँगता कुछ नहीं अर्थात् इच्छापूर्वक तुम्हारा भोग्य बना हुआ है। इसीलिये उसका भोक्तृत्व पूर्ण है। वह तुम्हारे अधीन कभी नहीं हो पाता। तुम यदि उसको अर्घ्य देते हो तो तुम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हो, लेकिन वह तुम्हारे अर्घ्य

के भरोसे नहीं है क्योंकि वह तुम्हारा पशु नहीं है और स्वेच्छापूर्वक भोग्य बना है। इसलिये उसका स्वातंत्र्य, उसका भोक्तृत्व कभी क्षुण्ण नहीं होता, नष्ट नहीं होता। ईश्वर तुम्हारे लिये सृष्टि के सारे पदार्थों के रूप में बना हुआ है। रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध—एक निर्गुण ब्रह्म ही इन सारे रूपों को लिये हुए है। भोग्य बनकर सब रूप लिये लेकिन क्या वे रूप रस आदि तुमसे कुछ चाहते हैं ? कुछ नहीं। इसीलिये उनका स्वातंत्र्य हमेशा अक्षुण्ण रहता है। वह स्वातंत्र्य कभी टूटता नहीं और जीव का परस्पर स्वातंत्र्य एक दूसरे से टूटता रहता है, क्योंकि जीव इच्छापूर्वक भोग्य बना नहीं है। यहाँ भोग्य बनना ही पाश से बँधा हुआ कहा है, इसी को पशु कहा है क्योंकि पाश से बँधा हुआ ही पशु कहा जाता है।

पशुओं के दो भेद बताये। पशु जितने होते हैं वे वायुदेवताक हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि जितने जीव हैं सारे प्राणवायु के आधार पर रहते हैं। ये वायुदेवताक पशु दो प्रकार के हैं—जो गाँव में होते हैं और जो अरण्य में होते हैं। ग्राम शब्द का अर्थ समूह होता है। जहाँ मनुष्यों के कुटुम्बों का समूह रहे, उसी को ग्राम कहते हैं। वहाँ मिलने वाले ग्राम्य हैं। दूसरे वे जो अरण्य में मिलें। मतलब है कि वे समूह में नहीं रहते, जैसे शेरों का कहीं टोला नहीं मिलेगा और गाय-भैंसें कहीं तुम्हें अकेली नहीं मिलेंगी। कहीं अकेली हो तो कहते हैं कि 'खो गई, ढूँढ कर लाओ।' ग्राम और आरण्य इन दोनों शब्दों में श्रुति ने कुछ विशिष्ट बात बताई है। रण्य का मतलब होता है रमणीय जैसे हिरण्य—'हितं च रमणीयं च'। आ—समन्तात्; जो चारों तरफ से रमणीय हो, उसे आरण्य

कहते हैं। चारों तरफ से रमणीयता, सुन्दरता का क्या मतलब है? समूह के द्वारा एक-एक की कमियों को पूरा किया जाता है। जैसे फैक्ट्री के अन्दर मज़दूर भी हैं, कारीगर भी हैं, अफसर और क्लर्क भी हैं, मैनेजर, टेक्निशियन, इंजीनियर, मालिक सब हैं। ये समूह में मिलकर ही काम कर सकते हैं क्योंकि इनमें से कोई भी एक पूरा काम करने में समर्थ नहीं है अर्थात् एक-दूसरे की कमियों को पूरा करते हैं। इसीलिये वे हमेशा समूह में रहते हैं। हम कई बार लड़कियों से पूछते हैं कि खाना बनाना जानती हो? वे कहती हैं—'जी, बी. ए., एम. काम. कर लिया है।' हम कहते हैं कि आगे ब्याह करने का विचार तो नहीं है ? कहती हैं—'ब्याह करने का विचार तो है।' हम पूछते हैं कि कोई आदमी तेरे से क्यों ब्याह करेगा ? या तो वह रसोइया बने और तू नौकरी करे। यदि वह नौकरी करने वाला है और तू घर का काम करने वाली है तब तो एक दूसरे को पूर्ण करोगे। जब दोनों को दफ्तरों में काम करना है और होटलों में खाना है तो ब्याह क्यों करना है? आखिर भोजन बनवाने के लिये ही तो ब्याह होता है! एक-दूसरे की कमी ब्याह से पूरी होगी, क्योंकि व्यक्ति स्वतः पूर्ण नहीं है। जो आदमी खुद ही बढ़िया भोजन बनाना जानता है, वह आगे के लिये काहे को ब्याह का टण्टा करेगा ! समूह का सहारा तभी लिया जाता है जब अपनी कोई कमी हो तो उसे किसी दूसरे से पूरा करें। आरण्य वह हुआ जो चारों तरफ से रमणीय हो अर्थात् उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो। जितनी-जितनी अपूर्णता कम होती जायेगी, उतना-उतना ही वह आरण्य होता चला जायेगा, उतना ही उतना समूह उसके लिये गैरजरूरी होता चला जायेगा।

यही ग्राम्य और आरण्य का फ़र्क समझना।

ग्राम्य और आरण्य को मोटी भाषा में समझ लो : जो प्रतिभासम्पन्न होता है, वह आरण्य और जो प्रतिभाशून्य होता है, वह ग्राम्य है। अमरकोष ने ग्राम्य शब्द का एक अर्थ अश्लील भी इसी दृष्टि से किया है। किसी चीज़ की असुन्दरता को अश्लील कहा जाता है। ग्राम्य को अश्लील इसलिये कहा कि उनमें से हर एक में असुन्दरता अवश्य है। सब मिलकर सुन्दर हैं, सब मिलकर एक-दूसरे की कमी को पूर्ण करके तो सुन्दर हैं, लेकिन उनमें से हर-एक अपूर्ण है, इसीलिये ग्राम्य को अश्लील कहा है। आरण्य का एक अर्थ रमणीय है और आरण्य का ही दूसरा अर्थ—जो अरणि में होवे। यज्ञ करते समय दो लकड़ियाँ आपस में घिसी जाती हैं; एक को ऊपर और दूसरी को नीचे रखकर उन्हें आपस में घिसकर उनमें से आग पैदा की जाती है। लकड़ी के उस यंत्र को अरणी कहते हैं। ऊपर वाली लकड़ी को उत्तरारणी और नीचे वाली को अधरारणी कहते हैं। इसलिये अरणी वह है जिसमें अग्नि छिपी हुई हो। वेदों में कहा है 'जातवेदा निहितो अरण्यां'; जातवेदा अग्नि का नाम है। जिस प्रकार अरणियों में जातवेदा अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकर जिसके हृदय में प्रातिभ ज्ञान छिपा हुआ है वह आरण्य पशु हुआ।

प्रातिभ ज्ञान (प्रतिभा) का मतलब क्या है ? भा नाम प्रकाश का है। प्रयत्नपूर्वक जो प्रकाश प्राप्त किया जाये, वह भा है और जो बिना प्रयत्न के ही अन्दर स्फुरण हो उसे प्रतिभा कहते हैं। जैसे केनोपनिषद् में कहा है 'प्रतिबोधविदितम्'। बोध मायने ज्ञान है। अतः वहाँ अर्थ किया है 'बोधं बोधं प्रतिबोधम्'। प्रयत्नपूर्वक

जो भा (ज्ञान) प्राप्त किया जाये, वह बोध है और जो स्वतः ही प्रत्येक ज्ञान के अन्दर उस शिव का स्फुरण होता है, वह प्रतिभा (प्रतिबोध) हुआ। हम प्रयत्नपूर्वक नाम-रूप को हटाते हैं तब हमको वहाँ शिवदृष्टि बनती है। प्रातिभ ज्ञान या प्रतिभासम्पन्न का मतलब होता है कि बिना प्रयास के उसकी वहाँ शिवदृष्टि ही बनती है। इसलिये आरण्य वह हुआ जिसकी सभी पदार्थों में सहज शिवदृष्टि हो गई है। और दूसरा हुआ ग्राम्य। ग्राम्य इसलिये कि उसको जब चीज़ दीखती है तब सारा समूह दीखता है। उसको वहाँ पदार्थ तो दीखता है, उसका नाम भी दीखता है और शक्ल भी दीखती है, उसमें लम्बाई-चौड़ाई भी दीखती है, उसमें सत्ता और ज्ञान भी दीखता है; ये सब चीज़ें मिली हुई दीखती हैं लेकिन सीधे-सीधे उसमें रहने वाला शिव-तत्त्व नहीं दीखता। चूँकि सब इस प्रकार मिलकर दीखते हैं, इसलिये उसका नाम ग्राम्य (समूह में) हुआ। आगे विचार करे, विवेक करे, धीरे-धीरे नाम-रूप को हटावे तो अंत में जाकर उस शिव तत्त्व को पकड़ सकता है। जब उस शिव तत्त्व को पकड़ना उसके लिये सहज हो जायेगा तब वह आरण्य हो जायेगा और यदि समूहों को ही पकड़ता रहा तो उसे ग्राम्य कहेंगे।

इसके द्वारा अतिधन्य वेद दो मार्ग बता रहा है—प्रवृत्ति (ग्राम्य)-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग वह है जिससे जगत् का बंधन बढ़ता जायेगा, अधिक-अधिक समूहों का आलम्बन होगा। दूसरा आरण्य (निवृत्तिं) मार्ग जिसमें धीरे-धीरे परब्रह्म परमात्मा की तरफ जाता जायेगा, इसलिये समूह घटता जायेगा। हमारी संस्कृति आरण्य संस्कृति है, पाश्चात्य देशों की संस्कृति

ग्राम्य संस्कृति है। उस ग्राम्य संस्कृति का वर्तमानरूप समाजवाद और साम्यवाद है। प्रजातंत्रवाद भी ग्राम्य है, अश्लील है, उसकी अपेक्षा ज़्यादा अश्लील (ग्राम्य) समाजवाद बना क्योंकि उसने समूह को और ज़्यादा महत्त्व दिया, उससे भी अधिक समूह को महत्त्व देने वाला साम्यवाद हुआ। ये सारी ग्राम्य संस्कृतियाँ हैं अथात् भोग्यको बढ़ाने की संस्कृतियाँ हैं, भोक्ताकी तरफ ध्यान देने वाली संस्कृतियाँ नहीं हैं। इनका प्रतिभा के साथ विरोध है। इसीलिये ये संस्कृतियाँ कभी भी प्रतिभा (प्रातिभज्ञान) को नहीं बढ़ा सकतीं।

रूस में मैक्सिम गोर्की बड़ा भारी लेखक हुआ है। उसकी उस देश में बड़ी मान्यता थी। स्वयं वह कम्युनिस्ट था। उसी समय रूस की साम्यवादी क्रांति हुई थी। उस समय उसने उसमें भाग भी लिया था। बहुत ग्रंथ भी लिखे थे। रूस में साम्यवाद स्थापित होने के बाद वह सरकार से कुछ नहीं लेता था। एक बार किसी कारण से बड़ी बदनामी हो रही थी कि गोर्की बेचारा ठण्ड में मरता है और सत्ताधारी उसके लिये कुछ नहीं करते। स्टालिन ने स्वयं अपने एक खास मंत्री को भेजा कि जाकर उससे कहो कि वह हमसे कुछ ले ले। वह मंत्री गोर्की के पास गया। उसने कहा कि 'मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।' उन्होंने बहुत ज़ोर लगाया और कहा कि 'कोई ग़लती हो तो माफ कर दो, आप क्यों नहीं लेते हो ?' जब बहुत कहा तब गोर्की अपनी खिड़की के पास चला गया और उस मंत्री को बुलाकर कहा, 'बताता हूँ कि मैं क्यों नहीं लेता।' खिड़की के सामने गरीबों के लकड़ी के बने हुए मकानों को उसे दिखाते हुए कहा 'जैसे ही मैं कहूँगा कि मुझे सूखी

लकड़ी की ज़रूरत है और वह तुमको नहीं मिलेगी तो इन लोगों के मकानों को तोड़कर भी ले आओगे। मुझे तो लकड़ी मिल जायेगी। मैं इसीलिये नहीं लेता कि तुम किसी का हक मारकर ही मुझे दोगे।' गोर्की हृदय से चाहता था कि मज़दूर भोक्ता बनें और क्रान्ति उसने इसीलिये की थी। लेकिन इस प्रकर से ज़बरदस्ती कोई भोक्ता नहीं बनता है। उपाय उसके पास भी नहीं था ! सर्वत्र नियम है कि जहाँ समूहालम्बन करोगे वहाँ ग्राम्य संस्कृति बढ़ेगी। जो गोर्की जैसा प्रतिभाशाली होगा, जो वस्तुतः मज़दूरवर्ग का कल्याण चाहेगा, उसे वहाँ भी दुःख ही मिलेगा।

उपाय तो है प्रातिभ ज्ञान को बढ़ाना, आरण्य संस्कृति में जाना। ग्राम्य संस्कृति में जितना जाओगे उतना पशुभाव बढ़ेगा। यह नियम याद रखना कि स्वतंत्रता का अर्थ होता है ग़लत काम्र करने की भी स्वतंत्रता ! हम लोग कहते हैं कि 'सब चीज़ों में तुम स्वतंत्र हो लेकिन करना वही जो मैंने तुमको बता रखा है।' फिर यदि वह हमारे मन के अनुसार करे तो ठीक है, लेकिन थोड़ा उन्नीस-इक्कीस किया तो झट अपनी डोर खींचते हैं, पर कहते हैं कि 'हमने स्वतंत्रता दे रखी है' यह निश्चित बात है कि जितनी ग्राम्य संस्कृति बढ़ाओगे, उतना मनुष्य ग़लत काम कम करेगा। जितना दण्ड का ज़ोर रहेगा, उतना ग़लत काम कम होगा, लेकिन प्रतिभा कहाँ से आयेगी, प्रातिभज्ञान नहीं आ पायेगा। आरण्य संस्कृति प्रतिभा पर और ग्राम्य संस्कृति समूह पर ज़ोर देती है। एक प्रवृत्तिमार्ग की परम्परा है और दूसरी निवृत्तिमार्ग की परम्परा है। निवृत्ति मार्ग की परम्परा तुम्हें प्रतिदिन अधिक-अधिक अपने बन्धनों को हटाते हुए मुक्ति की तरफ ले जायेगी। प्रवृत्ति धर्म

उसके ठीक विपरीत तुम्हारे बन्धन बढ़ाते रहेंगे। यह दोनों का आधारभूत भेद है।

मोटी भाषा में समझ लो कि जितनी-जितनी ग्राम्य संस्कृति अर्थात् सरकार का नियंत्रण बढ़ता है, उतना-उतना तुम्हारा बंधन बढ़ता है। पहले जितना कमाया उस पर इन्कम टैक्स दे दिया। अब केवल टैक्स नहीं, सेल्स टैक्स, वैल्थ टैक्स, डैथ टैक्स और हो गये। इससे बंधन बढ़ेगा। कभी सोचा कि ये टैक्स क्यों बढ़े ? यदि इन्कम टैक्स पूरी ईमानदारी से दे देते तो सरकार को दूसरे टैक्स न लगाने पड़ते। जितना तुमने अपने आपको भोग्य बनाने से इन्कार किया, उतने ही तुम ज़्यादा भोग्य बने। पहले तुमने इन्कम टैक्स अफसर को घूस दी, उसका नतीजा हुआ कि सेल्स टैक्स लगा, दूसरे घूस लेने वाले हो गये। फिर इनकी निगरानी करने वाला तीसरा घूस का पात्र बन गया। जितना-जितना भोग्य कम बनना चाहोगे, उतनी-उतनी पशुता, ग्राम्यरूपता ज़्यादा बढ़ती जायेगी।

मनुष्य सोचता है कि बिना भोग्य बने भोक्ता बना रहे। इसका कारण द्वैत-ज्ञान है। जब किसी प्रकार अद्वैत की दृष्टि आती है तब जानता है कि जितना भोग्यत्व, उतना ही भोक्तापना होगा। भोक्ता बनने में तो दूसरे की पराधीनता है। यदि मैं पुत्र से सेवा लेना चाहता हूँ, भोक्ता बनना चाहता हूँ तो पुत्र के प्रति पराधीनता बढ़ेगी। हमारे सारे धर्मशास्त्र इसीलिये भोग्यकेन्द्रित हैं, भोक्ता-केन्द्रित नहीं हैं। हमारे यहाँ कहीं भी यह नहीं लिखा है कि 'ब्राह्मण क्षत्रिय से नमस्कार करावे।' क्षत्रिय के अध्याय में तो लिखा है कि 'क्षत्रिय ब्राह्मण को नमस्कार करे।' क्षत्रिय

नमस्कार करने में स्वतंत्र हुआ। लेकिन ब्राह्मण जिस दिन क्षत्रिय के नमस्कार न करने से दुःखी और करने से सुखी होने लगा उस दिन ब्राह्मण परतंत्र हो गया। सारे धर्मशास्त्रों का दृष्टिकोण यह रहा कि जिस चीज़ में तुम स्वतंत्र हो, उसे तुम्हें बताया जाये और जिसमें तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं है, उसे कहने में कोई फ़ायदा नहीं है। अब यदि धर्मशास्त्र को तुम लोगों ने उलट दिया तो उसका नतीजा यह हुआ कि घर में पति पत्नी को बैठाकर सारी रामायण के वे दोहे बतायेगा जिनमें बताया है कि पत्नी कैसी होनी चाहिये, उसके कर्तव्य क्या हैं। जहाँ पति के कर्तव्य आयेंगे वहाँ कहेगा 'तुलसीदास जी ने ऐसे ही लिख दिया, उस ज़माने में हुआ करता था, अब वह ज़माना चला गया।' इसी प्रकार यजमान बैठकर ब्राह्मण की बातें करेगा कि आज-कल के ब्राह्मण कैसे हो गये, लेकिन यमजान का विचार कभी नहीं करेगा। सारा मामला उलट गया है। ब्राह्मण के कर्तव्य सभी याद करेंगे, उपदेश देंगे और ब्राह्मण कहेगा कि यजमान बिगड़ गये। सब दूसरों के अध्याय बाँचते हैं।

इसी प्रकार गीता में भगवान् ने जीव-ईश्वर का भोग्य-भोक्तापन बताया 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अरे अर्जुन ! कर्म करना जीव का अधिकार है और फल देना ईश्वर का अधिकार है। दोनों अधिकारों का भेद हो गया। ईश्वर यह विचार करे कि 'किस कर्म का क्या फल दूँ' और जीव विचार करे कि 'मैं क्या कर्म करूँ', तो ठीक है। यह भी उलट गया है। लोग कहते हैं कि 'ईश्वर हमारे कर्मों का फल क्यों नहीं देता ?' 'मैं क्या-क्या नहीं करता और क्या-क्या करता हूँ'—इसका विचार नहीं है। सर्वत्र यह चीज़ विपरीत हो गई है। अपने को भोग्य बनाते

समय तो हम अपने आपको दूर कर लेते हैं और भोक्ता बनते समय अपना अधिकार दिखाते हैं जिसका नतीजा अशांति है। बिना भोग्य बने हुए भोक्ता बनना और उससे होने वाला सुख सम्भव नहीं।

ग्राम्य और आरण्य दोनों को वायव्य अर्थात् वायुदेवताक बताया है। यह विलक्षण बात है। संसार में ग्राम्य और आरण्य अथवा व्यष्टि और समष्टि की एकता का प्रत्यक्ष दृष्टांत वायु है। इसलिये वैदिक प्रतिदिन शांतिपाठ में कहता है 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि'। हे वायु ! तुम्हें नमस्कार है क्योंकि तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। वायु क्यों प्रत्यक्ष ब्रह्म है ? जो एक मिनट पहले हमारे अन्दर व्यष्टिरूप से प्राण था, वही एक मिनट बाद बाहर निकली हुई समष्टि वायु; और जो बाहर विद्यमान समष्टि वायु, वही एक मिनट बाद व्यष्टि प्राण है। बाकी चीज़ों की व्यष्टि-समष्टिरूपता में तो कुछ संदेह हो सकता है लेकिन वायु की व्यष्टि-समष्टिरूपता में कहीं संदेह नहीं है। हमारे अंदर चेतन है या नहीं—यदि इसका पता लगाना है तो डाक्टर भी देखता है कि वायु है या नहीं। नाक के सामने शीशा लगाकर देखता है या नाडी देखता है। वायु ही ब्रह्म का प्रत्यक्ष परिचायक है। कोई आदमी मर गया है या नहीं, इसका पता लगाने के लिये साँस देखते हैं कि चल रही है या नहीं। उसकी व्यष्टि-समष्टि एकता प्रत्यक्षसिद्ध है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। इसीलिए जैसे वायु वैसे ही परब्रह्म परमात्मा है। न वायु में कहीं स्पर्शास्पर्श होता है और न ब्रह्म में ही स्पर्शास्पर्श दोष होता है। ऐसा नहीं कि हरिजन की निकली हुई वायु को

नहीं लेना ! अभी-अभी एक हरिजन इधर से साँस छोड़ता हुआ गया तो साँस लेना बंद नहीं करते। इसलिये कहते हैं कि 'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म बता सकते हैं, और किसी चीज़ को नहीं। इसलिये वायु को बड़ा प्रधान माना है। उसी को यहाँ बताया कि ग्राम्य और आरण्य दोनों वायु में एक हो जायें, प्रत्यक्ष ज्ञान वाला और समूहालम्बन वाला दोनों एक हो जायें, एक भोक्ता हो जाये और दूसरा भोग्य हो जाये। ग्राम्य नित्य भोग्य रहेगा और आरण्य नित्य भोक्ता रहेगा; यदि ये दोनों भाव नित्य निष्पन्न हो जाते हैं तो एकरूपता की सिद्धि हो जाती है, अपने आप एकरूपता प्राप्त हो जाती है। जितना-जितना आरण्य बनोगे, जितना-जितना निवृत्ति मार्ग में जाओगे, उतना-उतना तुम्हारा भोक्तृत्व बढ़ेगा और जितना-जितना ग्राम्य बनोगे, प्रवृत्ति-मार्ग में जाओगे, उतना ही उतना नित्य तुम्हारा भोग्यभाव बढ़ेगा। जितने घर में नौकर रखोगे उतने गुलाम बनोगे। एक नौकर है तो एक की गुलामी होगी, उसकी तरफ भी ध्यान देना पड़ेगा, दो नौकर हो गये तो दोनों की तरफ ध्यान देना पड़ेगा, दो की गुलामी हो गई। तुम सोचते हो कि नौकर के द्वारा गुलामी कम होती है लेकिन वास्तव में गुलामी बढ़ती जाती है। फैक्ट्री में चार काम करने वाले हों तो ज़्यादा गुलाम बनोगे या उन्नीस काम करने वाले हों तब ज़्यादा गुलाम बनोगे ? बीस की संख्या तो वैसे ही ग्राम हो गयी क्योंकि सरकार ने ठप्पा लगा दिया! उतने होने पर सारे लेबर-यूनियन वाले तुम्हारे मालिक बने गये ! तुम समझते हो कि कर्मचारी बढ़ रहे हैं लेकिन वास्तव में भोग्यभाव बढ़ रहा है। आजकल के व्यापारी करोड़ों रुपये का व्यापार करते

हैं लेकिन कितनों के भोग्य हैं, पता है? पाँच सौ रुपये की हुण्डी वाला भी तुम्हारा भोक्ता बना है, वह भी जब हुण्डी सकारने आता है तब चाहे तुम्हारे पास बीस करोड़ हों, उसके सामने भी खीसे निकालते हो कि कहीं माँग न ले, ब्याज लेकर ही चला जाये तो अच्छा है, उसके भोग्य बन गये। जितने-जितने आरण्य बनोगे, भोक्ताभाव बढ़ता जायेगा। यही ग्राम्य और आरण्य दोनों का स्पष्ट दृष्टिकोण है कि जितना निवृत्ति में, आरण्यभाव में जाओगे, उतना भोक्ता-भाव और प्रातिभ-ज्ञान बढ़ेगा; जितने ग्राम्य बनोगे, प्रवृत्ति-मार्ग में रहोगे, उतना भोग्यभाव बढ़ेगा। यह प्रत्येक का अपना निर्णय है कि उसे पशु बनना है या पशुपति की तरफ जाना है। भोग्य बने हुए भोक्तापन के आनंद को कैसे लेना है, इसका प्रकार आगे बतायेंगे।

प्रवचन-२८

भगवती श्रुति बता रही है कि परब्रह्म परमात्मतत्त्व सृष्टि चक्र के अन्दर यज्ञरूप से है। व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को सम्यक् प्रकार से निष्पन्न करने के लिये यज्ञरूप में उस प्रजापति का अवतरण होता है। यज्ञरूप के अवतरण का स्वरूप बताते हुए प्रजापति किस प्रकार अवतरित होते हैं, यह सृष्टि-प्रक्रिया से समझाया। सर्वत्र यह नियम है कि जिस प्रकार से सृष्टि प्रक्रिया चली, उसी प्रकार से उपसंहार प्रक्रिया भी चलेगी।

यहाँ बताया कि 'वायव्याः' अर्थात् वायु देवता के भाव की

प्राप्तिके लिये ग्राम्य और आरण्य भेद प्रकट हुए। एक में समूहालम्बन (संहतों) की प्रधानता है और दूसरे में घटकों की प्रधानता है। एक में व्यक्ति प्रधान है और दूसरे में संगठन की प्रधानता है। ग्राम्य वह है जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा संहतों की प्रधानता है, परस्पर सापेक्षता की प्रधानता है, निरपेक्षता की कमी है, प्रवृत्ति की प्रधानता है, निवृत्ति की कमी है, क्रिया की प्रधानता है, भाव की कमी है। ये सब एक ही पक्ष हैं। जहाँ क्रिया प्रधान होगी, वहाँ भाव कम होगा। क्रिया प्रधान होने से प्रवृत्तिरूपता, प्रवृत्तिरूपता होने से सापेक्षता, सापेक्षता होने से घटकों की तरफ से दृष्टि का हटना और फिर वह धीरे-धीरे जडरूपता को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेता है। यह एक तरह का विकास है। इसीलिये कर्मकाण्डी का जो पूर्ण विकास है इसमें चेतन ईश्वर और देवता दोनों नहीं माने जाते ! न वह ईश्वर को मानता है और न देवता को मानता है क्योंकि उसके अन्दर कर्म की प्रधानता होती चली जाती है, कर्मफल देने वाले चेतन की दृष्टि हटती जाती है। कर्मकाण्डी का जो चरम सिद्धांत मीमांसा है उसमें वह न चेतन देवता को और न ईश्वर को स्वीकार करता है। इसी प्रकार सांख्यवादी जड-प्रधान होकर ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। कहते हैं कि ईश्वर की सिद्धि नहीं क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है !

दूसरी तरफ निवृत्ति (आरण्य) की विशेषता जैसे-जैसे बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे भाव की प्रधानता बढ़ेगी। जैसे-जैसे भाव की प्रधानता बढ़ेगी वैसे-वैसे निरपेक्षता बढ़ेगी। जैसे-जैसे निरपेक्षता बढ़ेगी वैसे-वैसे चेतनभाव बढ़ेगा। उस चेतनता के सिद्धान्त की

परिसमाप्ति, सर्वोत्कर्ष वेदांत में मिलेगा जहाँ किसी को जड न मानकर सबको ही चेतन माना जायेगा ! एक तरफ सब जड माना गया और दूसरी तरफ सबको चेतन माना गया। इसलिये ये दोनों परस्पर विरुद्ध पक्ष हुए।

जब चेतन सर्वत्र माना गया तब यज्ञरूपता आई, क्योंकि यज्ञ के अन्दर जब तक चेतनरूपता का आधार नहीं होगा तब तक यज्ञ का मूल स्वरूप द्रव्य-देवता-क्रिया-संयोग निष्पन्न ही नहीं होगा। मीमांसक से यदि प्रश्न करते हैं कि देवता को उच्चारण के अतिरिक्त यदि नहीं मानते हो तो 'इ-न्-द्-र' यह उच्चारण क्रिया हुआ या द्रव्य हुआ ? तुम अपने लक्षण में देवता शब्द को क्यों घुसा रहे हो ? वह द्रव्य हुआ या क्रिया हुई ? यज्ञ का लक्षण ही नहीं बनता ! यज्ञ का लक्षण तभी बने जब उसके अन्दर चेतन की स्वीकृति हो। कर्मकाण्डी इसलिये घबराता है कि चेतन स्वतंत्र होता है। चेतन का लक्षण ही स्वातंत्र्य है। जो स्वतंत्र को नहीं मानता है वह जडवादी है। वह चार्वाक हो चाहे आधुनिक वैज्ञानिक हो सभी जड को कारण मानते हैं, चेतन को बीच में कारण नहीं मानते। प्रारब्धवादी भी जडवादी ही है क्योंकि वह भी हर चीज़ का कारण प्रारब्ध को बताना चाहता है। प्रारब्ध तो जड है। या संस्कारों को कारण बताते हैं, तो संस्कार भी जड ही हैं। चेतन-कारणवाद से अपने ऊपर जो ज़िम्मेवारी आती है उससे बचने का प्रयास है।

अधिकतर संसार के लोग जडवादी हैं। चाहे वे ईश्वर के नाम को लेते हों, लेकिन हैं जडवादी ही, क्योंकि ईश्वर को जड समझते हैं, अनात्मा समझते हैं और प्रायः करके बुद्धू भी समझते हैं!

भगवान् को जाकर कहते हैं—'हे हनुमान् जी ! चोर-बाज़ारी का मुक़दमा जीत जाऊँगा तो पाँच रुपये के लड्डू चढ़ाऊँगा।' पाँच हज़ार का मुक़दमा जीतूँगा, वह भी परमात्मा के नियम 'सत्य बोलना' इत्यादि का नाश करके, परमात्मा के नियमों के विरुद्ध चलकर। और वह इतना बुद्धू है कि पाँच हज़ार का फ़ायदा केवल पाँच रुपये की घूस से कर देगा ! साधारण आदमी से भी ऐसा व्यवहार करने की हमारी हिम्मत नहीं होगी कि उसीके नियम तोड़ें और थोड़ा-सा देकर ज़्यादा ले लें ! इसलिये परमात्मा को जड और बुद्धू दोनों समझते हैं। दूसरी तफर जो निवृत्तिमार्गी होता है, ज्ञान की दृष्टि वाला होता है, वह सर्वथा परमात्मा को अपनी आत्मा स्वीकार करता है। इसलिये वह उससे ठीक विपरीत परमात्मा को अपनी आत्मा में उपहित करने के कारण, स्थिर रखने के कारण परमात्मा को स्वसापेक्ष न समझकर अपने को परमात्मा के सापेक्ष समझता है। वह परमात्मा से 'मेरा मुकदमा जितवाना' नहीं चाहता बल्कि परमात्मा की सेवा करना चाहता है। यह दोनों के अन्दर फ़र्क हो गया।

कल बताया था कि जितना-जितना अपने को भोग्य बनाओगे, उतना-उतना ही भोक्तृत्व बढ़ेगा। यह सामान्य नियम बताया था। अब उस सामान्य नियम का अतिदेश ईश्वर में कर रहे हैं। सामान्य नियम ही ईश्वर में लग जायेगा। सामान्य व्यवहार काल में भी जहाँ तुम भोक्ताभाव को बढ़ाओगे, वहाँ बंधन बढ़ेगा। यदि अपने आपको परमात्मा का सर्वथा भोग्य बना लिया तो तुम्हारा भोक्तृत्व भाव भी अनंत होता जायेगा ! जिसे तुमने आज तक अपना आपा समझ रखा है वह तुम्हारी ही बुद्धि है। अहम् को आपा समझ

रखा है। देहादि अहंपर्यन्त सब जड हैं, तुम्हारा स्वरूप नहीं है। क्षण-क्षण में बदलने वाले हैं। इनमें कोई चीज़ स्थिर नहीं है। जिस 'मैं' को मैं समझते हो वह 'मैं' तो सुषुप्ति (गहरी नींद) में ही नहीं रहता ! जिनको तुमने अपना आपा समझ रखा है वे सारे थोथा मामला हैं। वस्तुतः उन सबका भोक्ता परमात्मा ही है। उसके प्रकाश की किरणों से ही अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त सब उद्भासित हो रहे हैं, उसी चेतन के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। जब इन सबको तुम उस चेतन का उद्भास्य बना लेते हो, इन सबको भोग्य समझ लेते हो, तब यह सब भोग्य होने पर तुम चेतन में पहुँच जाते हो। यह भोग्य की दृष्टि बनना ही आरण्य है और भोक्ता की दृष्टि बनना ही ग्राम्य है। जब भोक्ता बनते हो तब दूसरे को अपना औज़ार बनाते हो। समझते हो कि 'हम इसके द्वारा अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करते हैं', लेकिन प्राप्त परतंत्रता को करते हो।

इस स्वातंत्र्य की प्राप्ति कैसे हो ? शास्त्रकारों ने बताया है 'वर्तमानावभासानां भावानाम् अवभासनम्' प्रत्येक क्षण, प्रत्येक वर्तमान काल में अन्दर अवभास होता है। हर क्षण किसी न किसी चीज़ का आभास होता है। कोई क्षण ऐसा नहीं जब तुम्हारे सामने कोई न कोई प्रतीति न होवे। कभी पदार्थों की प्रतीति है तो कभी पदार्थों के अभाव की प्रतीति है। किसी समय रसगुल्ला सामने देखते हो और किसी समय 'रसगुल्ला सामने नहीं है' इस बात को देखते हो। ये आभास ही हैं। एक क्षण भी ऐसा नहीं जिसमें अवभासन न हो। हर वर्तमान क्षण में भाव या अभाव रूप का अवभासन है। इसके लिये कोई प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं

पड़ती। हम अपने सामने किसी प्रतीति को लावें—यह नहीं करना पड़ता। यह तो अपने आप ही होती रहेगी। करना क्या है ? उस अवभासन के अन्दर जो हो रहा है, उसमें तुम्हें अपने भाव का प्रतिबिम्ब डालना है। यह तुम्हें करना है। प्रतीति और प्रतीति के अभाव काल, दोनों में चेतन-भाव का अवभासन करना है। जिस काल में मैं घड़ा देख रहा हूँ, उस काल में मैं चक्षुरिन्द्रिय का अवभासन करने वाला हूँ। घड़े का दीखना इस बात को बताता है कि मुझ में आँख पर चढ़ने की शक्ति है। यदि उस चेतन का प्रकाश आँख में न होता तो आँख न देखती। जिस काल में घड़ा नहीं दीख रहा है, उस काल में मैं अपने अभाव-प्रमाण को सिद्ध कर रहा हूँ।

अभाव को जानने के लिये दो चीज़ों को जानना पड़ता है। घड़े को जानने के लिये तो केवल घड़े और इन्द्रिय का सम्बन्ध काफी है। लेकिन घड़े के अभाव को जानने के लिये घड़े का ज्ञान ज़रूरी है और घड़ा किन-किन परिस्थितियों में दीखेगा, इसका भी ज्ञान ज़रूरी है। किस-किस ज्ञान की ज़रूरत है, यह थोड़ी विचार की बात है। यदि रोशनी है, यदि मेरी आँख ठीक है, यदि मेरा मन ठीक है, यदि मेरी आँख और घड़े के बीच में कोई पदार्थ नहीं है तो घड़ा दीखेगा। रोशनी इसलिये ज़रूरी है क्योंकि अंधेरे में घड़ा नहीं दीखता। अंधरे में किसी से पूछो कि यहाँ घड़ा है या नहीं तो वह कहेगा 'रोशनी दिखाइये'। रोशनी दिखाने के बाद वह देखेगा कि सामने एक पर्दा टँगा है तो कहेगा 'पर्दा हटाइये'। पर्दा भी हटा दिया, फिर भी घड़ा नहीं दीखे तो कहेगा 'मेरी आँख पर आपने अंगुली रख दी है, वह अंगुली

हटाओ।' घड़ा नहीं है यह जानने के लिये कई काण्ड करने पड़ते हैं। क्योंकि अभावज्ञान में यह सोचना पड़ेगा कि यदि घड़ा होता तो किन-किन परिस्थितियों में उसकी उपलब्धि होती। उन सारी परिस्थितियों का ज्ञान होने पर ही अभाव-प्रमाण के कारण कह सकेगा कि यहाँ घड़ा नहीं है। घड़े को तो जानना ही पड़ेगा। जिसको घड़े का पता ही नहीं, वह नहीं कह सकता कि यहाँ घड़ा नहीं है। कोई आकर पूछे कि 'यहाँ हरिश्चन्द्र है या नहीं ?' तो दूसरा कहेगा कि 'मुझे पता नहीं कि हरिश्चन्द्र जी कौन हैं।' ऐसे ही घड़े को जानना तो ज़रूरी है ही, लेकिन साथ-साथ घड़े को किन-किन साधनों से जाना जा सकता है, इसका भी ज्ञान ज़रूरी है। अभाव को जानना हमारी ज़्यादा शक्ति को प्रस्फुटित करता है, अपेक्षाकृत भाव को जानने के।

पदार्थों का भाव हो या अभाव, दोनों में अपनी चेतनरूपता का अवभासन समझना है। भाव को देखते हो तो अभाव को भी देखते ही हो। दोनों कालों में 'नित्यमलुप्तशक्तिः' वह ज्ञान-शक्ति, जो कभी भी लुप्त नहीं होती, अपने आपको प्रकट कर रही है। यह ज़रूरी नहीं कि वह पदार्थ बाहर ही हो या अन्दर ही हो। कभी हम बाहर के पदार्थ को जानते हैं, कभी भीतर के पदार्थों को भी जानते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि हमेशा हमारा ज्ञान बाहर के पदार्थों में ही हो, भीतर के भी पदार्थों का ज्ञान वैसा ही स्पष्ट होता है जैसे बाहर के पदार्थों का। कभी-कभी तो लगता है कि भीतर के पदार्थों का भान ज़्यादा स्पष्ट रूप में होता है। जितनी सफाई से घड़ा दीखता है, उससे ज़्यादा सफाई से फोड़े का दुःख होता है। वह दुःख बाहर तो नहीं है, अंदर ही है। किसी ने गाली

दी तो उसका दुःख भी अन्दर है। अपमान का भाव भीतर ही है, बाहर नहीं है। लेकिन वह जितना स्पष्ट रूप से उद्‌भासित होता है, उतना स्पष्ट रूप से बाहर का घट भी आभासित नहीं होता। इसीलिये लोग कह देते हैं कि थप्पड़ मार दो वह अच्छा है लेकिन जबान से दिल को काटना बड़ा बुरा है। क्योंकि थप्पड़ की अपेक्षा वह अधिक अंतरंग है।

अंतः-जगत् और बाह्य-जगत् दोनों का मध्य बिन्दु कल वायु को बताया था। ग्राम्य, बाहर के पदार्थ, प्रवृत्तिमार्ग के पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं और परस्पर निरपेक्ष सारे पदार्थ निवृत्ति के हो गये। इसलिये आरण्य अन्दर है। लेकिन ये ग्राम्य और आरण्य दोनों 'वायव्य' हैं क्योंकि वायु में ग्राम्यरूपता और आरण्यरूपता का मध्यबिन्दु है। एक क्षण में जो बाहर की साँस है, वही अगले क्षण में अन्दर का प्राण है। एक क्षण में जो अंदर का प्राण है, वही अगले क्षण में बाहर की वायु है। इसीलिये ग्राम्य और आरण्य दोनों संस्कृतियों का, दोनों भावों का मध्य बिन्दु वायु है। इसलिये उन्हें वायुदेवताक कहा; वही दोनों का मध्य बिन्दु है। यह अन्दर और बाहर का जो मध्य बिन्दु है जिसे न अन्दर और न बाहर कह सकते हैं, उस बिन्दु पर जब पहुँचोगे तब ग्राम्य और आरण्य दोनों एक-जैसे होते जायेंगे। उन दोनों में एकता आ जायेगी—यह नहीं कह रहे हैं क्योंकि *एक-जैसे* और *एकता* में फ़र्क होता है। दो भाई एक-जैसे होते हैं, उनका चेहरा एक-जैसा हुआ। ऐसा नहीं कि उनका चेहरा एक ही हो ! कि भाई हैं तो कभी एक का चेहरा दूसरा लगा लेता हो ! इसलिये कहा कि उस मध्य बिन्दु पर पहुँचकर ग्राम्य और आरण्य दोनों भाग एक-जैसे हो जायेंगे।

एकता और एक-जैसे का फ़र्क समझना : एकतावाली स्थिति तो 'ततो विराट् अजायत' में जाकर आयेगी। विराट् में जाकर तो एकता आयेगी। लेकिन अब उससे नीचे उतर आये हैं। इसलिये यहाँ एकता नहीं, एक-जैसापना आयेगा।

वह एक-जैसापना कैसे प्रकट हो ? उसके प्रकट होने का केन्द्र शास्त्रों में हृदय को बताया है। 'यः प्रकाशः स्वतंत्रोऽयं चित्स्वभावो हृदि स्थितः।' मृगेन्द्र आगम कहता है कि यह जो स्वतंत्र भी है और प्रकाश भी है वह चित् इसका स्वभाव है। चित् में आंतरिक और बाह्य दोनों भावों को प्रकट करने की सामर्थ्य इसलिये है कि वह मध्य बिन्दु में है। मध्य में रोशनी जलाओ तो दोनों ओर प्रकाश हो जाता है। हर चीज़ के अन्दर मध्य बिन्दु में स्थित हुआ यह चित्स्वभाव वाला परमात्मा सारे बाह्य जगत् को भी और सारे अंतःजगत् को भी प्रकाशित कर लेता है। दो की ज़रूरत नहीं पड़ती कि एक बाहर के पदार्थों को जानने वाला और दूसरा अंदर के पदार्थों को जानने वाला। दो नहीं, यहाँ तो एक ही दोनों भावों को जान लेता है।

वह हृदय में स्थित है—इसका क्या मतलब है ? वैसे तो वह सर्वत्र स्थित है लेकिन लोगों का अनुभव वहाँ होता है। इसे हृदय क्यों कहते हैं ? यद्यपि प्राण सारे शरीर में स्थित हैं, ऐसा तो नहीं कि प्राण किसी एक जगह पर स्थित हों ! इन्द्रियों के साथ सारे शरीर को व्याप्त करके प्राण रहता है। हाथ-पैर, कान, नाक सब में प्राण है। प्राण सारे शरीर में एक-जैसा व्याप्त होकर रहता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। न आँख में प्राण ज़्यादा है और न हाथ-पैरों में कम रहता है। लेकिन एक-जैसा रहने पर भी प्राण की साक्षात्

प्रतीति हृदय में होती है। सब जगह एक-जैसा होने पर भी हृदय में उसकी अनुभूति स्पष्टतर है। इसी प्रकार मन भी सारे शरीर में रहता है। ऐसा तो नहीं कि पैर को कोई हाथ लगाये तो पता न चले। मन वहाँ है, तभी तो पता चलता है। लेकिन फिर भी सुख-दुःख का जब तीव्र अनुभव होता है तब हृदय में ही उल्लास-पीडा का अनुभव होता है। शक्ति मन में स्थित रहने पर भी उसकी स्पष्टतर उपलब्धि हृदय में होगी। इसी प्रकार सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी जिस बिन्दु में आत्मा की उपलब्धि होती है, उसी को हृदय कहा है। इसका परम स्थान, मिलने का स्थान हृदय है।

हृदय कहाँ है यह डाक्टर से नहीं पूछना ! क्योंकि उनका हृदय और है और हमारा हृदय दूसरा है। उनका हृदय मांसखण्ड है, हमारा हृदय चेतन है। वे जड हृदय को देखते हैं, हम चेतन हृदय को देखते हैं। उस हृदय का रूप बताते हुए कहा है 'कदलीसम्पुटाकारं स बाह्याभ्यन्तरान्तरम्' । उसे देखना हो तो केले का फूल देखो। उसमें बाहर और अन्दर का भेद ज़रूर है। जैसे-जैसे खोलकर उसके अन्दर देखो वैसे-वैसे उसमें अनेक स्तर दिखाई देंगे। अंत में जाकर उसका मध्य बिन्दु पकड़ में आयेगा। वह मध्य बिन्दु ही सब्जी का काम देता है। जैसे-जैसे बाहर-बाहर के हिस्से को हटाते जाओगे, वैसे-वैसे अंदर-अंदर जाते जाओगे। इसी प्रकार हृदय के अन्दर बाह्य भाव बहुत आरूढ हुए हैं। जैसे-जैसे उन बाह्य भावों को हटाते जाओगे वैसे-वैसे अन्दर के भाव प्रकट होंगे। बाहर के भाव बाह्य प्रकाशों को, बाह्य जगत् को विषय करते हैं, और अन्दर के भाव अन्दर के भावों को विषय करते हैं।

अंत में कहाँ पहुँचोगे ? तो कहा 'ईक्षते हृदयान्तःस्थं तत्पुष्पमिव तत्त्ववित्' । हृदय के ठीक अंतिम स्थान में पहुँचना पड़ेगा। बाहर के भाव एक दूसरे की अपेक्षा बाहर होते हैं। साधन-साम्राज्य में समझना यह ज़रूरी है कि कौन बाहर और कौन अन्दर है। जितना-जितना भीतर जाओगे उतना-उतना बाहरीपन हटेगा। एक साधक के लिये जो बाहर का है, वही दूसरे साधक के लिये भीतर का हो सकता है। इसलिये 'स बाह्याभ्यन्तरान्तरम्' कहा है, नहीं तो केवल बाहर-अन्दर कह देते। दो ही नहीं हैं, अनेक हैं अतः एक-दूसरे की अपेक्षा बाहर और एक-दूसरे की अपेक्षा अन्दर हैं। सारे बाह्यों को हटाना है। यह देह भी दूसरों की अपेक्षा अन्दर है, इन्द्रियों की अपेक्षा बाहर है, इन्द्रियाँ भी अंतःकरण की अपेक्षा बाह्य हैं।

जो तत्त्ववेत्ता है, वह अंतरतम में पहुँचता है जिसे श्रुति कहती है कि वह सबका प्रकाश करता है, लेकिन उसका प्रकाश कोई नहीं करता 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' उसके प्रकाश से सब प्रकाशित हैं और वह किसी के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। भगवान् ने भी कहा है 'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः'। वहाँ न सूर्य का प्रकाश काम देगा, न चन्द्र का प्रकाश काम देगा। ऐसा नहीं कि छाती चीर कर हृदय दीखने लगे ! चन्द्र, सूर्य, तारा किसी का प्रकाश काम नहीं देगा और न बिजली का ही प्रकाश काम देगा। फिर दिये और अग्नि का प्रकाश तो काम कहाँ से देगा! वहाँ जो अन्दर का हृदय-पुष्प है, उसका प्रकाश किसी से नहीं, वह स्वयंप्रकाश है, उसका भान किसी दूसरे से नहीं है, स्वयं अपने आप से है। वह स्वयं ही गृहीत होता है, किसी दूसरे से

गृहीत नहीं होता है। आत्मा स्वयं आत्मा को ही जानता है, वही जानने वाला है और वही जाना जा रहा है। दोनों वही है, जिसको जानता है वह भी वही है और जो जानता है, वह भी वही है।

वैसा जान लेने के बाद जब साधक धीरे-धीरे अंदर से बाहर को आता है, तब उसे लगता है कि जिसे मैं बाहर समझ रहा था, वह भी तो वही है जो भीतर था। ज्ञान कुछ *बनकर* विषय का आकार नहीं लेता है। पुराने घर हुआ करते थे, अभी भी कहीं-कहीं देखे होंगे, उनमें आजकल की तरह की विलायती खिड़कियाँ नहीं होती थीं। दीवार में ही एक गोल, तिकोना या चौकोर छेद बना देते थे। यदि वह दीवार पूर्व या पश्चिम की तरफ हुई तो प्रातःकाल या सायंकाल उसमें से रोशनी का एक दण्डा निकलकर आता था। गोल छेद हुआ तो रोशनी का गोल दण्डा, तिकोना छेद हुआ तो दण्डा तिकोना और चौकोर हुआ तो चौकोर प्रकाश-दण्ड कमरे में घुस आता था। क्या प्रकाश अपने को कुछ *बदलकर* वहाँ दण्डा बनता था ? या प्रकाश जैसा है वैसा ही बना रहता है ? गोल, चौकोर, तिकोना इत्यादि दण्डाकार रूपों में प्रतीत होते हुए भी प्रकाश नहीं बदलता था, लेकिन गोल या तिकोने छेद से आने के कारण वह गोल या तिकोना दीखता था। जैसे प्रकाश अपने स्वरूप को बदले बिना गोल, चौकोर और तिकोना दीखता है उसी प्रकार ज्ञान अपने स्वरूप को बिना बदले हुए ही सारे आकारों का दीख रहा है। है केवल ज्ञान, ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। यदि उस दण्डाकार रोशनी के अन्दर रोशनी से अतिरिक्त कुछ ढूँढने जाओगे तो कुछ नहीं मिलेगा। चाहे जितना उसे देखो, वह रोशनी ही है यद्यपि चौकोर या तिकोना लगता है। इसी प्रकार

संसार के सारे विषय देखते हो, लेकिन उन विषयों को यदि ध्यान से देखो तो ज्ञान ही है, संवित् ही है, उसके सिवाय कुछ नहीं है।

सप्तशती में आता है—देवी लड़ रही हैं। लड़ते हुए उन्होंने अनेक रूप ले रखे हैं। राक्षस चण्ड, मुण्ड जाकर कहते हैं 'अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे यातिमानिनी' 'तू तो बड़ा घमण्ड करके कहती थी कि अकेली लड़ेगी लेकिन यह क्या कर रखा है ? अन्य अनेक देवियों को साथ लेकर लड़ रही है ?' इसी प्रकार लोग कहते हैं—'हे परब्रह्म परमात्मा ! तुमने खेल शुरू करते समय कहा था 'एकोऽहं बहुस्यां' प्रतिज्ञा तो की थी कि मैं बहुत हो जाऊँ लेकिन तूने माया, अविद्या, अज्ञान, सत्त्व, रज, तम, प्रकृति, आकाश, वायु, तेज, पृथ्वी इत्यादि न जाने कितने टण्टे कर लिये हैं जबकि कहा था एक ही बहुत हो जाऊँगा ! लेकिन अब बाकी सब चीज़ों का सहारा लेकर तूने हमें फँसाने का प्रयत्न किया।' जवाब में देवी कहती हैं 'एकैवाऽहं जगत्कृत्स्नं द्वितीया का ममापरा'। 'अरे मूर्ख ! तू मुझे नहीं समझ रहा है। जिन देवियों का तू सोचता है कि मैं सहारा ले रही हूँ, वे मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई नहीं है।' माया, अविद्या, अज्ञान, सत्त्व, रज, तम, प्रकृति, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इत्यादि कोई भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। ये सब रूप उसी ने तो ले रखे हैं।

आँख-मिचौनी का खेल खेलते हो तो हाथ, पैर, आँख सब इन्द्रियों का प्रयोग करते हो। नाक का भी प्रयोग करते हो। बहुत से लोग सूंघ कर पता लगा लेते हैं कि आदमी यहाँ छिपा हुआ है। कोई कहे कि 'हमने कहा था कि तुम पकड़ना, तुमने तो कान,

आँख इत्यादि की सहायता से पकड़ा' तो यह कहना थोड़े ही सही माना जायेगा। इतना ही नहीं, पकड़ने में कोई कहे कि 'हाथ को हाथ लगाया था, हमें कहाँ पकड़ा?' तो भी चलेगा नहीं। खेल में हाथ को तो क्या, यदि बाल को भी अंगुली लग गयी तो मानना पड़ेगा कि पकड़ा गया। सारा खेल खेलते हुए आँख, कान, नाक इत्यादि—हो तो तुम एक ही। बहुत से लोग खेल खेलना नहीं जानते। एक-एक टुकड़े में फँसकर रुक जाते हैं। यह खेल खेलना होगा अपेन समग्र भावों से, क्योंकि वह समग्र भावों से बना है। जैसे प्रकाश अपने स्वरूप से प्रकाश रहते हुए ही अनेक रूपों में भान होता है, वैसे ही संवित् भगवती कहती है 'एकैवाहं जगत्कृत्स्नं' मैं एक ही ज्ञानस्वरूप होकर इन सारी अनंत शक्तियों के रूपों में प्रतीत हो रही हूँ। मुझसे भिन्न कुछ नहीं है।

वह प्रकाश तीन रूपों का हो जाता है : सोम, सूर्य और अग्नि। हम लोगों को जितना प्रकाश मिलता है वह या चन्द्ररूप या सूर्य-रूप या अग्निरूप प्रकाश मिलता है। इसी को वेदांत की भाषा में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कहते हैं, अर्थात् जानने वाला, जानने के साधन और जिसको जानता है। ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक के बिना दूसरा नहीं रहेगा। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के बिना नहीं रह सकता। आँख तब आँख रहेगी जब देखने वाला जीव हो और घट आदि पदार्थ दीखने वाले हों। उसी प्रकार घट आदि पदार्थ, दृश्य तब रहेंगे जब आँख देखने वाली हो और जीव उसे देखने वाला हो। हम अपने अनुभव में इन तीनों को अलग-अलग करते रहते हैं। इनको अलग-अलग न करके इनको निरपेक्ष करना है। सोम, सूर्य और अग्नि में अनन्य धी बनना वास्तविक यज्ञ

है। इस यज्ञ का फल होगा कि वह भैरवाग्नि प्रकट होगी जो सकारण अविद्या को नष्ट करेगी।

प्रवचन-२६

भगवती श्रुति ने विराट् पुरुष की उत्पत्ति के अनंतर जीव की उत्पत्ति बतायी। जीव-ईश्वर का सम्बन्ध, जीव-जगत् का सम्बन्ध और जगत्-ईश्वर का सम्बन्ध—इन सम्बन्धों में वह परमात्मा प्रजापति जिस रूप में प्रकट होता है, वह रूप यज्ञ है। यज्ञरूप में प्रजापति जीव, जगत्, ईश्वर के मध्य में प्रकट हुआ। वह यज्ञ कैसा है इसका स्वरूप बताते हुए कहा कि उसमें सभी अर्थात् कार्य और कारण दोनों ही आहुति बनते हैं। कार्य और कारण दोनों भावों के अन्दर वह आहुत-भाव को प्राप्त करता है। वही कार्य और कारण दोनों भावों में बना हुआ भोग्यभाव और भोक्ताभाव को प्राप्त करता है। भोग्य और भोक्ता का आपस में जो सम्बन्ध है वही यज्ञ है। भोग्यभाव के अभिवर्द्धन के द्वारा भोक्ताभाव का स्वाभाविक अभिवर्द्धन—यह निवृत्ति की दृष्टि का साधन है। भोक्ताभाव के अभिवर्द्धन के द्वारा भोग्यभाव की कमी हो जाना—यह प्रवृत्ति मार्ग है। एक में सापेक्षता बढ़ती जाती है इसलिये ग्राम्य संस्कृति और दूसरे में निरपेक्षता बढ़ती जाती है इसलिये आरण्य संस्कृति है। ग्राम्य और आरण्य, बाह्य और आंतरिक दोनों जगत् के मिलने का स्थान हृदय है। यदि हृदय से बाहर की तरफ विश्व का दर्शन हो तो ग्राम्य संस्कृति बढ़ती

है और हृदय के अन्दर की तरफ यदि विश्व का दर्शन हो तो आरण्य संस्कृति बढ़ती है। बाह्य और आभ्यंतर जगत्, हैं दोनों ही अनंत। सामवेद की छांदोग्य उपनिषद् स्पष्ट बताती है कि जितना यह बाह्य जगत् है, उतना ही आभ्यंतर जगत् भी है। बाह्य और आभ्यंतर दोनों जगत् अनंत हैं। लेकिन यदि हृदय में बैठे हुए चित् की दृष्टि, चिन्मात्र की दृष्टि, अन्तर्जगत् की तरफ हुई तो निवृत्ति है। जैसे केले के फूल के पत्तों को हटाते-हटाते अंत में पुष्प के केन्द्र को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार बाह्य जगत् से आये हुए संस्कार और वासनाओं को हटाते-हटाते अंत में उस आत्मतत्त्व (चिद्रूप) की प्राप्ति बनती है।

उस हृत्तत्व के अन्दर स्थिति किस प्रकार बने ? हमारे जितने भी ज्ञान हैं उन सबके अन्दर तीन का संघटन होता है—सोम, सूर्य और अग्नि। सोम दृश्य जगत् को कहते हैं, सूर्य द्रष्टा जगत् को और अग्नि दर्शन जगत् को कहते हैं। सर्वत्र यह त्रिपुटी मिलेगी। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; कर्त्ता, कर्म और करण; भोक्ता, भोग्य और भोग; संसार में जहाँ देखोगे, वहाँ त्रिपुटी (तीन पुट) मिलेगी। घड़े को जानते हो तो घड़ा दृश्य, आँख की वृत्ति का वहाँ पहुँचना, या आँख में जो उसका ज्ञान कराने का साधन है, वह अग्नि हुई और 'मैं घड़े को जानता हूँ' तो मैं सूर्य हो गया। जहाँ कहीं ज्ञान होगा, जहाँ कहीं भोग होगा, वहाँ तीन अवस्थायें होंगी। इसी को त्रिपुटी कहते हैं। इसी त्रिपुटी का प्रतीक बिल्व-पत्र होता है जो भगवान् शंकर को अत्यंत प्रिय है। भगवान् शंकर को वह क्यों इतना प्रिय है ? क्योंकि इसमें तीन पत्ते होते हैं। यद्यपि होते वे तीन हैं लेकिन एक के ही तीन

बने होते हैं। प्रत्येक पत्ते के मूल एक ही दण्डी से निकले हुए होते हैं। इसलिये एक होने पर भी तीन रूपों को धारण करते हैं। इसीलिये बिल्वपत्र शिव को अतिप्रिय है।

जब तक हृदय में मनुष्य नहीं बैठा होता तब तक ये तीन अलग-अलग लगते हैं। बाहर जिसको देखते हो, वह घड़ा अलग है, जो आँख देख रही है वह अलग है और अंतःकरण में बैठा हुआ देखने वाला अलग है। इसी का नाम अज्ञान है। विचार करो, क्या किसी दृश्य के बिना द्रष्टा को सिद्ध कर सकते हो ? द्रष्टा तब कहोगे जब किसी चीज़ को देखेगा। चीज़ से चीज़ का अभाव भी समझ ही लेना है। घड़े को भी जाना जाता है और 'यहाँ घड़ा नहीं है' इस बात को भी जाना ही जाता है। 'घड़ा नहीं' भी एक पदार्थ है। कोई न कोई दृश्य हो तभी द्रष्टा होगा। दृश्य कब होगा? जब कोई-न-कोई द्रष्टा हो। जिस चीज़ को किसी ने नहीं देखा, उस चीज़ को कोई नहीं कह सकता कि दृश्य है। यदि द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध होगा तो बीच में किसी न किसी साधन की ज़रूरत अवश्य पड़ेगी। द्रष्टा और दृश्य को मिलाने वाला दर्शन, कोई-न-कोई प्रमाण अपेक्षित होगा, कोई-न-कोई साधन ज़रूरी होगा। नियम यह है कि जो चीज़ दूसरे के बिना कभी नहीं मिलती वह उससे अलग नहीं हुआ करती। कोई चीज़ किसी से अलग है, यह तब सिद्ध कर सकते हो जब उसको कभी अलग कर सको। हीरे और हीरे की चमक कभी अलग नहीं होती, इसलिये हीरे और हीरे की चमक को दो चीज़ें नहीं मान सकते। यद्यपि दीखते दो हैं, प्रयोग भी कर लेते हैं कि हीरे और हीरे की चमक, लेकिन चीज़ एक ही है। इसी प्रकर जब द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को कभी

अलग नहीं कर सकते तब कैसे कह सकते हैं कि वे अलग हैं? सोम, सूर्य और अग्नि का संघट्ट वस्तुतः कैसा है ? है तो यह संघट्ट निरपेक्ष, लेकिन प्रतीति होती है सापेक्ष, बस इतना ही अज्ञान है। निरपेक्ष और सापेक्ष का अर्थ फिर समझ लो—निरपेक्ष का अर्थ होता है बिना एक-दूसरे की अपेक्षा रखे हुए और सापेक्ष का अर्थ होता है दूसरे की अपेक्षा किये हुए। ग्राम्य दृष्टि अर्थात् अविवेकी की दृष्टि है कि द्रष्टा, दृश्य और दर्शन मिलकर एक हैं अर्थात् परस्पर सापेक्ष हैं; हैं तो अलग लेकिन मिलकर एक हैं। आरण्य संस्कृति की दृष्टि, विवेकी की दृष्टि है कि एक ही हैं, भ्रम से तीन दीखते हैं। बस यही प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद का कारण है। एक कहता है सोम, सूर्य और अग्नि तीनों तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तीन की तरह प्रतीत होते हैं। दूसरा कहता है कि हैं तो तीन लेकिन मिलकर एक हैं।

जैसे हमारे प्राचीन भारत में परिवार, कुटुम्ब हुआ करते थे और परिवार से कोई लड़का अलग हो जाया करता था। यह आरण्य संस्कृति की दृष्टि थी। परिवार एक है, उसमें से कोई टूट कर अलग चला गया। पाश्चात्य संस्कृति की दृष्टि है कि हर पति और पत्नी अलग हैं। अगर इकट्ठे हो गये तो संयुक्त परिवार हो गया। इसका मतलब है कि वस्तुतः हर एक परिवार अलग है, उनको यदि मिलाया गया तो संयुक्त बना, हैं तो अलग। जिस दिन हमने संयुक्त-परिवार शब्द का प्रयोग किया उसी दिन घर में झगड़ों का बीज डाल दिया क्योंकि अब चिंतन प्रणाली बनी कि 'हैं तो हम अलग, किसी कारण से इकट्ठे हैं' । रात-दिन मन सोचता है कि कारण दूर हो जाये तो स्वाभाविक रूप में अलग

हो जायें। हमारी दृष्टि थी कि हम एक हैं। कोई कारणविशेष आया तो अलग हो गये और वह कारण दूर होवे तो फिर एक हैं। यही दोनों दृष्टियों का फ़र्क है। आरण्य संस्कृति की दृष्टि कहती है कि एक हैं, कारण से अलग हुए। इसीलिये भारतवर्ष में यदि लड़का अलग रहता था तो लोग प्रश्न करते थे कि अलग कैसे हुआ ? बुड्ढों को याद होगा, पूछते थे कि भाई अलग कैसे हुआ ? यदि अमरीका, इंग्लैण्ड में जाकर रहो तो कोई नहीं पूछेगा कि भाई या लड़का अलग कैसे हुआ। यदि साथ रहते हुए देख लेंगे तो ज़रूर पूछेंगे कि आप लोग साथ कैसे रहते हैं ? कोई कारण होगा, या तो उसके पास पैसा नहीं होगा, या और कोई कारण होगा, अन्यथा दोनों साथ कैसे रहते हैं ! दोनों दृष्टियों का भेद है।

इसी प्रकार आरण्य संस्कृति कहती है कि एक ही तत्त्व भ्रम से त्रिपुटी-रूप में भास रहा है, है वह एक ही। दूसरा कहता है, ऐसा नहीं है, हैं ये तीन अलग-अलग लेकिन मिले हैं। यदि इस भ्रम ज्ञान को हटाना है तो इनकी त्रिविध-रूपता को हटाना पड़ेगा। सोम वैसे चन्द्रमा को कहते हैं। सूर्य आदित्य को कहते हैं। चन्द्रमा स्वप्रकाश नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि चन्द्रमा में अपना प्रकाश नहीं है, सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करके चन्द्रमा प्रकाशित होता है। जो चन्द्रमा तुमको दीखता है वह प्रकाश ही तो है। इसलिये कह सकते हैं कि तुमको वही प्रकाश दीखता है जो सूर्य से चन्द्रमा पर पड़ता है। चन्द्रमा पर सूर्य की रोशनी नहीं पड़े तो वह नहीं दीखेगा। वह कौन-सी चीज़ है जो सूर्य से चलकर चन्द्रमा पर पड़ी और तुमको भी दीखी ? वह अग्नि है। रोशनी अग्नि ही तो है। सोम और सूर्य दोनों को मिलाने वाली चीज़ अग्नि

है। चन्द्र और सूर्य का सम्बन्ध अग्नि से (प्रकाश से) है। जब इस संघट्ट की दृष्टि लोगे तो क्या दीखेगा ? उनके अन्दर अनन्य दृष्टि प्रकट होगी। अनन्य का मतलब होता है कि अन्य नहीं है। ये तीनों अलग-अलग दीखने पर भी भिन्न नहीं हैं।

यह दृष्टि जहाँ करोगे वही हृदय है। हृदय वह हुआ जहाँ तीनों का भेद गलकर अभेद रह जाता है। यही अनन्य ध्यान है। जैसे सोमसूर्याग्नि संघट्ट है, वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी है। ये तीनों अन्य नहीं हैं। वह एक अखण्ड परमात्मा ही ज्ञाता-रूप में, ज्ञेयरूप में और ज्ञानरूप में प्रतीत हो रहा है। जब इस प्रतीति को पकड़ोगे तो झट अन्य दृष्टि बन जायेगी, क्योंकि इस दृष्टि को स्थिर करने के लिये बड़े प्रयास की ज़रूरत है। नियम क्या होता है ? जिसका जो स्वभाव पड़ जाता है, जब वह जीवभाव को छोड़ेगा अर्थात् मरेगा, तब ही उसका वह स्वभाव जायेगा। भेद-दृष्टि अलग-अलग मानने की जो दृष्टि है, यह स्वभाव पड़ गया है। भेद-दर्शन हमारा स्वभाव हो गया है। अतिदीर्घ काल से संस्कार पड़ते-पड़ते वे संस्कार इतने दृढबद्धमूल हो गये हैं कि किसी तरह अभेद-दृष्टि यदि लाते भी हैं तो देखते ही देखते झट फिर भेद-दृष्टि खड़ी हो जाती है। भेददृष्टि स्वाभाविक हो गई है। धीरे-धीरे अभेद-दृष्टि को बनाना पड़ेगा। इसके लिये अपने जीवभाव को छोड़ने को तैयार होना पड़ेगा। जब तक अपने जीवभाव को पकड़े रहोगे, तब तक अभेद-दृष्टि नहीं बनेगी। 'मैं कौन हूँ, किसका हूँ, कैसा हूँ' इत्यादि जितने जीवगत धर्म हैं वे ही हमें अभेद समझने में रुकावट डालते हैं। वस्तुतः अभेद हमारा स्वभाव है। वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं, अन्य-अन्य नहीं हैं, एक

है, लेकिन अन्यता का पड़ा हुआ स्वभाव हमें बार-बार उसे अन्य देखने में प्रवृत्ति कराता है। यह स्वभाव से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचार की दृष्टि से समझना सरल होने पर भी स्वभाव की दृष्टि से नहीं हटता।

एक कथा आती है। एक बार भगवान् श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीम इत्यादि सब बैठे हुए आपस में वार्तालाप कर रहे थे। कुछ धर्मचर्चा हो रही थी जिसमें भगवान् युधिष्ठिर से कहने लगे कि श्रेय के कार्य में बड़े विघ्न आते हैं 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'। कोई अच्छा काम करो तो उसके बीच में बड़ी रुकावटें आती हैं। यह भगवान् द्वापर युग की बात कर रहे थे, आज की कथा नहीं समझना, क्योंकि लोगों को कई बार जँचता है कि आजकल का ज़माना बड़ा खराब है, अच्छा काम लोग नहीं करने देते। लेकिन ऐसी बात नहीं है, यह समस्या आज ही नहीं, हमेशा से रही है। यह बात करते हुए भगवान् ने एक श्लोक कहा

'विद्यायां धन्विनां कोटिः तदर्द्धं हरिमन्दिरे।
तदर्द्धं जाह्नवी तीरे तदर्द्धं दक्षिणे करे।।'

भगवान् ने बताया कि भले काम में कितने विघ्न आते हैं। सबसे पहला विघ्न आता है परमात्मा के ज्ञान में । परमात्मा को जानने जाओ तो जहाँ परमात्माका विषय चल रहा होता है, वहाँ एक करोड़ फौज खड़ी रहती है। वे हाथ में धनुष बाण लिये हुए घूमते रहते हैं, अन्दर नहीं घुसने देते। परमात्मा के साथ यदि एक होने जाओ तो पहले एक करोड़ योद्धाओं से झगड़ा करो, तब अन्दर प्रवेश हो सकता है, नहीं तो नहीं हो सकता। 'तदर्द्धं हरिमन्दिरे' अगर ईश्वर का दर्शन करने के लिये मन्दिर में जाओ तो यहाँ

जीव-ईश्वर की एकता तो नहीं है, लेकिन बाकी सारे जगत् से दृष्टि हटाकर ईश्वर में यदि दृष्टि करने जाओ तो करोड़ के आधे अर्थात् पचास लाख धन्वी खड़े रहते हैं जो अन्दर नहीं जाने देते। पहले इन पचास लाख से लड़ाई करो तब अन्दर जाने का मौका मिले। 'तदर्द्धं जाह्नवी-तीरे' उससे भी आधे अर्थात् पचीस लाख गंगा जी के किनारे घूमते रहते हैं और गंगा जी में नहाने नहीं देते ! पचीस लाख से युद्ध करो तब गंगा में गोता लगे, नहीं तो नहीं लगता। 'तदर्द्धं दक्षिणे करे' पचीस के आधे साढ़े बारह लाख दायें हाथ में खड़े रहते हैं जो दान नहीं करने देते। दान की इच्छा करते रहो, लेकिन पहले साढ़े बारह लाख से लड़ाई करो तब हाथ से कुछ निकले। ये किला बाँध कर बैठे रहते हैं।

भगवान् युधिष्ठिर से कह रहे थे, बाकी सब भी बैठे थे। भीम बेचारा सीधा-सादा आदमी, भगवान् की यह बात सुनकर ज़ोर से अट्टहास करने लगा। कहने लगा कि 'व्यास जी आदि धर्मशास्त्रकार भाँग का घोटा लगाकर पी गये होंगे तब ऐसी बात लिखी होगी।' भगवान् ने कहा, 'ऐसी बात नहीं है, प्रामाणिक वचन है, ऋषियों के कहे हुए वचन हैं।' भीम ने कहा, 'आप भी कहाँ के गपोड़े के चक्कर में फँस रहे हो। मैं भी इतने साल का हो गया। इतने सालों में मैंने भी न जाने कितना सत्संग किया, कितने मन्दिरों के दर्शन किये और सैकड़ों बार गंगा में स्नान किया, लेकिन मुझे तो कहीं एक भी नहीं दीखा। इतने करोड़ों रूप वाले होते तो कहीं तो दीखते।' भगवान् ने कहा, 'शास्त्रीय वचन है, मान ले।' युधिष्ठिर ने भी कहा, 'मान ले।' भीम ने कहा, 'महाराज! ऊपर से हाँ-हाँ कर लूँ, अन्दर से न-न करूँ ? आप तो जानते

हैं कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो अन्दर बाहर से एक-जैसा आदमी हूँ। पहले मुझे दिखाओ तब मान लूँगा, नहीं तो कैसे मानूँ?' भगवान् ने कहा 'यहाँ पास में कोई देवालय भी नहीं है और ब्रह्म-विद्या का तो विषय ही कठिन है; 'सुनत कठिन समझत कठिन' उसका सुनना और समझना बड़ा कठिन है। लेकिन गंगा जी पास ही बह रही हैं। वहाँ जाकर देख, कहीं झाड़ी में धनुर्धारी छिपे बैठे रहते होंगे। तू लम्बा-चौड़ा और तगड़ा आदमी है, तेरी गदा को देखकर छिप जाते होंगे। दूसरे साधारण आदमी को तंग करते होंगे। गुण्डे भी देखते हैं कि सामने पहलवान आ रहा है तो 'जय राम जी की' कहकर एक तरफ हो जाते हैं और कोई सेठ तोंद लिये आता है तो जबरन गर्दन दबा कर पैसा छीन लेते हैं। ऐसे ही तुझे देखकर वे डर कर दब जाते होंगे।' भीम ने कहा, 'अभी जाकर देखता हूँ।' भगवान् ने कहा, 'ज़रूर देख, आज ज़रूर मिलेंगे।'

भीम सीधा-सादा था और कपट-कुटिलता उसके हृदय में नहीं थी। चार-पाँच घण्टे में मील दो मील तक एक-एक झाड़ी और बालू तक को ऊपर-नीचे करके देख लिया, हर टीले के पीछे और अन्दर जाकर देख लिया, कहीं कुछ नहीं मिला। थका-माँदा बारह बजे पसीने से लथपथ हुआ आया, पूछा 'कहाँ हैं भगवान्?' कहा, 'अन्दर हैं।' अन्दर जाकर कहने लगा, 'भगवन् ! मैंने पहले ही कहा था, फालतू इतनी मेहनत कराई और भोजन भी नहीं हुआ।' भीम वृकोदर था ही। कहा, 'वहाँ एक भी योद्धा नहीं मिला। ऐसे ही मेरी बात मान लेते। यह सब गप्प ही है।' भगवान् ने कहा, 'यह तो ठीक है लेकिन एक बात बता कि तू चार घण्टे गंगा किनारे

रहा, बड़ी मेहनत भी की, क्या वहाँ स्नान किया, या पानी भी पिया ?' कहने लगा, 'वहाँ कहाँ फुर्सत थी, मैं तो उनको ढूँढने के चक्कर में लगा हुआ था। और सच्ची बात तो यह है कि यह तो मुझे याद भी नहीं आया, नहीं तो नहा लेता।' श्रीकृष्ण हँसकर कहने लगे कि 'पचीस लाख ने तुझे मार दिया ! अरे भले आदमी! वे योद्धा धनुष लिये हुए *बाहर* नहीं घूमते, अन्दर ही घूमते हैं।'

संसार के प्रतिदिन के व्यवहारों के संस्कार और वासनायें बनी हुई अनेक प्रकार से हृदय में भ्रमण करते हुए इन कर्मों से मनुष्य को रोक देती हैं। भगवान् ने उसे समझाया। 'तेरे हृदय में यह चिन्ता व्याप्त हो रही थी कि यहाँ धन्वी लोग हैं या नहीं, पता लगाना है। एक काम सिर पर आ गया, उसी एक काम के चक्कर में तू चार घण्टे गंगा किनारे रहा लेकिन स्नान करने में असमर्थ रहा।' काशी में उत्तरवाहिनी गंगा बड़े आनंद से बहती रहती है और काशी में रहने वाले अनेक लोग सालों उस गंगा में स्नान नहीं कर पाते। आज यह काम है, कल वह काम है, परसों तीसरा काम है, फिर थोड़े दिन में सर्दी हो गई, जुकाम हो गया, पेट खराब हो गया। जब तक उसकी पकड़ से निकले कि डाक्टर ने मना कर दिया। फिर पानी बरसने लग गया, धूप हो गई। महीनों बीत जाते हैं लेकिन स्नान नहीं होता, क्योंकि अन्दर संस्कार बैठे हैं जो सब बाधा देते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य जब दान देने को हाथ उठाता है तब अनेक संदेह घेर लेते हैं। जिस पंडित को दे रहे हैं वह कैसा है ? पंडित को देने में फ़ायदा होता है या नहीं होता है ? पैसा देने से ज़्यादा फायदा होगा या कपड़ा देने से ज़्यादा फायदा होगा ? अमावस

के दिन देने से ज़्यादा फायदा है या पूर्णिमा के दिन देने से ज़्यादा फायदा होगा ? व्यतीपात है, देना तो चाहता है, लेकिन इन सारे चक्रों से निर्णय निकला कि 'आज तो नहीं ही देना है।' वे सारे धन्वी योद्धा हैं, जो अंतःकरण में बैठे हुए मनुष्य को दान नहीं देने देते। इसी प्रकार परमात्मा के मन्दिर में नहीं जाने देते। कई बार हम यहाँ छत पर घूमते हुए देखते हैं कि बाबू लोग सामने से निकलते हैं। एक क्षण के लिये ऊपर दृष्टि भी डालते हैं कि भगवान् का मन्दिर है, मुँह भी करते हैं, फिर धीरे से अपने जूते की तरफ खुद ही नज़र करते हैं और नीचे से ही चल देते हैं। वहाँ जूते के अन्दर फीते की गाँठ ही उन्हें रोक लेती है ! अगर जूता कीमती हुआ तो और टेढ़ा मामला कि कहीं चोरी न हो जाय। ये सब परमात्मा के दर्शन करने में रुकावटें हैं। दूसरी चीज़ों से चित्त हट नहीं पाता। दक्षिण भारत में हमने एक बड़ी सुन्दर प्रथा देखी। वहाँ बड़ी गर्मी होती है। सड़कों के ऊपर खूब गरम अलकतरा होता है, लेकिन मन्दिर में दर्शन करने के लिये जब बड़े से बड़ा आदमी भी जायेगा तब घर से नंगे पैर जायेगा। उस परम्परा का और जो कुछ भी पवित्रता आदि कारण रहा हो, लेकिन एक तो उससे प्रत्यक्ष लाभ यह देखा कि वहाँ जब लोग मन्दिर में दर्शन करते हैं, तब छाती अन्दर से खुड़क-खुड़क नहीं करती। जो लोग कीमती जूते बाहर खोलकर दर्शन करने जाते हैं उनकी एक नज़र देवता पर और दूसरी नज़र जूते पर रहती है ! इसलिये उस प्रथा का और कोई लाभ हो या न हो, यह तो प्रत्यक्ष लाभ है। इसीलिये वे जल्दी से दर्शन करके भागने की भी नहीं सोचते। दर्शन करके आराम से बैठकर जप करके तब चलते हैं। अपने

यहाँ वह पद्धति न होने से सोचते हैं कि जल्दी दर्शन करो और निकलो, नहीं तो जूतों का क्या बनेगा ! इसी प्रकार और अनेक कारण बन जाते हैं।

जब इन प्रारंभिक साधनों में इतनी कठिनाई है तब परमात्मा के साथ एक होने की कठिनाइयों का तो क्या ठिकाना ! पहले ही मन में आयेगा कि 'इतना बड़ा परमात्मा और इतने छोटे हम! शायद कोई महापुरुष ही परमात्मा से एक हो जाते होंगे। हम कैसे एक होंगे ! ज्ञान मार्ग बड़ा कठिन है, समझ में ही नहीं आयेगा।' यदि सुनने का प्रयत्न भी किया तो मन में जो बैठा हुआ है कि 'एकता का ज्ञान सम्भव नहीं है' वही रुकावट डालता है। यदि किसी क्षण में एकता का भान भी हो गया तो तुरंत उसको दबाता है कि 'यह वह चीज़ नहीं होगी, वह तो कुछ और मामला होगा'। ये सब आत्मज्ञान के विषय में करोड़ों योद्धा बैठे रहते हैं जो इसको सुनने नहीं देते। कई लोग तो बेचारे इतने ज़्यादा पीडित हो जाते हैं कि कहते हैं 'यह तो हमें सुनना ही नहीं चाहिये।' कुछ लोग और आगे चले जाते हैं, कहते हैं 'यह तो नास्तिकों का सिद्धान्त है।' ये ही सारे के सारे यहाँ धन्वी हैं जो मनुष्य को इस मार्ग में आगे नहीं बढ़ने देते। इसीलिये इसे शास्त्रों के अन्दर 'भैरव' कहा है। जैसे भैरव देखने में भयंकर होता है ऐसे ही यह बोध प्रारंभ में भयावह लगता है।

हृदय के अन्दर जब तुम जीव-ईश्वर, सोमसूर्याग्निसंघट्ट को एक करते हो, जब अनन्य-ध्यान करते हो तब क्या होता है ? ध्यान ही अरणि है। बाह्य जगत् और अंतःजगत्, ध्याता-ध्येय, ज्ञाता और ज्ञेय इनका जब तुमने भेद हटाया तब उस भेद के

हटाने से अग्नि उत्पन्न हुई। बड़ी ज़बरदस्त अग्नि उत्पन्न होती है। इस ध्याता और ध्येय की एकता को प्राप्त करने का साधन वायु है। क्योंकि यहाँ ग्राम्य और आरण्य दोनों संस्कृतियों को वायव्य, वायुदेवताक बताया है इसलिये ध्यान करने का साधन वायु को लेना चाहिये। जब श्वास अन्दर आये तो ध्यान करो कि 'यह सूर्य सोम में प्रवेश कर रहा है, ईश्वर मेरे अन्दर प्रवेश कर रहा है।' जिस समय साँस बाहर आये उस समय 'मैं अपने आपको परमेश्वर के अर्पित कर रहा हूँ क्योंकि परमात्मा वायुरूप है।' साँस ही हमारा जीवन, हमारा प्राण है। इसलिये छोड़ते समय भावना हो कि 'मैं अपने आपको परमेश्वर के समर्पित कर रहा हूँ, अपना प्राण मैं उन्हें दे रहा हूँ।' यही ईश्वर से अभेद है। 'पुनः जब साँस अन्दर लेता हूँ तब वह ईश्वर ही मेरे अन्दर प्राण बनकर प्रवेश कर रहा है।' यह हुआ सोम-सूर्याग्नि-संघट्ट का अनन्यबुद्धि से ध्यान। जब इस ध्यानरूप अरणि का संक्षोभ होता है तब इससे बड़ी तीव्र अग्नि पैदा होती है। जैसे-जैसे यह ध्यान करोगे वैसे-वैसे अगर सर्दी का मौसम होगा तो शरीर से पसीना छूटने लग जायेगा। किसी आदमी को डाक्टर यदि कह दे कि 'भले आदमी, आज तीन बजे तुम्हारी हृदयगति बंद हो जायेगी, तुम मर जाओगे' तो माघ का महीने में भी शरीर से पसीना छूटेगा! इस साधना में जो प्रतिक्षण अपना श्वास बाहर निकालते हो तो इस निश्चय के साथ कि 'मेरा जीवभाव समाप्त हो गया, मैं मर गया।' साँस बाहर निकलने के बाद अन्दर वापिस आयेगी इसकी कोई ज़िम्मेवारी नहीं है। प्रतिक्षण मृत्यु है। यदि इसका पूर्ण हृदय के साथ चिंतन करोगे तो हो नहीं सकता कि सर्दी के मौसम में

पसीना न छूट जाये।

थोड़ी देर में 'लोभ' आने लगेगा। इसे हमारे यहाँ अंतःकुम्भक कहते हैं। जब यह ध्यान करोगे तो प्राणवायु अन्दर आकर अधिक देर टिकेगी जिसे मोटी भाषा में कहते हैं कि साँस लम्बी होती है। प्राणायाम करने में प्राणायाम का परिमाण बताया जाता है कि जितनी मात्रा में साँस लो उससे चौगुनी मात्रा में अन्दर रोके रखो। इतना रखने के लिये बड़ी कोशिश करनी पड़ती है। लेकिन यदि इस अभ्यास को करते हो तो अपने आप रुकने लगती है, क्योंकि जब तक प्राण अन्दर है, तब तक जीवन है और साँस बाहर निकलते ही अनुभव करना है कि 'मैं अपने आपको ईश्वर में समर्पित करता हूँ, अर्थात् अपने जीवभाव को समाप्त करता हूँ।' अपने आप अंतःकुम्भक होगा, अपने आप साँस अन्दर रुकने लग जायेगी। जितनी देर साँस रुकी उतनी देर जीव-भाव अधिक हुआ। आनन्द ईश्वर-भाव में अधिक लेना है, इसलिये जितनी देर अंदर टिके, उतनी ही देर साँस बाहर छोड़कर बाहर टिकाओ। वह जो परमेश्वर की शरणागति है, उसके अन्दर तीव्र आनंद का अनुभव करो। साँस अन्दर आती है तब तो आनंद का अनुभव है, क्योंकि जीवभाव में सुख लेने का अभ्यास पड़ा है। साँस बाहर निकाले रखने का अभ्यास नहीं पड़ा है। उस ईश्वर के समर्पण का, उसकी शरणागति का सुख लो तो सही। यह बहिःकुम्भक है।

प्राणायाम करने वाले जानते हैं कि बहिःकुम्भक अंतःकुम्भक से कठिन होता है लेकिन विवेकी के लिये ज़्यादा सरल होता है, क्योंकि अन्दर लेते हुए उसे शरम-सी आती है। श्वास अन्दर लेते

हुए उसे लगता है कि 'मैं परिच्छिन्न हो रहा हूँ, सीमित हो रहा हूँ, मैं उस परब्रह्म परमात्मा की गोद से बिछुड़ कर इस साढे तीन हाथ के खाक के पुतले में आ रहा हूँ' और जब बाहर छोड़ता है तब उसे लगता है कि 'मैं उस परब्रह्म परमात्मा से सर्वथा एक हो रहा हूँ। मेरा जीवभाव समाप्त होकर मुझे ईश्वरभाव की प्राप्ति हो रही है। अब मैं नहीं, वही रह रहा है। मैं भोग्य हो रहा हूँ और वह भोक्ता हो रहा है।' 'वह मुझे ग्रहण कर रहा है'—इसका जो सुख है, वह 'मैं उनको ग्रहण कर रहा हूँ' इससे बहुत अधिक सुख है। लेकिन अब तक अभ्यास *लेने* का पड़ा है, देने का अभ्यास नहीं पड़ा। इसलिये जब तक यह अभ्यास दृढ नहीं होगा तब तक प्रतीति होगी कि 'मैं मर रहा हूँ।' जब यह अभ्यास दृढ होगा तब प्रतीति होगी कि 'मैं ब्रह्म हो रहा हूँ।' मृत्यु का मतलब है देहरूप उपाधि का छूट जाना। यह मृत्यु इसलिये खराब होती है कि एक देह का बंधन छूटा तो दूसरे देह का बंधन आ गया। जिसने परमात्मा से अभेद कर लिया उसे तो किसी देह का बंधन रह नहीं गया है, ज्ञानोत्तर काल में दूसरी देह का बंधन होना नहीं है, इसलिये वहाँ मृत्यु की प्रतीति नहीं है। है तो सभी को ब्रह्म-भाव की प्रतीति लेकिन साधारण आदमी घबराता है क्योंकि उसे उसी में मृत्यु का अनुभव होता है !

इस ध्यानयज्ञ से हृदय के अन्दर महाभैरवाग्नि जल जाती है। जब अन्दर और बाहर अग्नि जल गई तब अन्दर और बाहर एक हो गया। इस अरणि से उत्पन्न अग्नि में समग्र संसार को जलाने की सामर्थ्य है। इसीलिये उसे महाभैरवाग्नि कहा। जहाँ ये दोनों एक होते हैं, वही हृदय नाम का महाकुण्ड है जिसमें यह

भैरवाग्नि जल रही है। जिसमें अग्नि जलेगी, वह हृदय यहाँ यज्ञकुण्ड है। इसके अन्दर जैसे-जैसे यह अधिक जाज्वल्यमान होता जायेगा, वैसे-वैसे इसकी लपट तेज़ होती जायेगी। जैसे-जैसे इसकी लपट तेज़ होती जायेगी, यह अधिक-अधिक स्फुट (स्पष्ट) होता जायेगा। जब यह स्पष्ट होता है तब यह स्फीतशक्ति होती है। यहाँ तक तो इस अग्नि को प्रकट करने के लिये अन्दर की तरफ जा रहे थे। जब उस अग्नि की तेज़ी आई तब लपटरूप में बाहर निकलेगी। इस लपटरूप से बाहर निकलने के अन्दर ही जलाने की शक्ति है।

हम लोगों का अब तक का जितना अद्वैत ज्ञान है, वह कैसा होता है ? लकड़ी की लपट जब नहीं निकलती तब भोजन बनाने वाला और रोटी दोनों दुःखी होते हैं ! बनाने वाला बैठकर आँखें रगड़ता है। लपट नहीं निकल रही है, धुआँ निकल रहा है। वह भूंगली लेकर फूँक मारता है। आज-कल गैस जलाने वालों को उसका ख्याल नहीं आयेगा, हमारे भण्डार में जाकर देखो तो पता लगेगा। जब तक लपट नहीं निकलती तब तक बनाने वाले की आँख का पानी निकल रहा है! और फुलका भी नहीं फूलता, वैसे का वैसा चिपका रहता है। वह रोटी नौकरों के काम आती है और जब आग तेज़ हो जाती है तब उसका फुलका घर के आदमियों के काम आता है। इसी प्रकार यह जो महाभैरव हव्यभुक् की स्थिति है, इसके पहले भी हमारे अंदर कुछ ज्ञान, कुछ शक्तियाँ थीं लेकिन उनके अंदर कोई तेज़ी न होने के कारण हम भी और विषय भी दोनों रोते रहते थे। रसगुल्ला भी सोचता था कि 'किसके मुँह में पड़ा जिसे स्वाद लेना भी नहीं आता।' रसगुल्ला भी अपने

को तब कृतार्थ मानता है जब खाने वाला उसे पूरी तरह से खाये, उसके पूरे रस को ग्रहण कर सके। वस्त्र भी अपने को तभी धन्य मानता है, जब ऐसे शरीर पर रखा जाये जो उसको धारण कर सके। बढ़िया सुन्दर पाँच सौ रुपये का सूट का कपड़ा लिया, और पाँच सौ रुपये उसकी सिलाई दी और धोकर कसकर निचोड़ दिया, बिना झटकारे ही सुखाकर उस्तरी किये बिना पहन लिया! देखने वाला कहता है कि 'सूट भी रो रहा है कि किसके पल्ले पड़ गया।' ऐसे ही रसगुल्ला भी तब अपने को धन्य अनुभव करे जब उसको खाने वाला स्वाद जानता हो। वस्त्र अपने को तब धन्य समझे जब उसे पता लगे कि पहनने वाला समझदार है। अगर किसी गंवार को हीरा मिल जाता है तो वह उसे गधे के गले में बाँधकर राजी हो जाता है ! हीरा भी अपने को तब धन्य अनुभव करता है जब बढ़िया प्लेटिनम की अंगूठी में जड़ा जाये। विषय तब अपने को धन्य समझते हैं जब समझने वाला, आनंद लेने वाला आनंद ले। ऐसे ही फुलका रो रहा है, वह भी नहीं फूल पाता। सोचता है कि 'किस आग के पल्ले पड़ गया' और भोक्ता भी रोता है कि 'न जाने कितने विषयों को लेता रहता हूँ लेकिन रात-दिन दुःख बना रहता है।' दोनों में से किसी को सुख नहीं है। अग्नि पूर्ण तेज़ हो जाये तब उस शक्ति के द्वारा लपट बाहर निकलती है। अब उसकी शक्ति स्फीत (स्फुट) है।

उस भैरव-तेज से जब निकलते हैं तब उसका आनंद लेने का तरीका बताते हैं कि वहाँ एक हो जाते हैं। जैसे लपट ऊपर हो और फुलता उसमें हो तो दोनों एक होते हैं। उसी प्रकार यहाँ मातृ (प्रमाता या जानने वाला), प्रमाण (जिस इन्द्रिय के द्वारा जान

रहे हो) और मेय (जिसको जान रहे हो) इन तीनों का हृदयरूप धाम में अभेद हो गया। जिस प्रकार लपट फुलके को चारों तरफ से घेरकर उससे अभिन्न हो गई तो वह फूल गया उसी प्रकार यहाँ ज्ञाता ज्ञेय (प्रमाता प्रमेय) के साथ, भोक्ता भोग्य के साथ, समष्टि अंतःकरण और इन्द्रिय के द्वारा घेरकर उस विषय के साथ एक हो गया। जब यह अभेदप्राप्ति हो गई तब न अंतःकरणरूप प्रमाता और न तमोगुण का विकाररूप विषय अलग रहे, बल्कि दोनों में रहने वाला चेतन अग्नि का संघट्ट प्रधान है; उन दोनों की उपाधि मन भी प्रधान नहीं है और वह विषय भी प्रधान नहीं रहे। दोनों के अन्दर होने वाली चेतनता और आनंद ही प्रधान हो जाता है। भोग्य और भोक्ता भाव आपस में अलग न होकर केवल एक आनंदमात्र रह जाते हैं।

यहाँ धाम शब्द का प्रयोग क्यों किया ? धाम मायने जहाँ हमेशा रहो वह पता, ठिकाना। संस्कृत में इसी को धाम कहते हैं। पुराने लोग कहा करते थे कि 'अपना नाम-धाम बताइये'। इन तीनों का पता एक ही हो जाता है। यह जिस स्थल में है, वहाँ भेद नहीं रह जाता, एक रहता है। अब तक हमें लग रहा है कि विषय वहाँ है और हम यहाँ हैं। तब उसकी अनुभूति यह नहीं कि 'विषय वहाँ और मैं यहाँ हूँ' वरन् उसकी प्रतीति यह है कि 'मैं विषय में चला गया।' सांख्यवादी की प्रतीति है कि अंतःकरण आँख से निकलकर विषयदेश में चला गया। वह सोचता है कि मैं यहाँ से निकल कर वहाँ चला गया। आजकल के आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि विषय में से किरणें निकलकर आँख में (रैटिना में) आ गई। वेदांती कहता है कि हमें इन झगड़ों

का पता नहीं है। मैं विषय-देश में पहुँचा या विषय मेरे में पहुँचा, यह मुझे पता नहीं। मुझे तो इतना पता है कि हम दो नहीं रह गये, एक ही रह गये। वेदांत विज्ञान की पोथी नहीं है जो इस झगड़े में पड़े ! हर हालत में विषय और प्रमाता (जानने वाला) अंतःकरण दोनों की उपाधियाँ समाप्त होकर चेतन में पर्यवसित हो गईं। केवल आनंद चेतन ही रह गया। जब तक यह भान है कि प्रमाण और प्रमेय हैं, तब तक हव्यभुक् नहीं, वह अनुभूति नहीं है। जब महाभैरव की अनुभूति होती है उस समय केवल एक अखण्ड आनंद ही रह जाता है।

आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं कि इसमें परिच्छिन्नभाव का तिरस्कार-मात्र होता है, वह भेद नष्ट हो जाता है। जब सोम, सूर्य और अग्नि इन तीनों में इस प्रकार एकता हो गई तब प्रत्येक ज्ञान में सृष्टि, स्थिति और संहार प्रतीत होने लगते हैं। प्रत्येक क्षण में मेरे अन्दर से निकली हुई अग्नि ने ही विषयरूप धारण करके सृष्टि कर ली और पुनः उस विषय को अपने अंदर एक कर लिया, लीन कर दिया। यह प्रतिक्षण पूर्णता का अनुभव है। यही बताया 'वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।' यह अब सर्वहुत हो गया। इसका नतीजा होगा कि अब ग्राम्य संस्कृति नहीं रह जायेगी। अब संसार का प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक चीज़ अपने से अभिन्न हो जायेगी। इसके पहले तुम दूसरे के सापेक्ष थे। दूसरे की मदद करते थे। अब कभी भी किसी की मदद नहीं करोगे, क्योंकि अब तुम रोगी का रोग दूर नहीं करोगे, बल्कि मुझ से अभिन्न जो रोग है, वह मैं अपना ही रोग दूर कर रहा हूँ—यह अनुभूति होगी।

पाश्चात्य देशों में अनेक विचारक हुए हैं जिनमें से फ्रांस के

काम्टे मानववाद (Humanism) के व्यवस्थापक थे। उन्होंने एक नगर बसाया था जिसमें ऐसा नियम बनाया था कि उसमें सब एक-दूसरे के दुःख से दुःखी होकर जीवन व्यतीत करें। लेकिन उनके मरने के बाद कुछ नहीं रहा। इसी प्रकार संसार में अनेक बार ऐसे प्रयत्न हुए, लेकिन सफल नहीं हो पाते। उसका मूल कारण यह है कि वेदांत की अनुभूति के आधार पर इन्हें नहीं बनाया जाता। जब तक दूसरे को *दूसरा* देखोगे, तब तक कितना ही प्रयत्न करो, स्वार्थ से निकल नहीं सकते, साक्षात् या परम्परा से स्वार्थ में आगे ही जाओगे। जब इस सारे ब्रह्माण्ड को स्व के साथ एक कर लोगे तब दूसरा कोई नहीं रह जायेगा कि तुम्हारे मन में स्वार्थ उत्पन्न हो। एकता की अनुभूति होगी। प्रयत्न सभी के ठीक हैं, लेकिन प्रयत्न की अपेक्षा जो साधना चाहिये वह नहीं होती इसीलिये समय-समय पर स्वार्थ ही आगे आ जाता है। जिस समय लड़का बीमार होता है तो थोड़े समय के लिये माँ उसके साथ एक हो जाती है, रात-दिन एक करके उसे ठीक कर देती है। लेकिन साधना न होने के कारण जहाँ लड़का ठीक हुआ और उसने कोई उन्नीस-बीस-इक्कीस बात कही तो फिर माँ को दुःख हो जाता है। इसी प्रकार जनसामान्य को कष्ट में देखकर राजा के मन में आता है कि 'प्रजा का कष्ट दूर कर दूँ।' कुछ देर तक तादात्म्यानुभूति हो जाती है और लग जाता है लेकिन पीछे साधना न होने के कारण फिर थोड़ी देर में अलग हो जाते हैं। जब परमात्मा के साथ इस प्रकार वास्तविक एकता का अनुभव कर लेते हैं तब उसके अन्दर कभी भी कष्ट नहीं हो सकता। उसके साथ नित्य एकता हो जाती है। यह महाभैरवता की प्राप्ति की साधना बताई जो इस अनुभूति की प्राप्ति के लिये है।

प्रवचन-३०

विराट् पुरुष के रूप में अवतरित होने के बाद उस यज्ञरूप का प्रतिपादन करने वाले ज्ञान को लोगों के हृदय में अवतरित करना ज़रूरी है। इस ज्ञान के हृदय में अवतार का नाम वेद है। अतः कहते हैं

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत।।'

उसी सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋचाएँ, साम, छंद और यजु पैदा हुए। आचार्य बादरायण ने सूत्र ही बनाया 'शास्त्रयोनित्वात्'। 'जन्माद्यस्य यतः' से सारे संसार के जन्मादि का कारण परमात्मा को कहा तो किसी के मन में आया कि अन्य सब बनाया होगा, वेद तो परमात्मा से स्वतन्त्र ही होगा ? वेद को अपौरुषेय कहते हैं तब यही लगता है कि वह ईश्वरनिर्मित नहीं अतः वेदातिरिक्त संसार ब्रह्मकार्य होगा ? यदि ऐसा हुआ तो द्वैत निश्चित है क्योंकि एक ब्रह्म और दूसरा वेद ! मान भी लें कि बाकी संसार ब्रह्मकार्य होने से ब्रह्म को सद्वितीय नहीं बनाता फिर भी ब्रह्मकार्य न होने से वेद से तो वह सद्वितीय रह जायेगा। इस शंका के समाधानार्थ आचार्य ने सूत्र बनाया कि वही ब्रह्म शास्त्र अर्थात् वेद का भी कारण है। धर्म-ब्रह्म के बारे में सभी कुछ बताने वाला जो ऋगादिरूप वेद वह सर्वज्ञ परब्रह्म की अपेक्षा किसी और से उत्पन्न हो भी नहीं सकता। जैसे स्वर्ण से बने गहने भी चमकदार ही होते हैं ऐसे ही सर्वज्ञ ब्रह्म की ही ज्ञानशक्ति वेदों में प्रकट होकर

पुरुषार्थज्ञापन कर देती है। स्वयं वेद ने कहा है कि जैसे लोग अनायास साँस लेते-छोड़ते हैं ऐसे भगवान् ने अनायास वेद प्रकट कर दिये।

तब इन्हें अपौरुषेय कैसे कहते हैं ? जिसकी प्रमाणता किसी अनित्य ज्ञान पर निर्भर हो उस शब्द को पौरुषेय माना जाता है। जैसे तुम कहो 'कमरे में देवदत्त है' तो यह वाक्य तभी सही होगा अगर तुम्हें किसी तरह यह पता चला है कि वहाँ देवदत्त है, चाहे तुमने देखा हो या उसकी आवाज़ सुनी हो या किसी और ने तुम्हें बताया हो; हर हालत में जो तुम्हें ज्ञान हुआ वह अगर ठीक है तब तुम्हारा वाक्य प्रमाण और तुम्हारा ही ज्ञान अगर ग़लत है तो वाक्य भी अप्रमाण। ऐसे वाक्य पौरुषेय होते हैं। वेद ऐसा नहीं अतः अपौरुषेय है। जीव तो उसका उत्पादक नहीं और ईश्वर के किसी अनित्यज्ञान पर वह निर्भर नहीं क्योंकि ईश्वर के सनातन ज्ञान का ही वेद में प्राकट्य है। इसीलिये श्रुति ने कहा कि बिना किसी प्रयत्न के भगवान् ने वेद बना दिया। वेद की विशेषता क्या? आचार्य श्रीसुरेश्वर कहते हैं—

'पर एवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं प्रतिपाद्य नरं श्रुतिः।
कार्यकारणवत् पीत्वा स्वात्मनैवावतिष्ठते।।'

अन्य ज्ञानोपायों से, अन्य शास्त्रों से भी वेद का यह वैशिष्ट्य है कि यह विवेक से शोधित किये नर को, अधिकारी त्वम्पदार्थ को अद्वय ब्रह्म प्रतिपादित करता है और यों जीव-ईश्वर का मुख्य सामानाधिकरण्य करके बाकी सारे जगत् का बाधसामानाधिकरण्य से द्वैत मिटा देता है जिससे एक अकेला व्यापक प्रत्यक् तत्त्व ही रहता है। इसीलिये सुरेश्वराचार्य ने कहा 'सर्वथा यदनेनोक्तं

तच्छ्रद्धेयं बुभूषता' जो श्रेय चाहे उसे वेद पर अवश्य श्रद्धा करनी पड़ेगी।

इतना महत्त्वपूर्ण वेद उस यज्ञपुरुष से प्रकट हुआ। वेद के प्रसिद्ध दो भाग—मंत्र और ब्राह्मण हैं। वेदवाक्य तीन ढंग के—गद्य, पद्य और गीत हैं। गद्य को यजु, पद्य को ऋक् और गीत को साम कहते हैं। विभिन्न ऋत्विजों के उपयोग से वेद चार तरह बँटा है—'होता' के कामका ऋग्वेद, 'अध्वर्यु' के कामका यजुर्वेद, 'उद्गाता' के कामका सामवेद और 'ब्रह्मा' के काम का अथर्ववेद। यहाँ 'ऋचः, सामानि, यजुः' कहा इससे अथर्ववेद भी समझ लेना क्योंकि उसमें भी पद्य और गद्य ही है। वेद के गायत्री आदि छंद भी परमात्मासे उत्पन्न हुए। इससे इशारा है कि वेदार्थपरंपरा भी यज्ञपुरुष ने ही प्रवर्तित की है। न केवल वेदराशि प्रकट की वरन् उसका शब्दार्थ और तात्पर्यार्थ भी परमेश्वर ने स्पष्ट किया क्योंकि वेद का अतिगहन अभिप्राय जीव अपनी बुद्धि से समझ सके यह संभव ही नहीं। परमात्मा ने समझा दिया तब भी हमें इतनी मुश्किल पड़ती है तो खुद ही समझ सकें इसकी क्या संभावना !

वेद को उत्पन्न करने के बाद वेद में कहे हुए को व्यवहार में लाने के साधन बनाना ज़रूरी। भोक्ता जगत् की उत्पत्ति अब तक प्रधान रूप से बताई। इन्द्रियों की उत्पत्ति, पंचमहाभूतों और शरीरों की उत्पत्ति हो चुकी, सारा भोक्तृ-जगत् बन चुका, पंचमहाभूतों में रहने वाले रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श—यह भोग्यजात भी उत्पन्न तो हुआ, लेकिन भोग्य जगत् की स्फुटता के लिये, भली प्रकार से भोग्य पदार्थों का निर्माण करने के लिये, पहले उन पदार्थों के उपयोग का ज्ञान देना आवश्यक है। यहाँ

जो श्रुति ने क्रम बताया यह क्रम बहुत ज़रूरी है। पहले श्रुति ने बताया कि प्रजापति ने मनुष्यों के सामने यज्ञरूप से अपने को प्रकट किया। ज्ञान को हृदय में अवतरित करके अपने को यज्ञ रूप में प्रकट किया। अब उसके बाद श्रुति बताती है कि आगे भोग्य पदार्थों को उत्पन्न किया। यह क्रम यहाँ ठीक से समझना। पहले पदार्थों से व्यवहार का ज्ञान दिया, उसके बाद पदार्थ दिये।

हम लोग प्रायः व्यवहार में क्या करते हैं ? बच्चों को पदार्थ पहले देते हैं और उनका उपयोग उन्हें बाद में बताते हैं। बच्चों को हमारी सारी शिक्षा उलटी होती है। जैसे व्यष्टिरूप से घरों में वैसे ही समष्टिरूप से राष्ट्र में होता है। पदार्थों के बारे में, पदार्थों की उत्पत्ति के विषय में जितने विचार हैं, उतने उसके उपयोग के बारे में कोई विचार नहीं। इसका मूल कारण है मन के ऊपर बुद्धि का शासन न होना। हम क्यों अपने बच्चों को उपयोग बताने में डरते हैं ? हम बच्चों को अपने पैसों का खर्चा देते हैं। आज से पचास साल पहले तक बहुत से घरों में यह नियम था, कई बड़ी उम्र वालों को पता होगा, कि घर में चाहे जितने पैसे हों, लेकिन बच्चे को जो चीज़ चाहिये, वह माता-पिता से कहे, मँगवा दी जाती थी। गरीब आदमी तो धन की कमी के कारण नहीं ला सकता था लेकिन जिसके पास साधन होते थे, वे जो भी चीज़ बच्चों को आवश्यक होती थी, मँगवा देते थे। लेकिन बच्चों के *हाथ* में कभी पैसा नाम वाला रोग नहीं देते थे। इसका क्या कारण था? बच्चों को चीज़ की आवश्यकता है, वे कहते हैं तब तो माता-पिता उसके उपयोग को समझ सकते हैं। यदि बच्चों को पैसा दे दिया तो तुमको कुछ पता नहीं कि आगे इसका सदुपयोग

होगा या दुरुपयोग होगा। बच्चा यदि चवन्नी भी माँगता था तो नहीं मिलती थी, पाँच रुपये की चीज़ माँगे तो मिल जाती थी। खाली बच्चों का विषय नहीं है, घरवाली का भी यही हाल था! कोई भी चीज़ की आवश्यकता हो, पति से कहे तो झट आ जाती थी पर रुपये का कोई सम्बन्ध नहीं। यह एक मूलभूत दृष्टि थी कि उपयोग समझना चाहिये। नहीं तो उपयोग 'सत्' या 'दुर्' किधर जायेगा, कुछ पता नहीं। आज के बच्चे और घरवाले क्या कहते हैं ? 'मुझे चीज़ नहीं, एक रुपया जेबखर्च दे दो।' चीज़ दो रुपये की भी मँगा दो तो उसे संतोष नहीं ! बच्चा ऐसा क्यों चाहता है ? सच्ची बात यह है कि माता-पिता का हृदय देखो कि वे क्या चाहते हैं। 'बेटा ! रुपया ले और छुट्टी कर, मुझ से रोज़-रोज़ की झिक-झिक नहीं होती, आज यह माँगा, कल वह माँगा; एक रुपया बँधा दे दिया, छुट्टी हुई।' माता-पिता के हृदय में भावना है कि 'बेटा कुछ भी करे, मेरी जान छोड़े।' इसी प्रकार घर वाली को भी कह दिया जाता है कि 'तुमको दो हज़ार रुपये बँधे दे दूँगा, आगे घर की झिक-झिक तुम्हारी है।' घर वाली को भी यह पसंद आता है। यदि कहो कि 'जो भी चीज़ चाहिये, दुकान से मँगा लिया करो' तो कहती है कि यह 'रोज़-रोज़ का झंझट अच्छा नहीं लगता, पैसा बाँध दो।' आदमी भी सोचता है कि एकमुश्त दे दो तो अपनी छुट्टी हुई।

इसका नतीजा कहाँ तक पहुँच गया है ? एक हमारे बड़े प्रिय सज्जन हैं, बड़े व्यापारी हैं। उनके यहाँ ढाई हज़ार रुपये महीने के मुनीम हैं। सेठ जी का लड़का विलायत से व्यापार का ही विषय पढ़ कर आया है। वहाँ से आकर उसने किसी शर्बत की एक

दुकान में अठारह सौ रुपये महीने की नौकरी कर ली ! हमने पूछा 'नौकरी क्यों कर ली ?' तो कहता है कि 'घर में व्यापार बहुत है, कुछ पता नहीं लगता कि आज कितनी आमदनी है, कल नहीं है। यहाँ बँधी हुई आमदनी तो है।' आज यह दृष्टि क्यों बनती है ? क्योंकि यही दृष्टि बचपन से है कि 'एक रुपया बँधा खर्चा मिल गया।' इसके पीछे दृष्टि पदार्थों के उपयोग, 'सद्' या 'दुर्' की नहीं रही। ठीक इसी प्रकार हमने कई बार लोगों से कहा कि बड़ी-बड़ी मिलों के अन्दर मज़दूरों की आवश्यकता की चीज़ों के दाम निश्चित कर दो, महंगाई के लिये तनख्वाह न बढ़ाओ। आज के भाव पर चीज़ों के दाम निश्चित कर दो कि 'इस भाव में तुम्हें रोटी, कपड़ा आदि रोज़ की आवश्यकता की सब चीज़ें मिलेंगी, बाज़ार भाव चाहे ऊपर हो जाये, चाहे नीचे हो जाये। तुमको इतनी चीज़ इस भाव पर मिलेगी। आगे तनख्वाह नहीं बढ़ाई जायेगी। फिर नहीं कह सकते कि महंगाई हो गई।' एक-दो लोगों ने मान भी लिया लेकिन मज़दूर सब चिल्ला पड़े कि 'हमें यह नहीं चाहिये, हमें तो रुपया चाहिये !' इसका मतलब यह है कि उनको पदार्थों का सदुपयोग नहीं चाहिये, उनको तो दुरुपयोग करने के लिये पैसा चाहिये। माता-पिता से लेकर राज्य तक, सब के सब जान छुड़ाना चाहते हैं।

वैदिक और परमेश्वर का भक्त कभी जान छुड़ाना नहीं चाहता, वह चाहता है कि मैं यदि कोई कार्य करूँ तो पूरा दिल और जान लगाकर करूँ। यदि विवाह करके बच्चे पैदा किये हैं तो जान लगाकर उनको ठीक करूँगा, नहीं तो नहीं पैदा करूँगा। इसलिये उनकी दृष्टि हमेशा उपयोग-प्रधान होती है कि पहले

उपयोग सिखाओ। इसी प्रकार चाहे मज़दूर हो, चाहे जो हो, उसे सिखाना है कि किसी चीज़ का अच्छे से अच्छा उपयोग कैसे करेंगे। यह पहले बताओ और उसके बाद उसको पदार्थ दो तो कभी हो नहीं सकता कि वह पदार्थ का दुरुपयोग करे; क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः।' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर तैत्तिरीय भाष्य में लिखते हैं कि बुद्धि का धर्म है कि जो चीज़ सच्ची होगी उसे पकड़ लेगी और जो झूठी होगी उसे छोड़ देगी। बुद्धि किसी चीज़ में आग्रह वाली नहीं होती है। हज़ार साल से चाहे तुमको रस्सी में साँप दीखता हो लेकिन जिस क्षण प्रकाश हुआ उस क्षण वहाँ रस्सी है, यह ज्ञान हुआ तो क्या धीरे-धीरे निश्चय होगा कि साँप नहीं है ? उसी क्षण हो जायेगा। बुद्धि का यह धर्म है। यहाँ जो प्रकार बताया उसमें पहले वस्तु के ज्ञान के द्वारा मनुष्य को उपयोग बताया और फिर उपयुक्त होने वाले पदार्थों का निर्माण किया।

पुरुषसूक्त तो समाज-रचना को बताता है। उपयोगप्रधान दृष्टि वैदिक दृष्टि है, भारतीय दृष्टि है, प्राच्य और सनातन दृष्टि है, निवृत्ति-प्रधान लोगों की और ज्ञान-मार्ग की दृष्टि है। यह उपयोगकेन्द्रित दृष्टि है कि पहले प्रत्येक चीज़ के उपयोग का विचार करो। पाश्चात्य दृष्टि, अभारतीय दृष्टि, अवैदिक दृष्टि, विदेशों की संस्कृति से आने वाली दृष्टि, पदार्थप्रधान दृष्टि है, उपयोगप्रधान नहीं है। एक व्यक्ति के पास पचास कपड़े हैं लेकिन यदि उसको ठीक ढंग से उपयोग करना नहीं आता, पहनना नहीं आता तो वह पचास कपड़ों वाला होने पर भी फूहड़ लगेगा। किसी के पास दो ही वस्त्र हैं, लेकिन उसको उपयोग करना आता है

तो वह सभ्य लगेगा। यह प्रतिदिन के व्यवहार की बात है। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत बताते हैं : हर संस्कृति का एक प्रतीक होता है। जैसे हम कहा करते हैं कि लोभ की संस्कृति का प्रतीक 'रेफ्रिजरेटर' है। यह प्रतीक है, ऐसा नहीं कि बुरा है ! प्रतीक का मतलब ही संकेत होता है। भारतीय पोशाक साड़ी, धोती और चद्दर है। विदेशी पोशाक कोट, पैण्ट, बैल बाटम आदि हैं। कभी सोचा कि दोनों संस्कृतियों के अंदर इस वेश का क्या फ़र्क है ? विदेशी के वस्त्र-धारण करने में यह पता लगता है कि तुम्हारा दर्ज़ी कितना सभ्य है, किसका पैण्ट अच्छा सिला है। इससे यह पता नहीं लगता कि पहनने वाला आदमी कैसा है। या लड़कियों का बैलबाटम अच्छा सिया गया है तो इससे भी यही पता लगता है कि अच्छे दर्जी के यहाँ गई थी, लेकिन यह खुद कैसी है इसका पता नहीं लगता। भारतीय संस्कृति के अनुसार धोती या साड़ी पहनोगे, उसके पहनने का ढंग ही बतायेगा कि पहनने वाला कैसा है। जो धोती या साड़ी पहनेगा, उसमें उसका व्यक्तित्व खिलेगा। प्रमादी होगा तो धोती दाँये पैर के ऊपर और बाँये पैर के नीचे होगी, चद्दर एक तरफ नीचे जा रही है तो दूसरी तरफ खुली पड़ी है। प्रमादी के साड़ी पहनने के तरीके से भी पता लग जायेगा। यह दोनों वेशभूषाओं का फ़र्क है। इसीलिये हमारे यहाँ वेश एक प्रतीक है कि उपयोग-केन्द्रित हमारी दृष्टि है। पदार्थ-केन्द्रित विदेशी दृष्टि है।

बहुत साल पहले कलकत्ते में 'विशाल भारत बुक डिपो' नाम से पुस्तकों की एक दुकान होती थी। अब तो उसके अधिकारी मर चुके हैं। एक बार उनके यहाँ एक ग्रंथ लेने जाने का मौका पड़ा, विदेश से आने वाला वह ग्रंथ था, इसलिये कम संख्या में

आता था क्योंकि पढ़ने वाले कम होते थे। वहाँ पहुँचने के साथ ही देखा कि एक दूसरा व्यक्ति खड़ा हुआ उसी ग्रंथ को माँग रहा है। दुकानदार ने कहा कि वह ग्रंथ नहीं है। फिर उसने पूछा 'कब आयेगा ?' उन्होंने कहा—'कोई आशा नहीं है।' यह सुनकर हम भी वहाँ से लौट कर चलने लगे। लेकिन हमसे कहा, 'आइये, आप कैसे आये ?' हमने कहा, 'उसी पुस्तक के लिये आये थे जो अभी एक व्यक्ति माँग रहा था, वह तुम्हारे पास नहीं है, इसलिये जा रहे हैं।' कहने लगे, 'आइये, हमारे पास उसकी दो प्रतियाँ हैं' और झट निकाल लाये ! हमें आश्चर्य हुआ; उससे कहा, 'उन्होंने भी इसी किताब को माँगा था ?' उन्होंने कहा, 'बिल्कुल ठीक है, इसी को माँगा था। लेकिन दो ही प्रतियाँ आई हैं, इसलिये उनको देने लायक यह किताब नहीं है।' पूछा, 'ऐसा क्यों ?' कहने लगे, 'वह हमारे यहाँ से बहुत किताबें ले जाते हैं। ये सेठ जी हैं, इनके पास धन की कमी नहीं है। कोई भी अच्छी किताब झट खरीदते हैं। लेकिन इन्होंने बहुत-सी किताबों के पन्ने तक नहीं पलटे ! वैसी की वैसी जाकर पुस्तकागार में रख देते हैं और लोगों को दिखाते हैं कि 'हमारे पास इतनी किताबें हैं।' इसलिये हमने सोचा कि इन्हें पुस्तक देने से क्या फ़ायदा ? पुस्तक पढ़ने के लिये होती है। हमें पता है कि आप इसे पढ़ेंगे, इसलिये आपके लिये ना नहीं है।' जिसका समुचित उपयोग न कर सको वह चीज़ किस काम की ? यदि उसका उपयोग ही नहीं समझा तो चीज़ से क्या लाभ?

यह है उपयोग-केन्द्रित दृष्टि। उस व्यक्ति को उस किताब को बेचने में पैसा दूसरे से ज़्यादा नहीं मिलता है और पहले वाला सेठ रुपया कम नहीं देता है। सम्भावना तो यह है कि यदि सेठ

से चार आने ज़्यादा भी माँग ले तो वह भाव-मोल करने वाला नहीं है और दूसरे से चार आने ज़्यादा माँगते हैं तो संभव है कि कह दे कि 'दूसरी दुकान में देख आयें, ज़्यादा माँगे हैं।' लेकिन उपयोग-केन्द्रित दृष्टि वाले की दृष्टि ही दूसरी होती है। यह है भारतीय संस्कृति। आज कितने दुकानदार ऐसे ईमानदारी से देखने में आयेंगे कि जिसके पास कपड़ा या पुस्तक खरीदने वाला पहुँचा और वह ऊपर से नीचे देखकर कह दे कि हमारे पास नहीं है, क्योंकि व्यक्ति को देख ले कि इसे यही पहनने का सहूर नहीं आया तो इसे बेच कर क्या करेंगे ? हमारी सारी दृष्टि उपयोग-प्रधान थी, उपयोग-केन्द्रित थी, पदार्थ-केन्द्रित नहीं थी। हमारी वेशभूषा हमारी इस उपयोग-केन्द्रित दृष्टि का प्रतीक है। इसको देखकर पता लगता है कि व्यक्ति कैसा है।

हमारे यहाँ घर की औरतों को जब कभी पूजा करनी होती थी तो भीत पर चित्त माँड़ती थीं—साँप बना दिये, तिकोने बना दिये, टीकियाँ लगा दीं। एक बार बड़ा अच्छा अध्ययन करने वाले सज्जन ने हमसे कहा कि 'इन चीज़ों के एक बड़े सुन्दर मानचित्र बनाकर कागज़ या कपड़े पर छपा दिया जाये तो फिर लोगों को यह सब बनाने की तकलीफ न हो, इसे खरीदकर लगा लिया करेंगे। इससे एकरूपता भी हो जायेगी और सुन्दर भी हो जायेंगे, दीवार पर सुन्दर भी नहीं बनते हैं।' हमने कहा, यही तो हमारा प्रतीकों का झगड़ा है। इसके बनाने के ढंग से पता लग जायेगा कि कौन औरत कलात्मक ढंग से बनाने वाली है और तुम्हारे बनाने के ढंग से पता लगेगा कि किस कम्पनी से खरीदी, कितने पैसों की है। एक रुपये वाला निर्णय सागर प्रेस ने निकाला और दूसरा

चार आने वाला भारतीय ज्ञानपीठ वालों का है। हमारे यहाँ शिव-पूजन में सबसे प्रधान शिव-लिंगों में श्रेष्ठ पार्थिवेश्वर शिवलिंग माना गया है। मिट्टी को लेकर अपने हाथ से शिवलिंग बनाते हैं। ऐसे पार्थिवेश्वर शिवलिंग को ही सबसे श्रेष्ठ रखा, हीरे-पन्ने का श्रेष्ठ नहीं माना क्योंकि पार्थिवेश्वर का पूजन करेंगे तो बनाने वाले का पता लग जायेगा कि यह कैसा बनाना जानता है। यदि हीरे-पन्ने के शिवलिंग की प्रधानता रखोगे तो पता लगेगा कि इनके पास धन कितना है। सारी दृष्टि का यह रूप है। जो माँड़ना माँड़ा जाता है, उसके पीछे भी हमारी एक सांस्कृतिक दृष्टि है।

महात्मा गाँधी के पास लाखों-करोड़ों रुपये रहा करते थे। जितने बड़े-बड़े आदमी थे वे सब उनको रुपया देते थे। रुपये की कोई कमी नहीं थी। लेकिन जिन्होंने उन्हें पास रहकर देखा है, उन्होंने ध्यान दिया होगा कि वे बातचीत में सबसे ज़्यादा घमण्ड किस का करते थे ? यह नहीं कहते थे कि 'कांग्रेस वाले मेरी बात मानते हैं', न ही जनता पर घमण्ड करते थे। वह अपनी बातचीत में यदि किसी चीज़ पर घमण्ड करते थे तो सबसे ज़्यादा इस पर करते थे कि 'मैं जो सूत कातता हूँ, इतनी गति से इतना बढ़िया सूत कातने वाला कौन है ?' कई बार विनोबा जी अच्छा कातते थे तो कहते थे कि 'तू मुझ से अच्छा कातता है, तूने मुझे हरा दिया।' सूत कातने को वह अपनी पूजा मानते थे। उनका सूत कितने पैसे का होता था, इससे मतलब नहीं है। उसके द्वारा उन्हें लगता था कि 'मेरी परीक्षा हो रही है कि मैंने कितना अच्छा बनाया है।' यह भारतीय दृष्टि है।

यह जो दृष्टिगत भेद है, यही भेद आज भोजन बनाने में आ रहा है। हमारे यहाँ प्रत्येक औरत गर्व इस बात का करती थी कि 'मैं कितना अच्छा भोजन बना लेती हूँ।' लड़की आती थी तो प्रश्न करते थे कि कितना बढ़िया पापड़ सेकती है। फुलका सेकती थी तो पता लगता था कि कैसा सेकने वाली है, न कच्चा रहे, न काला पड़े। आज फुलके की जगह यह पता है कि माडर्न ब्रैड खरीदें या नंदी ब्रैड खरीदें ! इससे पता लगता है कि तुम्हारे पास कितना पैसा है लेकिन तुम्हारी कला का पता नहीं लगा। टोस्ट सेकने के लिये तुम्हारे पास आटोमेटिक टोस्टर खरीदने के पैसे हैं या नानआटोमेटिक टोस्टर खरीदने से तुम्हारे पास पैसों को पता लगा लिया लेकिन तुम्हारी सेकने की कैसी कला है, इसका पता नहीं लगा। हमारी दृष्टि थी कि हम कितनी अच्छी तरह से कर सकते हैं यह परीक्षा करो, हमारे पास कितना है इसकी परीक्षा मत करो। यह उपयोग की दृष्टि हुई। अब तुमने टीन खरीद लिये, सूप खरीद लिये, और जूस के डिब्बे खरीद लिये। यह सब बताता है कि कितनी अच्छी कम्पनी की चीज़ें खरीदने के पैसे तुम्हारे पास हैं, लेकिन यह नहीं बताता कि कितना बढ़िया जूस तुम निकाल सकते हो।

इसीलिये श्रुति ने भी उपयोग करने वाले पदार्थों को बताने वाले यज्ञ की उत्पत्ति के बाद यज्ञ के साधनों की उत्पत्ति बताई

'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।।'

उस परमात्मा ने घोड़े उत्पन्न किये। घोड़े आवागमन के साधन

भी हो गये। कहोगे कि आजकल तो मोटरें आदि बन गईं, तो ये सब भी अश्व ही हैं। आवागमन के साधनों की उत्पत्ति के बाद, जो उन घोड़ों से भिन्न हैं, उनकी उत्पत्ति बताई। घोड़े एक प्रकार की चीज़ खाने वाले हो गये जो केवल घास और शाक खाते हैं। तदपेक्षया घास और मांस दोनों चीजें खाने वाले सिंह आदि प्राणी हो गये 'उभयादतः'। यह याद रखना कि संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो वनस्पति खाये बिना रह सके। केवल मांस खाकर संसार का कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। थोड़ा समय जीवित रहे, लेकिन उसका शरीर ठीक नहीं रह सकता। केवल वनस्पति खाकर अनेक प्राणी जीवित रहते हैं और उन्हें कभी भी मांस की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह बात किसी भी अच्छे से अच्छे डाक्टर को कह देना, जब वह ताकत के लिये महान् गंदी चीज़ें खाने को कहता हो जिनका नाम भी नहीं लेना चाहिये। उनसे पूछो कि यह बताओ कि केवल इन चीज़ों को खा लिया और कोई भी वनस्पति नहीं खायें तो क्या हम ताकत वाले हो जायेंगे? वह कहेगा कि मर जाओगे ! संसार में शरीर के जितने वास्तविक पौष्टिक पदार्थ हैं, वे सारे वनस्पतियों से मिलते हैं। इसलिये यहाँ श्रुति ने 'उभयादतः' कहा। नहीं तो कहती कि घोड़े और मांस खाने वाले बनाये। केवल मांस खाने वाले नहीं, दोनों चीज़ें खाने वाले बनाये।

कुछ ने यहाँ ऐसा भी अर्थ किया है कि ऊपर और नीचे दोनों तरफ जिसके दाँत हों ऐसे प्राणी बनाये। लेकिन यह अर्थ इस प्रसंग में हृदयंगम नहीं हो पाता। पहले आने जाने के साधन उत्पन्न किये। फिर मांस आदि खाने वाले उत्पन्न किये।

हम कई बार सोचते हैं कि उनकी आवश्यकता क्या है। अमरीका के अन्दर एक बड़ा बगीचा यैलो स्टोन पार्क है। वहाँ शिकार बहुत होता था, धीरे-धीरे वहाँ के शेर मर गये। पास के राज्य में खेती की बड़ी हानि होने लग गई क्योंकि वहाँ हरिण बहुत बढ़ गये ! दूसरे प्राणी भी बढ़ गये जो आयें और खेतों को चर जायें। बड़ा यत्न किया, पुलिस वालों को लगाया गया कि किसी प्रकार से यह झंझट खत्म हो, लेकिन वह ख़त्म नहीं हुआ। खर्चा भी बहुत बढ़ गया। फिर वहाँ के 'ब्राह्मणों' को बुलाया गया। उन देशों के अन्दर 'ब्राह्मण' की (बुद्धि वाले की) बड़ी इज़्ज़त होती है। भारतवर्ष की तरह वे धनकेन्द्रित देश नहीं हैं। वे बुद्धि को प्रधान मानते हैं। इसलिये उन लोगों ने वहीं के विश्वविद्यालय के विद्वानों की राय ली कि ये हरिण इत्यादि अकस्मात् कैसे बढ़ गये। उन्होंने बैठकर विचार किया और निर्णय दिया कि इनके बढ़ने का कारण यह है कि 'आप लोगों ने यहाँ अनाप-शनाप शिकार करके यहाँ के शेरों को मार डाला है ! इसलिये इसका उपाय पुलिस की गोलियाँ नहीं, उससे काम बनने वाला नहीं है। यहाँ पचीस-पचास शेर-शेरनियों को लाकर छोड़ दो।' जब यह किया गया तब थोड़े सालों में हरिणों की समस्या हल हो गई। शेर कभी-कदाचित् दस-बीस साल में किसी एक आदमी को खा लेता है तो उसको लेकर लोग हल्ला मचाते हैं। यह विचारशील लोगों की बात है।

हमारे यहाँ अविचारशील लोग हैं। बड़ा हल्ला मच रहा है कि हमारी खेती का बीसवाँ हिस्सा अर्थात् पंचमांश चूहे आदि खा जाते हैं। कभी सोचा कि यह हल्ला क्यों मच रहा है ? हमारे यहाँ एक

प्राचीन परम्परा थी कि साँप को मत मारो। इसका बाकी कोई कारण हो, लेकिन हमारा देश कृषि-प्रधान है। साँप, नेवला, और चूहे परस्पर झगड़ा करते हैं और एक प्राणी दूसरे प्राणी को खा जाता है। साँप को नेवला खा जायेगा और साँप चूहों को खा जायेगा, यह एक क्रम बन गया। लेकिन वह सब कहें तो सम्प्रदायवाद है ! आज वाले कहते हैं 'साँप को मारने से क्या होता है ?' ब्राह्मण की पूजा तो है नहीं, धन की पूजा है। जब चूहे बढ़ गये तो उनको मारने के लिये दूसरी गोलियाँ डालो। आगे, चूहे दूसरे प्राणियों को खाते हैं। छोटे-छोटे कीड़े मकोड़ों को चूहा खा जाता है। चूहों को ख़त्म किया तो वे बढ़ जायेंगे। अब उनको मारने के लिये हवाई जहाज में बैठाकर कीटनाशक छिड़कवाओ। इसका कोई अंत नहीं आने वाला है। कभी-कदाचित् एक गाँव में एक आदमी को साँप ने काटा और वह आदमी मर गया तो इसके लिये सारी व्यवस्था गड़बड़ा दी गयी। मांस खाने वाले प्राणी हमारे कल्याण के लिये हैं, अकल्याण के लिये नहीं हैं। उनके द्वारा सृष्टि के अन्दर एक क्रम बना रहता है, हर चीज़ का स्वाभाविक नियंत्रण होता रहता है। वे कहते हैं कि यदि कहीं कभी-कदाचित् शेर आदमी को खा जाता है तो आदमी की जान की रक्षा होनी चाहिये, शेरों को क्यों न मार डाला जाये ? तो हम दूसरा सच्चा प्रश्न करते हैं कि मोटरों से कदाचित् आदमी मर जाते हैं तो मोटरों की फैक्ट्री बन्द करके क्यों नहीं सारी मोटरें जला देते हैं ? लेकिन आज धन की पूजा करते-करते बुद्धि जड हो गई है। मोटर के अन्दर पैसा दीखता है, इसलिये उसे जलाने में बुरा मानते हैं। साँप, शेर आदि में पैसा नहीं दीखता, इसलिये उसे मारने में कोई दोष

नहीं मानते। यह धन की पूजा विदेशी संस्कृति है। पूंजीवादी और समाजवादी दोनों धन के पूजक हैं, उपयोग के पूजक दोनों नहीं। झगड़ा इसी बात का है कि किसके पास पैसा है। आदमी तब तक समाजवादी होता है जब तक उसके पास काफी पूंजी होकर वह पूंजीवादी नहीं हो जाता ! जब उसके पास पूंजी हो जाती है तब समाजवाद खत्म हो जाता है। अनुभव करके देख लो, दोनों धन के पूजक हैं। वैदिक दृष्टि धन की पूजा में विश्वास नहीं करती। उसकी दृष्टि पदार्थों के उपयोग की है।

जब यह विश्व सृष्टि को कायम करने के लिये मांस खाने वाले प्राणियों की सृष्टि हो गई, तब उसके बाद तुरंत शंका हुई कि हम लोगों को भी खाने के लिये 'प्रोटीन' नाम का पदार्थ चाहिये। हम भी मांसाहारी हो जायें ? श्रुति जानती थी, इसलिये कहा—'हे प्राणी ! तुम 'उभयादतः' नहीं हो।' तुम्हारे लिये उस परमात्मा ने गौ उत्पन्न की है। गौ के दूध के द्वारा तुमको वह पदार्थ मिलेगा जो उन अन्य प्राणियों को मांस के द्वारा मिलता है। इसलिये गौ उत्पन्न की। गौ के दूध के अन्दर जो शक्ति है, वह शक्ति संसार के और किसी पदार्थ में नहीं है। जैसे उन्होंने 'प्रोटीन' शब्द याद कर रखा है, ऐसे ही तुम 'केसीन' शब्द याद कर लो। किसी डाक्टर से पूछना कि केसीन से बढ़िया कोई चीज़ संसार में है? तो कहेगा 'नहीं है'। अगला प्रश्न पूछना कि वह दूध के सिवाय और किसी चीज़ में मिलती है ? तो कहेगा 'नहीं।' यह दुश्मन को दुश्मन के शस्त्र से मारने का तरीका है। वेद की बात उनसे करोगे तो उन्हें नहीं जँचेगी। जब इस प्रकार उन्हें घेरोगे तो वे असली देवता पर उतर आयेंगे—कहेंगे 'बात तो ठीक है

लेकिन दूध महँगा है !' फिर उसी पैसे रूपी देवता पर आ गये कि पैसा ज़्यादा लगता है। भारतीय दृष्टि विचित्र है। हमने मक्खन को दही से बनाया, घी दही से निकाला। गाँवों के अन्दर दही से घी निकालने पर जो दही का रस बच जाता था, जिसे छाछ कहते थे, वह इतनी होती थी कि उसका कोई उपयोग नहीं था, इसलिये जिसको चाहिये, मुफ्त मिलती थी। वह 'केसीन' नाम का पदार्थ उस छाछ में ही रहता है, घी में नहीं रहता। यह हमारी दृष्टि है। न जाने कितने वर्षों के वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा हम लोगों ने ये आविष्कार किये। आविष्कार की दृष्टि यह थी कि प्रत्येक को पदार्थ मिले; धन वाले को पदार्थ कैसे मिले—यह दृष्टि कीमती नहीं थी। छाछ पूरी ताकत की चीज़ है। वह सबको सुलभ थी। अब वह सारा चक्र बदल गया, अब कहते हैं कि दूध महँगा है।

गाय कभी भी जंगल में नहीं मिलेगी क्योंकि गाय जंगली जानवर नहीं है। घर से भागकर जंगल में रह गई हो, दूसरी बात है। लेकिन जंगल में हरिण, खरगोश के टोले मिलते हैं, जो वहीं पैदा हुए और बड़े हुए। गाय ऐसी नहीं, ग्राम्य प्राणी है। मनुष्य के साथ ही रह सकती है, मनुष्य से अलग नहीं रह सकती। यह इस बात को सिद्ध करता है कि गाय को मनुष्य के उपयोग के साथ बाँधा गया। यह विलक्षण दृष्टि जो अभी छाछ की बताई, इसे कभी यज्ञ के साथ मिलाकर देखो। यज्ञ में आहुति घी की लगती है, छाछ की नहीं, क्योंकि छाछ सभी के उपयोग की चीज़ थी और घी सबके उपयोग की चीज़ नहीं थी। इसलिये जो समाज के उपयोग की चीज़ है, उसे व्यक्ति अपने निमित्त से खर्च न करे,

यह एक दृष्टि थी। इन सब चीज़ों के पीछे हमारी जितनी चिंतन-प्रणाली है, यह न जाने हमारे ऋषियों की कितने वर्षों की तपस्या का फल है। जो सबके उपयोग की चीज़ है वह सार्वजनीन है। गाँवों में सबके उपयोग की जगह हुआ करती थी गोचरभूमि। बड़े से बड़ा ज़मींदार और राजा इस भूमि को कभी नहीं बेचता था, इस पर खेती नहीं करता था। हमने जब से धन की पूजा प्रारंभ की, उसके पीछे जब से जनता का राज्य कायम किया, तब से गाँव में गोचरभूमि भी जुतवा दी। इसलिये अब गोचरभूमि नहीं मिलेगी, क्योंकि वहाँ तो जनता नाम का पदार्थ है जिसका कल्याण करना है। गोचरभूमि में खेती शुरू हो गई। ज़मींदारों से ज़मीन ले ली गई तो उनका तुरंत विनियोग कर दिया, क्योंकि उनसे लगान मिलता है और गोचरभूमि का लगान नहीं मिलता। लेकिन पहले राजा या ज़मींदार को यह अधिकार नहीं था, क्योंकि वह सब की ज़मीन थी, सबकी गौएँ उसमें चरती थीं। जिस ज़मीन पर हमारी मिल्कियत थी उस पर खेती करते थे। विदेशों में बड़े-बड़े बगीचे बनते हैं, उन में हरियाली रहती है। चाहे न्यूयार्क को बढ़ा लिया जाये, लेकिन उस बगीचे को कोई नहीं छेड़ सकता। क्या कारण है ? पेड़ों से वायु का वह अंश निकलता है जो मनुष्यों को ताकत देता है। मनुष्य 'आक्सीजन' लेता है, जो पेड़ों से मिलती है और गंदी वायु 'कार्बन डाइआक्साइड' छोड़ता है; पेड़ मनुष्य के काम का पदार्थ आक्सीजन छोड़ते हैं। गोचरभूमि गायों को घास और जनता को आक्सीजन देती थी, वृष्टि का कारण बनती थी। ये सब दृष्टिकोण उसके पीछे थे, इसलिये वह समाज के काम की चीज़ थी। विदेशों में वहाँ की सरकार या कार्पोरेशन पार्क को

नहीं हटा सकती क्योंकि उसके द्वारा सारी जनता को आक्सीजन मिलती है। लेकिन यहाँ उस भूमि के अन्दर, बगीचों की जगह मकान बना लेते हैं, जिनसे भाड़ा मिलता है, आक्सीजन नहीं मिलकर मनुष्य मिलते हैं। यह जनता का राज्य है, मनुष्य का राज्य नहीं है। यहाँ सड़कों में डीज़ल का इंजन चल सकता है, जबकि डीज़ल का धुआँ टी.बी. और अन्य अनेक रोग पैदा करता है। हम लोग तो धन के पूजक हैं, इसलिये मनुष्य चाहे मरें, लेकिन डीज़ल सस्ता है, सरकार को धन की रक्षा करनी है, क्योंकि जनता का राज्य है, मनुष्य भले ही मरें। वह जनता कहाँ बैठी है, उसे ढूँढने जाओ तो पता नहीं लगता। यह दृष्टि वैदिक दृष्टि नहीं है।

'जज्ञिरे' शब्द का प्रयोग गौ के साथ किया है जिससे संकेत किया कि गाय अकेली नहीं रह सकती, मनुष्य के साथ रहती है, परस्पर उपकारी-उपकार्य भाव है। गाय के बिना मनुष्य नहीं रह सकता, गाय हमारे बिना नहीं रह सकती है।

प्रवचन-३१

यज्ञ-पुरुष के अन्दर जीव, जगत्, ईश्वर के सम्बन्धों का आधार प्रकट करने वाले वेदों के निर्माण के अनंतर यज्ञ करने के साधनों का निर्माण किया। उन साधनों में पहला साधन अश्व बताया अर्थात् एक देश से भिन्न देश में जाने के साधनका,

देश-परिवर्तन के साधन का निर्माण किया। समग्र व्यवहार देश, काल और वस्तु के परिवर्तनों का ही नाम है। व्यवहार मायने एक देश से दूसरे देश में गति, एक काल से दूसरे काल में गति और एक वस्तु की दूसरी वस्तु में गति। देश, काल और वस्तु की गति अर्थात् इनका परिवर्तन ही व्यवहार है। अश्व को निर्मित किया अर्थात् दिक्परिवर्तन की सम्भावना बनी। दूसरी चीज़—दिक् परिवर्तन की सम्भावना वाले अश्व आदि में परस्पर सामंजस्य कायम करने के लिये सिंह, सर्प आदि के द्वारा इस सृष्टि-चक्र को चलाना है। सृष्टि चक्र गोल है। जो चीज़ गोल होती है उस चीज़ को एक बार चला दो तो चलती रहती है। जहाँ एक तरफ से पदार्थ आये और दूसरी तरफ से जाता रहे, वहाँ निरंतर नये पदार्थों को लाना पड़ेगा क्योंकि दूसरी तरफ पदार्थों का क्षय होता रहेगा। चक्र की विशेषता यह होती है कि जो पदार्थ क्षीण होता है, वह क्षीण पदार्थ ही पुनः नये पदार्थ की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। इसी को चक्र कहते हैं। जैसे मनुष्य ने जल पिया तो जल क्षीण हो गया लेकिन वह क्षीण हुआ जल फिर बहकर गंगा यमुना में मिलकर साफ हो जाता है और फिर वह पीने के लायक हो जाता है। इसी प्रकार भोजन किया, उसका रूप-परिवर्तन हुआ, लेकिन वह परिवर्तित रूप ही फिर खाद बन गया और वह खाद फिर से अन्न की उत्पत्ति में ही काम में आ गई। इसलिये इसे चक्र कहेंगे। स्वयं अपनी गति ही उसको आगे ले जाती है।

परमात्मा ने सृष्टि चक्र का निर्माण किया, इसलिये यह स्वगति से चलता रहता है, इसको गत्यंतरों की अपेक्षा नहीं रहती। निरंतर इसमें नये-नये पदार्थों को लाने की आवश्यकता नहीं है। जीव

को ही देखो : जीव कर्मफल भोगने के लिये ही कर्म करता है लेकिन भुक्त फल (भोगा हुआ फल) सुख-दुःख रूप होने के कारण पुनः कर्म में प्रवृत्ति करा देता है। बंगाली मार्केट में जाकर रसगुल्ला खरीदा, कर्म किया। अब उस रसगुल्ले को खाने से जो सुख हुआ, वह सुख चार दिन के बाद फिर बंगाली मार्केट ले जाने का कर्म करा लेता है, यह चक्र हो गया। कर्म किया, फलभोग के लिये और फलभोग फिर कर्म का प्रयोजक हो गया। यह कर्म चाहे प्रवृत्तिरूप हो, चाहे निवृत्तिरूप हो। प्रवृत्तिरूप बंगाली मार्केट में जाकर रसगुल्ला खाना और निवृत्तिरूप माडल टाउन से आगे रिंग रोड से न निकलना क्योंकि सारी दिल्ली की गंदगी वहीं जाकर डालते हैं ! एक बार कोई सज्जन हमें अपने घर ले गये। उस रास्ते से निकले तो रास्ते भर वही गंदा मामला था। हमने पूछा 'इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं है ?' कहने लगे, 'यही खुला रास्ता है, दूसरी तरफ तो बड़ा भीड़-भड़क्का होता है।' हमने कहा 'अगली बार भीड़-भड़क्के से ही चलना।' यह निवृत्तिरूप कर्म हुआ।

जो सुख-फल का भोग होगा, वह प्रवृत्ति करायेगा और जो दुःख-फल का भोग होगा वह निवृत्ति करायेगा। यह चक्र हो गया—फलभोग के लिये कर्म किया और फलभोग ने पुनः कर्म करवा दिया। परमात्मा को अलग से कुछ नहीं करना पड़ता, अपने आप चक्र चलता रहता है। इच्छा के द्वारा वासना बनी और वासना ने पुनः इच्छा को उत्पन्न कर दिया। इच्छा से वासना, वासना से पुनः इच्छा, उससे फिर वासना यह चक्र चल गया। इसी प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान के प्रति और दूसरा ज्ञान पुनः प्रथम ज्ञान

के प्रति हेतु अर्थात् एक-दूसरा ज्ञान एक-दूसरे ज्ञान के प्रति कारण बनता जाता है। ज्ञान, इच्छा, क्रिया, पदार्थ सारे चक्र में चलते रहते हैं, स्वयं ही कारण बन जाते हैं और स्वयं ही पुनः कार्य बन जाते हैं। खुद ही कारणरूप से आते हैं और खुद ही कार्यरूप बन जाते हैं।

बीज और फल के दृष्टांत से समझ लो। बीज ही वृक्ष आदि आकारों को धारण करता हुआ फल बना। फल के अन्दर पुनः वह बीजरूप से उपस्थित है। आगे पुनः वही बीज वृक्षादि रूपों को धारण करते हुए फिर फल के प्रति कारण बना। इस प्रकार बीज से वृक्ष, वृक्ष से पुनः बीज, यह चक्र हो गया। पिता से पुत्र, पुत्र पुनः बाल्य, कौमार्य, युवावस्थाओं में से निकलते हुए पिता बन जायेगा। पिता से पुत्र और पुत्र फिर पिता और वह पिता पुनः पुत्र के प्रति कारण—यह चक्र हो गया। इस सृष्टि के अन्दर सभी कुछ परमात्मा ने चक्ररूप से बनाया।

इस चक्ररूपता के निर्माण के कारण ही परमात्मा को इसमें नित्य नवीन जीवों को भी नहीं भेजना पड़ता, नित्य नवीन पदार्थों को भी नहीं भेजना पड़ता, नित्य नवीन कर्मों और कर्म-फलों का निर्माण भी नहीं करना पड़ता। यह चक्र स्वयं ही चलता रहता है। यह परमात्मा की विलक्षण सृष्टि है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में इसे अतिसृष्टि कहा है। सृष्टि तो जीव भी करता है लेकिन जीव की सृष्टि चक्ररूप न होने से उत्पन्न होकर समाप्त हो जाती है। चक्र की तरह निरंतर चल नहीं पाती। पारमेश्वरी सृष्टि के अन्दर चक्ररूपता होने से ही उसे अतिसृष्टि कहा। जीव की सृष्टि की अपेक्षा उसकी सृष्टि अतिसृष्टि है क्योंकि वह स्वयं

आगे सृष्टि करने में समर्थ है। यह परमात्मा और जीव की सृष्टि में फ़र्क है। अश्व का निर्माण देश परिवर्तन के लिये किया। फिर उसके बाद यह चक्ररूप से चलता रहे इसलिये ऐसों का निर्माण किया जो 'उभयादतः' उनके अन्दर सामंजस्य कायम करें अतः सिंह, सर्प आदि की सृष्टि हो गई।

उसके बाद 'गावो ह जज्ञिरे' गाय का निर्माण किया अर्थात् मनुष्य को पशुओं से अलग करने वाली चीज़ का निर्माण किया। 'जज्ञिरे' शब्द का एक सीधा अर्थ 'उत्पन्न करना' होता है। लेकिन 'जज्ञिरे' का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। 'प्रजज्ञे' का अर्थ करते हुए सायण भाष्य में कहा 'प्रजज्ञे प्रकर्षेण ज्ञातवन्तः।' गौ बाहर से कुछ विलक्षण नहीं दीखती, अन्य पशुओं की तरह ही दीखती है। लेकिन शास्त्रदृष्टि से जो देखेगा उसको उसमें विलक्षणता नज़र आयेगी। वह विलक्षणता यह है कि गाय यद्यपि पशु है लेकिन वही काम करती है जो माता करती है। वस्तुतः माता से भी अधिक करती है। बच्चा केवल छः महीने तक दूध ही पीता है। जितने यह कहने वाले लोग हैं कि दूसरी चीज़ें पुष्ट करती हैं, उनसे सीधा प्रश्न करो कि सबसे ज़्यादा मनुष्य की देह का निर्माण किस उम्र में होता है ? प्रथम एक वर्ष में सबसे ज़्यादा देह का निर्माण होता है। बच्चा आठ-नौ इंच का पैदा होता है और पहले वर्ष के अंत में दुगने से भी ज़्यादा हो जाता है। बच्चा आठ-नौ पौण्ड का पैदा होता है और एक साल के अंत में उसका वज़न तिगुने से ज़्यादा हो जाता है। सबसे ज़्यादा वज़न और नाप इसी उम्र में बढ़ा। जितना इस उम्र में बढ़ा उतना फिर किसी साल में नहीं बढ़ता है। प्रश्न करो कि उस उम्र में उसने कौन-सा अण्डा, मांस,

मछली खाया था या कौन सी शराब पी थी ? यह व्यवहार की दृष्टि से सिद्ध कर रहे हैं। यदि अन्य चीज़ें दूध से ज़्यादा पुष्टि देने वाली हैं तो उन चीज़ों के खाने पर वज़न और परिमाण दुगना-तिगुना क्यों नहीं हो जाता ? नहीं होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिये मानना पड़ेगा कि दूध की अपेक्षा बाकी जितनी भी भोजन-सामग्री है, वह मनुष्य की पूर्ण पुष्टि का हेतु नहीं बनती। यदि और कोई चीज़ अधिक पुष्टिकर होती तो परमात्मा बचपन मं उसी को देने के लिये बनाता या डाक्टर लेने को कहता। छः माह तक कोई भी डाक्टर दूसरी चीज़ खाने को नहीं कहता। एक बात और है, बच्चे को बाकी सब चीज़ें खिला दो और दूध न पिलाओ तो बच्चा कभी पुष्ट नहीं होगा, दुर्बल रह जायेगा। बाकी सब चीज़ों के होने पर पुष्टि नहीं, और दूध के होने पर पुष्टि पूर्ण है। इस विचार की दृष्टि से जब देखो तब पता लगता है कि माँ तो दूध पिलाती है केवल छः महीने या ज़्यादा से ज़्यादा साल भर के लिये और गाय यावज्जीवन दूध देती है।

आजकल लोग प्रश्न किया करते हैं कि 'जो गाय बुड्ढी हो जाये, दूध देने वाली न हो तो उसे मारने में क्या हर्ज़ा है ?' हमारा कहना है कि कोई हर्ज़ा नहीं, लेकिन साथ में हमारा एक प्रश्न यह है कि यदि तुम्हारे जीवन को पंद्रह साल दूध पिलाने वाली को मारने में हर्ज़ा नहीं तो छः महीने या साल भर तक दूध पिलाने वाली को मारने में भी क्या हर्ज़ा है ? कानून पास होना चाहिये कि जिस औरत के आगे बच्चे नहीं हो रहे हैं, उसे यहाँ से भेज दो। गाय ज़्यादा से ज़्यादा बीस वर्ष जीती है और कम से कम बारह साल तक तो ज़रूर, नहीं तो पंद्रह साल की उम्र तक

दूध देती है। पन्द्रह साल तक जिसने दूध दिया वह तुम्हारे लिये तीन-चार साल के लिये भारी हो गई तो क्या तुम कह सकते हो कि तुम्हारी यज्ञ-दृष्टि है ? विचार करो कि यह सब क्यों है ? क्योंकि लोगों के अन्दर ज्ञान-दृष्टि से गौ की इस विशेषता को समझने की सामर्थ्य नहीं है। श्रुति बताती है कि गौ को देखते समय तुमको प्रज्ञान (ठीक दृष्टि) उत्पन्न करना पड़ेगा। गाय के विषय में यदि दृष्टि ठीक करोगे तो अन्यत्र भी वह दृष्टि प्रसृत होगी। यदि वहीं तुम्हारी दृष्टि गड़बड़ा गई तो सर्वत्र गड़बड़ानी ही है।

गाय को इसीलिये हमारे यहाँ सर्व देवताओं का वासस्थल बताया है। तैंतीस कोटि देवता गाय में रहते हैं, इसका क्या तात्पर्य है ? देव का मतलब इन्द्रियाँ हैं। शरीर की सब इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले तत्त्व चूँकि गाय के दूध में मिलते हैं इसलिये गाय को सर्व देवताओं का वासस्थल बताया। ऐसा इसलिये माना कि गाय के दूध से देह के सारे अंग-प्रत्यंग पुष्ट होंगे, सारी इन्द्रियाँ और अंतःकरण पुष्ट होगा। यह बात भैंस के दूध में मिलने वाली नहीं है। भैंस का दूध शरीर की मांस-पेशियों को पुष्ट करेगा लेकिन स्नायुमण्डल, इन्द्रियों और अंतःकरण को कमज़ोर करेगा, उनमें प्रमाद लायेगा। यह दोनों के दूध में फर्क है। जब लोगों की दृष्टि अंतःकरण से हटकर शरीर में गई तब लोगों ने माना कि भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस मान्यता में हेतु यह बना कि इन्द्रियों और मन की पुष्टि की दृष्टि हटी। भारतीय व्यायाम पद्धति और विदेशी व्यायाम पद्धति का यह मूलगत भेद है। भारतीय व्यायाम पद्धति हमारी इन्द्रियों, अंतःकरण और

स्नायुमण्डल की मज़बूती पर ज़ोर देती है। हमारे सारे भोजन और व्यायाम में यह दृष्टि रहती है। पाश्चात्य संस्कृति मांस-पेशियों की पुष्टता पर ज़ोर देती है कि कैसे व्यायाम से यह चीज़ होगी। हम लोगों ने 'सैण्डो' जैसे आदमी को मनुष्य शरीर का आदर्श नहीं माना। आज जितनी पुरुषों की प्रतियोगितायें होती हैं, उनमें मांस-पेशियों पर ध्यान देते हैं, स्नायुमण्डल पर ध्यान नहीं देते। हम लोगों का व्यायाम का दृष्टिकोण ठीक उसके विपरीत है। हम स्नायुमण्डल (नर्वस सिस्टम) के ऊपर ज़ोर देते हैं कि इन्द्रियों और मन को पुष्ट करना चाहिये। भैंस का दूध मांसपेशियों को पुष्ट करेगा।

कोई कह सकता है कि दोनों पुष्ट हों तो क्या हर्ज़ा है ? प्रसंग आ गया है तो बता देते हैं। स्नायु-मण्डल की स्नायुरेशायें मांस-पेशियों के अंदर रहती हैं। जितनी मांस-पेशियाँ प्रबल होंगी उतना ही स्नायुमण्डल के ऊपर दबाव पड़ेगा। इसलिये मांसपेशियाँ प्रबल हो जाने पर स्नायुमण्डल कहाँ से प्रबल होगा ? क्योंकि दोनों का एक-दूसरे से विपरीत क्रम है। इसीलिये उनके भोजन-विज्ञान और हमारे भोजन-विज्ञान में भी बड़ा भारी फ़र्क पड़ता है। विदेशी जिस भोजन-विज्ञान को पुष्टिकर कहते हैं उसे हम पुष्टिकर नहीं मानेंगे। जिसे हम पुष्टिकर मानते हैं उसे वे लोग पुष्टिकर नहीं मानते। लेकिन गत तीस वर्षों में वे अनुभव करने लगे हैं कि उनका भोजन लोगों में रोगों को उत्पन्न करता है। मांसपेशियों को मज़बूत करके गठिया को पैदा करता है। उन्होंने यह पाया है कि मांसपेशियों को पुष्ट करने वाले की उम्र घट जाती है। इसलिये उन लोगों ने उससे बचने के लिये 'डायटिंग' चलाया है। हम कहते

हैं कि अच्छा तुम्हारा उलटा विज्ञान है ! पहले तो ऐसा भोजन खाओ जिससे मांसपेशियाँ बढ़ें और बढ़ने पर कहो कि 'खाओ नहीं !' इसलिये उनके यहाँ के जो विवेकी, विद्वान् और उच्चकोटि के वैज्ञानिक हैं वे धीरे-धीरे उन भोजनों से दूर हटते जा रहे हैं और शुद्ध भोजन की तरफ आते जा रहे हैं। वे भी यह अनुभव करते जा रहे हैं कि जो मांसपेशियों को पुष्ट करने वाले भोजन हैं, वे दीर्घ दृष्टि से हानिप्रद हैं।

लेकिन वे लोग ऐसा भोजन कभी छोड़ नहीं पायेंगे। यह आशा नहीं है कि कुछ साल में वे हमारी तरह खाने-पीने लग जायें क्योंकि वे भोगवादी हैं। उनमें और हम में यह आधारभूत फ़र्क है। इसलिये वे इन्द्रियों और अंतःकरण को शुद्ध करके क्या करें ? जब उन पर किसी रोग की आपत्ति आती है तब उतनी देर के लिये वे उस रोग से तो बचना चाहते हैं लेकिन रोग से बच कर अधिक भोग करना चाहते हैं। जितनी-जितनी मन और इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी, उतनी-उतनी भोगों से वितृष्णा होगी। यह स्वाभाविक है कि जितना-जितना अंतःकरण कमज़ोर होगा उतना-उतना देह मज़बूत होगा और जितना-जितना देह मज़बूत होगा उतना-उतना भोग-प्रणाली में मनुष्य जायेगा।

इसका दार्शनिक सिद्धांत भी समझ लो : यद्यपि शरीर और मन दोनों जड हैं तथापि मन अधिक शुद्ध होने के काण अंतःकरण में अन्दर चेतन का प्रतिबिम्ब आ जाता है। इसलिये मन जड होने पर भी चेतन के नज़दीक है और शरीर जडता के नज़दीक है, इसमें चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं आता। चूँकि मन में चेतन का प्रतिबिम्ब आता है इसलिये मन जड की अपेक्षा चेतन की तरफ

ज़्यादा झुकता है। शरीर चूँकि पूर्ण रूप से जड है, इसलिये शरीर हमेशा ही जड पदार्थों के भोग की तरफ अधिक झुकेगा। चूँकि शरीर जड पदार्थों की तरफ झुकेगा, इसलिये उतनी ही शरीर में जडता बढ़ेगी। मन जितना-जितना चेतन की तरफ बढ़ेगा उतनी-उतनी उसकी चेतनता बढ़ेगी, जडता से दूर होता चला जायेगा। इसलिये विदेशी इन रोगों को नहीं रोक पायेंगे क्योंकि उनका सिद्धांत ही भोगवाद का है। भोगवादी व्यक्ति भोग को प्रधान समझने के कारण जानते हुए भी कि नुकसान की चीज़ है, उसे छोड़ नहीं पाता। इसलिये उस चीज़ का परित्याग करने की सम्भावना नहीं हो पाती। यहाँ तो केवल यह बता रहे हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से उनके विवेकी लोग भी मानने लगे हैं कि उनकी गलती है। लेकिन मानने पर भी वे कर नहीं पाये, यह बात दूसरी है। यह उनकी सैद्धान्तिक न्यूनता या कमज़ोरी हुई।

ज्ञानदृष्टि से देखने पर पता लग गया कि सारे देवता गाय में कैसे रहते हैं—इसके द्वारा मन और इन्द्रियाँ पुष्टता को प्राप्त करते हैं। इसीलिये योगाभ्यास करने वाले लोग गोदुग्ध और गो-घृत का सेवन करते हैं, भैंस के दूध या घी का सेवन नहीं करते।

'तस्मात् जाता अजावयः।' अज नाम बकरे का है और अवि भेड़ को कहते हैं। इसके द्वारा रोज़मर्रा के प्रयोग में आने वाले पशुओं को बता दिया। भेड़ के ऊन से कपड़े इत्यादि मिल जाते हैं। 'अजावयः' से प्रयोग में आने वाले सब पशुओं का तात्पर्य समझ लेना, क्योंकि यहाँ सारी सृष्टि की गिनती तो करानी नहीं है ! यह सम्भव नहीं है। यह सारी सृष्टि परमात्मा ने इसलिये बनाई कि आगे पुरुष यज्ञ प्रवृत्त हो जाये। इन साधनों के बिना

समाज के अन्दर यह मनुष्य कैसे रहता ? रहने के लिये अर्थात् सामाजिक प्राणी बनने के लिये ही इसे जिन-जिन साधनों की अपेक्षा हुई, वे सब उपलब्ध करवा दिये जिनके द्वारा यह पुरुष-यज्ञ को सम्यक् प्रकार से कर सके। उन साधनों के सदुपयोग और दुरुपयोग से आगे और पीछे बढ़ता रहेगा।

एक मदारी था। उसके पास पाँच बंदर और पाँच बकरियाँ थीं। उनको लेकर वह मदारी डुगडुगी बजाता नाच नचाता हुआ और खुद भी तरह-तरह का नाच व अभिनय करके लोगों को प्रसन्न करे और उसके द्वारा उसे जो इनाम मिल जाये उसी से बेचारा अपना गुज़ारा कर लेता था। लेकिन गाँव-गाँव भटकते रहने पर भी उसको वस्तुतः सिवाय फटे कपड़ों, गन्दे चीथड़ों और सूखी रोटी के टुकड़ों के और कुछ नहीं मिलता था। फिर भी उसी से वह अपना गुज़ारा निकालता था। एक बार घूमते हुए वह एक गाँव से दूसरे गाँव में जा रहा था। रास्ते में उसने एक बड़ा भारी वटवृक्ष देखा। उस वृक्ष के नीचे एक महात्मा बैठे हुए थे। यह भी बहुत थक गया था, बड़ी गर्मी पड़ रही थी। उस गर्मी से अपने आपको बचाने के लिये वह भी उस पेड़ के नीचे जाकर बैठ गया। सोचा, ठण्डा पानी पियेंगे और थोड़ा-सा सुस्ता लेंगे। वहाँ पहुँचकर उसने महात्मा के पास ही अपना झोला डमरू रख दिया और लेट गया। घण्टा-भर आराम करके उठा। महात्मा ने कहा, 'तू बन्दर और बकरियों को नचाता होगा। मुझे भी यह खेल ज़रा दिखा तो सही कि खेल कैसा है ? बन्दरों को कैसे नचाता है ?' मदारी ने सोचा, 'बाबाजी के पास एक लंगोटी और तुम्बी है, इन्हें खेल दिखाने से क्या होगा ?' कहने लगा, 'आपके लायक यह खेल

नहीं है, मैं कोई अच्छा खेल नहीं दिखाता हूँ।' महात्मा ने कहा, 'जैसा भी है, दिखा दे, तबियत चल गई है।' उसने सोचा 'बहुत कहते हैं तो दिखा ही दें। कुछ मिलने की आशा तो है नहीं। लेकिन कहते हैं तो दिखा देते हैं।' उसने अपनी बकरियों और बन्दरों को थोड़ा-सा नचाकर खेल दिखा दिया। महात्मा को बड़ा आनंद आया, खेल देखकर कहा 'तूने बढ़िया खेल दिखाया। अब मैं तेरे को एक खेल दिखाता हूँ। तू पद्मासन लगाकर और आँखें बन्द करके बैठ जा, जब तक कहूँ नहीं तब तक आँखें नहीं खोलना।' वह बेचारा इसी प्रकार बैठ गया। दस-पन्द्रह मिनट हुए, महात्मा ने तो आँख खोलने को कहा नहीं। अब यह बेचारा डर गया कि क्या बात हो गई । उसने धीरे से आँख खोली तो देखा कि वहाँ न बाबा जी थे, न उसके बन्दर और बकरियाँ थीं, न ही वहाँ उसका झोला और डुगडुगी थी ! सबका सब माल वहाँ से नदारद हो गया। चारों तरफ देखने लगा, सोचा, 'अच्छा खेल दिखाया, बाबा जी मुझे लूट ले गये।' रोने लगा कि 'अपना तो इसी से गुज़ारा चलता था और यह भी हाथ से गया।'

रोकर इधर-उधर घूमने लगा, तब तक देखता है कि दो घुड़सवार आये और दोनों तरफ से उसे घेर लिया। उस बेचारे की घिग्घी बँध गई, उनसे कहा—'मुझे क्यों पकड़ते हो ?' उन घुड़सवारों ने कहा, 'पकड़ते नहीं, तुम्हें ले जायेंगे।' तब तक वहाँ एक हाथी आ गया जिस पर सोने का छत्र, चँवर आदि सब लगे हुए थे। वह मदारी घबराने लगा। तब उन्होंने कहा 'तुम्हें हमने अपना राजा चुन लिया है।' उसने पूछा, 'कैसे चुन लिया ?' कहा 'हमारे यहाँ की यह रीति है कि जब हमें राजा बनाना होता है

तब जंगल में जाते हैं और जिस पर दिल चल गया, उसे बना देते हैं।' उसे हाथी के हौदे पर बैठाया और वहाँ से ले गये। स्नान कराया, हीरे और मणियों के हार पहनाये। कई राजकुमारियों से विवाह भी हो गया। अब वह बड़ा भारी राजा हो गया और खूब ऐश्वर्य भोगने लगा। खूब खाये-पिये, राज्य करे और रानियाँ भी खूब हो गईं।

लेकिन इतना सब ऐश्वर्य और सुख भोगने पर भी जिसकी कृपा से यह सब मिला था, उसे याद नहीं किया ! वह तो समझे कि 'यह सब मेरे कारण मुझे मिल गया', जिसे कहते हैं कि किस्मत चमक गई। धीरे-धीरे इधर-उधर के राज्य वालों को पता लगा कि यह राजा बहादुर नहीं है। राजा का नियम होता है कि शिकार खेलने जायें जिससे उसकी प्रसिद्धि होती है कि 'इन्होंने ऐसा शेर मारा।' वह तो ऐश्वर्य और सुख-भोग में ही लगा रहता था। इसलिये और कहीं जाने का प्रश्न ही नहीं। अंत में एक पड़ोसी राजा ने उस पर चढ़ाई कर दी। ऐश्वर्य और सुखभोग के लिये उसे बहुत धन की ज़रूरत पड़ती थी। अब प्रजा से अनुचित कर लेने लग गया। जो बहादुर राजा होता है व बाहर से धन लाकर प्रजा को *देता* है और प्रमादी राजा प्रजा से ही धन *लूटता* है, क्योंकि बाहर से धन लाने की उसकी खुद की सामर्थ्य नहीं होती ! इसलिये प्रजा भी उसके विरुद्ध हो गई थी। सब लोगों ने कहा 'राजन्! युद्ध में आप ही सैन्य संचालन करो। आप ही चलो तो युद्ध होगा नहीं तो नहीं होगा।' इसने मंत्रियों से कहा 'तुम ही लोग चले जाओ, मुझे क्यों फँसाते हो ?' जैसे आजकल के राजा लोग खुद तो राजधानी में बैठे रहेंगे और बातें बनायेंगे कि फौज को ऐसा

करना चाहिये। लेकिन वहाँ के लोगों ने तो कह दिया कि 'जब तक आप सैन्य-संचालन नहीं करेंगे, तब तक यह लड़ाई नहीं होनी है।' अब बेचारा क्या करता ! हाथी पर बैठा और चला।

मन में सोच रहा था कि कहाँ फँस गया! तब तक पहले वाले जंगल में उसी वटवृक्ष के पास पहुँचा। देखा कि वही महात्मा वहाँ बैठे हुए हैं ! अकस्मात् याद आया कि 'इन महात्मा जी के कारण ही हमें यह राज्य मिला और मैंने इनका कभी स्मरण नहीं किया। अब विपत्ति आई है तो इनके पास चलूँ, आशीर्वाद लूँ कि मेरा काम बन जाये।' यह संसारी लोगों का स्वरूप है—जब आपत्ति आये तब याद करते हैं। जाकर उन्हें नमस्कार किया। महात्मा ने पहचानकर कहा, 'कहो मदारी राजा क्या हाल हैं ? सुख चैन से तो हो ?' कहने लगा, 'इतने साल तो बड़े आनंद से बीते लेकिन आज तो मुझे मोर्चे पर जाना पड़ रहा है। अब तो आपकी दयादृष्टि हो तभी इस फौज से बचूँ, नहीं तो मामला गड़बड़ है।' महात्मा ने कहा, 'बचना चाहता है तो बैठ, फिर पद्मासन लगा और आँखें बंद कर।' उसने आसन लगाया और आँखें बंद की। थोड़ी देर बाद महात्मा ने कहा, 'अब आँख खोल दे।' जैसे ही आँख खोली तो देखता है कि न वहाँ हाथी है, न हौदा है, न फौज है और न वे नये कपड़े हैं ! फिर वही पहले वाले मैले-कुचैले कपड़े, पाँच बन्दर और पाँच बकरियाँ, झोला और डुगडुगी रह गये। महात्मा ने कहा, 'अब तुझे कोई दुश्मन कष्ट नहीं देगा, किसी लड़ाई में नहीं जाना पड़ेगा।' रोने लगा, कहा, 'बाबा जी ! यह क्या हुआ?' महात्मा ने कहा, 'हुआ क्या ! तूने मुझे खेल दिखाया था। मैंने इनाम में तुझे खेल दिखा दिया। यह राज्य और रानियाँ तेरे नहीं

थे, यह तो खेल दिखाया था। थोड़ी देर तक तूने खेल दिखाया तो थोड़ी देर तक मैंने भी दिखा दिया। यह सब वास्तविक नहीं था। तेरा सच्चा रूप तो यही है, इसी के आधार पर जी।' जब बहुत रोने-पीटने लगा तो महात्मा वहाँ से अन्तर्धान हो गये। मदारी भी समझ गया कि यह सब महात्मा की ही कृपा से हुआ था और चला गया। वह भी पहले की तरह वैसे ही अपना गुज़ारा निकालने लगा।

यह दृष्टांत है। जीव पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप बन्दरों और पाँच कर्मेन्द्रियरूप बकरियों को साथ लेकर मनरूप डुगडुगी बजाता हुआ इस संसार के विषयों के सामने नाचता रहता है। कभी इसको लड़का नचाता है, कभी मकान और कभी धन नचाता है। इन पदार्थों के सामने बेचारा नाचता रहता है। वे इसे फटे चीथड़े और सूखी रोटी के टुकड़े देते हैं। इसे वहाँ से कोई सुख नहीं मिलता। जिन बच्चों को उनके टट्टी-पेशाब उठाकर बड़ा किया, वे ही बड़े होकर कहेंगे, 'बाबूजी आपको बुद्धि तो है नहीं, सुनते तो हो नहीं।' यही फटे चीथड़े मिलने हैं। फिर भी उन विषयों के सामने नाचता रहता है। बेचारा क्या करे! कभी-कदाचित् कोई शुभ कर्म कर लेता है। जैसे वहाँ महात्मा के सामने कुछ नाच दिखाया ऐसे ही किसी समय परमात्मा के निमित्त यह भी कुछ कर लेता है जिसके फलस्वरूप परमात्मा की कृपा से उसे थोड़े सुख के पदार्थ मिल जाते हैं। उन सुख के पदार्थों को देखकर वह फिर कभी परमात्मा को याद नहीं करता ! उसी ऐश्वर्य-भोग में मस्त हो जाता है। नतीजा होता है कि जैसे ही शुभ कर्म समाप्त होते हैं, फिर वैसे का वैसा रह जाता है। वैसे ही गुज़ारा करता रहता है। जैसे वह

मदारी गाँव-गाँव में घूमता था, वैसे ही यह भी यहाँ अनेक योनियों, अनेक शरीरों में घूमता है। अलग-अलग नगर हैं, लेकिन जहाँ भी जाता है, वहाँ कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को साथ लेकर मन की डुगडुगी बजाकर खेलता है और संसार के विषयों के सामने खुद भी नाचता रहता है, बदले में उसे कुछ भी नहीं मिलता।

यहाँ अज (बकरा) और अवि (भेड़) के द्वारा बताया कि इस जीवन यज्ञ (पुरुषयज्ञ) के लिये जो प्राप्त पदार्थ हैं इनका प्रयोग यदि यह परब्रह्म परमात्मा के लिये न करके, अपनी इन्द्रियों को परमात्मा के काम में न लाकर, संसार के विषयों में काम में लाता है तो मदारी ही बना रहता है। यदि उन्हें परमात्मा के काम में ले आये तो अखण्ड आनंद-साम्राज्य को भोगने वाला हो जाता है। वह साम्राज्य उसे फिर कभी वापिस नहीं करना पड़ता। लेकिन वह ऐसा साम्राज्य क्यों नहीं पाता ? जैसे वहाँ मदारी को विश्वास नहीं था कि इन महात्मा से कुछ मिलेगा, इसलिये बिना श्रद्धा के थोड़ा-सा खेल दिखा दिया, पूर्ण श्रद्धा से नहीं दिखाया था, इसी प्रकार परमात्मा में श्रद्धा न होने के कारण जीव अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से परमात्मा में लगा नहीं पाता। सोचता है कि परमात्मा है भी या नहीं, पता नहीं ! यदि है भी तो क्या पता कि कर्म-फल देंगे या नहीं ? ये बेटे-पोते तो प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। इस अश्रद्धा के कारण परमात्मा के ऊपर विश्वास नहीं करता। इसलिये उस अनंत आनंद-साम्राज्य की प्राप्ति नहीं कर पाता।

प्रवचन-३२

'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षं पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।'

श्रुति ने यज्ञ, यज्ञ के अंगरूप से वेद और यज्ञ के अंग रूप से जिन पशुओं की आवश्यकता है उनका प्रतिपादन किया। यह यज्ञ समग्र सृष्टि को चलाने वाला प्रजापतिंरूप यज्ञ है। अब इसकी प्रधान बलि के विषय का निरूपण करते हैं। यज्ञ के अन्दर दो तरह की बलियाँ होती हैं—एक प्रधान बलि और दूसरा गौण बलि। प्रधान बलि वह होती है जिसके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता और गौण बलि वह होती है जिसके न होने से यज्ञ व्यंग (अंगहीन) तो होता है लेकिन पूर्ण हो जाता है; अर्थात् जिसके बिना यज्ञ हो तो सकता है लेकिन उसमें कुछ कमी रह जाती है, उसका अंग कम हो जाता है। श्रुति अब उस पुरुष का वर्णन करती है जो इस यज्ञ की प्रधान बलि है। इसके पहले गौण बलियाँ बताईं। उनकी अपेक्षा अब जिस पुरुष को बताना है, वह प्रधान बलि है।

श्रुति ने उसके प्रधानत्व को बताने के लिये उस पुरुष-पशु को ही यहाँ यज्ञ कह दिया। उस यज्ञ का प्रोक्षण किया। पुरुष को ही यहाँ यज्ञ कह दिया तो यह मतलब नहीं कि पुरुष यज्ञ हो गया, वरन् यज्ञ का प्रधान अंग होने के नाते पुरुष को ही यज्ञ नाम से कह दिया। लोक में भी प्रधान और पूर्ण के अन्दर एकता होती है। योग शब्द का प्रधान अर्थ समाधि है। किन्तु

समाधि के अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान—ये सब भी योग कहे ही जाते हैं। यदि समाधि की प्राप्ति हो गई तो ये अंग हों चाहे न हों, कुछ फ़र्क नहीं पड़ेगा। यदि समाधि की प्राप्ति नहीं हुई तो ये सारे अंग भी निष्फल हो गये। यदि यम, नियम आदि के अन्दर कोई त्रुटि है तो वह समाधि अंगहीन होगी लेकिन समाधि में कोई कमी नहीं आयेगी, क्योंकि फल उत्पन्न हो गया। मोटी भाषा में समझ लो कि यदि भात अच्छा बन गया तो दाल-साग कमज़ोर भी बने तो कोई हर्जा नहीं। मुख्य पेट भरना है, वह भर जायेगा। यदि दाल-साग अच्छे से अच्छे बने लेकिन भात ही नहीं है तो अंग हैं लेकिन प्रधान नहीं है ! जब प्रधान नहीं होगा तब साग-दाल बने हुए व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उस दाल-साग का क्या करोगे ? वे सारे भात खाने के लिये हैं। इसलिये यदि भात ही ठीक नहीं है तो दाल-साग ठीक होने पर भी पेट नहीं भर सकता। दाल साग उसके गौण अंग हुए, भात प्रधान अंग हुआ। इसी प्रकार यहाँ प्रजापति के सृष्टि नाम के यज्ञ में प्रधान पुरुष है, बाकी सब पश्वादि गौण हैं। इसलिये यहाँ प्रधान होने के नाते पुरुष को ही यज्ञ कह दिया।

पुरुष अपने आपकी बलि स्वतंत्रतापूर्वक देता है, बाकी सब की बलि परतंत्रतापूर्वक होती है। यहाँ प्रधानत्व में हेतु बता रहे हैं। पुरुष पशु को क्यों प्रधान बताया, अथवा पुरुष की बलि क्यों प्रधान बताई ? बाकी बलियाँ भी तो बलियाँ हैं, लेकिन पुरुष चूँकि स्वतंत्रतापूर्वक बलि देता है इसलिये उसे प्रधान पशु बताया। दूसरे परतंत्रतापूर्वक बलि देते हैं। घोड़े को बाँधकर मार डाला, यहाँ घोड़े की परतंत्रता है। अपने आपकी बलि तो तभी दे सकते

हो जब स्वतंत्रतापूर्वक दो। इसलिये पुरुष का प्राधान्य इस स्वातंत्र्य में है। यही कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का एक बड़ा भारी भेद है। ज्ञानकाण्ड का प्रारंभ स्वतंत्रता से है और कर्मकाण्ड का प्रारंभ परतंत्रता से है। कर्मकाण्ड की परिसमाप्ति परतंत्रता में और ज्ञानकाण्ड की परिसमाप्ति सर्वथा स्वतंत्रता में है। दोनों रास्ते अलग-अलग हैं। स्वतंत्रतापूर्वक जब वही काम परमेश्वर के लिये करते हो तब ज्ञान और वही काम जब परतंत्रतापूर्वक करते हो तब कर्म होता है। यही कर्म और ज्ञान के मार्गों का भेद है। बाह्य क्रिया अलग नहीं है। बाहर से जो करता दीखेगा, उसमें भेद नहीं होगा अर्थात् बाहर से तो कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनों वही क्रियायें करेंगे, बाहर से दोनों की क्रिया में भेद नहीं, एक-जैसी ही क्रिया करेंगे, लेकिन एक में जबरदस्ती है, और दूसरे में आज़ादी है। इसीलिये एक में आनंद है और दूसरे में दुःख है। परतंत्रता ही दुःख है। वह परतंत्रता चाहे मन की हो, चाहे शरीर की हो, चाहे कुटुम्ब की हो, समाज की हो, मृत्यु की हो और यहाँ तक कि वह परतंत्रता चाहे ईश्वर की हो ! जहाँ-जहाँ परतंत्रता का अनुभव है, वहाँ-वहाँ बंधन का, दुःख का अनुभव है। जहाँ-जहाँ स्वतंत्रता का अनुभव है, वहाँ-वहाँ सुख का, आनंद का और मोक्ष का अनुभव है। यही दोनों का फ़र्क है। इसीलिये यहाँ पुरुषबलि की प्रधानता है, क्योंकि पुरुष की बलि स्वतंत्रतापूर्वक होगी। इसीलिये पुरुषसूक्त ज्ञानकाण्ड में, उपनिषदों में गिना गया।

ज्ञान की चरमकाष्ठा देह, प्राण, मन, इन्द्रियाँ इन सबसे अलग हो जाना अर्थात् इन सबके बंधन से छूट जाना है। यही तो मोक्ष है। इनके बंधनों में बँधोगे, तब मुक्ति नहीं होगी। लेकिन यह

बंधन बड़ा मीठा लग गया है, इसलिये कोई इसे प्रारब्ध के नाम से रखना चाहते हैं। कहते हैं कि 'देह का प्रारब्ध तो भोगना ही है' अर्थात् इतनी परतंत्रता तो रखो। कोई ईश्वरेच्छा को मानते हैं। कोई उसके लिये दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं कि अविद्यालेश रह जाता है, माया की छाया रह जाती है, वासना-गंध रह जाती है। सब कर्तव्यों के नाम भिन्न-भिन्न रख दिये। वे तव्यत्-प्रत्यय से छूटना नहीं चाहते। सारी मीमांसा का कहना है कि जहाँ कुछ करने के लिये कह दिया गया है, वहाँ वेद प्रधान है। जैमिनि का सूत्र है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्' जहाँ कोई न कोई कर्तव्य बताया है, वही प्रधान है। उत्तर-मीमांसा ठीक इसके विरुद्ध है। वह कहती है कि वेद का प्रयोजन है 'तत्तु समन्वयात्', सबका ब्रह्म में समन्वय बताने के लिये वेद है, कर्तव्य बताने के लिये नहीं है। घूम-घामकर ज्ञान के मार्ग में भी लोग कहीं न कहीं से विधि का प्रवेश कराते हैं। वास्तविकता तो यह है कि विधि का तो क्या, विधि की छाया का भी प्रवेश नहीं है ! 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' के प्रसंग में शंका उठी है कि यहाँ क्या ज्ञान के लिये विधि की गयी है? क्या यह कहा है कि 'आत्मा का साक्षात्कार करे, आत्मा के विषय में सुने।' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि ये वाक्य 'विधिच्छाया' हैं, सुनाई ही विधि जैसे देते हैं, विधि है नहीं। यहाँ तव्यत् का मतलब विधान नहीं है; 'देखो' यह मतलब नहीं है। अतः यह विधि की छाया है, विधि नहीं है। इसका अर्थ केवल इतना है कि आत्मा देखने लायक है; देखो—यह विधि नहीं है। ज्ञानकाण्ड वाला सर्वथा विधि का प्रवेश नहीं मानता और

कर्मकाण्ड वाला विधि के प्रवेश पर ही ज़ोर देता है। बाह्य क्रिया तो एक ही करते हैं लेकिन वह स्वतंत्रता-पूर्वक करता है, कर्मकाण्डी परतंत्रतापूर्वक करता है।

स्कन्द पुराण में एक कथा आती है। जंगल में रहने वाला एक भील था, उसका नाम चण्ड था। जहाँ वह रहा करता था वहाँ एक प्राचीन शिव-मन्दिर था। उसमें शिवलिंग था। लेकिन अनेक वर्षों से उस जंगल में न कोई ब्राह्मण आता-जाता था और न कोई पूजा होती थी। यद्यपि अतिदीर्घ काल से वह मन्दिर और मूर्ति थी लेकिन पूजारहित थी। चण्ड ने एक बार मन्दिर में उस मूर्ति को देखा। मन्दिर में चारों तरफ चमगादड़ रहा करते थे। उनको देखकर चण्ड को बड़ी चोट लगी और उसके मन में प्रेम उदय हो गया। उसने सोचा, 'अरे ! यहाँ भगवान् रहते तो हैं लेकिन उनकी सेवा कोई नहीं करता। इसलिये मैं ही उनकी सेवा करूँ।' उसके मन का भाव था कि यद्यपि भगवान् तो हैं लेकिन कोई दिल से उनकी सेवा करने वाला नहीं है। ब्राह्मण सोचते थे कि इस घोर जंगल में आकर क्या मिलेगा !

यह उस भील के मन में आया तो उसने घर आकर घरवाली से कहा कि 'मेरी बड़ी इच्छा है कि इस मन्दिर को साफ़ करके इसमें नियम से पूजा किया करूँ।' भीलनी ने भी उसका समर्थन किया कि 'बड़ा अच्छा विचार है।' दोनों जुट गये और सारे मन्दिर की सफाई की। चमगादड़ों को भगाया, पक्षियों को दूर किया। जैसे-जैसे उसकी सफाई करने लगे, वैसे-वैसे मन्दिर में चमक आ गई और मन्दिर बढ़िया सुन्दर हो गया। वहाँ जितनी काई जमी थी, उसे दोनों ने मिलकर साफ कर दिया। अब मन्दिर नया-जैसा

निकल आया, नहीं तो पुराना और बुड्ढा हो गया था। उनकी सेवा से नया और ताज़ा हो गया। उसकी पत्नी कहने लगी 'मन्दिर तो बहुत बढ़िया हो गया है, नक्काशी भी इसकी बड़ी सुन्दर है, इसका निर्माण भी बड़ा अच्छा है। सब चीज़ें अच्छी हैं, लेकिन जीर्ण हो जाने से हम लोग साधारण समझते थे। अब इसकी चमक देखकर मन में होता है कि इसकी पूजा विधि-विधान से होनी चाहिये।' भील कहने लगा कि 'मैं विधि-विधान से पूजा के लिये ब्राह्मण कहाँ से लाऊँगा, और कौन ब्राह्मण यहाँ आयेगा ?' भीलनी ने उपाय निकाला, और कहा 'किसी नगर के अन्दर जाकर किसी ब्राह्मण को गुरु बनाकर उससे भगवान् शंकर की पूजा-विधि सीख लो।' पत्नी की यह बात उसे जँच गई।

चण्ड नगर में गया। वहाँ राजा का बड़ा सुन्दर मन्दिर था। उसके पुजारी से कहने लगा 'मुझे मंत्र दे दो और पूजा करना सिखा दो। मैं भी पूजा करूँगा।' ब्राह्मण ने ऊपर-नीचे देखकर पूछा, 'तू किस जाति का है ?' उसने कहा, 'मैं तो भील हूँ।' ब्राह्मण ने कहा, 'तुम लोगों का काम पूजा करना नहीं है, कहाँ पूजा करेगा तू ?' भील हाथ जोड़कर कहने लगा 'मेरी बड़ी इच्छा है। मैं जिस जंगल में रहता हूँ, वहाँ एक शिव-मन्दिर है, लेकिन कोई पूजा नहीं करता। बड़ा पुराना मन्दिर है। मेरी वहाँ पूजा करने की बड़ी इच्छा है।' ब्राह्मण उसका हृदय नहीं समझा, क्योंकि कर्मकाण्डी था। उसने केवल विधि का ही विचार किया और कहा 'मन्दिर में पूजा करने का अधिकार तो केवल ब्राह्मण को ही है, तुमको नहीं है।' कर्मकाण्डी कहता है कि चाहे मन्दिर बिना पूजा के पड़ा रहे लेकिन करे तो ब्राह्मण ही पूजा करे। उस घोर जंगल में कोई

ब्राह्मण पूजा करने को तैयार था नहीं। जैसे आधुनिक काल में ब्राह्मण से कहो कि 'वेदाध्ययन करो' तो कहते हैं कि कमाई से ही फुर्सत नहीं है। ब्राह्मणेतर को भी वेद पढ़ने नहीं देगा। शास्त्र ने विधि की कि ब्राह्मण वेद ही पढ़े। यदि ब्राह्मण वेद का अध्ययन छोड़कर दूसरी चीज़ों में श्रम करता है वह राख की ढेरी में आहुति डालने की तरह निष्फल है। यह ब्राह्मण को नहीं जँचेगा, लेकिन दूसरे वेद न पढ़ें, इस पर बहुत ज़ोर देता है। चण्ड विधि को नहीं, प्रेम की दृष्टि से देख रहा था। वह देख रहा था कि यदि ब्राह्मण चलकर भगवान् का पूजन करे तो बड़ा अच्छा, नहीं तो कम-से-कम पूजा तो हो। यह दोनों के दृष्टिकोण का फ़र्क है। विधि वाला कहता है, चाहे पूजन नहीं, प्रेम वाला कहता है कि पूजन ज़रूर होना चाहिये, विधि से क्या है! चण्ड ने बहुत प्रार्थना की लेकिन पण्डित जी टस से मस नहीं हुए। बेचारा दुःखी होकर वापस आ गया।

पत्नी ने पूछा, 'सीख आये ?' कहा, 'सीखता कहाँ से, पण्डित जी सिखा नहीं रहे थे।' तब तक उस देश का राजा वहाँ शिकार करने आया। शिकार करते हुए राजा उस घोर जंगल में निकल गया जहाँ चण्ड रहता था। वहाँ राजा के ऊपर शेरों ने आक्रमण कर दिया। चण्ड ने देखा कि राजा अकेला है तो झट वह अपने शस्त्रास्त्र लेकर पहुँचा। शेरों को मार डाला और राजा बच गया। राजा बड़ा प्रसन्न हो गया और कहने लगा, 'तू जो चीज़ चाहे माँग ले।' उसने कहा, 'भगवन् ! मेरी यही इच्छा है कि मैं शिव-मन्दिर के अन्दर शिव-पूजन करूँ।' राजा ने कहा 'कर ले पूजन, क्या बात है ?' भील ने कहा 'आपके पंडित जी पूजन करना सिखायें

तो काम हो।' राजा ने विचार किया 'यह ज़्यादा पढ़ा-लिखा नहीं है, पंडित जी मानेंगे नहीं।' कहा 'मैं ही तुझे पूजन की विधि सिखा देता हूँ। मेरी बताई हुई विधि से तू पूजन कर लिया करना क्योंकि मैं भी तो पूजन करता ही हूँ।' भील को तो प्रेम था। कहा, 'आप ही सिखा दो, मुझ को तो केवल पूजा करने से मतलब है।' राजा ने कहा, 'दिया जला देना, स्नान कराने के बाद भगवान् शंकर पर फूल, अक्षत चढ़ा देना, थोड़ा-सा नैवेद्य लगाकर चिता-भस्म लगा दिया करना। बस इतना ही कर लेना, भगवान् शंकर का पूजन बड़ा सरल है।' उसने याद कर लिया और अब विधिवत् पूजा करने लगा।

भगवान् का सुन्दर पुष्पों से शृंगार करे, धूप-दीप जलाये और उनके सामने बड़े प्रेम से गाये और नृत्य करे। इस प्रकार काफी दिनों तक उसके पूजन का क्रम चलता रहा। चाहे उसकी तबियत खराब हो, चाहे उसको ज्वर आये, चाहे कोई भी परिस्थिति बने, लेकिन वह पूजन नहीं छोड़ता था। यहाँ भी कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी का फ़र्क समझना, क्योंकि यहाँ पुरुष-यज्ञ बता रहे हैं : कर्मकाण्डी को जब कहते हैं कि 'रोज़ पूजन करना' तो उसका प्रथम प्रश्न होता है—महाराज ! तबियत खराब हो तो माला ले सकते हैं या नहीं ? कर्मकाण्डी को जब कहा जाता है तो वह पूछता है कि कौन-कौन से मौकों पर *नहीं* करना है, क्योंकि उसका हृदय तो न करने में है, किसी फल की इच्छा से बेचारा करने में लगा है। ज्ञानकाण्डी को जब कहा जाता है कि 'यह करना' तो वह नहीं पूछता कि 'कब नहीं करना ?' उलटा यदि कोई कह दे कि 'अमुक दिन नहीं करना' तो वह कहता है कि 'बिना किये

कैसे रहूँगा ?' यह दोनों की दृष्टि में फ़र्क है। ज्ञानकाण्डी सत्संग में आता है तो उसका दृष्टिकोण है कि यदि शहर से बाहर चला गया तो मेरा जीवन बिना सत्संग के कैसे रहेगा ? और कर्मकाण्डी को न आने के लिये थोड़ा-सा बहाना मिलना चाहिये। 'आज तो पानी बरस गया था, आज घर में मेहमान आ गये थे, आज बच्चे की तबियत खराब हो गई थी।' कर्मकाण्डी किसी न किसी निमित्त से उस मौके पर छूटने में खुशी का अनुभव करेगा क्योंकि वह बंधन से, परतंत्रता से करता है। वह सोचता है कि 'यह कर्म करूँगा तो इससे पुण्य उत्पन्न होगा, देवता खुश होंगे। इसलिये यदि किसी जायज़ कानून से बच जायें और फल मिलता रहे तो बेहतर है।' बचना ही प्रधान है। ज्ञानकाण्डी को कह भी दें कि 'आज तुम्हारे घर में ब्याह है, नहीं आ सकोगे' तो कहता है कि 'बिना आये तो मुझसे नहीं रहा जायेगा।' यदि किसी कारण से रह भी गया तो वहाँ दुःखी होता रहेगा, तड़पता रहेगा कि 'मेरे ऊपर यह आपत्ति कहाँ से आ गई।' यही कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी का आधारभूत भेद है। यह इसलिये बता रहे हैं कि यह अपने हृदय में एक तरह का मापदण्ड लगा हुआ है। इससे पता लग जाता है कि हम परमात्मा की तरफ जा रहे हैं या संसार की तरफ जा रहे हैं। बाहर से क्रिया तो दोनों एक-जैसी ही रखेंगे। एक का निरंतर विचार है कि 'करना कैसे छोड़ दूँ' और दूसरे का विचार है कि 'कौन-सा ऐसा निमित्त मिल जाये कि करना छूट सके।'

चण्ड के ऊपर चाहे जितनी आपत्ति आ जाती थी, वह विधिवत् पूजन अवश्य कर लेता था। राजा ने जितना बताया था उतना करता था और कोई रुद्रीय के मंत्र उसे याद नहीं थे !

इस प्रकार करते एक युग (बारह वर्ष) बीत गया। एक बार सात दिन तक निरंतर पानी बरसता रहा। जंगल का मामला था। जिस श्मशान से वह चिताभस्म लाता था, वहाँ इन दिनों में कोई शव जलाने को नहीं लाया। उसके पास चिताभस्म समाप्त हो गई थी। अब वह बड़ी चिन्ता में पड़ा कि 'आज प्रभु का पूजन कैसे होगा?' दुःखी हो कर रोने लग गया। घरवाली ने पूछा कि 'आज सवेरे-सवेरे यह क्या मामला है ?' सवेरे उठते ही वह फूल आदि लेने जाता था। आज यह रोना कैसे शुरू हो गया ! उसे तो यही चिन्ता थी कि 'पूजन कैसे करूँ।' यदि कोई कर्मकाण्डी होता तो पता लगाता कि भस्म नहीं मिले तो क्या किया जाये ? क्योंकि उसके सोचने का तरीका ही अलग होता है। घरवालीने कहा 'श्मशान जाओ और भस्म ले आओ।' कहा 'रोज़ सात दिन से जाता हूँ। भयंकर वृष्टि होने के कारण पुरानी सब चिताभस्म बह गई है और अब इस वृष्टि में वहाँ कौन शव जलाने आये !' भीलनी ने कहा, 'घबराओ नहीं, आप पूजन की सामग्री तैयार करो मैं अभी भस्म लाती हूँ। भील हँस पड़ा कि 'तू कहाँ से लायेगी, मुझसे ज़्यादा पता है क्या तुझे ?' उसने कहा 'यह मैं बाद में बताऊँगी लेकिन आपको भस्म मिल जायेगी। आप बाकी इन्तजाम करो।' भील ने समझा शायद उसके पास होगी।

वह गया और फूल, अक्षत इत्यादि की तैयारी की। वापिस आया, चण्ड की पत्नी ने बाकी सारी सामग्री उठाकर एक वट-वृक्ष के नीचे रख दी। चण्ड ने आकर पूछा कि 'यह घर की सारी चीज़ें बाहर क्यों रख दीं ?' उसने झोंपड़ी में जाकर दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर दिया और कहा कि 'अब मैं अपने को आग लगा लूँ।

थोड़ी देर में आपको भस्म मिल जायेगी।' चण्ड ने कहा 'संसार में सबसे कठिन शरीर की प्राप्ति मानी गई है, बड़ी मुश्किल से यह शरीर मिलता है, ऐसे शरीर को तू बिना निमित्त के इस प्रकार जला देगी ?' तब तक उसने अंदर से आग लगा ली थी और हँसकर बोली, 'चण्ड ! इस प्रकार की बात तुम्हारे मुँह से शोभा नहीं देतीं ! मैं और सारा शरीर परमात्मा के कार्य आये, इससे श्रेष्ठ इसका उपयोग और क्या हो सकता है ? मेरे अंग-प्रत्यंग उनके काम आ जायेंगे।' वह उस भाव का वर्णन करते हुए कहती है

'पुष्पाणि संतु तव देव ममेन्द्रियाणि,
धूपोऽगरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः।
प्राणा हवींषि करणानि तवाऽक्षताश्च
पूजाफलं व्रजतु साम्प्रतमेष जीवः।।'

आज भगवान् शंकर के काम मेरी इन्द्रियाँ आ गईं। इन्द्रियाँ मानों फूल हों। लोक में भी इन्हें फूल की उपमा देते हैं। जैसे आँख रूपी इन्द्रिय की उपमा कमल से देते हैं कि 'उसके कमल जैसे नयन हैं।' ऐसे ही मुखकमल, कर-कमल, चरण कमल—इत्यादि इन्द्रियों की उपमा कमल से देते हैं। सारी इन्द्रियाँ मानों फूल हों। हे देवाधिदेव महादेव ! मेरी ये इन्द्रियाँ आज आपके लिये फूल की तरह चढ़ रही हैं। जैसे फूल से सुगन्धि सूँघकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के ज्ञान के द्वारा अन्दर रहने वाला परमात्मा प्रसन्न हो जाता है। जैसे हवा फूल से सुगन्धि लेकर आती है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ पदार्थों से ज्ञान लेकर आती हैं। उसी

ज्ञान के द्वारा अंदर रहने वाला देवाधिदेव महादेव प्रसन्न हो जाता है। इसलिये इन्द्रियाँ फूल की जगह पर हैं। जैसे पुष्प अपहरण करके लाते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ पदार्थों का अपहरण करके लाती हैं, उसकी सुगन्धि-दुर्गन्धि दोनों को इन्द्रियाँ ही बताती हैं। शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय आज उस परब्रह्म परमात्मा को चढ़ रही है, ये फूल हैं यह समझकर आज मैं उनको दे रही हूँ।

उसने चण्ड से कहा—आप कह रहे हैं कि यह शरीर आज चला जायेगा। आपको लगता है कि यह शरीर आज समाप्त हो जायेगा। लेकिन मेरा यह शरीर कभी भी खत्म होने वाला नहीं है ! यह शरीर अगरु का धूप है। मेरा शरीर अगरु जैसा है। भीलनी काली तो थी ही, अगरु का रंग भी काला होता है ! मेरा शरीर धूप है, यह नष्ट नहीं होगा। जैसे जो धूप जलकर भगवान् के नथुनों में पहुँच गया, वह क्या कभी नष्ट हो सकता है ? जिसका नित्य के साथ सम्बन्ध हो गया, शिव ने जिसे ग्रहण कर लिया, वह क्या कभी समाप्त हो सकता है ? जैसे अगरबत्ती के बीच में लकड़ियाँ होती हैं और चारों तरफ अगरु चढ़ा होता है, उसी प्रकार हमारी रीढ़ की हड्डियाँ और शरीर की अन्य हड्डियाँ कड़ी होती हैं, वे लकड़ी की जगह पर हैं।

'हृदयं प्रदीपः' यह जो मेरा हृदय है, यही दीपक है। जैसे दीपक से रोशनी निकलती रहती है, वैसे ही हृदय से परमात्मा को विषय करने वाली वृत्तियाँ निकलती रहती हैं। परमात्मा को हृदय ही तो विषय करेगा। परमात्मा को विषय, आँख, नाक, कान इत्यादि नहीं करेंगे। यह श्रुति ने बार-बार स्पष्ट किया कि बाह्येन्द्रियाँ परमात्मा को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

इतना कहकर श्रुति चुप नहीं रही कि वह वाणी का विषय नहीं है; वाणी का अविषय ब्रह्म है—इतना कहकर चुप नहीं रही बल्कि कहा कि जिसे तू अपने से भिन्न समझकर वाणी के द्वारा विषय करने जा रहा है, वह ब्रह्म नहीं है। तू आँख द्वारा रूप की तरह जिसे विषय कर सके, वह परमात्मा नहीं है। चूँकि परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिये इन्द्रियों की विषयरूपता लाना उसके लिये व्यर्थ है। इसका प्रयत्न ही व्यर्थ है। वह तो हृदय से दीखेगा।

इसीलिये हृदय को यहाँ प्रदीप बताया 'हृदयं प्रदीपः'। आज मेरा यह हृदय सर्वतोभावेन परमात्मा को चढ़ रहा है। इसके पहले भी हृदय की वृत्ति परमात्मा को विषय तो करती थी लेकिन बीच-बीच में दूसरी चीज़ें आ जाती थीं। यह एक नियम माना है कि देव और देवपूजक के बीच से यदि कोई चीज़ निकल जाये तो वह पूजा खण्डित हो जाती है। जैसे तुम्हारे सामने शिवलिंग रखा है और तुम पूजन कर रहे हो। यदि तुम्हारे और लिंग के बीच कोई दूसरी चीज़ या दूसरा आदमी चला जाये तो वह पूजा खण्डित हो जाती है। मेरा हृदय-प्रदीप परमात्मा को पहले विषय तो करता था लेकिन कभी-कभी अन्य चीज़ें आ जाती थीं, इसलिये फिर-से पूजा शुरू करनी पड़ती थी। लेकिन आज यह हृदय ऐसा विषय करेगा कि इसके अन्दर अब कोई विघ्न आने वाला नहीं है।

आगे चण्ड-पत्नी कहती है कि कुछ नैवेद्य भी चढ़ाना है। आप कह रहे हैं कि 'ये अत्यंत दुर्लभ प्राण तुम कैसे छोड़ोगी ?' लोग समझते हैं कि प्राण का त्याग करना बड़ा कठिन है। बाकी सब

चीज़ें छोड़कर भी मनुष्य अपने प्राणों की रक्षा करता है, लेकिन परमात्मा तो प्राणों से भी अधिक प्रिय है, इसलिये मेरे ये प्राण आज उनके लिये नैवेद्य बन रहे हैं अर्थात् परमात्मा ही मेरे प्राणों को ग्रहण कर रहे हैं। तुम कहते हो 'मृत्यु हो रही है' और मैं कहती हूँ कि आज परमात्मा के द्वारा मेरा ग्रहण हो रहा है, मुझे वे स्वीकार कर रहे हैं।

पूजा में अक्षत, चन्दन आदि भी चढ़ाते हैं। मेरा अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) ही अक्षत है। *अक्षत* इसलिये कहा कि वही मन परमात्मा को चढ़ सकता है जो क्षत नहीं हुआ है या जो टूटा नहीं है। आजकल लोग अक्षत का अर्थ ही नहीं जानते, इसलिये चावल का मुट्ठा भर कर चढ़ा देते हैं ! चावल नहीं कहा, अक्षत कहा है। क्षत मायने टूटना और अक्षत मायने जो टूटा न हो। इसलिये चावल को चुनकर लाना पड़ता है। ऐसा ज्ञानकाण्डी लोग करते हैं। कर्मकाण्डी कहता है कि इसमें दस टूटे हैं तो दो साबुत भी तो हैं, इसलिये हमारा पुण्य तो हो गया, आगे बीनने का काम पार्वती जी करती रहेंगी ! अगर हमारे ऊपर फूल चढ़ाया और हम कहें कि इस फूल में तो पानी है या कीड़ा है या बताशे की चिपचिपाहट है, तो कहते हैं कि 'यह दोष तो माली का या फूल बेचने वाले का है, वह इसमें मिला देता है।' उनका मतलब है कि 'फूल चढ़ाने वाला पुण्य तो हमें हो गया, पानी वाले हिस्से का आपको जो दुःख हुआ, वह आप ही जानो, हमारा कसूर नहीं है।' लेकिन जो ज्ञानकाण्डी होगा, वह तो अक्षत ही चढ़ायेगा। इसी प्रकार यहाँ चण्ड-पत्नी कहती है कि मेरा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अक्षत है। अंतःकरण को संसार की

वासनाओं से तोड़ते हो, वेही तो अंतःकरण को क्षत कर देती हैं, उसमें घाव भर देती हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य सारे मन में (अंतःकरण में) घुसकर इसे चलनी बना देते हैं। जैसे चलनी में चाहे जितना पानी डालो, भरते हुए दीखता तो है, लेकिन थोड़ी देर बाद वैसा का वैसा खाली ही रहता है। इसी प्रकार राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि से चलनी बने हुए अंतःकरण में चाहे जितना ज्ञान डालो, लेकिन थोड़ी ही देर के बाद वह सब बह जाता है और मन फिर वैसा का वैसा ही रहता है। लोग प्रश्न करते हैं—'महाराज ! इतने साल सत्संग करने का नतीजा क्या हुआ ?' जैसे चलनी में पानी डालने वाले को सिवाय निराशा के और कुछ हाथ आने वाला नहीं है, वैसे ही राग, द्वेष आदि से आक्रांत अंतःकरण के अन्दर परमात्म-ज्ञान डालने वाले को भी आशा कभी नहीं मिलेगी, निराशा ही मिलेगी। चाण्ड-पत्नी कहती है कि मेरा अंतःकरण इन दोषों के द्वारा आक्रान्त नहीं है, इनके द्वारा चलनी नहीं बना है, उसमें कोई छेद नहीं है। इसलिये जब एक-बार परमात्मा आकर इसमें बैठ गये तो बाहर निकलने का प्रश्न ही नहीं है। चूँकि मेरा अंतःकरण अक्षत है, इसलिये समर्पण करती हूँ। अविचारशील कर्मकाण्डी अपने अंतःकरण को चलनी बनाकर समर्पण करने की बात करता है तो वह समर्पण व्यर्थ चला जाता है, क्योंकि वह समर्पण हो ही नहीं सकता।

मेरी यह जो सर्वस्व-समर्पण रूपी पूजा है, उसका फल यह जीव प्राप्त करे। यह ख्याल रखना कि वह यह नहीं कह रही है कि 'इस पूजा का फल *मुझे* मिले' क्योंकि अहंकार तो अर्पण कर दिया! यदि कोई जीव नाम का पदार्थ है तो वह फल पाये। 'एष

जीवः'—जीव को स्वयं से अलग कर कहा। चिदाभास भी तो साक्षी की दृष्टि से अनात्मा ही है ! ज्ञानी का अनुभव यह नहीं होता कि मुक्ति हो गई। उसका अनुभव होता है कि जो कोई एक बंधन वाला पदार्थ था, वह अब नहीं रहा, इसलिये ज़रूर मुक्ति हो गई होगी, दिखाई नहीं देती।

तब तक आग अच्छी तरह जल गई और भीलनी उसमें जल गई। भील भी ऐसा ही दृढ भक्त था। उसने भी वह चिताभस्म ली और जाकर बड़े प्रेम से पूजन किया। आज उसके पूजन में विलक्षण आनंद भी था क्योंकि आज की चिताभस्म साधारण नहीं थी, उसकी प्रिय पत्नी की भस्म थी। पूजन के बाद गाने लगा और नाचने लगा। रोज़ दोनों नाचते थे। आज अकेला ही नाच रहा था। लेकिन आज भी देखता है कि वह भी नाच रही है। आँखें रगड़कर देखने लगा कि कहाँ से आ गई ? पूछा, 'तू तो जल गई थी ?' उसने कहा, 'मुझे पता नहीं कि आग जली, लेकिन मुझे ऐसा लगा कि मैं अत्यंत ठण्डी हूँ। मुझे अत्यन्त शीतलता का बोध हुआ। बस इसके बाद आपको पूजा में गाते देखा तो मैं भी आकर नाचने लगी।' भगवान् शंकर वहाँ प्रकट हो गये और कहा कि 'अब तुम लोगों को यहाँ रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।' इस प्रकार उनका काम समाप्त हो गया और भगवान् शंकर उन्हें अपने कैलास धाम में ले गये।

यहाँ बता रहे हैं कि पुरुष की यज्ञरूपता क्या है अर्थात् सर्वथा स्वतंत्र होकर चण्डपत्नी नामक पुरुष ने अपनी बलि दे दी, यह स्वतंत्रतापूर्वक बलि है। चण्ड ने नहीं कहा था, न उसे कोई भय था। यह प्रेमपूर्वक अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना,

यही पुरुषरूपी यज्ञ बन जाना है। फिर मनुष्य को पता नहीं लग सकता कि ' मुझे क्या अच्छा लगता है।' अभी तक मनुष्य का हृदय प्रतिक्षण सोचता है कि 'यह मुझे अच्छा लगता है और यह अच्छा नहीं लगता।' जो चीज़ कभी अच्छी नहीं लगती वह भी जब तुम परमात्मा को समर्पित कर देते हो तब अच्छी लगने लग जाती है क्योंकि वह स्वतंत्रतापूर्वक देना है। श्रुति पुरुष को यज्ञरूप कह रही है। क्योंकि पुरुष ही उसका प्रधान अंग है। जैसे चण्ड-पत्नी ने स्वतंत्रतापूर्वक अपना सर्वस्व समर्पित किया, इसी प्रकार यह पुरुष सर्वस्व अर्पण करे। 'मुझे इस पूजा का फल मिले', यह भाव भी नहीं रखना है। बाकी सब भाव मनुष्य हटा देता है तो भी यह भाव कहीं दबा रहता है कि 'इस पूजा का फल तो मुझे मिले।' भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'अनिच्छन्नपि मुच्यते'। यदि हृदय में यह इच्छा है कि 'मेरी मुक्ति हो' तो वह इच्छा ही मुक्ति का प्रतिबंधक बन जाती है। 'मेरी मुक्ति हो' यह मुक्ति के लिये प्रतिबंधक है। 'मुझे नींद आ जाये' यह जिसके मन में होता है उसे नींद नहीं आती। डाक्टर कहते हैं कि यह विचार ही नींद लाने में प्रतिबन्धक है। भूल जाओ और आनंद से लेट जाओ तो नींद आ जायेगी। इसी प्रकार 'इस सारी पूजा का फल मुझे मिले', इसी इच्छा से फल नहीं मिलता। जब 'परमात्मा ही इसके फल को भोगें' यह सोचकर अपने आपको सर्वथा हटा देते हो तब उस पूजा में आनंद और सुखानूभूति आ जाती है। जब मनुष्य इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्वक अपना सर्वस्व अर्पित करता है तब इस पुरुषयज्ञ का प्रधान पशु बन जाता है। स्वतंत्रता ही यहाँ प्रधानता है।

प्रवचन-३३

यज्ञ के निरूपण के बाद यज्ञ के प्रधान अंगरूप पुरुष का विचार प्रारंभ हुआ। यहाँ पुरुष को यज्ञ कह दिया है। पुरुष को यज्ञ इसलिये कह दिया कि पुरुष ही प्रधान बलि है। पुरुष यज्ञ-रूप से दूसरी बार उत्पन्न होता है। श्रुति ने बताया कि यजमान की दो उत्पत्तियाँ होती हैं। 'द्विर्ह वै यजमानो जायते' यह सामवेद के जैमिनीय ब्राह्मण में बताया कि यजमान दो बार पैदा होता है। इसीलिये उसे द्विज कहते हैं। 'मिथुनाद् अन्यत् जायते यज्ञात्'। 'मिथुनात्' अर्थात् माता-पिता से इसकी उत्पत्ति और है तथा 'यज्ञाद् अन्यत् जायते' यज्ञ से इसकी उत्पत्ति अन्य है। एक माता-पिता से होने वाला जन्म और दूसरा यज्ञ से होने वाला जन्म। आगे श्रुति ने इनमें फ़र्क बताया। 'यन्मिथुनात् जायते तद् अन्त्यम् इह लोकेषु' माता पिता से जिस शरीर का जन्म होता है वह मरणधर्मा शरीर का जन्म होता है। वह अन्त्य है, क्योंकि उसका अंत हो जाता है, मृत्यु हो जाती है और 'इह लोके' उस शरीर से केवल इस लोक की सिद्धि होती है। लोक मायने रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श—इन्हें लोक कहते हैं 'लोक्यन्ते इति लोकाः।'

अर्थात् प्रत्यक्ष से अनुभव में आने वाले पदार्थ माता-पिता से उत्पन्न होने वाले शरीर से व्यवहार में आते हैं। 'यत् यज्ञात् जायते' जो यज्ञ से उत्पन्न होता है वह 'अमुष्मिन् लोकाय' यज्ञ से उत्पन्न होने वाला शरीर यहाँ के सांसारिक भोगों के लिये उत्पन्न नहीं होता। वह 'अमुष्मिन् लोक' के लिये है, अर्थात् इन रूप, रस आदि

से जो उत्कृष्ट चीज़ें हैं, उनके भोग के लिये उत्पन्न होता है।

वह जन्म कहाँ होता है ? 'बर्हिषि' । बर्हि अर्थात् अग्निस्वरूप। बर्हि अग्नि को कहते हैं। बर्हि शब्द वस्तुतः 'बृह वृद्धौ' धातु से बना है। इसलिये बर्हि का अर्थ होता है जो बढ़ता रहे। अग्नि को भी बर्हि इसीलिये कहते हैं कि आग जैसे-जैसे जलती है वैसे-वैसे बढ़ती जाती है। परमात्मा को भी इसीलिये बर्हि कहते हैं कि वह भी अतिव्यापक होने से अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा बढ़ता चला जाता है। जो यज्ञ से उत्पन्न हुआ पुरुष है उसका जन्म सांसारिक भोगों के लिये नहीं, अमुष्मिन् लोक के लिये है। इसलिये वह जन्म कहाँ पर है ? तो कहा 'बर्हिषि' सर्वव्यापकता में ही यज्ञ से उत्पन्न होने वाले इस पुरुष की आहुति दी जायेगी इसीलिये पुरुष-यज्ञ बड़ा कठिन हो जाता है क्योंकि अपनी अहंता, अपनी देह आदि के प्रति इतनी ज़्यादा आसक्ति होती है कि हम परमात्म-ज्ञान को भी इस देह और अहंता के अंदर ही लाना चाहते हैं। इसलिये अनुभवातीत पदार्थ की तरफ हमारी दृष्टि जाती ही नहीं। अनुभवातीत विषय को हम आगे के लिये छोड़ना चाहते हैं। इस काल में हम उस अनुभवातीत विषय को अनुभव के साथ एक करना चाहते हैं।

जैसे आकाश को यदि तुम मुट्ठी में बाँधना चाहो तो नहीं बाँध सकते। आकाश को मुट्ठी में बाँधने का प्रयास ही निष्फल है। श्रुति उद्घोष करके कहती है 'अदृश्यम् अव्यवहार्यं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं' कि वह अव्यवहार्य है, अदृश्य है, उसको व्यवहार के अन्दर, व्यवहार की दृष्टि में बाँधना वैसे ही है जैसे आकाश को मुट्ठी में बाँधना। आकाश के साथ कोई झगड़ा करे कि हम

तुमको मुट्ठी में बाँध लेंगे तो क्या वह कभी सफल हो सकता है ? इसी प्रकार परमात्मा को जब हम रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि में बाँधना चाहते हैं तो कभी नहीं बाँध सकते। जब हम मुट्ठी में बाँधते हैं तो लगता है कि आकाश को बाँध लेंगे, इसी प्रकार जब हम परमात्मा को रूप, रस आदि के अन्दर बाँधना चाहते हैं तो लगता है कि हमने उसे देख लिया, और छू लिया। लेकिन होता क्या है, कभी सोचा ? जितनी-जितनी मुट्ठी बाँधते जाओगे, उतना-उतना आकाश बाहर होता जायेगा! यदि हाथ चौड़ा रखा है तो बृहत् आकाश रहता है और जैसे-जैसे हाथ संकुचित करोगे, उसे भींचोगे तो बीच की पोल कम होती जायेगी और पक्की मुट्ठी भींच लोगे ता कहीं पोल नहीं रह जायेगी। इसी प्रकार रूप, रस आदि इन्द्रियों के द्वारा जब हम परमात्मा को विषय करने जाते हैं तब लगता तो है कि हमने उसे विषय कर लिया, लेकिन वह और दूर होता चला जाता है, क्योंकि वह अव्यवहार्य है, व्यवहार के अयोग्य है, व्यवहार का विषय नहीं है। इसलिये उसको जितना-जितना मुट्ठी में बाँधते हैं, उतना-उतना वह दूर होता है।

फिर उसे पाने का तरीका बताया 'प्रपंचोपशमं शांतं शिवमद्वैतं' उसे पकड़ना चाहते हो तो मुट्ठी के द्वारा नहीं, प्रपंच की उपशांति के द्वारा पकड़ सकते हो। यदि आकाश अर्थात् अवकाश को पकड़ना चाहते हैं तो क्या करते हैं ? किसी से कहो 'तुम्हारी पेटी में हमने भी थोड़ा-सा सामान रखना है, इसलिये उसमें थोड़ा-सा आकाश (खाली जगह) कर लो', तो वह क्या करता है ? वह तो उसमें से कुछ निकाल लेता है। जब उसमें से उसने चार कपड़े

निकाल लिये तो उसमें आकाश पकड़ में आ गया। इसीलिये श्रुति ने उपाय बताया कि चूँकि वह अव्यवहार्य है, इसलिये उसको यदि जानना चाहते हो, पकड़ना चाहते हो, छूना चाहते हो और यहाँ तक कि उसमें अपने आपको लीन कर देना चाहते हो तो प्रपंच को हटाना पड़ेगा। रूप, रस, स्पर्श और गंध ये पाँच ही प्रपंच हैं। आकाश को पकड़ने का प्रकार मुट्ठी भींचना नहीं, खोलना है। आकाश को पकड़ कर पेटी में नहीं ला सकते, उसमें से कपड़ों को निकालते चले जाओ तब आकश मिल जाता है। उसी प्रकार प्रपंचों को हटाते चले जाओ तो परमात्मा प्राप्त होता चला जायेगा। सारे कपड़े निकाल दिये तो पेटी में आकाश ही रह जायेगा। यदि पेटी में तुम आकाश को पकड़ना चाहते हो तो उसका यही तरीका है कि उसमें और किसी चीज़ को रहने न दो। इसी प्रकार से परमात्मा को पकड़ने का तरीका हुआ रूप, रस आदि जितना प्रपंचमय जगत् है उससे अपने आपको खाली कर देना है। प्रपंचों के द्वारा पकड़ने जाओगे तो पकड़ में नहीं आयेगा, उलटा दूर होता चला जायेगा। जितना-जितना अपने को इनसे खाली करते चले जाओगे, उतना-उतना वह तुम्हारे अन्दर भरता चला जायेगा।

इन प्रपंचों का उपशम कैसे करें ? इसका उपाय आगे श्रुति ने बता दिया 'शान्तम्'। शमगुण को प्राप्त कर लो। प्रपंच कहाँ से आते हैं ? प्रपंचों की उत्पत्ति का स्थल है जीव का विषयों की तरफ जाना। जब जीव विषयों की तरफ न जाये तब प्रपंच अंदर नहीं आयेंगे। आँख खोलकर देखने जाओगे, तभी न प्रपंच अन्दर जायेगा। इसलिये यदि तुम देखने ही नहीं जाओगे तो बाहर के पदार्थ कभी अन्दर नहीं घुसेंगे। यही मनुष्य की अग्निरूपता है।

वह अग्नि दो प्रकार की हो गई—१. ब्रह्मरूप अग्नि और २. बाह्य अग्नि। शरीर में भी एक अग्नि जलती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। शरीर में यदि अग्नि न होती तो आज तुम थर्मामीटर (तापमापक) लगाकर कैसे कहते हो कि साढे अठानबे डिग्री गर्मी है ? वह गर्मी कहाँ से आई ? कोई ताप तो नहीं रहा है। अपने अन्दर होने वाली यह गर्मी मनुष्य को सुख देती है। यदि यह गर्मी न हो तो तरह-तरह की दवाइयाँ खानी पड़ती हैं। यह एक अग्नि हुई जो शरीर के अन्दर विद्यमान है। दूसरी बाह्य अग्नि है, जो तुम्हारे शरीर को जला देती है। शरीर के अन्दर निरंतर जलने वाली अग्नि तुमको जलाती नहीं है, सुख देती है, बाहर वाली अग्नि तुमको जलाती है।

इसी प्रकार यहाँ भी 'बर्हिषि' — दो अग्नियाँ हैं—एक, अन्दर होने वाली अर्थात् आत्माग्नि, यह भी प्रकाश और ऊष्मा देती है। लेकिन इस अग्नि के अन्दर जब पुरुष अपनी आहुति देता है तब तो इसे सुख मिलता है क्योंकि यह अग्नि शांत है। शरीर में होने वाली अग्नि में अशान्ति नहीं है, उसमें से लपटें नहीं निकलतीं, एक भाव से शांत रहती है। यदि बाहर से कोई कारण बनकर इसमें से लपट निकलने लगती है तो कहते हैं कि बुखार आ गया। उस गर्मी की लपट निकल जाना ही बुखार है, साढ़े अठानबे डिग्री की जगह साढे निन्यानबे हो जाना है। इसका कारण हमेशा बाह्य रहेगा। चाहे निमोनिया, चाहे टाइफाइड बाहर से घुस आये, कोई न कोई महाशय अन्दर घुसेंगे, तब गड़बड़ी आयेगी। यदि बाहर से किसी का प्रवेश अथवा बाह्य अग्नि का प्रवेश नहीं होता तो निश्चित ही इसकी अग्नि एक-जैसी और सुखद रहेगी।

अंदर वाली गर्मी प्रशान्त है और बाहर वाली अग्नि दुःखद है, जलाने वाली है। बाहर वाली अग्नि—रूप, रस आदि रूपी अग्नि—यह बाह्य जगत् है। जब-जब बाह्य जगत् को विषय करने जाओगे तब-तब अशान्ति और अशान्तिजन्य दुःख है। यहाँ *बाह्य* शब्द का ख्याल रखना। ईश्वर के लिये जगत् में कोई चीज़ *बाह्य* नहीं है। इसीलिये ईश्वर को बाह्य जगत् सुखद है। इसी बात को बताने के लिये यहाँ श्रुति ने कहा 'अद्वैतम्'। जहाँ-जहाँ तुम्हारे अन्दर द्वैत-बोध नहीं रहेगा वहाँ-वहाँ बाह्य-दृष्टि नहीं रहेगी, वहाँ वह गर्मी कभी जला नहीं सकती। जितना-जितना बाह्य दृष्टि का लोप होगा, उतना-उतना अद्वितीय दृष्टि का निर्माण होता चला जायेगा। अद्वितीय दृष्टि लाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। करना तो यह है 'प्रपंचोपमं शान्तं शिवम् अद्वैतं', ये साधन-वाक्य हैं। बाह्य प्रपंचों का उपशम करते चले जाना है और अन्दर शम की दृढता में शान्ति की पूर्णता लानी है। बाह्य रूप, रस आदि से उसे विषय नहीं करना है। जीव के अन्दर बाह्य प्रवृत्ति जो अशान्ति का द्योतक है, उसे हटाना ही शम है।

'प्रपंचोपशमं शांतं' और 'अद्वैतम्' के बीच में 'शिव' पद दे दिया है। उसका कारण है। शिवभाव शान्त है, इसलिये जैसे-जैसे शान्ति की दृष्टि बढ़ती है, वैसे-वैसे कल्याण की दृष्टि बढ़ती है। जब किसी के प्रति कल्याण की दृष्टि होती है, तब 'मुझे क्या मिले' यह दृष्टि नहीं बनती। जैसे माँ छोटे पुत्र का कल्याण चाहती है। 'छोटा बच्चा' इसलिये कहा कि जब बच्चा बड़ा हो जाता है तब माँ के हृदय में भी अकलुषित भाव नहीं रहता, स्वार्थ आ जाता है। फिर सोचने लगती है कि 'इसने मेरा अमुक काम नहीं किया।'

अब कल्याण की दृष्टि नहीं रही। लेकिन जब वह सर्वथा छोटा है उस काल में मन में केवल उस बेटे के कल्याण का भाव है। जितनी-जितनी कल्याण की दृष्टि बढ़ेगी, उतना-उतना शांत भाव के अन्दर अद्वैत भाव आयेगा। बीच में यदि शिव-भावना नहीं है तो अद्वैत भावना कभी नहीं आयेगी। इसलिये कहा 'शान्तं शिवं अद्वैतम्'। यहाँ जिस बर्हि (अग्नि) को कह रहे हैं जिस के अन्दर पुरुषयज्ञ में इस आहुति को देना है, वह ब्रह्मरूपी अग्नि है। इसलिये गीता में भी बताया 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'। वहाँ भी ब्रह्म को अग्नि ही तो कहा है।

उस यज्ञ में कैसी बलि देनी है ? 'प्रौक्षन्'; 'प्रोक्षणं पशुहिंसने।' जहाँ पशु को मार दिया जाता है, वहाँ प्रोक्षण होता है। इस ब्रह्माग्नि में इस पुरुष-पशु को डालने से पहले इस पुरुष-पशु को काट देना पड़ेगा अर्थात् मार देना पड़ेगा। जब तक काटोगे नहीं, तब तक आहुति नहीं दे पाओगे। ज़िन्दे को नहीं जला सकते, इसलिये इसे काटना पड़ेगा। काटने से लोग बड़ा घबराते हैं। कहते हैं, पुरुष को कैसे काट दें? दूसरे पुरुष का यहाँ ज़िक्र नहीं है, यहाँ तो 'आत्मघात' का मामला है, अर्थात् अपने को ही काटना है। कैसे काटना है। धड़ और सिर दोनों मिले हुए हैं। इनको काटना अर्थात् अलग कर लेना। ऐसे ही जिसको तुम पुरुष समझते हो, उसके अन्दर दो मिले हुए हैं—एक को चेतन कहते हैं, और दूसरे को जड कहते हैं। एक आत्मा है, दूसरा अनात्मा है। एक को वृत्ति और दूसरे को चिदाभास आदि अनेक नामों से कहते हैं। लेकिन इस विषय में सबका ऐकमत्य है कि इस पुरुष में सिर और धड़ दो अलग-अलग हैं, जुड़े हुए हैं। जुड़ा हुआ हिस्सा ही काटकर

अलग किया जाता है। संधिस्थल को ही तो काटते हैं। पशु को भी इसी जगह से काटा जाता है। बिना जोड़ वाली जगह को नहीं काटते। चिदाभास में दो चीज़ें जुड़ी हुई हैं—आत्मा का अंश और अनात्मा का अंश। इसलिये पहले प्रौक्षण करते हुए, इस पशु के हिस्से करते हैं। सारे पशु की आहुति नहीं होती है। कोई हिस्सा आहुति वाला होता है, कोई नहीं होता।

आहुति वाले हिस्सों में भी क्रम होता है। मीमांसा में बड़ा विचार आता है कि किस क्रम से पशु की आहुति दी जाये। यह नहीं कि मर्ज़ी-मुताबिक काटकर डालते चले जाओ ! बहुतों को यह पता ही नहीं है। इसी प्रकार अपने अनात्मपदार्थों के त्याग का भी एक क्रम होता है। जब तक उस क्रम को नहीं समझते हैं, तब तक किसको पहले छोडें और किसको बाद में, यही नहीं जान पाते। जब जो चीज़ दुःख देने वाली हुई, सोचते हैं कि इसे छोड़ दो और जो सुख देने वाली लगती है उसे पकड़े रखना चाहते हैं। इसमें क्रम है 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः' जो पुरुष सबसे पहले उत्पन्न हुआ उसको इसी प्रकार काटकर ब्रह्मरूपी अग्नि (बर्हि) में आहुति देनी है। यह पुरुषयज्ञ का पुरुष अर्थात् यजमान हुआ जो यज्ञ से उत्पन्न होता है। जिसने सांसारिक सुखों की दृष्टि को हटा दिया है वह पुरुष ही इस यज्ञ के योग्य हुआ। संसार के अन्दर रूप, रस आदि के सुखों की जिसे कामना या इच्छा है, वह पुरुष इस यज्ञ के लायक नहीं है। जो अपने लिये सुख चाहता है, वह जीवभाव को पकड़कर रखेगा, इसलिये वह यज्ञपुरुष नहीं बना। जिसने अपना सर्वस्व उसके लिये दे दिया वही यज्ञपुरुष हुआ। इस प्रकार से दो प्रकार के यजमानों की

उत्पत्तियाँ बताईं।

यज्ञोपवीत के अंदर भी बस यही उपदेश मिलता है, और कुछ नहीं, कि 'आज तक जिनको तुम अपना सम्बन्धी समझते थे, वे आज से तुम्हारे सम्बन्धी नहीं रह गये। आज से तुम यज्ञीय पशु हो गये, आज से तुम परमात्मा को समर्पित हो गये।' यही गायत्री की दीक्षा है। अब लोग उसको डोरा डालना समझते हैं, वह बात दूसरी है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में जो व्यक्ति परमात्म-मार्ग का उपदेश लेता है, उसे कहते हैं कि यह गुरुमुख हो गया, अर्थात् अब इसने संसार से अपना मुँह मोड़कर गुरु की तरफ मुख कर लिया। लेकिन आजकल क्या करते हैं ? पाँच मिनट उधर मुँह करते हैं, फिर बदलकर गुरु से पीठ करके चल देते हैं ! गुरुमुख होने का मतलब है अन्य पदार्थों, अन्य दृष्टियों का त्याग करके परमात्ममार्ग का चयन कर लिया। यही यज्ञ के द्वारा उत्पन्न होना है। यही द्विजता (द्वितीय जन्म) है। उसको चाहे यज्ञोपवीत के द्वारा प्रकट किया जाये, चाहे गायत्री-दीक्षा के द्वारा प्रकट किया जाये, अथवा तुम्हारे यहाँ विवाह संस्कार के द्वारा प्रकट किया जाये। हमारे यहाँ स्मृतिशास्त्रों के अनुसार विवाह को औरत का यज्ञोपवीत माना है। मनु-स्मृति तथा अन्य स्मृतियों में भी ऐसा लिखा है। हमारे यहाँ विवाह का उद्देश्य था कि पति और पत्नी मिलकर परमात्म-प्राप्ति करेंगे। हमारे यहाँ विवाह भोग-विलास का प्रमाणपत्र नहीं था, वह यज्ञार्थ संयोग था। पति का पहले ही यज्ञोपवीत हो जाता था। आज भी इसीलिये विवाह होने के पहले डोरा डाल देते हैं, लेकिन है यह उसी ज़माने की याद जब यज्ञोपवीत हुआ करता था। पति का तो पहले यज्ञोपवीत हो गया अर्थात्

उसने तो अपना जीवन यज्ञ के समर्पण कर दिया। ऐसा नहीं होता कि विवाह के समय जनेऊ तोड़ देते हों ! वह तो परमात्मा की तरफ जानेवाला ही हुआ। जब उसे कन्या दी गई कि 'तुम इसे अपने रास्ते ले जाना', तब चूँकि उसका 'अपना रास्ता' तो परमात्म-मार्ग है, इसलिये विवाह संस्कार लड़की के लिये यज्ञोपवीत का साधन हो गया। उस दिन से वह भी परमात्ममार्ग में दीक्षित हो गई अर्थात् परमात्मा के मार्ग में चलने वाली हो गई। आज पहले पति ही यज्ञोपवीती नहीं है। गुरु ने उपदेश दिया, उसने डोरा डाला, फिर चला संसार की तरफ। जो खुद ही संसार की तरफ जाने वाला है वह उस बेचारी पत्नी को भी संसार-मार्ग में ले जायेगा। यह शास्त्रीय दृष्टि से कोई विवाह संस्कार नहीं रह गया, वह तो फिर लोगों ने भोगविलासमात्र का प्रमाणपत्र समझ लिया।

इस यज्ञ की तरफ जायेंगे तो इसका क्या फल होगा ? तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस यज्ञ का फल बताया 'अपमृत्युम् अपक्षुधम् अपेतः शपथं जहि।' 'मृत्युम् अपजहि' यज्ञ की तरफ प्रवृत्त हुआ तो मृत्यु को दूर कर देगा। मृत्यु मायने क्या ? लोग समझते हैं कि साँस का बन्द हो जाना मृत्यु है। साँस का बन्द होना या चलना मृत्यु या जीवन नहीं है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' नानात्वदर्शन, भेददर्शन ही मृत्यु है। इसीलिये वेदांती प्राणान्तरूप मृत्यु की चिन्ता नहीं करता। वह तो कहता है कि जिस क्षण मेरा भेद-दर्शन हुआ, मेरी भेद-दृष्टि बनी, घट अलग और मैं अलग ऐसी द्वैत-दृष्टि आई, उसी क्षण मेरी मृत्यु हो गयी। लोक में भी ब्राह्मण यदि कहने लग जाये या अनुभव करने लगे कि 'मैं चाण्डाल

हूँ' तो मानेंगे कि यह ब्राह्मण मर गया। ऐसा क्यों मानते हैं ? क्योंकि उसी ब्राह्मणत्व धर्म से युक्त होकर ही वह ब्राह्मण था, अब वह उसमें नहीं रहा इसलिये वह मर गया। इसी प्रकार व्यापक धर्म वाला आत्मा जब अनुभव करता है कि 'मैं और घट दो अलग-अलग हैं' तो यह नानात्व का (भेदका) दर्शन ही मृत्यु है। इसलिये सबसे पहले इस यज्ञ का फल बताया 'मृत्युम् अपजहि' वह इस मृत्यु से छूट जायेगा।

उसके बाद 'क्षुधम् अपजहि' वह भूख को भी छोड़ देगा, उसकी भूख हट जायेगी। भूख मायने खाली रोटी खाना ही नहीं है। आँख को देखने की, कान को सुनने की भूख होती है। जिस चीज़ की प्राप्ति की अपने अन्दर कमी का अनुभव है, वही भूख है। जैसे-जैसे नानात्व-दर्शन (भेद-दृष्टि) हटता जायेगा, वैसे ही वैसे किसी भी चीज़ की भूख हट जायेगी क्योंकि अब उससे एक हो। भूख तभी तक है जब तक किसी चीज़ से अलग हो। रसगुल्ले को रसगुल्ले की भूख नहीं लगती। रसगुल्ले की भूख मुझे लगती है, क्योंकि मैं रसगुल्ला नहीं हूँ। भूख तभी लगेगी जब द्वैत-दृष्टि बनेगी। जब अपने को किसी से अलग समझोगे, तब उसकी भूख होगी अर्थात् उसकी इच्छा होगी, 'वह मुझे मिले'—ऐसी भावना होगी। जैसे-जैसे अद्वैत दर्शन बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे भूख दूर होती चली जायेगी अर्थात् जितना-जितना उसके साथ एकता का अनुभव होता चला जायेगा, उतना-उतना रूप, रस आदि की भूख मिटती जायेगी। जब उससे दूर हो, तभी भूख है। जब एक हो गये तो भूख समाप्त हो गई। भगवान् भी गीता में कहते हैं 'नानवाप्तम् अवाप्तव्यं' कोई ऐसी चीज़ भी नहीं है जहाँ मैं व्यापक विष्णु विद्यमान नहीं

और न कोई ऐसी चीज़ आगे होनी है जिसके साथ मैं एक न होऊँ। नानात्व-दर्शन मृत्यु है और जैसे-जैसे यह नानात्व-दर्शन हटेगा, वैसे-वैसे क्षुधा अर्थात् किसी भी पदार्थ की तीव्र कामना कि 'मुझे यह प्राप्त हो' या उसकी कमी का अनुभव होना दूर होता चला जायेगा।

आगे श्रुति कहती है कि उसे किसी ने जो शाप दे रखा है, वह भी दूर हो जाता है 'इतः' यहीं से दूर हो जाता है, आगे के लिये बचता नहीं। कौन-सा शाप हम सबको लगा हुआ है ? अज्ञान का शाप ही सबको लगा हुआ है। यही तो सबसे बड़ा शाप पीछे लगा हुआ है। बाकी पापों को हटाने में तो लोग लगे रहते हैं लेकिन जब तक यह मूल शाप लगा है, तब तक एक को हटाओगे तो दूसरा आ जायेगा। प्राचीन काल में लोग एक तांत्रिक प्रयोग किया करते थे। जिस आदमी से झगड़ा होता था, उसका आटे का एक पुतला बनाते थे उस पुतले के मार्फत व्यक्ति दुःख पाता था। जब तक उस पुतले को ख़त्म न करो तब तक दवाई आदि से एक रोग मिटाओ तो दूसरा रोग सामने आता रहता था क्योंकि सारी परेशानी का मूल तो उस पुतले पर किया जाता प्रयोग था। वह मूल समाप्त हो तभी शांति प्राप्त हो।

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए हैं। वे इस प्रकार के मंत्रशास्त्र को नहीं मानते थे। जब वे मिथिला पहुँचे तब वहाँ उन्होंने कहा कि 'हम शास्त्रार्थ करेंगे।' एक वृद्ध ने पूछा 'किस बात का शास्त्रार्थ करेंगे पहले यह पता लगे।' उनके तो झगड़े के दो-तीन प्रधान कारण हुआ करते थे। उनमें एक था कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है। मिथिला के एक बड़े प्रसिद्ध पण्डित

थे वे कहने लगे, 'स्वामी जी ! आप महान् त्यागी हैं, परम हंस महात्मा हैं। आपके साथ हम ब्राह्मण शास्त्रार्थ करें यह शोभा नहीं देता।' उन्होंने कहा, 'कोई बात नहीं, जैसा भी करना चाहो करो, क्योंकि शास्त्रार्थ के समय मैं संन्यासी नहीं और तुम गृहस्थ नहीं। हमें तो शास्त्र का विचार करना है।' पण्डित जी ने पूछा, 'पक्की बात है ?' स्वामी जी ने कहा, 'बिल्कुल पक्की बात है।' स्वामी जी ने कहना शुरू किया कि मूर्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है। पण्डितजी ने पूछा 'यह बताइये कि मूर्ति पूजा ठीक है या गलत है ?' उन्होंने कहा 'बिल्कुल गलत है, इसका कुछ फल नहीं हो सकता।' पण्डित जी ने कहा 'ठीक है।' और अपने शिष्यों से उन्होंने आटा मँगवाया। वहाँ सब लोगों के सामने ही बैठकर उन्होंने आटे की एक मूर्ति बनाई। उसमें सुन्दर कारीगरी की और वह आटे का पुतला उन्होंने स्वामी जी की शक्ल का ही बनाया। मंत्र के द्वारा उसमें उनकी स्थापना की और उनसे कहा कि 'यह पक्की बात है कि यह आपकी मूर्ति है ?' स्वामी जी ने कहा 'बिल्कुल ठीक है।' फिर पण्डित जी ने पूछा 'यह भी पक्की बात है कि इसके साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं ?' कहा 'कोई सम्बन्ध नहीं है।' पण्डित जी ने कहा 'यह भी पक्की बात है कि इस समय आप परमहंस संन्यासी नहीं हैं ?' कहा 'बिल्कुल ठीक है।' फिर उन्होंने एक सुई मँगाई और पुतले के पेट में सुई लगाई। स्वामी जी कहने लगे 'मेरे पेट के अन्दर कोई चीज़ लग रही है।' फिर पुतले के हाथ में सुई लगाई तो स्वामी जी को भी वही अनुभव हुआ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग में लगाते चले गये और उनको वहीं-वहीं उसका अनुभव होता चला गया। अब पण्डित जी ने

सुई ज़रा ज़्यादा अन्दर घुसाई और कहा कि 'पूरी तरह देख लो।' अब दयानंदजी कुछ तो शिथिल हो ही गये थे, और जैसे ही एक जगह ज़ोर से चुभाया तो वे ज़ोर से चिल्लाये, उनके हाथ से खून निकलने लगा। स्वामी जी ने कहा 'यह कोई कला मालूम पड़ती है।' पण्डित जी ने कहा 'कला ही मान लो। यदि कला आपको इस मूर्ति के साथ सम्बन्धित कर सकती है तो क्या उस कला के द्वारा हमारी मूर्ति में परमात्मा का सम्बन्ध नहीं होगा ? आप परिच्छिन्न धर्म वाले होकर इस मूर्ति से सम्बन्धित हो गये, परमात्मा तो पहले ही सर्वव्यापक है, उसका मूर्ति में आना तो और भी सरल है।' आगे क्या शास्त्रार्थ होना था ! बात वहीं खत्म हो गई। कहने का मतलब इतना ही है कि ऐसे प्रयोग हुआ करते थे। इससे समझ सकते हैं कि मूल में चिकित्सा किये बिना रोग दूर नहीं होगा।

फिर पण्डित जी ने बार-बार स्वामी जी को नमस्कार किया। स्वामी जी ने कहा 'आप विद्वान् हैं, आप नमस्कार क्यों करते हैं ?' पण्डित जी कहने लगे, 'हम लोग जन्म से वर्ण मानते हैं और आप कर्म से वर्ण मानते हैं। हम मानते हैं कि आप जन्म से ब्राह्मण हैं। इसलिये चाहे आप इस शरीर से नास्तिकता का प्रचार करें लेकिन हमें ब्राह्मण होने के नाते आपका अपमान करना शोभा नहीं देता, इसलिये हम नमस्कार करते हैं। इसीलिये पहले बार-बार हमने पूछ भी लिया था, क्योंकि संन्यासी के शरीर से खून निकालना दोष है।' स्वामी जी का यह दूसरा पक्ष रहता था कि वर्ण व्यवस्था कर्म से है अर्थात् जो जैसा कर्म करे, वह उस वर्ण वाला है। जन्म ही मूल है जिससे वर्ण बन गया, उस जन्म में वह वर्ण बना रहेगा।

जब तक यह अज्ञान-शाप लगा हुआ है, तब तक दूसरे शापों की निवृत्ति नहीं हो सकती। हम लोग बिना अज्ञान को हटाये हुए दूसरे शापों को हटाना चाहते हैं। हम जीवभाव में रहते हुए ही जीवभाव से ऊर्ध्व अर्थात् उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति चाहते हैं। यह कभी नहीं हो सकता। जब तक गुल्ली दण्डा खेलना न छोड़ो तब तक दर्शन-शास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन का आनन्द नहीं आ सकता। तुम कहते हो कि जो दर्शनशास्त्र में पढ़ा है, उसे गुल्ली दण्डे में घटायेंगे ! मन वाणी के विषय को खींचकर सांसारिक प्रपंच में लाना चाहते हो, लेकिन ऐसा बनता नहीं है। जो मूल अज्ञान है, इसको यहाँ रहते हुए ही, इस देह में रहते हुए ही नष्ट करना है। तभी यज्ञरूपता को प्राप्त करोगे। इस यज्ञ में सब चीज़ों का त्याग होगा। तब जिसे तुम पशु समझते हो, उसकी नानात्व-दर्शन से निवृत्ति होगी, यही उसकी हिंसा है। इसके बिना यदि कहेंगे 'भेददर्शन छोड़ो' तो कहोगे 'हमें अपनी कामनायें बड़ी प्रिय हैं।' जब कहेंगे 'कामना छोड़ो' तो कहोगे 'मेरी बड़ी भयंकर हिंसा हो रही है, कामना-पूर्ति का साधन बताइये।' जब कहेंगे 'मूल अज्ञान छोड़ो' तो कहोगे कि 'यही तो अपनी खास दौलत है, इसे कैसे छोड़ें ?' लेकिन यज्ञरूपता में आने पर तीनों ही छूटेंगे। ये तीनों छूटने पर क्या मिलेगा—इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-३४

सृष्टि की उत्पत्ति के अनंतर सृष्टि के व्यवहार-चक्र के निमित्त

यज्ञरूप से प्रजापति का अवतरण हुआ। उस यज्ञ में सबसे प्रधान बलि पुरुष की है। इसलिये पुरुष को यहाँ यज्ञ से एक करके कह दिया, 'तं यज्ञं...पुरुषम्।' पुरुष का यज्ञ के साथ सामानाधिकरण्य है अर्थात् जो पुरुष है वही यज्ञ है। इसके द्वारा यज्ञ और पुरुष की एकता का प्रतिपादन किया। उस यज्ञ के लिये अग्नि की जगह पर 'बर्हिषि' के द्वारा ब्रह्म को ही बताया। कौन-सा पुरुष वहाँ बलि के योग्य है ? इसे बताया 'प्रौक्षन्' जिस पशु या पुरुष का आत्मा और अनात्मा से अलग-अलग भेद कर लिया गया है, चिदाभास के अन्दर चित् और आभास अंशों को जहाँ अलग-अलग कर लिया गया है, वह प्रौक्षित पुरुष है। यह यज्ञ क्या करता है ? इस प्रकार जहाँ पुरुष को यज्ञरूप से स्वीकार किया गया, उसका रूप बताते हुए समझाया कि यह यज्ञ क्या-क्या चीज़ें दूर करता है; मृत्यु को दूर करता है अर्थात् अनेकता को देखना अथवा अनेक-दर्शन को दूर करता है। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि क्षुधा को भी यह यज्ञ दूर करता है। यह लौकिक यज्ञ नहीं है ! जहाँ पुरुष को ही आत्म-अनात्म विवेक से काटकर ब्रह्मरूपी अग्नि में आहुति दी जाती है, वहीं मृत्यु को दूर करना सम्भव होता है। अनेकत्व-दर्शन ही मृत्यु है, एक अखण्ड परब्रह्म परमात्मा को अनेक रूप से देखना ही मृत्यु है। है वह अपने से एक लेकिन अपने से अलग प्रतीत होता है, यह अलगाव का भाव ही मृत्यु है। इस अलगाव के भाव के कारण ही क्षुधा उत्पन्न होती है। संसार के पदार्थों की कामना इसीलिये उत्पन्न होती है कि अपने को उस शिव से भिन्न समझते हैं। उसके साथ अभिन्न होने पर यह सम्भव ही नहीं कि किसी प्रकार की क्षुधा अथवा

रूप, रस आदि की कामना हो। अज्ञानरूपी मूल शाप के कारण ही यह होता है। इन तीनों को यह यज्ञ दूर करता है।

यज्ञ से प्राप्ति बताते हुए 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' की श्रुति आगे कहती है 'अपमृत्युम् अपक्षुधम् अपेतः शपथं जहि। अघानो अग्न आवह रायस्पोशं सहस्रिणः' यहाँ परमात्मा को अग्नि बताते हुए कहा, हे अग्ने, हे परमात्मन् ! हमारे लिये इन चीज़ों की प्राप्ति हो। 'आवह' शब्द बड़ा विचित्र है। 'आवह' का मतलब होता है ढोकर लाना। वैदिक भगवान् से यह नहीं माँगता कि 'हमें यह चीज़ें मिलें।' वह तो परमात्मा से कहता है कि स्वयं ढोकर लाना! गीता में भी भगवान् ने 'जो मेरा अनन्य चिंतन करता है उनके योग क्षेम को मैं *देता* हूँ', यह नहीं कहा,

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'

बल्कि कहा कि उनके योग क्षेम को *मैं ढोकर* लाता हूँ। पदार्थ पहुँच जाये इतना पर्याप्त नहीं है। यह वैदिक का साहस है। वह केवल इतने से संतुष्ट नहीं है कि नाम-रूप आ गये। वह कहता है कि इन नाम-रूपों के द्वारा हमारा अधिष्ठानभाव प्रकट हुआ या नहीं ? परमात्मा सत्, चित्, आनंद, अनंत रूप है, अधिष्ठान है। नामरूप की प्राप्ति तो संसारियों को भी हो जाती है। नाम-रूप की प्राप्ति तो यज्ञ-कर्म के फलस्वरूप भी हो जाती है। फिर परमात्मा की प्रार्थना करने से क्या विशेषता आई ? यह रहस्य अच्छी तरह से समझना कि पुण्य कर्मों से भी पदार्थ मिलते हैं और परमात्मा की प्रार्थना या परमात्मा की कृपा से भी पदार्थ मिलते

हैं। नाम-रूपों की प्राप्ति दोनों जगह एक-जैसी है। बढ़िया रसगुल्ला खाने की इच्छा है तो पुण्य कर्म के उदय होने पर ही रसगुल्ला मिलेगा। पुण्य कर्म नहीं हैं लेकिन परमात्मा की उपासना की हुई है तो परमात्मा की उस कृपा से भी रसगुल्ला मिलेगा। फिर दोनों में क्या फ़र्क है, यहाँ उसका क्रम बताया। परमात्मा की कृपा से जब मिलेगा, तब उस पदार्थ की प्राप्ति में परमात्मा की सच्चिदानंद-रूपता का स्मरण रहेगा और हृदय में उसके प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होगा कि 'हे परमात्मन् ! तेरी कृपा से ही मुझे मिला है।' उस पदार्थ का भोग करते समय बार-बार हृदय परमात्मा के प्रति कृतज्ञता से भरता रहेगा। जो केवल पुण्य के फ़लस्वरूप मिलेगा, परमात्मा की कृपा के बिना मिलेगा, उसमें रस का भाव तो दृढ़ रहेगा लेकिन परमात्म-भाव की दृढता नहीं आयेगी, परमात्मा याद नहीं आयेगा। यह दोनों का फ़र्क है।

कई बार मनुष्य के हृदय में शंका होती है कि पदार्थ प्रारब्ध के भोग से ही मिलते हैं या परमात्मा की कृपा से भी मिलते हैं ? पदार्थ दोनों तरह से मिल सकते हैं। फ़र्क का पता कैसे लगता है ? जहाँ पदार्थ की प्राप्ति के अन्दर परमात्मा के प्रति कृतज्ञता का भाव आये, पदार्थ-भोग काल के अन्दर निरंतर उस अधिष्ठानरूप से सच्चिदानंद का स्मरण होता चला जाये, वहाँ समझना चाहिये कि पदार्थ परमात्मा की कृपा से मिला है। यही तो उनकी कृपा का वैशिष्ट्य है। क्योंकि वे खुद ढोकर लाये हैं इसलिये वहाँ उनकी तरफ दृष्ट बन गई। जहाँ पुण्य के फलस्वरूप पदार्थ की प्राप्ति होती है, उसमें यह दृष्टि नहीं बनती है। उसमें भोग की दृष्टि प्रधान होती है और उलटा उसमें अहंता बढ़ती

जाती है। पुण्य के फलस्वरूप पदार्थ की प्राप्ति अहंता का अभिवर्द्धन करेगी। भोग-काल के अन्दर भोग प्रधान होने के कारण परमात्मा की अनुस्मृति की सम्भावना ही नहीं रहेगी, क्योंकि भोग के अन्दर रत होता जायेगा। मोटी दृष्टि से पहचान बताते हैं—जो व्यक्ति दुःख में परमात्मा का स्मरण करता है, वह व्यक्ति सुख को पुण्य से प्राप्त करता है और जो व्यक्ति सुख में परमात्मा का स्मरण करता है, वह व्यक्ति सुखके पदार्थ को परमात्मा की कृपा से प्राप्त करता है। परमात्मा की कृपा से प्राप्त करने की दृष्टि बनने पर कृतज्ञता का भाव बड़ा दृढ होता जाता है। कृतज्ञता के भाव की प्रधानता होने के कारण उसका अहंकार शिथिल होता चला जाता है। दोनों का विरोध है। एक में अहंकार का अभिवर्द्धन और दूसरे में अहंकार का शिथिलीभवन होता है।

बहुत साल पहले किसी ने एक विचित्र कहानी लिखी थी। उसमें भाव यह था कि एक व्यक्ति बहुत बड़े घर में पैदा हुआ, उसके बड़े मित्र थे। लेकिन उसको निश्चय नहीं हो पा रहा था कि सच्चा मित्र कौन-सा है ? धनप्रयुक्त, पदप्रयुक्त प्रतिष्ठाप्रयुक्त भी मित्र बना करते हैं और व्यक्ति के साथ सच्ची मित्रता वाले भी मित्र बना करते हैं। दोनों तरह के मित्र होते हैं। इनमें से वास्तविक मित्र कौन-सा है यह जानने की उसे इच्छा हुई । बहुत सोच-विचार के बाद उसने इसका उपाय निकाला। उसने धीरे-धीरे यह प्रसिद्धि कर दी कि 'मेरे पिता ने मुझे घर से निकाल दिया है और सम्पत्ति-रहित कर दिया है।' वह घर से बाहर जाकर गाँव में एक झोंपड़ी में रहने लगा। जैसे-जैसे इस बात का पता चलता गया बाकी मित्र साथ छोड़ते चले गये, क्योंकि वे तत्प्रयुक्त

थे। शहर वाले सारे मित्र साथ छोड़ गये। एक मित्र ही अंत तक उसके साथ रहा। उसने निश्चय किया कि 'यह मुझ से मित्रता रखता है और बाकी सब धन-दौलत से मित्रता रखते हैं'।

परमात्मा की तरफ जिसकी कृतज्ञता की दृष्टि होगी वह सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं में परमात्मा की कृतज्ञता को स्वीकार करेगा और जिसके पुण्य का फल है, उसके मन में वह भाव नहीं आता। उसकी परमात्मा से पुण्यफलदाता रूप से मित्रता है, क्योंकि वह हमारे कर्मों का फल देने वाला है, इसलिये मित्रता है। इसीलिये यदि फलदान उसके अनुसार नहीं हुआ तो मित्रता तोड़ देता है ! आगरे के अन्दर एक बहुत बड़े अफसर थे। उन्होंने अपने यहाँ राधाकृष्ण की मूर्ति की स्थापना कर रखी थी। उनके यहाँ बड़ा कीर्तन इत्यादि होता था और उनकी बहुत प्रसिद्धि हो गई कि 'ये परमात्मा के बड़े भक्त हैं।' एक बार उनका जवान इकलौता लड़का मर गया। इस घटना को पंद्रह-सोहल साल हो गये। उन्होंने राधाकृष्ण की मूर्ति को चौराहे पर तोड़कर फेंक दिया कि 'तुम मेरे क्या काम आये !' यद्यपि यों बाहर मूर्ति को तोड़ने वाले कम होते होंगे, लेकिन मन से परमात्मा से श्रद्धा हटाने वाले बहुत होते हैं। कारण यह है कि उनका परमात्मा से प्रेम नहीं है, बल्कि सोचते हैं कि 'मैंने इतना भजन-पूजन किया, उससे कितना पुण्य उत्पन्न हुआ'; इसलिये पुण्य के फलदातारूप से परमात्मा को देखते हैं। इसीलिये यहाँ पर कहा 'हे परमात्मन् ! मेरे सामने जब नामरूप कर्म आयें, उस समय आप मुझे ढोकर लाने वाले दीखें। आप ला रहे हैं, यह सच्चिदानंद की दृष्टि बने। सुख-दुःख दोनों काल में कृतज्ञता का भाव बढ़े। अहंता का भाव

न बढ़े।' जब हमारे सामने नाम रूप आते हैं तब परमात्मा का अप्रत्यक्ष भान होता है कि उसकी कृपा से मिला है। इसलिये उसके प्रति कृतज्ञता का भाव है और इसीलिये अभिमान का शिथिल होते चले जाना है।

एक फ़र्क और होता है, जो समझना थोड़ा कठिन है। कर्म करने वाला कौन है ? विचार करके देखो तो कर्म-रूपी क्रिया शरीर और मन की होती है। शरीर और मन ही क्रिया करेंगे। मोटी भाषा में क्रिया करने वाला अनात्मा है, इसलिये इसका फल भी शरीर और मन को मिलेगा। आत्मा तो क्रिया करता नहीं है इसलिये आत्मा को उसका फल भी नहीं मिलेगा। शरीर और मन की क्रिया में तुमने झूठा अभिमान बाँध रखा है कि 'मैं कर्ता हूँ।' भगवान् ने भी गीता में कहा

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणकर्माण्यशेषतः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।'

प्रकृति के गुण हैं, शरीर और मन दोनों प्रकृति के ही कार्य हैं। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के घटने-बढ़ने से शरीर मन आदि सारे कर्म करते हैं। अहंकाररूप मौर्ख्य द्वारा जीव मानता है कि 'मैं कर्ता हूँ'। तत्त्ववेत्ता इस बात को जानता है कि शरीर, मन आदि कर्म करने वाले हैं प्रकृति कर्म करने वाली है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध है ! वह जानता है कि गुण ही गुणों के साथ व्यवहार करते हैं। शरीर, मन आदि अनात्मा हैं और जिनके साथ व्यवहार करते हैं, वे भी अनात्मा हैं। इस बात को ठीक-से समझते हुए वह कभी आसक्त नहीं होता, गुण के कार्यों में अपने आपको नहीं बाँधता। शरीर, मन आदि कर्म करते हैं, लेकिन इनके ऊपर

तुमने ज़बरदस्ती मूर्खता से अहंकार लाद रखा है। इसी प्रकार शरीर, मन आदि अपने कर्मों का फल भोगते हैं और तुमने उस भोग के अन्दर अपना अहंकार करके अपने को भोक्ता मान रखा है। शुभ कर्मों का फल भी शरीर-मन को मिलता है, तुम्हें नहीं मिलता है। तुमने केवल शरीर-मन से होने वाले फल-भोग के अन्दर अपना अध्यास कर रखा है अर्थात् 'यह भोग मेरा है' ऐसा मान रखा है। इसीलिये यह तुम्हें अंतःतृप्ति नहीं दे पाता। हमेशा देखोगे कि चाहे जितने बड़े सुख के भोग की प्राप्ति होवे, शरीर और मन आदि उसका भोग करते हैं, उस काल में भी अंदर कोई अतृप्ति बनी रहती है। इसका कारण है कि शरीर, मन आदि के अन्दर अध्यास से भोग मान रखा है, भोग वहाँ सच्चा नहीं है। जैसे अपने बच्चे को खिलाते हो तो भोजन बच्चा करता है, लेकिन बच्चे के खाने में एक अध्यास मन में होता है कि 'मैं ही खा रहा हूँ।' कहते भी हैं कि 'तुमने खाया तो मैंने ही खाया।' 'तो' बीच में पड़ा है, इसलिये बच्चा चाहे जितना खा ले, लेकिन अपना पेट भरने वाली तृप्ति नहीं आती ! ऊपरी तृप्ति तो आती है कि बच्चे ने भोजन किया, लेकिन वह तृप्ति खुद खाने वाली तृप्ति नहीं है। जैसे इन दोनों तृप्तियों में फ़र्क है, इसी प्रकार जब शरीर, मन आदि भोग करते हैं तब अध्यास का भोग है। शरीर, मन आदि से तृप्ति आती तो है लेकिन वह 'तो' वाला मामला है। आत्मा की अपनी तृप्ति नहीं आ पाती, इसीलिये यह भूख मिटती नहीं है। शरीर-मन आदि का कर्म भी इसका नहीं, इसलिये शरीर मन आदि का भोग भी इसको नहीं है। शरीर मन आदि की तृप्ति से इसलिये इसमें पूर्ण तृप्ति नहीं आती।

फिर आत्मा को तृप्ति किससे आये ? आत्मा परमात्मा के लिये भूखा है। आत्मा की भूख शरीर मन आदि की, अनात्म -दार्थों की भूख नहीं है। जैसे जिस आदमी को प्यास लगी है उसे पानी की इच्छा होती है। पानी नहीं मिलता और होंठ सूख रहे होते हैं तो अपनी जीभ से ही उसको ज़रा तर करना चाहता है लेकिन उससे तृप्ति नहीं होती। आजकल के ज़माने में काले पानी की बोतलें चली हैं। प्यास लगी हो तो लोग उसी को ले आते हैं। उसमें ढाई छटांक पानी होता है, जबकि ढाई पाव पानी हो तो प्यास बुझे। अगर उनसे कहो 'और लाओ' तो वे सोचते हैं कि 'यह बड़ा जबरदस्त आदमी है, अस्सी पैसे की एक बोतल पी गया और कहता है दूसरी लाओ।' सच्ची बात यह है कि काले पानी की चार बोतलें भी पी जाओ तो भी प्यास जिस पानी की है वह नहीं मिला तो प्यास बुझने वाली नहीं है। इसी प्रकार आत्मा को प्यास तो परमात्मा की है। जैसे अनात्मा को अनात्मा की प्यास वैसे आत्मा को आत्मा की प्यास है। इसलिये पदार्थों से उसकी जो तृप्ति होती है, वह पूर्ण नहीं होती। जब उसके हृदय में परमात्मा का वास हो, परमात्मा की प्राप्ति हो, तभी तृप्ति सम्भव है। दूसरा कोई साधन इस तृप्ति का नहीं है। आत्मा का परमात्मा के साथ ही सम्बन्ध बनना सम्भव है और श्रुति कहती है कि वह सम्बन्ध एकता का सम्बन्ध है। आत्मा और परमात्मा एक हैं। इसलिये जैसे-जैसे परमात्मा की एकता के सम्बन्ध को समझते जाते हो वैसे-वैसे तृप्ति होती जाती है।

परमात्मा आत्मा का संयोग संबंध नहीं है। जैसे दो चीज़ें मिला दी जायें, ऐसा वहाँ सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग का मतलब

होता है कि एक हिस्से से मिलना अतः दूसरे हिस्से से अलग रहना। जैसे दो पाईपों को मिला दिया तो दो इंच की जगह मिलकर एक हो गई लेकिन आठ इंच इधर और आठ इंच उधर वाला पाइप अलग-अलग रहा। अथवा दो कपड़ों को मिला दिया तो आधी इंच वाली जगह को सीकर एक कर लिया लेकिन डेढ़ फुट इधर और डेढ़ फुट उधर वाला कपड़ा अलग रहा। इसी का नाम संयोग सम्बन्ध है। यदि आत्मा और परमात्मा का संयोग सम्बन्ध मानोगे तो दोनों को टुकड़े वाला मानना पड़ेगा, एक जगह जुड़ गये और दूसरी जगह बिना जुड़े रह गये। इस प्रकार संयोग अनात्म-पदार्थों का होता है, आत्म-पदार्थों का नहीं होता। आत्म-पदार्थ जब जुड़ते हैं तब दोनों एक हो जाते हैं, फिर उनमें कोई भेद रहता ही नहीं है। किसी भाषा के कवि ने कहा है

'प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समायें।
जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं।।'

जब तक इस अंतःकरण में अहम् का भान था, तब तक यहाँ परमात्मा का भान नहीं था। जब मैं था तब हरि नहीं, जब तक यह 'मैं' बना रहेगा तब तक इसमें परब्रह्म परमात्मा आने वाले नहीं हैं, क्योंकि मैं तो परिच्छिन्न है, सीमित है, घेरे वाला है। घेरे वाले में बिना घेरे वाला कैसे आये, परिच्छिन्न में अपरिच्छिन्न कैसे आये ? जब मैंने यह समझ लिया तब मैंने घेरा छोड़ दिया, अब वहाँ घेरे वाला 'मैं' नहीं रहा। 'घेरा' और 'न घेरा' दोनों एक-साथ नहीं हो सकते। कहो कि 'परिच्छिन्न भी हूँ और अपरिच्छिन्न भी हूँ' तो दोनों एक साथ नहीं हो सकते। जब तक परिच्छिन्न-भाव था तब तक मैं था, तब तक प्रभु नहीं थे। जब घेरा टूटा तब प्रभु

रह गये और घेरे वाला परिच्छिन्न 'मैं' समाप्त हो गया ! यह गली अत्यंत तंग है, ऐसा क्यों कहा ? श्रुति ने भी कहा है 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।' तलवार की धार के ऊपर चलने की तरह परमात्मा की ओर चलना है। कितनी सँकरी है ? श्रुति ने कह दिया कि तलवार की धार जितनी सँकरी होती है, उतनी ही सँकरी जगह है। उसमें दो नहीं रह सकते। मैं भी रह जाऊँ और हरि भी रह जायें, यह नहीं हो सकता। संसार का सारा सम्बन्ध 'मैं' को लेकर ही है। संसार के सम्बन्धों का 'मूल' ही 'मैं' है और परमात्मा के सारे सम्बन्धों का मूल है 'मैं नहीं'। जितना-जितना 'मैं' को आगे बढ़ाओगे, उतना-उतना संसार में जाओगे और जितना-जितना 'मैं'-'मैं' न्यून-न्यूनतर होता चला जायेगा उतना-उतना परमात्मा की तरफ जाओगे। नरसी मेहता कहते हैं 'हूँ करूँ हूँ करूँ' एज अज्ञान छे' अज्ञान और कोई चीज़ नहीं है। यह 'मैं' का भाव, हर चीज़ के साथ 'मैं' का सम्बन्ध ही अज्ञान है। हर चीज़ का परमात्मा के साथ सम्बन्ध ही ज्ञान है। यहाँ श्रुति कहती है 'हे परमात्मन् ! प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक सुख-दुःख में, प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक नाम, रूप और कर्म के अनुभव काल में आप मुझे लाते हुए दिखाई दें। आपकी कृपा से मुझे यह प्राप्त होता है, यह हमारी दृष्टि बने, यह हमारी अहंता का कारण न बन जाये।'

यहाँ 'नः' में बहुवचन का प्रयोग है। 'हे परमात्मन् *मेरे लिये* ढोकर लाना' यह नहीं कह रहे हैं। '*हमारे लिये* लाना' कहा क्योंकि हम लोग सारे एक शहर हैं। हम लोग एक नहीं हैं, पूरा शहर लिये घूमते हैं ! सब 'मैं' के साथ लगे हुए हैं। सबसे पहले तो

इसके साथ अज्ञान लगा हुआ है। 'मैं' जहाँ चलेगा, वहाँ अज्ञान रूपी खास मंत्री को साथ लेकर चलेगा। जहाँ अज्ञान है वहाँ कामना ज़रूर है, उसे भी साथ लेकर चलता है। कामनाओं के पूर्ण और अपूर्ण होने में कर्म कारण है, इसे भी साथ लेकर ही रखता है। अविद्या, काम, कर्म ये तीन तो इसके पक्के साथी हो गये, इसलिये ये अंतरंग हैं। ये अपना भोग करने के लिये कर्मेन्द्रियों को बनाते हैं, जैसे हाथ, पैर, वाणी आदि; क्योंकि यदि कर्म करने के साधनों को साथ न रखें तो कामना को पूरा कैसे करें ? बिना कुछ किये हुए कामना पूरी नहीं होने वाली है। हैं ये इंद्रियादि मंत्री लेकिन ये इन तीनों से कुछ कम महत्त्व के मंत्री हैं। अविद्या और काम तो निर्णय करते हैं कि हमें क्या करना है; हमें बोलना है, उठाना है, चलना है। यह निर्णय करने के बाद वे कहते हैं यह 'निर्णय हो गया, अब तुम करो।' फिर वे इंद्रियादि बेचारे वैसा करने लगते हैं। जैसे कर्म करने के लिये कर्मेन्द्रियों को रखा, वैसे ही भोग करने के लिये ज्ञानेन्द्रियों को रख छोड़ा है। कर्मेन्द्रियों से क्रिया होगी, लेकिन भोग नहीं होगा। इसलिये रूप, रस आदि के भोग के लिये ज्ञानेन्द्रियों को रखा। 'मैं' के साथ अविद्या, काम, कर्म और फिर इनके साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। इन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर रखने के लिये चार अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) ये उस कार्यालय की जगह हो गये जो एक मंत्रालय और दूसरे मंत्रालय के अन्दर मध्येस्थता करे ! मन ने निर्णय किया कि 'अमुक काम करना है' तो फाइल दोनों जगह जानी है क्योंकि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों दोनों ने मिलकर काम करना है। इन भोगों को करने

के लिये रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श वाले भी कुछ चाहिये, इसके लिये पंचमहाभूत हो गये जिनका भोग करेंगे, इसलिये उन्हें भी साथ रखता है, उनके बिना कभी नहीं रहता। इन सबको चलाने के लिये कोई एक बिजलीघर चाहि़ये जहाँ से सारी शक्ति मिले। कर्म और भोग दोनों के लिये शक्ति चाहिये। जैसे पंखा चलाने के लिये बिजली चाहिये, वैसे ही किसी को देखना हो तो यह भोग है, क्रिया तो नहीं है लेकिन इसके लिये भी बिजली चाहिये। केवल बाहर के भोग ही भोग नहीं होते। वह कौन-सी ऐसी चीज़ है जो सारी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को शक्ति दे ? इसके लिये प्राण चाहिये जो इन सबको शक्ति देने वाला है। अब अविद्या, काम, कर्म, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण-चतुष्टय, पंचमहाभूत, और प्राण, इतना बड़ा शहर लेकर तुम 'मैं' के साथ एकवचन का प्रयोग करते हो ! ऐसा अविचार से करते हो, हैं ये सब अलग- अलग। जब तुम 'मैं' कहते हो तब उसका मतलब यह सारा शहर होता है।

यहाँ श्रुति प्रार्थना करती है कि इस सारे शहर में किसी को कुछ मिले, आँख को रूप मिले, कान को शब्द मिले तो भी मैं जो आत्मा हूँ, मुझे पता लगे कि परमात्मा ही यह रूप लेकर आया है। रूप आँख को मिले लेकिन उस रूप के द्वारा परमात्मा का सम्बन्ध *मेरे* साथ होगा। शब्द कान सुनेगा, सुने; अभी मैं छूछा रह गया, मुझे तो कुछ सुनने को नहीं मिलता क्योंकि मुझे तो परमात्मा की भूख है। इसलिये सच्चिदानंदरूप से मेरा अधिष्ठान मुझे मिले। श्रुति कह रही है कि इस सारे नगर में किसी को कुछ मिले, मेरा किसी से झगड़ा नहीं है, लेकिन हे परमात्मन् ! मुझे

तो केवल तुम मिलते रहो। सब चीज़ों के मिलने में अधिष्ठान-अंश मुझे मिलता रहे। यहाँ साधक ने परमात्मा को कैसा बाँध रखा है? इस सारे नगर के सत्ताईस अंग हैं। कहते हैं कि परमात्मन् ! इनको जो भी मिलता रहे लेकिन इन सब की सच्चिदानंद-रूपता का 'टैक्स' तो मुझे मिलता रहे ! यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भाव मेरा नहीं है। इन्होंने क्या किया, यह तुम जानो, ये भोगें। इनको सुख-दुःख मिलता है, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। ये सुख मिलकर मुझे क्या दे गये जो दुःख मिलकर मेरा ले जायेंगे! सुख-दुःख, दोनों अनात्मरूप हैं, इसलिये इनका इनके साथ संबंध चलता रहे, इन्हें सुख-दुःख, रूप, रूपाभाव मिले तो मिले, लेकिन मुझे तो सबके अधिष्ठानरूप से परब्रह्म परमात्मभाव मिलता रहे। मैं तो केवल सच्चिदानंदरूपता को पकड़ता रहूँ।

यहाँ जिस यज्ञ को कह रहे हैं, वह यही है। इन सत्ताईस से अपने को अलग करना पड़ेगा। गीता में भी भगवान् ने नक्षत्रों को सत्ताईस ही बताया है : 'नक्षत्राणामहं शशी'; शशी नक्षत्रों में नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा नक्षत्र नहीं है, नक्षत्रों से अलग है। जब कहा 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' 'नदियों में गंगा मैं हूँ' तो गंगा नदियों के अंतःपाती है। पर नक्षत्रों से चन्द्र अलग है। इससे यही कहते हैं कि इन सत्ताईस को आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप न समझो। जो अपना आत्मस्वरूप (शशी) है, वही मेरी विभूति है। इन सत्ताईस को जो भी सुख-दुःख प्राप्त हों, मुझे तो केवल अधिष्ठान सच्चिदानंद को ग्रहण करना है। इसलिये बहुवचन का प्रयोग है कि इन सत्ताईस से अलग होकर प्रोक्षण हुआ।

प्रवचन-३५

यज्ञ का निरूपण करते हुए श्रुति उस यज्ञ के प्रधान अंग पुरुष को बता रही है। पुरुष ही इसमें प्रधानरूप से बलि दिया जाता है, इसलिये यज्ञ और पुरुष को एक करके कह दिया। इस यज्ञ के द्वारा 'बर्हिषि' ब्रह्मरूप अग्नि में दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इस यज्ञ में फल को बताते हुए पहले बताया कि किन-किन चीज़ों की निवृत्ति होती है। नानात्व-दर्शन हटता है, भेददृष्टि जाती है, विषयों की कामनायें निवृत्त होती हैं, अज्ञान समाप्त होता है। अब इस यज्ञ के द्वारा क्या-क्या प्राप्त होता है—यह आगे श्रुति बताती है 'रायस्पोषं सहस्रिणम्'। रायः और पोष, अर्थात् धन और पुष्टि इस यज्ञ के द्वारा बढ़ते हैं। और वह 'सहस्रिणं' हैं अर्थात् अनेक प्रकार से रयि (धन) और पुष्टि की प्राप्ति होती है। यहाँ रयि शब्द का अर्थ है धन, लेकिन रयि किस धन को कहते हैं ? अन्यत्र भी श्रुतियों में रयि शब्द का बहुत प्रयोग है। याज्ञवल्क्य विदग्ध शाकल्य से शास्त्रार्थ करते हुए जहाँ परमात्मा का रूप बताते हैं वहाँ 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणं' उस परमात्मा को विज्ञान और आनंद स्वरूप बताया और कहा कि वह रयि को देने वाला है। इस प्रकार श्रुतियों में अनेक जगह रयि शब्द का प्रयोग हुआ है। वह रयि कौन-सा धन है ? जब उस परब्रह्म परमात्मा को विज्ञान और आनंद से अभिन्न बताया तो साधारण कागज़ के टुकड़ों के धन को देने वाली कोई प्रशंसनीय चीज़ नहीं हो सकती! उलटा बाह्य धन का निषेध किया है 'न वित्तेन तर्पणीयो

मनुष्यः' कृष्ण यजुर्वेद कहता है कि वित्त से मनुष्य की तृप्ति नहीं। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन' धन के द्वारा उस परमात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं है। इसलिये यहाँ जिस धन का वर्णन किया जा रहा है, वह साधारण धन तो हो नहीं सकता।

रयि का एक विशेष अर्थ होता है। धन क्या करता है ? धन को मनुष्य क्यों रखता है ? धन के द्वारा जो चीज़ चाहो उसे खरीद सकते हो इसीलिये धन लाते हो। इसलिये जिस चीज़ की इच्छा हो उसे प्राप्त करने के साधन को रयि कहा जाता है। वस्तुतः यद्यपि हम लोग मानते हैं कि धन से जो चाहें सो खरीद लें, लेकिन नहीं खरीद सकते। इसी को बताने के लिये श्रुति ने कहा 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। धन से तुमको पदार्थ तो मिल सकता है लेकिन धन से कभी *तृप्ति* नहीं मिल सकती। हृदय के अन्दर जो एक तोष (आनन्द) का अनुभव है, वह धन खर्च करने से नहीं मिल सकता। इसलिये बाह्य धन का निषेध करके किसी चीज़ को श्रुति बता रही है जो मनुष्य को तृप्ति दे सके, वह इस पुरुष-यज्ञ से प्राप्त होती है।

एक कथा आती है। सुधीर नाम का एक राजा था। उसका विवाह हुआ और उसकी पत्नी का नाम बर्हि था। राजा बड़ा विचारशील, प्रतापी और धार्मिक कार्यों में रुचि रखने वाला था और जैसे वह था, उसके ही अनुगामिनी उसकी पत्नी थी। उससे उनके राधा नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई। लेकिन फिर आगे कोई संतति नहीं हुई। कई बार लोगों ने राजा से कहा कि दूसरा विवाह कर लो, लेकिन राजा ने नहीं किया। अंत में कुछ समय के बाद बर्हि की आयु पूरी होने पर वह मर गई। अब सब लोग

समझाने लगे कि 'अब क्या हर्जा है ? पहले तो यह सोचकर विवाह नहीं करते थे कि बर्हि दुःखी होगी। अब तो वह मर गई। राज्य चलाने के लिये राजा की ज़रूरत पड़ेगी, विवाह नहीं करोगे तो कैसे होगा ?' राजा ने फिर विवाह कर लिया। एक दूर देश के राजा की लड़की दीप्ति से राजा ने विवाह कर लिया। कुछ समय के बाद उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम भोज था। धीरे-धीरे राजकुमार भोज बड़ा हो गया।

उधर वह लड़की भी बड़ी हो गई, इसलिये उसके विवाह का जिक्र चला। लेकिन नई रानी के मन में सौत का विचार था। सोचती थी कि लड़की का ब्याह होगा तो बड़ा दहेज ले जायेगी। इसलिये वह लड़के को टाल देती थी। धीरे-धीरे लड़की बहुत बड़ी होने लगी। अब राजा ने निर्णय किया कि 'यह माने या न माने, मैं तो इस लड़की का ब्याह जबरदस्ती कर दूँगा, बड़ी बदनामी हो रही है।' उसने एक योग्य राजकुमार देखकर विवाह निर्णय कर दिया। दीप्ति इन्कार करती रही कि 'अभी क्या जल्दी है, आगे देखा जायेगा' लेकिन राजा ने कहा कि 'अब मैं तेरी बात नहीं मानूँगा। अब तो इसकी शादी करनी है और मैंने लड़का ठीक कर दिया है। लेकिन मुझे यह पता नहीं कि लड़की की शादी में क्या-क्या दिया जाता है, क्योंकि पहले कभी शादी नहीं की, इसलिये अनुभव नहीं है। इसलिये तुम जितना धन चाहिये, लेकर दहेज की सारी चीज़ें इकट्ठी कर लो।' रानी की नीयत तो पहले ही खराब थी। उसने राजा से कह दिया कि 'सामान आ गया है।' थोड़ा-बहुत सामान लेकर कहा कि 'सब सामान आ गया है।' बाकी सब रुपया खुद दबा गई। यहाँ तक कि राजा ने कारीगरों

से जो गहने बनवाये थे, वे भी दबा गई। पेटी बन्द करके कहा, 'राजन् ! पेटी खोलकर देखने में क्या फायदा है, बन्द पेटी दे देंगे, घर जाकर पहन लेगी।' राजा भोला-भाला था, मान गया। दहेज के लिये धन, गहने सब रानी खुद दबा गई। ऐसे लोग होते हैं 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य को धन के प्रति लोभ और स्वार्थ आ जाने पर वह दोष को नहीं देखता कि यह कर्तव्य है या अकर्तव्य है, सच बोलना है, झूठ बोलना है—कुछ विचार नहीं करता, बस वह केवल अपना स्वार्थ ही पूर्ण करने की सोचता है।

जब ब्याह होकर राधा ससुराल पहुँची तो जैसा नियम होता है कि घर की जेठानी, ननदें, सास सब देखते हैं कि क्या-क्या माल लाई है। सबने देखा कि वह तो कुछ नहीं लाई, गहने और कपड़े भी पूरे नहीं लाई, बाकी सब चीज़ें, बर्तन, फर्नीचर इत्यादि सब माल कमज़ोर था। अब सब उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगे। कोई कहे 'भाई का फालतू ब्याह हुआ', कोई कहे 'लड़का फालतू ब्याहा', तो कोई कहे कि 'देवर के ब्याह से कोई फ़ायदा नहीं हुआ क्योंकि कुछ लाई ही नहीं।' जैसे सौत माँ की दृष्टि थी, वैसी ससुराल वालों की भी दृष्टि हो गई। संसार में व्यक्ति को लोग कम देखते हैं, उपाधि को ज़्यादा देखते हैं। जब देखा कि कुछ नहीं लाई तो उसके प्रति लोगों का अच्छा भाव नहीं बना। वह बेचारी बहुत सेवा करे लेकिन चाहे जितनी सेवा करे, उनके पेट में तो धन की भूख थी, उसके कारण समझें कि यह किसी काम की नहीं है। केवल उसका पति हृदयेश उससे प्रेम करता था, वह कहता था कि 'अपने को अच्छी पत्नी मिल गई, बड़े प्रेम से सेवा

करती है, धन का क्या करना है।' लेकिन दूसरे घर वाले इस बात को न समझें। एक वही उससे पूरा प्रेम करता था। बाकी सब घरवाले उसके साथ दुर्व्यवहार करते थे। उसकी इज्जत भी न करें। उसके बाद देवरों का ब्याह हुआ तो वे ज़्यादा धन ले आये, इसलिये देवरानियों की उससे ज्यादा इ़ज़्ज़त होने लगी। इसकी और भी इ़ज़्ज़त कम हो गयी थी। इसके मन में बड़ा दुःख हुआ। पिता को दो-चार बार पत्र लिखे कि 'मुझे बुला लो।' लेकिन वहाँ सौतेली माँ पत्र इधर-उधर कर दे। कभी उसका पिता कहे भी कि 'लड़की का ब्याह हुए बहुत दिन हो गये, उसे बुला लो' तो उलटा झूठ बोलकर कहे कि 'मैंने तो चिट्ठी लिखी थी लेकिन वह लिखती है कि यहाँ काम बहुत है, मेरे सास-ससुर बहुत प्यार करते हैं, मुझे आने ही नहीं देते।' फिर भी उसका पिता कहे कि 'दो चार दिन के लिये ही बुला लो' तो वह समझा दे कि 'लड़की पराया धन होता है, इसलिये उसे ऐसे बुलाने से वे लोग बुरा मानेंगे।' राजा भोला तो था ही, समझे कि शायद ऐसी ही बात होगी।

इधर राधा के मन में बड़ा दुःख हुआ, सोचा 'ग़ज़ब हो गया! पिता को पत्र देती हूँ तो वह भी नहीं बुलाते, यहाँ भी इ़ज़्ज़त नहीं है।' इस प्रकार दुःखी होकर रह जाती थी। नर्मदा के किनारे उसकी राजधानी थी। वह कभी-कभी अकेली ही नर्मदा के किनारे चली जाये और वहीं एकांत में बैठी रहे। फिर जब मन ज़रा शांत हो जाये तब घर आ जाये। एक दिन वह नदी के किनारे बैठी हुई थी तो उसने देखा कि धोबी लोग वहाँ आकर उस दिन कपड़े नहीं धो रहे हैं, उलटा, वहाँ एक मन्दिर था, वहाँ पूजा कर रहे

हैं। इसके मन में जिज्ञासा हुई और वह वहाँ चली गई। धोबी लोग पहचानते थे कि यह यहाँ के राजा की पुत्रवधू है। उन्होंने उसका बड़ा सम्मान किया, पूछा, 'आप कैसे आईं ?' उसने कहा, 'रोज़ मैं देखती थी कि तुम लोग गधों पर लाद कर कपड़े लाते और धोते थे लेकिन आज वह सब कुछ नहीं है।' धोबी कहने लगे, 'रानी जी ! आज वर्षा का अंतिम दिन, भाद्रपद की पूर्णिमा है। श्रावण और भाद्रपद—दो महीने वर्षा के होते हैं। इसलिये आज हम लोग कपड़े नहीं धोते।' प्रायः धोबी यह मनाते रहते हैं कि वर्षा न हो क्योंकि यदि वर्षा ज़्यादा हो तो उनके कपड़े नहीं सूखते। लेकिन वर्षा बिल्कुल न हो, तो भी काम नहीं चलता। कपड़े धोने के लिये जल की आवश्यकता है और उसके लिये वर्षा ज़रूरी है, बिल्कुल वर्षा न हो तो कपड़े किससे धोयें ? अगर रोज़-रोज़ पानी बरसता रहे तो भी उन्हें कठिनाई है। इसलिये कहने लगे कि 'साल भर तो हम मनाते हैं कि वर्षा न हो। लेकिन वर्षा ऋतु के अंतिम दिन भगवान् को धन्यवाद देते हैं कि आपकी कृपा से वर्षा हुई तो आगे कपड़े धोने के लिये पानी का इंतजाम हो गया। इसलिये आज हम सब भगवान् शंकर के पूजन मे लगे हुए हैं। इसीलिये आज के दिन हम कपड़े धोने का काम नहीं करते।' गाँव में ऐसी परम्परा रहती है, शहरों में इस परम्परा को नहीं मानते। उलटा ईसाई धर्म की परम्परा को मानते हैं। ईसाई धर्म की परम्परा के अन्दर रविवार के दिन वे लोग काम नहीं करते, यह उनके धर्मग्रंथ बाइबल में लिखा है। हम लोग भी उनकी नकल करके इसी दिन छुट्टी करते हैं। अपने शास्त्रों के अनुसार किस दिन छुट्टी करें, इसे नहीं मानते। राज्य भी अपने को धर्म-निरपेक्ष

कहता है लेकिन ईसाई धर्म को मानते हैं, नहीं तो रविवार की छुट्टी क्यों करें ? परम्परा के अनुसार धोबियों का नियम था कि वर्षा ऋतु के अंतिम दिन वे कार्य नहीं करते। यही उन्होंने राजा की पुत्रवधू को बताया कि 'आज के दिन हम भगवान् शंकर से प्रार्थना करते हैं कि आगे आने वाले दस माह तक हमारी कमाई पूरी होती रहे, ऐसा नहीं कि हमेशा ही बीच-बीच में पानी बरसता रहे और कमाई न हो। वर्षा ऋतु में तो हमारी कमाई वैसे ही कम हो जाती है। इसलिये वर्षा ऋतु के अन्तिम दिन हम यह पूजा करते हैं।'

धोबियों की यह बात सुनकर राधा के मन में आया कि 'जिस ढंग से ये पूजन करते हैं, मैं भी करूँ तो शायद मुझे भी कोई धन की प्राप्ति हो जाये।' उसने उनसे सारी पूजा-विधि पूछी और उसी विधि से बड़े प्रेम से पूजन करना शुरू कर दिया। उसके बाद जब विजयादशमी का समय आया तब उसके पति हृदयेश के मन में हुआ कि 'अब अपना राज्य थोड़ा-सा बढ़ायें।' उसने अपने हज़ार-पाँच सौ आदमियों को तैयार किया और उनको लेकर अपना राज्य इधर-उधर फैलाने लगा। जब बिल्कुल ही उसके हाथ में राज्य आ गया तब उसने अपनी अलग राजधानी बना ली और अब राधा अपने ससुराल वालों से अलग होकर वहाँ रानी बनकर बड़े प्रेम से रहने लगी। हृदयेश ने भी अपना अलग राज्य स्थापित कर लिया। इसी में बारह वर्ष बीत गये। इस बात का पता राधा के सौतेले भाई भोज को लगा। उसको आश्चर्य हुआ कि 'इसने अपना नया राज्य प्राप्त करके बड़ी प्रसिद्धि और धन प्राप्त कर लिया और मेरे माता-पिता मुझे अच्छी तरह शिक्षा नहीं देते

रहे, इसलिये वहाँ का वहीं हूँ। उलटा मंत्री लोग और इधर-उधर के लोग आकर मुझे दबाते रहते हैं। पड़ोसी राजा भी आकर कुछ दबाकर ले जाते हैं।' जैसे भारतवर्ष का हाल है कि कभी चीन वाले तो कभी पाकिस्तान वाले कुछ न कुछ दबाते जाते हैं, क्योंकि यहाँ के राजा को राज्य करने की कोई शिक्षा नहीं है। उनको तो लोगों को फुसलाकर वोट लेने की शिक्षा मिलती है, राज्य चलाने की शिक्षा उन्हें कोई नहीं देता। भोज ने विचार किया कि 'अपनी बहन को ही बुलाऊँ।' उसने माँ से कहा। उसने भी बहुत सुन रखा था। उसके मन में आया कि 'मैंने उसका दहेज दबाकर बुरा किया। उसे पता लग गया होगा। यदि उस समय ऐसा न किया होता तो आज मेरे लड़के को उसके बहनोई से कोई न कोई मदद मिलती।' लेकिन उसने भोज को सारी बात नहीं बताई कि कैसे-कैसे दुर्व्यवहार किये थे। कहने लगी, 'तेरी बहन शायद न आये, क्योंकि बारह साल हो गये, नहीं आई है।' उसने पिता से पूछा, उन्होंने कहा 'तेरी माँ की इच्छा बुलाने की नहीं थी, इसलिये नहीं आई।' उसने कहा, 'मैं आज ही पत्र लिखता हूँ और खुद जाकर ले आऊँगा।'

भोज वहाँ पहुँचा तो राधा बड़े आनंद से उससे मिली। भोज ने कहा, 'घर चलो।' एक-आध बार तो राधा ने कहा कि बारह साल बाद याद किया है। कहने लगा, 'क्या बताऊँ, मैं तो छोटा था, मेरी चलती नहीं थी लेकिन मुझे तुझ से बड़ा प्रेम है। अब किसी तरह माता-पिता को समझाकर आया हूँ।' स्वाभाविक है कि लड़की का मन पीहर की तरफ रहता ही है। जब भाई खुद बुलाने के लिये आ गया तो तैयार हो गई। हृदयेश से पूछा 'हो

आऊँ ? माता-पिता से मिल आऊँगी। सखी-सहेलियों को भी मिल आऊँगी और कुछ दिल की बातें कर आऊँगी।' हृदयेश ने आज्ञा दे दी। वहाँ से गई तो रास्ते में भी भोज ने देखा और घर पर भी देखा कि वह रोज़ सवेरे उठकर शिवलिंग का पूजन करती है। भोज तो कुसंग में पड़ा हुआ था। वह बार-बार कहे कि 'यह रोज़ का क्या पचड़ा लेकर बैठ जाती है। पूजा-पाठ में क्या रखा है, ये सब फालतू की चीज़ें हैं। यह तो मैं मानता हूँ कि तेरा पति बड़ा ताकत वाला है, उसने नया राज्य कायम कर लिया है। इसलिये तेरी और तेरे पति की प्रशंसा है, लेकिन तूने यह पत्थर-पूजन क्यों शुरू कर दिया ? यह सब फालतू है और यह सब पण्डितों के काम का है।' नास्तिक लोगों का नारा क्या होता है, जानते हो ? कहते हैं कि रुद्राक्ष पहनना, भस्म धारण करना, परमेश्वर का पूजन करना सब किसके लिये है ?

'यज्ञो दानं त्रयो वेदाः रुद्राक्षं भस्मगुण्ठनाम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।'

चार्वाक लोग कहते हैं कि जिनमें बुद्धि नहीं होती और काम करने की ताकत नहीं होती, वे इस पूजा-पाठ से गुज़ारा निकाल लेते हैं। वेद को पढ़ते हैं जो फालतू की, और किसी काम की किताबें नहीं हैं, उनसे कोई फ़ायदा नहीं है। यज्ञ करना बिना मतलब घी को फूँक देना है, घी को तो खाना चाहिये। शुरू में ही कहते हैं कि खाना चाहिये, थोड़े दिन बाद कहते हैं कि 'डायटिंग करनी चाहिये, ज़्यादा नहीं खाना चाहिये।' यज्ञ ही नहीं करेंगे तो हजम कहाँ से होगा ? इसी प्रकार कहते हैं कि दान नहीं करना चाहिये। जितना अपने पास आये, सब अपने ही भोग में लगा देते हैं।

'तुम्हारे बच्चों को पढ़ाते हैं, यह भी तो दान है', ऐसा उपदेश देते हैं। भोज भी ऐसा ही कुसंगी था, यही सब कहने लगा।

एक दिन बहन ने कहा, 'देख, ये सब बातें मुझसे न किया कर, मेरे को पसंद नहीं हैं। जो कुछ होता है, वह मेरे लिये तो भगवान् शंकर की कृपा से ही होता है। विचार कर कि मेरे जैसी हालत और कितनों की होती है लेकिन कहाँ सफलता प्राप्त करते हैं ? इसलिये यह न तेरे जीजा की और न मेरी ही प्रशंसा है। यह तो भगवान् शंकर की ही प्रशंसा है।' भोज बहुत कुसंगी था। एक दिन बातों-बातों में उसको गुस्सा आया और शिव जी को लेकर उसने नीचे एक बड़े तालाब में फेंक दिया और कहा कि 'अब तेरे शंकर क्या कर लेंगे ?' वह बेचारी दुःखी होकर रोने लगी। उसके थोड़े ही दिन बाद हृदयेश वहाँ पहुँचा। उसकी हालत बड़ी खराब थी। इन लोगों ने पूछा कि क्या हुआ। हृदयेश कहने लगा 'पड़ोसी राजा ने बड़ा जबरदस्त आक्रमण किया और उसमें मैं हार गया। उसने मेरा सारा राज्य दबा लिया है। अब मैं यहाँ आया हूँ कि तुम लोग कुछ सहायता करो।' भोज ने विचार किया कि 'अब राज्य चला गया तो क्या सहायता करें !' यह नास्तिकों का सिद्धान्त है कि जब आस्तिक से मदद लेनी हो तो मीठी-मीठी बातें करते हैं। नास्तिक का यह लक्षण है कि जब किसी समय आस्तिक पर कोई आपत्ति आ जाये तो सरक जाते हैं। एक बात परीक्षा करके देख लो : संसार में आस्तिकों के बनाये हुए तो कई संस्थान मिलेंगे जिनमें आस्तिक लोगों की तरफ से कहीं औषधि, कहीं अन्न और कहीं वस्त्र बँट रहे हैं, लेकिन भारतवर्ष में घूम आओ, एक ऐसा नास्तिकों का संस्थान नहीं मिलेगा जहाँ

गरीबों को कुछ मिले। आस्तिकों को धोखा देने के लिये बोलते तो हैं कि 'हम तो चाहते हैं कि मनुष्य की उन्नति हो' लेकिन जीवनभर में एक भूखे को भोजन कराने के लिये कोई तैयार नहीं होगा। आजकल की जितनी पार्टियाँ बनी हुई हैं वे चन्दा भी किस लिये लेती हैं ? जनता से वोट लेकर राजा बनने के लिये ही चन्दा इकट्ठा करती हैं। आज तक इन्होंने कहीं कोई अन्न-क्षेत्र नहीं खोला कि कोई भूखा आये तो उसे भोजन मिल जाये। कोई वस्त्रक्षेत्र भी नहीं खोला। इसलिये नास्तिक आस्तिक को पथभ्रष्ट तो करता है और जब वह पथभ्रष्ट हो जाता है तब वह अपना काम बनाकर सरक जाता है।

पहले तो भोज को आशा थी कि इससे कुछ मिलेगा, इसलिये आनंद से ले आया था। जब देखा कि इस पर आपत्ति आई है तब कहने लगा कि 'मेरी फौज पुरानी है, ढंग की नहीं है। तुम अपने ही पिता से जाकर मदद माँगो।' राधा ने माँ से कहा तो पहले माँ भी बड़ी मीठी-मीठी बातें कर रही थी। जब देखा कि हार गया है तब उसने भी साथ छोड़ दिया। यह नास्तिक की दृष्टि होती है। अब वे लोग वहाँ से चले। थोड़ी दूर आने पर राधा कहने लगी 'मुझे ऐसा लगता है कि भाई ने मेरे इष्ट देव भगवान् शंकर को उठाकर इस तालाब में डाल दिया तब से मेरी पूजा बंद हो गई। इसीलिये अपने ऊपर यह आपत्ति आई है।' राजकुमार ने कहा, 'तूने ऐसा क्यों करने दिया ?' वह आस्तिक था। कहने लगी, 'भाई था, सामने मूर्ति लगी रहती थी। बात-बात में वह ऊटपटांग बोलता भी था लेकिन इतना विश्वास नहीं था कि इस प्रकार उठाकर फेंक देगा। मैं सावधान नहीं थी, इसलिये उसने

यह दुर्व्यवहार कर दिया। इसीलिये यह आपत्ति अपने ऊपर आ गई।' साल भर बाद फिर वही समय आया हुआ था। जहाँ से ये जा रहे थे, वहाँ पर धोबी लोग अपने कपड़े इत्यादि को अलग रखकर भगवान् शंकर का पूजन कर रहे थे। इसने कहा, 'तुम भगवान् शंकर के भक्त हो, पूजन कर रहे हो। मेरा भी एक शिवलिंग था जो मेरे भाई ने इस तालाब में फेंक दिया। हम लोग तो उसे निकाल नहीं सकते। तुम लोग निकाल दो तो बड़ा अच्छा हो।' धोबियों ने कहा, 'यह अच्छा नहीं हुआ। इसकी पूजा खण्डित हो गई। वे जल को समझने वाले थे, इसलिये झट उस तालाब के अन्दर प्रवेश करके चारों तरफ ढूँढा तो शिवलिंग मिल गया। बाहर निकाल लाये और उसे दे दिया। वह उसे अपने साथ ले गई और फिर-से पूजन करने लगी।

मार्ग में जाते हुए पहली रात जहाँ टिके वह एक ब्राह्मण की पर्णकुटी थी और वहाँ रात को वह प्रदोषकाल का पूजन करने लगी। भगवान् शंकर को प्रदोषकाल का पूजन बड़ा प्रिय है। ब्राह्मण ने पूछा, 'यह क्या कर रही है ?' उसने कहा, 'भगवान् शंकर का पूजन कर रही हूँ।' वह ब्राह्मण कहने लगा, 'यह सब पूजा-पाठ में क्या रखा है, यह सब फालतू है।' उन लोगों ने कहा 'अब तुम्हारे घर में भोजन नहीं करेंगे। इसी प्रकार मेरे भाई ने भी मेरे इष्टदेव का अपमान किया तो हमें इतनी आपत्ति भोगनी पड़ी। जब भाई का घर भी छोड़ दिया तो अब तेरे घर का क्या खाना है।' ब्राह्मण ने बहुत कहा लेकिन उन्होंने वहाँ भोजन नहीं किया और भूखे ही वहाँ से चले गये। दूसरी रात वे लोग जहाँ रुके, वह एक क्षत्रिय का घर था। उसने वहाँ भी प्रदोष का पूजन करना

प्रारंभ किया। उस क्षत्रिय ने भी कहा कि 'यह सब फालतू में क्या समय बरबाद करते हो, इसमें क्या रखा है ?' राधा ने अपने पति से कहा, 'पति देव ! कल भी भूखी रही और आज भी भूखी रहूँगी।' उसने भी कहा कि ठीक है, 'जब तुझे नहीं खाना तो मैं भी नहीं खाऊँगा।' वहाँ से भी भूखे ही आगे चल दिये। तीसरी रात किसी बड़े सेठ के घर ठहरे। वहाँ भी प्रदोषकाल आया तो उन्होंने भगवान् शंकर का पूजन शुरू किया। सेठ पूछने लगा कि 'यह क्या करते हो ?' राधा ने कहा, 'मैं भगवान् शंकर का पूजन करती हूँ, यह मेरा नियम है।' सेठ कहने लगा, 'यह सब क्या फालतू की बात है, इससे कुछ नहीं होना है। इसलिये पूजन करना छोड़ दो, मुझ से धन ले लो और कुछ व्यापार करना शुरू कर दो।' उसने कहा, 'दो दिन के भूखे हैं, लेकिन आज भी भोजन नहीं करना है।' हृदयेश ने कहा भी 'कर ले', लेकिन वह नहीं मानी। हृदयेश ने कहा कि 'मुझे भी नहीं करना है।' चौथे दिन एक अत्यंत दरिद्र शूद्र के घर पहुँचे। चारों तरफ और कोई बस्ती भी नहीं थी। उनके मन में कुछ घृणा भी आई कि इसका मकान ठीक नहीं है, चारों तरफ गंदगी पड़ी है। लेकिन और कोई उपाय भी नहीं था। इस रात भी उन्होंने अपना प्रदोष काल का पूजन शुरू किया। उत्तम घर में जन्म लेकर, राजा बनकर दर-दर मारे-मारे फिर रहे हैं, इस पर भी पूजा नहीं छोड़ रहे हैं। पूजा करने वाले का यह हाल होता है, ऐसा उस चमार ने भी कहा। उसने उस दिन भी भोजन नहीं किया। हृदयेश ने कहा, 'यह युग ही ऐसा है, क्या करोगी ?' राधा कहने लगी, 'चाहे मर जाऊँ लेकिन ऐसे घर का भोजन करने वाली नहीं हूँ।' उस दिन भी नहीं खाया।

वहाँ से आगे चले तो देखते हैं कि सामने से दो घुड़सवार आ रहे हैं कुछ पास आये तो हृदयेश ने पहचान लिया कि एक उसका मंत्री है और दूसरा सेनापति है। कहने लगा, 'अपने कहीं छिप जायें। लगता है राजा ने पकड़ने भेजा है और शायद मार डालेंगे। इसलिये छिप जाना चाहिये।' जब तक वे छिपने का प्रयत्न करें, तब तक वे दोनों वहाँ पहुँच गये। वे घोड़े पर सवार थे, राजकुमार को थोड़ा डर लगा। लेकिन उन दोनों ने भारतीय परम्परा के अनुसार राजा को तलवार से नमस्कार किया। हृदयेश ने कहा, 'वह राजा पसंद नहीं आया होगा, चलो अपने एक से तीन हुए।' उन्होंने कहा, 'राजा वहाँ रहकर अत्याचार करने लगा था, इसलिये कल रात्रि हमने उसे मार डाला और आपको ढूँढने निकले थे, अब आप चलिये।' इस प्रकार पुनः उन्हें राज्य की प्राप्ति हुई। वहाँ पहुँचकर राजा ने कहा कि 'अपने चार दिन के भूखे हैं, भोजन कर लें।' रानी ने कहा, 'मेरा तो नियम है, इसलिये आज भी प्रदोषकाल का पूजन करके ही भोजन करूँगी।'

उस मारे गये राजा के कुमार के मन में आया कि 'लगता है हृदयेश ने जाकर अपने साले से मदद ली होगी और इन लोगों ने मेरे पिता को मरवा दिया। अब इनसे तो नहीं सकूँगा, इसलिये भोज पर ही आक्रमण करूँ।' उसको यह पता नहीं था कि भोज ने तो इन्हें निकाल दिया है ! एक दिन फौज लेकर उसने भोज पर आक्रमण कर दिया। भोज पहले ही कमज़ोर था, उसकी फौज भी पुरानी थी, इसलिये हार गया। उन लोगों ने भोज को पकड़ लिया और सोचने लगे कि इसको समाप्त कर दें। भोज बेचारे ने बड़े हाथ-पैर जोड़े। लेकिन राजकुमार को तो बड़ा गुस्सा था

कि 'इसने मेरे पिता को मरवा दिया।' इसलिये उसकी एक नहीं सुनी और भोज को मार डाला। उसके माँ-बाप को भी पकड़कर जेल में डाल दिया। यह खबर हृदयेश को मिली तो राजा ने कहा 'अपने सास-ससुर हैं, चाहे जैसे भी हों, हैं तो अपने सास-ससुर ही, इसलिये उनकी रक्षा करना अपना कर्तव्य है।' राजकुमार को चिट्ठी लिखकर भेजी कि 'तुमने मेरे सास-ससुर को बन्द कर रखा है, उन्हें मेरे पास पहुँचा दो, नहीं तो मेरे साथ युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ।' राजकुमार ने सोचा कि यह बड़ा जबरा आदमी है, इसलिये उसने कहा, 'सास-ससुर को ही भेज देता हूँ, लेकिन जीता हुआ राज्य वापिस नहीं करूँगा।' हृदयेश ने कहा कि 'कोई बात नहीं, ये तो दोनों वृद्ध हैं, इसलिये हमारे पास ही रह जायेंगे।' सुधीर दीप्ति दोनों वहीं जाकर रहने लगे। दीप्ति के मन में बड़ा दुःख हुआ कि 'मैंने इनके साथ ऐसे-ऐसे दुर्व्यवहार किये।' उस दुःख के कारण उसके हृदय में जो चोट लगी उससे वह शीघ्र ही मर गई। सुधीर के मन में भी आया कि मेरे घर में परमात्मा का अपमान होता रहा, इसलिये लगता है कि उसी से मेरा वंश खत्म हो गया और मेरी स्थिति भी खराब हो गई।' अब उसने भी अपनी लड़की से पूछकर पूजा प्रारंभ की और अंत में उसकी वृत्ति भी अच्छी हो गई।

इस कथा के द्वारा रयि रूपी धन की प्राप्ति बताई कि कैसे खोया जाता है और कैसे पाया जाता है। श्रुतियों में जगह-जगह आता है कि स्वाराज्य साम्राज्य ही असली धन (असली रयि) है। स्वाराज्य अर्थात् अपनी आत्मा का राज्य प्राप्त करना ही असली साम्राज्य है। इसलिये चाहे संसार के पदार्थों को, सारे राज्यों को

प्राप्त कर लो, सारे संसार के अखण्ड अधिपति बन जाओ, लेकिन यदि अपने ऊपर शासन न हो तो सारा व्यर्थ हो जाता है। यदि तुम्हारे पास कुछ भी बाह्य पदार्थ नहीं हैं लेकिन आत्मा का राज्य यदि तुम्हारे हाथ में है तो परम आनंद का अनुभव करते हो। संसार के सारे पदार्थ वह सुख नहीं दे सकते जो अपने राज्य की प्राप्ति पर सुख होता है, क्योंकि वह अपना है और बाकी जितने पदार्थ हैं, सब अपने नहीं हैं। लगने को लगते हैं कि वे सुख देने वाले हैं लेकिन वे अपने को, आत्मा को सुख नहीं देते, अनात्म-पदार्थ आत्मा को दुःख देते हैं। इसी स्वांराज्य प्राप्ति को इस कथा में बताया गया है।

राजा का नाम सुधीर है। धी नाम बुद्धि का है। सुष्ठु बुद्धि वाले को ही सुधीर कहा जाता है। उसका विवाह पहले बर्हि से हुआ। वही जो इस मंत्र में आया है 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्।' अच्छी बुद्धि पहले तो परमात्मा की तरफ, ब्रह्माग्नि की तरफ जाती है। उससे जो कन्या उत्पन्न होती है, उसका नाम राधा है। राध्यते इति राधा। पुराणों में बताया कि राधना (आराधना) करके अच्छी बुद्धि परमात्मा को विषय करती है। सुधीर जब बर्हि के साथ संयुक्त होता है तब राधा उत्पन्न होती है। तब परमेश्वर की आराधना में व्यक्ति लगता है। अगर अच्छी बुद्धि है और परमात्मा की तरफ जाने वाली नहीं है तो जैसे आजकल के लोग हैं, उस बुद्धि से चन्द्रमा में जाना सीखेंगे, अणुबम का विस्फोट करना सीखेंगे। बुद्धि तो ठीक है लेकिन अनात्म पदार्थों को विषय करती है। जब बुद्धि परमात्मा को विषय करती है तब आराधना होती है, तब मनुष्य परमात्मा की आराधना में लगता है अर्थात्

राधा कन्या उत्पन्न होती है, परमात्मा के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता है।

जब शुद्ध बुद्धि परमात्मा की तरफ लगी, तब किसी कारण से मनुष्य आराधना में लगने के बाद भी कभी-कभी संसार के पदार्थों में आसक्ति वाला होने लगता है। क्या कारण है ? परमात्मा की आराधना से संसार के सुख बढ़ना स्वाभाविक और सहज है। लेकिन धीरे-धीरे मनुष्य यह तो भूल जाता है कि किसकी कृपा से ये सुख मिले, और उन सुखों से मुग्ध होकर उन सुखों में ही अपने आपको लगा देता है। उसकी परमात्मा की आराधना कम होने लगती है और धीरे-धीरे बिल्कुल बंद हो जाती है। अब उसकी परमात्मदृष्टि नहीं रहती। यही उसका दीप्ति के साथ दूसरा विवाह हो जाना है। दीप्ति चमक को कहते हैं। संसार के पदार्थ चकमक करते हैं। आजकल तो लोग 'नियोन साइन्ज़' लगा देते हैं ताकि रात में भी चमकते रहें। संसार के नाम-रूप-कर्मात्मक पदार्थों में बड़ी दीप्ति रहती है। संसार की चमक के पीछे लग गया तो उससे उत्पन्न पुत्र भोज हुआ। भोग ही भोज है। परमात्मा की तरफ यदि अच्छी बुद्धि लगी तो उससे राधा (आराधना या परमात्म-प्रेम) उत्पन्न हुई और यदि वही बुद्धि संसार के पदार्थों के पीछे लगी तो भोग उत्पन्न हुआ अर्थात् संसार के भोग उसके सामने आने लगते हैं और वह उसी में रत हो जाता है।

अब राधा उसके घर में नहीं रही। उसका विवाह हृदयेश से हो जाता है। परमात्मा की आराधना हमेशा परमात्मा के साथ रहती है। जब तुमने परमात्मा की आराधना छोड़ दी, उसके हृदय का प्रेम तो गया, अब वह अपने हृदयाधिपति के साथ चली गई।

इसीलिये श्रुतियों में बार-बार परमात्मा के रहने की जगह हृदय को बताया है। इसलिये यह हृदयेश है, हृदय का ईश्वर तो वह एक परमात्मा ही है, उसके बिना और कोई हृदय का ईश्वर बनने की सामर्थ्य नहीं रखता क्योंकि हृदय उसके रहने की जगह है। बाकी चीज़ें परमात्मा को, शिव को हटा कर बैठना चाहती हैं लेकिन शिव को हटा तो नहीं पाते, केवल भ्रम हो जाता है कि हटा दिया। आराधना और हृदयेश दोनों संसारी लोगों के द्वारा अपमानित होते हैं। सास-ससुर भी अपमान इसलिये करते हैं क्योंकि संसारी लोग सांसारिक भोगों को महत्त्व देते हैं, जैसे राधा के सास-ससुर ने देखा कि बहुत थोड़ी चीज़ें लाई है। राधा और हृदयेश संसार की चीज़ों को महत्त्व नहीं देते, इसलिये संसार के द्वारा उनका अपमान होता है, लेकिन उनका तो अपना राज्य है।

जो परमात्मा की आराधना में लगे रहते हैं वे शीघ्र ही इस अंतःराज्य के अधिकारी हो जाते हैं। अब वह संसार के पदार्थों की तरफ दृष्टि नहीं करते, अब तो वह आत्म-राज्य का अधिकारी होता है, स्वराज्य साम्राज्य को प्राप्त कर लेता है। लेकिन राधा का थोड़ा-सा खिंचाव पहले मायके वालों से बना था क्योंकि बहुत सालों से उनके साथ सम्बन्धित रही है। इसलिये कभी भोज इसे बुला ले जाता है। कभी-कभी हृदय का प्रेम संसार के पदार्थों की तरफ चला जाता है। हृदयेश को छोड़कर राधा मायके चली गई, सुधीर, दीप्ति और भोज के यहाँ गई। जैसे ही हृदय से आराधना भोग्य पदार्थों की तरफ गई, वैसे ही इसका शिवलिंग इससे छूट गया। प्रतिदिन यही तो होता है। मन्दिर में आकर सोचते हो कि परमात्मा सत्य है, जगत् मिथ्या है और दुकान में बैठकर

वह परमात्मा तो भूल जाता है और खनाखन वाला मामला याद रह जाता है। आजकल तो वह खनाखन वाला भी नहीं, कागज़ के टुकड़े हो गये हैं ! यही उसका शिवलिंग दूर हो जाना है। जैसे ही शिव दूर हुए, वैसे ही हृदय का प्रेम बौखला जाता है, क्योंकि स्वराज्य दूर हो गया। अब वह दुःखी हो जाता है और फिर वह भिन्न-भिन्न प्रकार के दूसरे साधनों को पकड़ना चाहता है।

रास्ते में जाते हुए उन्हीं धोबियों ने फिर शिवलिंग निकाल कर दिया। धोबी कपड़े धोता है। शरीर एक कपड़ा है, इसके अन्दर प्राण दूसरा कपड़ा, उसके अन्दर मन तीसरा कपड़ा, बुद्धि चौथा कपड़ा, अज्ञान पाँचवा कपड़ा। इन पाँच कपड़ों को पहनकर आत्मा बैठा हुआ है। इसीलिये श्राद्ध आदि में जब पण्डित पूजन करते हैं तब कहते हैं कि पण्डितजी को पाँच कपड़े देना। वे पाँच कोषों के प्रतीक हैं। इन पाँच कोषों को साफ कर लिया तो धोबी है। बाहर के शरीर को शुभ कर्म साफ करते हैं। योगाभ्यास प्राणों को, परमात्म-भक्ति मन को और वेदांत-विचार बुद्धि को स्थिर करता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य अज्ञान को साफ करते हैं। ये सारे धोबी हैं। उन्हीं से जाकर पूछता है और कहता है कि 'फिर साफ कर दो।' फिर शिवलिंग को लेकर जाता है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों मिलकर अपमान करते हैं। पुराणकार कहते हैं कि उन्होंने क्यों अपमान किया

'विद्या न दत्ता शिष्येभ्यः रक्षादानं तथा द्विजैः।
शुश्रूषा न कृता शूद्रैः तेन प्रज्ञा हता तथा।।'

चारों दोषों से इन चारों वर्णों में दोष आता है। इन चार का संसर्ग हो जाये तो पाँचों कपड़े शुद्ध होते हुए भी खाने का अधिकारी

नहीं बनता। अपने यहाँ नियम है कि भोजन करते समय धोया कपड़ा पहने। लेकिन यह भी आवश्यक है कि बनाने वाला भी शुद्ध होना चाहिये। आजकल तो 'रैस्टोरेण्ट' में खाते हैं, इसलिये अब तो तुमको दुखता नहीं है कि बनाने वाला शुद्ध है या नहीं।

ब्राह्मण जो विद्या का दान नहीं करता, वह संगति के लायक नहीं। जो वैदिक-धर्म की रक्षा करने के लिये अस्त्र नहीं उठाता, वह क्षत्रिय भी साथ बैठने के लायक नहीं है, संगति के योग्य नहीं है। जो वैश्य द्विजों को दान नहीं देता, उसका धन भी अभोज्य हो जाता है। अब वह परमात्मा की भक्त या आराधना समझ गयी अतः आगे भूल नहीं करेगी। पहले तो भूल से भोज की तरफ चली गई थी। लेकिन अब जिसे कहते हैं कि 'दूध का जला छाछ को भी फूँक कर पीता है', एक बार संसार की आपत्ति आई, सुख हटा लेकिन निश्चय हो गया कि चाहे भूखा रहना पड़े, लेकिन संसारी लोगों का खाने से कुछ फायदा नहीं। जो शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी मन से सेवा नहीं करता, वह भी संगति के योग्य नहीं है। अर्थात् कामचोर शूद्र, विद्याचोर ब्राह्मण (जो शिष्य को विद्या न दे), रक्षाचोर क्षत्रिय जो अपने ही प्राणों को बचाने में लगा रहे और धनचोर वैश्य जो दान न दे—ये चारों ऐसे निकले, इसलिये इनका भोजन खाने के योग्य नहीं होता है। अब राधा को भूखा रहना कबूल है लेकिन ऐसे नास्तिकों का संग कबूल नहीं।

निश्चय हो गया कि राधा भटकने वाली नहीं है, अब सर्वथा हृदयेश के साथ रहने वाली है। यह निश्चय होते ही परमात्मा ने उसे फिर से स्वाराज्य में स्थापित कर दिया। स्वाराज्य में स्थापित

होने के बाद भोज मारा जाता है। संसार के सारे लोग मारे जाते हैं। कई प्रारब्ध भोग तो इसीलिये बचाकर रखे जाते हैं कि कहीं इसकी ब्रह्मदृष्टि हटेगी तो सामने प्रारब्ध भोग आयेंगे। लेकिन अब राधा वह दृष्टि हटाने वाली नहीं है। एक-बार गलती करके भोज के साथ गई तो धोखा खाया। लेकिन अब चारों वर्णों के यहाँ चार दिन भी भूखी रह कर सिद्ध कर दिया कि अब उसकी वृत्ति परमात्मा से कभी भी हटने वाली नहीं है, चाहे कैसी विपत्ति आ जाये, किसी भी हालत में वह उसे नहीं छोड़ती। ऐसे दृढ निश्चय से उसे पुनः स्वाराज्य साम्राज्य की प्राप्ति हो गई। अब प्रारब्ध भोग को रखने की भी ज़रूरत नहीं, क्योंकि अब वृत्ति कभी नहीं हटेगी। अब संसार का चाकचिक्य भी समाप्त हो गया, अब इससे उसके मन में कोई फ़र्क नहीं आता। अच्छी से अच्छी चीज़ देखकर भी इसे परमात्मा की याद आती है, चीज़ की याद नहीं आती। दीप्ति भी थोड़े दिन में मर गई। संसार का चाकचिक्य भी समाप्त हो गया तो अब केवल सुधीर रूपी बुद्धि बच गई। इसलिये जहाँ हृदयेश और राधा एक हुए वहाँ बुद्धि भी उन्हीं के साथ रहने लगी। बुद्धि ने देख लिया कि संसार के भोगों को प्राप्त करके कुछ परिणाम नहीं निकला।

यहाँ 'रायस्पोषं' के द्वारा श्रुति यह बताती है कि ब्रह्माग्नि के साथ सम्बन्ध होने पर क्या होता है। और इससे विलग होने पर क्या होता है। स्वाराज्य साम्राज्य (आत्म राज्य) ही धन है।

प्रवचन-३६

श्रुति यज्ञ का निरूपण करते हुए कह रही है कि पुरुष ही यज्ञ का प्रधान पशु है अतः पुरुष-यज्ञ में उसका प्रोक्षण करके बर्हि में आहुति दी। इससे 'अपमृत्युम्अपक्षुधम्अपेतः शपथं जहि' मृत्यु, क्षुधा और शाप से छूटा। इन तीनों से छूटने पर उसे आत्मस्वरूप साम्राज्य मिला। 'रायस्पोषं सहस्रिणम्' रयि—धन और पोष-पुष्टि मिले। वेदों में बार-बार 'रायस्पोषं' दोनों का प्रयोग हुआ है। यदि धन प्राप्त हो जाये और वह धन हमें पुष्ट न करे तो वह दुःख का कारण बनता है। बहुत बार हमें धन तो मिलता है लेकिन वह हमारी पुष्टि का कारण नहीं बनता, हमें लाभ नहीं पहुँचाता। आज से कुछ वर्ष पूर्व तक लोगों के पास धन इतना नहीं था लेकिन जितना धन था उससे उनको सुखानुभूति होती थी। आज धन पहले से बहुत ज़्यादा है, साधारण से साधारण आदमी के पास भी धन बहुत है, लेकिन वह धन उसके सुख का कारण नहीं बन पाता। इसीलिये वैदिक इस बात को जानते हुए केवल धन को न माँग कर 'रायस्पोष', धन और पुष्टि को माँगता है कि धन वह मिले जो हमें पुष्ट करे, हमें सुख दे। स्वाराज्यरूप धन भी मिले और हमें पुष्ट न करे तो कैसे काम होगा ?

हम कई बार कहा करते हैं, और यह अनुभव की बात बताते हैं, कि बड़े आदमी का रुपया और बहुत पढ़े-लिखों का ज्ञान दूसरों के काम आता है ! ऐसे-ऐसे आदमी हैं जो साल में बीस-बीस

लाख रुपया कमाते हैं, उनके पास धन की कमी नहीं है। लेकिन घरवाली यदि कहे कि 'मुझे दस हज़ार रुपया दो' तो कहते हैं कि 'अभी नहीं है।' यह वह झूठ नहीं बोल रहा है ! सच ही बोल रहा है, क्योंकि उनका रुपया तो दूसरों के काम आ रहा है, जिसे कहते हैं 'लगा हुआ है'। बहुत बड़े आदमी का रुपया अपने काम नहीं आता, दूसरों के काम आता है। उनके कर्मचारी जितनी मौज ले लेते हैं उतनी मौज वे स्वयं नहीं ले पाते। कर्मचारी को दो हज़ार रुपये मिलें तो वह सोचता है कि दो हज़ार खर्च करने हैं और सेठ को दो हज़ार मिलें तो सोचते हैं कि एक हज़ार बचा लेना है ! वह रुपया दूसरों के काम आता रहता है। अंत में मर जाते हैं तो बेटों के काम आता है, हर हालत में उनके काम तो नहीं आया। इसी प्रकार जो बहुत बड़े विद्वान् होते हैं उनकी विद्या अपने काम नहीं आती, दूसरों को बताते रहते हैं। डाक्टर दूसरों को दवाई बताता रहता है, स्वयं उसका फ़ायदा नहीं उठाता। इंजीनियर दूसरों के मकानों के बढ़िया से बढ़िया नक्शे बनाते रहते हैं और अपने लिये साधारण-सा मकान बनाकर रहना पड़ता है। इसलिये यदि रायः, धन है और पोष, पुष्टि नहीं करता है तो व्यर्थ हो जाता है क्योंकि अपने काम नहीं आया, दूसरे के काम भले ही आता रहे।

इसी प्रकार बहुत बार मनुष्य आत्म-तत्त्व के विषय में प्रवृत्ति करता है, लेकिन उससे उसको खुद लाभ नहीं हो पाता। उसके आनंद को वह स्वयं नहीं ले पाता। वह स्वयं आनंद को क्यों नहीं ले पाता ? यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के आरण्यक में बताया है कि क्या कारण है कि आत्मा को समझ करके भी, आत्मा को

जानकर भी और छूकर भी उस आत्मा से पूरी पुष्टि प्राप्त नहीं कर पाता अर्थात् पूरी तरह से अपना पोषण नहीं कर पाता ? श्रुति कारण बताती है : उस आत्मज्ञान की पुष्टि को इसलिये नहीं प्राप्त कर पाता कि वह 'ग्राम्य पशु' रह जाता है, 'आरण्य' नहीं बन पाता। जैसा कि पूर्व मंत्र में बता आये हैं, ग्राम्य और आरण्य का भेद है। आरण्य संस्कृति निवृत्ति की संस्कृति है और ग्राम्य संस्कृति प्रवृत्ति की संस्कृति है। क्यों उस स्वाराज्य का आनन्द नहीं ले पाता ? क्योंकि निवृत्ति नहीं कर पाता। लेकिन निवृत्ति किसकी होती है—यह ख़्याल रखना। निवृत्ति बाहर की चीज़ों को छोड़ने में नहीं है; बाहर से चीज़ें छोड़कर मन में उन्हें ठसाठस भर लिया, यह निवृत्ति नहीं है। मन से पदार्थ का त्याग निवृत्ति है। मन से पदार्थ के त्याग का मतलब है कि जिस काल में व्यवहार करना है, उसी काल में व्यवहार किया। उस का अगले क्षण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि देखते हो कि पहले दुकान की बात रात दस बजे तक याद आती थी, अब नौ बजे भूल जाते हो और कुछ दिनों के बाद भोजन करते समय आठ बजे ही दुकान भूलने लगे तब तो समझो कि निवृत्ति मार्ग में चल रहे हो। यदि इससे विपरीत पहले दस बजे रात को नींद आ जाती थी और अब ग्यारह बजे रात तक उसकी चिन्ता चलती रहती है, तब समझना चाहिये कि प्रवृत्ति की तरफ जा रहे हो। प्रवृत्ति और निवृत्ति को ग्राम्य और आरण्य शब्दों से बताया।

यहाँ श्रुति कह रही है कि आरण्य पशु होना पुष्टि के लिये पहली ज़रूरी चीज़ है; संसार के व्यवहारों के प्रति निवृत्ति की दृष्टि जरूरी है। विलायत में बड़े-बड़े व्यापारी और बड़ा काम करने वाले

लोग काम करते समय काम करते हैं और घर आते हैं तो घर आते हैं। यह उनका अभ्यास है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आत्मकथा में लिखते हैं कि वे एक बार एक मुक़दमा लेकर विलायत गये थे। वहाँ दूसरे बैरिस्टर थे। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा 'कल इतवार है, बैठकर मिसिल तैयार करेंगे।' उसने कहा 'मैं अंग्रेज़ हूँ, इतवार के दिन हमारे लिये छुट्टी होती है।' उन्होंने कहा 'छुट्टी तो हमारे यहाँ भी होती है, इसीलिये तो बैठकर काम करेंगे।' वह बोला 'फिर छुट्टी किस बात की ? मैं तो शनिवार बारह बजे आता हूँ और सोमवार दस बजे तक मुझे कुछ पता नहीं कि आफिस में क्या करना है।' वहाँ के बड़े-बड़े व्यापारी, वकील जब काम करते हैं तब काम में ध्यान रहता है और काम खत्म करके जब घर आते हैं तब घर पर ही ध्यान देते हैं। हम लोग क्या करते हैं ? आफिस में बैठकर पत्नी की सोचते हैं और शाम के समय पत्नी के पास बैठे हुए आफिस की सोचते रहते हैं। आफिस में सोचते हैं कि 'आज उसकी तबियत खराब है, डाक्टर भी नहीं आया है'; जब आफिस से घर आते हैं, तब सोचते हैं कि 'आज मैनेजर ने फाइल तैयार नहीं की है, इन्कमटैक्स का रिटर्न जाना है'। दोनों जगह दिल नहीं लगा पाते। इसलिये न पत्नी और न व्यापार ही सुख दे पाता है, दोनों जगह दुःखी रहते हैं। अंग्रेज़ लोग चाहे सांसारिक दृष्टि से ही ऐसा करते हों, पारमार्थिक दृष्टि से तो नहीं, लेकिन सुख लेने का तरीका ही यह है कि जब काम करो तब उसे अपने आप में पूर्ण कर लो, तभी वह सुख देगा। जिस समय काम कर रहे हो उस समय तुम्हें दुःखानुभूति होती है तो वह काम करने से कोई फ़ायदा नहीं है।

हमारे यहाँ प्रायः लोग यह मानकर चलते हैं कि 'काम करने की इच्छा तो नहीं लेकिन करना पड़ता है।' क्यों करना पड़ता है ? कोई भी काम सुख के लिये करते हो, जब उसमें सुख ही नहीं ले रहे हो तो उस काम को छोड़ दो। लेकिन असली बात यह है कि यह बड़ा पुराना रोग है। हम लोग काम या व्यापार का फल धन तो चाहते हैं लेकिन व्यापार करने की जो तरद्दुद, मेहनत है, वह नहीं करना चाहते। इसी प्रकार आत्मज्ञान में होने वाला परम आनंद तो चाहते हैं लेकिन आत्मज्ञान के लिये जो त्याग, यज्ञ, दान इत्यादि कर्तव्य कर्म हैं, उनकी तरद्दुद करना नहीं चाहते। फल तो चाहते हैं लेकिन फलप्राप्ति के उपाय को किये बिना चाहते हैं। व्यापार इसलिये नहीं करते कि करना पड़ता है, इसलिये करते हैं कि धन का लोभ है। जब कहते हैं कि 'व्यापार करना नहीं चाहते, करना पड़ता है' तब इसका मतलब है कि व्यापार का फल धन मुफ्त में लेना चाहते हैं, लेकिन वह मुफ्त में मिलता नहीं है, यही कहना चाहते हैं। विचारशील कहता है कि यदि तुम्हें कर्म से अरुचि है तो उसके फल से पहले अरुचि कर लो। यदि फल में रुचि है तो उसके उपाय कर्म में पूरी रुचि करो। या तो टीनों के अन्दर आने वाले भोजनों को खाने की आदत डाल लो या भोजन बनाने का कष्ट सहन कर लो। दोनों में से एक निर्णय लेना पड़ेगा। या कहो कि उबली सब्जी से गुजारा निकालेंगे या कहो कि चूल्हे के पास दो घण्टे बैठकर बादाम से भरकर आलू-दम बनायेंगे। दोनों में से एक बात करनी पड़ेगी। हम लोग यह करते हैं कि खाना तो आलूदम चाहते हैं लेकिन मेहनत उबली सब्जी की करना चाहते हैं।

निवृत्ति का अर्थ है कि जिस काल में जो कर्म करो, उसके पहले के कर्म की वासना तुम्हारे अंतःकरण पर न रहे। संसार के सुख लेने का भी यही तरीका है और परमार्थ के सुख लेने का तो यही एकमात्र तरीका है। जो निवृत्ति नहीं जानता, वह संसार का सुख भी नहीं ले सकेगा, क्योंकि जिस समय फलभोग आयेगा उस समय उसके साथ एक होकर नहीं रह सकेगा और जब उसके प्रति कर्म करने का समय आयेगा तब उससे भी पूरी तरह से एक नहीं हो पायेगा। बिना निवृत्ति के संसार में भी सुख नहीं है, फिर परमात्मा का सुख तो कहाँ से होगा ? इसीलिये श्रुति ने कहा कि आरण्य पशु को पुष्टि मिलती है।

जो निवृत्ति-मार्ग का आरण्य पशु है, इसे परमार्थ-मार्ग में किसका अनुभव करना है ? इसके लिये श्रुति ने बड़ी विचित्र बात बताई 'विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः' जितने पशु हैं, जितने जीव और प्राणी हैं, वे 'विश्वरूपाः' भिन्न-भिन्न रूपों के हैं। कोई दो जीव एक-से नहीं, घर के दो बेटे एक-जैसे नहीं, पति-पत्नी एक-जैसे नहीं। सब अलग-अलग किस्म के हैं। जो उसके विश्वरूपत्व को समझता है, वह सुखी रहता है। हम लोग क्या करते हैं ? हम प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग रूपों को देखकर उनको इधर से उधर करना चाहते हैं : एक लड़का बड़ा हँसमुख है और खुश रहता है। क्यों हँसमुख है ? क्योंकि आनंद से खाता-पीता है और मटरगश्ती करता है, हँसमुख रहता है। दूसरा लड़का बेचारा आठ घण्टे पढ़ता रहता है और क्लास में प्रथम श्रेणी में आता है। दुबला-पतला है, कभी सिर-दर्द तो कभी पेट खराब रहता है। दोनों लड़के अच्छे हैं। एक बुद्धिमान् विद्वान् है और

दूसरा बलवान् तथा हँसमुख, चेहरा देखकर प्रसन्न हो जाते हैं। हम दोनों से दुःखी रहते हैं। हैं दोनों अच्छे, लेकिन जो उसके विश्वरूपत्व को नहीं जानता, वह अपने प्रथम श्रेणी में आने वाले लड़के को देखकर इसलिये दुःखी रहता है कि वह बीमार है, दुबला-पतला है, तगड़ा क्यों नहीं हो जाता; तब उस तगड़े लड़के को याद करते रहते हैं। जब हृष्ट-पुष्ट को देखते हैं तब सोचते हैं कि यह पढ़ता नहीं, दिन भर समय बरबाद करता है। उससे कहते हैं—'अरे, थोड़ा कम खाया कर, भैंस का दूध मत पिया कर।' इसे देखा तो उसकी याद और उसे देखा तो इसकी याद सताती रहती है। जो आठ घण्टे एक जगह बैठकर पढ़ेगा, वह कैसे ज़्यादा खायेगा ? उसको तो रातभर पढ़ने के लिये चाय और काफी पी कर जागना पड़ेगा तब प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होगा। इम्तिहान की चिन्ता के मारे जिसके पेट के अन्दर हमेशा ही तरह-तरह के अम्ल निकलते रहते हैं वे सम्भवतः उसे बुढ़ापे से पहले ही अल्सर तक पहुँचा देंगे ! जिसे पढ़ाई की चिन्ता ही नहीं, वह कैसे प्रथम श्रेणी लायेगा ? परीक्षा की चिन्ता, चाय पीकर रात-रात भर जागना, एक जगह बैठकर पढ़ना-लिखना, ये सब होने पर वह हँसमुख और हृष्ट-पुष्ट कहाँ से रहेगा ? यह कभी नहीं हो सकता। दूसरी तरफ, जो डट कर खायेगा, तभी उसका चित्त प्रसन्न रहेगा। अच्छे से अच्छा हँसमुख आदमी हो और उसे शाम तक रोटी न खिलाओ तो उसका चेहरा भी ढीला पड़ जाता है, चेहरे की रौनक गायब हो जाती है। कुछ लोगों को तो यदि दिन में आराम न मिले और चाय न मिले तो कितना भी हँसमुख हो, चेहरा ढीला पड़ जायेगा, यह स्वाभाविक है। डटकर खाने-पीने वाला है, इसीलिये वह

हँसमुख है। अच्छा खायेगा-पियेगा तो नींद ज़्यादा आयेगी। वह पढ़ेगा किस समय ? पढ़ने वाला खा नहीं सकता और खाने वाला पढ़ नहीं सकता। सोने वाला पढ़ नहीं सकता और पढ़ने वाला सो नहीं सकता। जो पहले ही शरीर से हृष्ट-पुष्ट है, उसके अंदर से खून चटकता है, उससे चुपचाप बैठने को कहो तो नहीं बैठ सकता, किताब से उसका मगज भारी होगा। इम्तिहान सिर पर आ गया तो कुछ भले ही रट ले पर उसकी रुचि उधर नहीं होती। दोनों बच्चे अलग-अलग हैं। यह विश्वरूपता है। जो इसे जानता है वह दोनों बच्चों से सुखी होता है और जो इस बात को नहीं समझेगा वह दोनों बच्चों से दुःखी होता रहेगा।

जैसे बच्चों का वैसे ही सर्वत्र समझना। हमको अच्छी पढ़ी-लिखी बी.ए. पास बहू लानी है जो लड़के के साथ घूमने फिरने जायेगी और समय-असमय काम सम्भालेगी, टेलीफोन पर बात कर लिया करेगी। ठीक है। लेकिन ब्याह के बाद यह शिकायत मत करना कि वह भोजन बनाना नहीं जानती, चूल्हे के पास नहीं जाती। तुम्हें तो बी.ए. पास घूमने वाली बहू चाहिये थी, मिल गई। उसे आफिस में लगाओ, बाजार भेजो, देखो कैसा सुन्दर काम करेगी। यदि भोजन बनाने वाली चाहो तो बढ़िया गाँव की लड़की ले आओ, लेकिन वह टेलीफोन उठायेगी तो आवाज से डरेगी! बाहर का कोई मिलने वाला आये, तुम चाय लाने को कहो तो वह ले आयेगी। पर उसे 'ट्रे' में चाय लाना नहीं आयेगा। वह भोजन बढ़िया बनाना जानेगी। कोयले का चूल्हा फूँकते रहने वाले रसोइये से चाहो कि वह अपने कपड़े साफ रखे तो दुःख पाओगे। साफ कपड़े देखने हैं तो परोसने के लिये अलग आदमी रखो।

वह तुम्हारे सामने बढ़िया कपड़े पहन कर आयेगा। व्यवहार करने में एक बार निर्णय करना पड़ेगा कि हमें क्या चाहिये। संसार तो विश्वरूप है। हर एक के गुण के साथ कोई कमज़ोरी भी रहेगी। जो इस बात को पूरी तरह समझता है, वह सब जीवों से प्रसन्न रहता है, क्योंकि जानता है कि हर-एक जीव में कुछ विलक्षणता है, कुछ विचित्रता है।

'य आरण्याः पशवो विश्वरूपाः' श्रुति ने सोचा कि लोग शायद 'विश्वरूप' का अर्थ न समझें। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि 'श्रुतिःश्रोतृहितैषिणी' श्रुति सोचती है कि अधिकारी श्रोता किसी तरह समझ जाये उसका हित होवे। इसलिये विश्वरूप को ही स्पष्ट करके कह दिया 'विरूपाः'। विश्वरूप अर्थात् ये केवल अलग-अलग प्रकार के हैं, ऐसा नहीं, बल्कि विरूप भी हैं। संसार का कोई प्राणी ऐसा नहीं जो विरूप न हो, अर्थात् एक दृष्टि में उसमें अच्छाई और दूसरी दृष्टि से उसमें बुराई या कुरूपता (विरूपता) है। सृष्टि जितनी विश्वरूप है, उतनी ही विरूप है। विचारशील विरूप की दृष्टि न कर रूप की दृष्टि करता है। अविचारशील विरूप की दृष्टि करता है, रूप की दृष्टि नहीं करता।

ग्रीस देश में सुकरात नामक बड़ा विद्वान् हुआ। उसके विचार पाश्चात्य संस्कृति का मूलाधार रहे हैं। उसका शिष्य अरस्तू प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हुआ। अरस्तू का प्रधान शिष्य प्लेटो हुआ जो आज की पाश्चात्य दार्शनिक मान्यताओं का आधार है। सारी पाश्चात्य संस्कृति सबसे ज़्यादा सुकरात के आधार पर विकसित हुई है। वह बड़ा विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न था, लेकिन बड़ा कुरूप था। उसकी मूर्ति भी देखो तो चेहरे में कहीं सुन्दरता नहीं है।

उसे जो पत्नी मिली थी, वह भी बड़ी जबरदस्त थी जो उसको इतनी गालियाँ सुनाती थी कि कोई ठिकाना नहीं ! सारे ग्रीस के विद्वान् उससे पढ़ने आया करते थे और घरवाली को देखकर कहते कि यह 'इतना बड़ा विद्वान् इसे कैसे रखता है ?' उन्होंने सुकरात से पूछा तो उसने कहा, 'सभी औरतों में कोई न कोई खराबी होती है, मैं उसे क्यों देखूँ ?' आधुनिक काल में लियो टाल्स्टाय एक साहित्य-लेखक हुए हैं। गांधी जी तो उसे अपना गुरु मानते थे। उसकी पत्नी भी उसके साथ हमेशा झगड़ा करती, गालियाँ देती थी। उसके जीवन का अंतिम समय तो बड़ा दर्दनाक था। जब बुड्ढा हो गया तब उसकी सहनशक्ति कुछ कम हो गई। एक दिन उसकी पत्नी ने उसे इतना डाँटा कि उसके मन में बड़ा दुःख हुआ, वह घर छोड़कर चला गया। रेल में बैठकर साइबीरिया की तरफ निकल गया और वहाँ की ठण्ड में मर गया। जब वह मरा तब उसकी जेब में से कागज निकले जिनसे पता चला कि वह लियो टॉल्स्टाय है। उसने किसी से नहीं कहा था कि कहाँ जा रहा है। उनमें से एक कागज़ ऐसा निकला जिसमें लिखा था कि 'यह मेरी अंतिम यात्रा है। मेरा शरीर जिसे मिले, वह उसे वहीं दफना दे, मेरी पत्नी के सामने न ले जाये। जीवन भर तो मैं सहन कर गया लेकिन मुर्दे को बख्श कर छोड़ देना।' यह आधुनिक बात है। ऐसी पत्नियाँ होती हैं। सुकरात की पत्नी भी ऐसी ही थी। एक बार ग्रीस के बड़े-बड़े विद्वान् उसके यहाँ आये हुए थे। उनसे बातें करते हुए उसे देर हो गई। पत्नी ने कहा— 'भोजन तैयार है।' उसने कहा, 'अभी आता हूँ।' बहुत-से लोग आये हुए थे, समय नहीं निकला। पत्नी ने थोड़ी देर बाद फिर

कहा, 'जल्दी आओ।' फिर सुकरात ने बाहर से कहा, 'अभी आता हूँ।' स्त्री को गुस्सा आ गया, उसने बड़ी गालियाँ देनी शुरू कर दीं ! सारे विद्वान् सुनकर घबरा गये और सुकरात से कहने लगे– 'यह क्या हो रहा है ?' सुकरात ने उनसे कहा, 'ये प्रेम से ऐसा कह रही है, कोई खास बात नहीं है।' जब उसने यह कहा कि 'प्रेम से कह रही है' तो औरत को ज़्यादा गुस्सा आया, उसने पानी का घड़ा उठाकर सबके सामने ही सुकरात के सिर पर दे मारा! सुकरात कहने लगा 'गर्जने के बाद बादल बरसा ही करते हैं।' प्लेटो लिखता है 'जब हमने बाद में पूछा कि 'आपने खुशामदी की तरह क्यों कह दिया कि प्रेम से कह रही है ?' तब उन्होंने कहा–'अरे ! मुझे गरम भोजन के लिये ही तो कह रही थी, वह सारा बकना प्रेम से ही तो था।'' यह *विरूप* और *रूप* की दृष्टि का भेद है। बाकी लोग गालियाँ सुन रहे हैं लेकिन उसकी दृष्टि है कि गरम भोजन के लिये ही तो कह रही है।

एक बार एक दूसरे दार्शनिक ने सुकरात से मज़ाक में कहा कि जब भगवान् लोगों को सुन्दरता और सुन्दरियाँ बाँट रहे थे तब तू इतना बुद्धिमान् उस समय कहाँ गया हुआ था ? तू देखने में भी सुन्दर नहीं है और घरवाली का भी ऐसा ही हाल है। जो मज़ाक कर रहा था वह सुन्दर था। सुकरात ने उसे जवाब दिया 'जब तू सुन्दरता और सुन्दर पत्नी को छाँट रहा था मैं उस समय बुद्धि और ज्ञान का क्षेत्र इकट्ठा कर रहा था। जब मैं वहाँ पहुँचा तब बची हुई सुन्दरता मुझे मिली और जब तू इधर आया तो बचा हुआ ज्ञान तुझे मिल गया !' यह दृष्टि उसकी है जो विश्वरूप और विरूप के स्वरूप को जानता है।

संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसमें रूप नहीं और कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसमें विरूपता नहीं। औरों को जाने दो, परब्रह्म परमात्मा के सबसे अधिक पूज्य दो अवतार भगवान् राम और भगवान् कृष्ण हैं। इन दोनों के चरित्रों को देखो तो दोनों में कितना भेद है। हैं दोनों विश्वरूप, दोनों विष्णु भगवान् के अवतार, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। लेकिन दोनों में कितना फ़र्क है। एक की पत्नी जंगल में है तो सोने की पत्नी बनाकर यज्ञ किया। यज्ञ के समय सोने की सीता बनाकर रखी थी। दूसरी तरफ भगवान् कृष्ण की सोलह हज़ार एक सौ आठ पत्नियाँ ! वृन्दावन की गोपियों की गिनती इनसे अलग है ! है न विश्वरूपता ? एक तरफ रामचन्द्र जी मर्यादा को मानते हुए अंतिम समय तक कुलसंरक्षण में लगे रहे। दूसरी तरफ भगवान् कृष्ण ने अपने सामने ही अपने सारे कुल को खत्म कर दिया। यह है विश्वरूपता। भगवान् राम यह सोचते रहे कि 'बाली सुग्रीव का बड़ा भाई है। बड़ा भाई छोटे भाई की पत्नी को रख लेता है तो उसे मार देना चाहिये।' दूसरी तरफ भगवान् कृष्ण महाभारत युद्ध से पहले कर्ण को जाकर उपदेश देते हैं कि 'तू युधिष्ठिर का बड़ा भाई है, यह सच्ची बात है और इसमें प्रमाण भी है। इसलिये तू दुर्योधन के पक्ष को छोड़कर इधर आ जा, द्रौपदी के साथ छठा हिस्सा तेरा भी करा दूँगा!' विश्वरूपता है या नहीं ? हैं साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप, लेकिन उनमें भी इतनी विश्वरूपता है। एक तरफ देखो तो भगवान् राम की यह प्रतिज्ञा थी कि 'चाहे कुछ हो जाये, युद्ध के मैदान से कभी नहीं भागूँगा।' राम कभी युद्ध छोड़कर नहीं गये। इधर भगवान् कृष्ण जरासंध के सामने से सत्रह बार भागे और

अंत में शहर ही छोड़ गये, द्वारिका में जा बसे ! हैं दोनों परब्रह्म परमात्मा, उसमें कोई फ़र्क नहीं है लेकिन विश्वरूपता है। उनके चरित्रों का जितना विचार करोगे, उसमें तुम्हें भेद मिलेगा। लेकिन इन सब भेदों के होने पर भी एक दृष्टि से उसमें रूपता है और दूसरी दृष्टि से विरूपता है। भगवान् कृष्ण अपनी सभी रानियों को किस प्रकार सुखी रखते थे—इस दृष्टि से देखो तो उनकी सामर्थ्य के उन्मेष का पता लगता है। दूसरी तरफ, इतनी शादियाँ करने वाले भोगी थे—यह विरूपता की दृष्टि हो गई।

कर्ण से समझौते में कितनी बड़ी राजनीतिक चाल थी। भगवान् जानते थे कि सबसे भयंकर युद्ध कर्ण से होना है। भीष्म और द्रोण यद्यपि कौरवों की तरफ थे तथापि उनका दिल पाण्डवों की तरफ था, युद्ध चाहे कौरवों की तरफ से करते थे। दूसरी बात, भीष्म और द्रोण दोनों बुड्ढे भी थे। भगवान् जानते थे कि यदि कोई पूर्ण क्रूरता से युद्ध करने वाला है तो वह कर्ण ही है। इसलिये यदि कर्ण को किसी तरह वहाँ से हटा दिया जाये तो मामला बड़ा सरल हो जायेगा। इसमें वे सफल नहीं हुए, यह बात दूसरी है; हालाँकि अंशतः सफल भी हो गये क्योंकि इन सब बातों के माहौल में कर्ण ने वचन दिया था कि वह अर्जुन को छोड़कर और किसी को नहीं मारेगा। चार भाईयों की सुरक्षा कराने में भगवान् सफल रहे ही। अर्जुन के वे खुद सारथि थे। अर्जुन को कभी कर्ण के सामने नहीं ले जाते थे। दूसरों से लड़ाते थे। अंत में घटोत्कच की मृत्यु के बाद जब कर्ण के हाथ से शक्ति निकल गई तब अर्जुन को सामने लेकर गये। इस दृष्टि से देखने वाला श्रीकृष्ण में रूप देखेगा, उनके बुद्धि-वैचित्र्य को देखेगा। विरूपता को देखने वाला

कहेगा कि 'देखो, बड़े भाई को छोटे भाई की पत्नी से शादी करने को कह रहे हैं।'

परमात्मा की लीलाओं में रूपता भी है और जो ऐसी दृष्टि नहीं रखता, उसे विरूपता भी नज़र आती है। रूप देखने वाला परमात्मा के विग्रहों से आनंद लेता है और ज्ञान भी लेता है कि कब कैसा व्यवहार करना चाहिये। जो विरूपता को देखता है, वह न तो कोई शिक्षा ही ले पाता है और हमेशा दुःखी होता रहता है कि 'ऐसा क्यों किया !' इसीलिये श्रुति ने कहा कि बहुत प्रकार से बँटे हुए के अन्दर एकरूपता को देखने वाला पुष्टि को प्राप्त करता है। यह एकरूपता कैसे बनती है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-३७

पुरुषरूप यज्ञ का वर्णन श्रुति कर रही है। जो निवृत्ति कराता है वह 'रायस्पोष' की प्राप्ति कराता है। 'रायः' उस आनंदरूप की प्राप्ति है जो अपना स्वरूप है। उसकी पुष्टि क्या है ? पुष्टि का रूप बताते हुए श्रुति ने कहा कि जो निवृत्तिपरायण होते हैं, वे इस विश्वरूपता को देखकर, विश्व की चित्र-विचित्रता को देखकर उन सबके अन्दर उस सच्चिदानंद *रूप* को देखने में चूकते नहीं। यदि उनको उसमें विरूपता नज़र भी आती है तो भी वे *रूप* की दृष्टि करते हैं, विरूपता की नहीं। प्रत्येक पदार्थ में दो पहलू अवश्यम्भावी हैं। उन दो में से किस तरफ दृष्टि करें, यह हमारी इच्छा-शक्ति पर निर्भर करता है। जिस चीज़ में प्रेम होगा

उसी की दृष्टि बनेगी। सुरूपता से प्रेम बहेगा तो वह दृष्टि बनेगी, कुरूपता से प्रेम होगा तो वह दृष्टि बनेगी।

विरूपता की दृष्टि क्यों बनती है, किस साधन से उससे बचा जाये ? श्रुति ने कहा 'बहुधा एकरूपाः।' बहुधा का मतलब है 'बहुत बार।' जब दो-दो की चार ढेरियाँ लगाते हो तब उस प्रत्येक ढेरी में दो की संख्या तो वैसी की वैसी ही रहती है। प्रत्येक ढेरी में दो को देखने वाला हर ढेरी की समानता को समझेगा। जो उस दो को नहीं समझ पायेगा, वह आठ की संख्या के चक्कर में आ जायेगा। संसार के जितने पदार्थ हैं वे बहुत-सी ढेरियाँ हैं लेकिन 'एकरूपाः' एक की तरह हैं। 'दो आम, दो सेब, दो अंगूर', इनमें आम, सेब और अंगूर तो बदले लेकिन दो की ढेरियाँ तो सभी हुईं अर्थात् गिनती की दृष्टि से 'दो' सब में एक जैसा रहा। भेददृष्टि से देखो तो दो आम, दो अंगूर, दो सेब एक जैसे कैसे हुए ? दो अंगूर एक अंगुली पर रख लोगे और दो बड़े बम्बईया आम हथेली पर भी नहीं रख सकते ! दो बढ़िया आम खाओ तो तबियत प्रसन्न हो जाये और यदि अमरस निकाल कर पियें तो बिना दाँतों वाला भी खुश हो जाये, और दो अंगूरों में कुछ माल नहीं, रस निकालो तो दस बूँद नहीं निकलता ! फिर दोनों एक-जैसे कैसे हुए ? जिसने गिनती नहीं सीखी उसके लिये यह बड़ी भारी समस्या है कि अंगूर छोटे और खट्टे, आम मीठे रसभरे हैं, सेब फीके हैं लेकिन उनमें दोपना तो एक जैसा ही है।

एक बार हम उत्तरकाशी में थे। वहाँ मकान के ऊपर सलेटी चद्दरें रखते हैं। हमने उन्हें रखने वाले मजदूर को बुलाकर कहा कि 'ये चद्दरें डलवानी हैं' तो उसने कहा कि 'पचीस रुपये लूँगा।'

काम थोड़े समय का था और उस युग के अनुसार उस काम के लिये दो रुपये भी बहुत होते थे। हमने कहा तो वह बोला, 'नहीं जी, मुझे तो इतने ही लेने हैं।' वहाँ एक पुराने महात्मा थे, उनसे बातचीत हुई, हमने उनसे कहा, 'ये कैसे मूर्ख लोग हैं, दिन भर खाली बैठे रहते हैं और काम नहीं करते, चद्दरें डालने के पचीस रुपये माँगते हैं।' तब उन्होंनें कहा—'स्वामी जी ! उससे कह दीजिये कि पचीस ले लेना।' हमने कहा, 'इतने रुपये कहाँ से आयेंगे?' उन्होंने कहा—'उपाय बताते हैं। ये मूर्ख हैं, इन्हें गिनना तो आता नहीं है। इन्होंने कहीं 'पचीस' सुन लिया है और इन्हें दृढ निश्चय हो गया है कि वह कोई बहुत बड़ी संख्या होती है। आप ऐसा करना कि दो-तीन रुपये के पैसे मँगवा लेना, उससे कहना कि पचीस रुपये ले जाये।' हमने ऐसा ही किया, उससे कहा, 'जितने कहते हो उतने ले लेना, काम कर दो।' वह बड़ा खुश हो गया और काम कर दिया। हमने तीन रुपये के पैसे उसके सामने रख दिये। कहा, 'गिन कर ले जाओ।' उसे गिनती तो आती नहीं थी। उसने एक मुट्ठा भरा जिसमें ज़्यादा से ज़्यादा आठ ही आने के पैसे आये होंगे। हमारी तरफ देखने लगा, सोचने लगा कि 'ये क्या कहते हैं।' फिर दूसरा मुट्ठा भी भर लिया। बड़ा खुश होकर कहने लगा, 'फिर जब चाहो चद्दरें गिरवा लेना।' बेचारा मुश्किल से एक रुपये के पैसे ले गया होगा ! गिनती तो उसे आती नहीं थी। वह समझ नहीं सकता कि पचीस रुपये में कितने पैसे होते हैं।

ठीक इसी प्रकार से दो अंगूर, दो आम और दो सेब का फ़र्क वह कभी नहीं समझ सकता जिसको गिनती का हिसाब नहीं

आता, क्योंकि दो की संख्या को वही नहीं पकड़ पाता। यह संख्या क्या आँख से दीखती है ? दो की संख्या आँख से नहीं दीखती, चीज़ आँख से दीखती है, संख्या नहीं। आम पीला, अंगूर हरा, और सेब लाल दिखाई देता है। आबालवृद्धवनिता किसी को भी आँखों से दीखने वाली चीज़ एक-जैसी ही दीखेगी कि 'यह पीला, यह लाल और यह हरा है।' आँख से दीखने वाली चीज़ संख्या नहीं है। कान और जीभ से भी संख्या नहीं दीखती। आम खाकर सभी कहेंगे कि 'मीठा है, रस वाला है।' सेब खाकर कहेंगे कि 'फीका है, स्वादरहित है', और अंगूर खाकर कहेंगे कि 'खट्टा-मीठा है'; यह सब कहेंगे। लेकिन किसी इन्द्रिय से कभी भी दो की संख्या का ज्ञान नहीं हो सकता। दो संख्या का ज्ञान बुद्धि से होगा। संख्या इन्द्रिय का विषय नहीं है, बुद्धि का विषय है। संख्या इन्द्रियों का विषय न होने पर भी वह सब ढेरियों में एक-जैसी है। इसका बुद्धि से ज्ञान होता है। इसी प्रकार संसार के अनंत पदार्थों में अनंत भेद दीखने पर भी ज्ञानी को सबमें एक सच्चिदानंद-रूप दीखता है। बहुत-सी ढेरियाँ हैं, हर प्राणी एक-एक ढेरी है। उन ढेरियों में अनेक फ़र्क हैं, जैसे आम, अंगूर और सेब में फ़र्क है। लेकिन सारे फ़र्क होते हुए भी जैसे उनमें दो की संख्या एक-जैसी है, वैसे ही यहाँ सब चीज़ों के अन्दर सच्चिदानंद-रूप एक-जैसा है।

वह सच्चिदानंद-रूप आँख से दीखने वाला नहीं है ! कान से भी सुनाई देने वाला नहीं है। वह बुद्धि का विषय है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर गीताभाष्य में लिखते हैं 'शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतं मनः आत्मज्ञाने करणं'। आत्मा को

जानने का साधन क्या है, किस करण के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है ? आत्मज्ञान आँख के द्वारा नहीं होता, बुद्धि के द्वारा होता है। लेकिन कौन-सी बुद्धि से ? संख्या की संकल्पना जिस अंतःकरण के अन्दर है, गणित के संस्कार से जिसकी बुद्धि संस्कार वाली बनी है, वही गिनती को विषय करेगा। इसी प्रकार शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिस बुद्धि में परमात्मा के संस्कारों का आधान हुआ है, वह बुद्धि ही परमात्मा को विषय करेगी, दूसरी बुद्धि उसे विषय नहीं करेगी। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से संस्कृत जो बुद्धि आत्मसंस्कार वाली बन गई है, वही आत्मज्ञान का साधन पड़ेगी। अन्यथा उस परमात्म-तत्त्व को न देखने के कारण उस पुष्टि की प्राप्ति नहीं हो पाती। बहुत से लोग समझते हैं कि आँख, कान, नाक बन्द करने से परमात्मा मिलता होगा। आँख, कान, नाक कितने साल तक बन्द रखोगे ? जब खोलोगे तब फिर विश्वरूप दिखाई देगा। लेकिन विश्वरूप को देखते हुए सब में जो एकरूपता को देख लेगा, उसे तो प्रत्येक रूप परमात्मा का ज्ञान करायेगा ! जिसने इसे नहीं देखा, उसे प्रत्येक रूप और आँख, कान, नाक बन्द करके दीखने वाला रूप अलग दीखेगा। जब सब रूप अलग दीखेंगे तब उनसे उसे ब्रह्म का स्मरण तो होगा नहीं, फिर संस्कार कहाँ से आहित होंगे ?

इसीलिये श्रुति में एकरूपता का विचार बताया : 'तेषां सप्तानां इह रन्तिरस्तु।' यह विश्व एक क्रीडांगण है। इसमें खूब डटकर खेलो। हमारे सात शीर्षण्य प्राण हैं—दो आँखें, दो कान, दो नाक और जीभ। इनमें सभी ज्ञानेन्द्रियों का संग्रह हो जाता है। इन सातों की यहीं संसार के प्रत्येक पदार्थ में क्रीडा हो, क्योंकि बहुत-

सी ढेरियों के अन्दर परमात्मा का ही विश्वरूप दीख रहा है, इसलिये यह क्रीडा ब्रह्म-प्राप्ति को दृढ करने का साधन है, कमजोर करने का साधन नहीं है। केवल गणित के 'गुर', नियम याद करके काम नहीं चलता, अभ्यास करना पड़ता है, कई सवाल हल करने पड़ते हैं। गुर तो याद हैं, तरह-तरह का अभ्यास क्यों कराते हैं? अनेक प्रकार की संख्याओं पर जब नियम लागू कर लोगे तब गुर पक्का होगा। छोटे बच्चे अभ्यास से घबराते हैं। गुर तो याद कर लेते हैं लेकिन हिसाब लगाते समय गड़बड़ा जाते हैं। जब अभ्यास करते-करते गुर पक्का होता है तब उसी हिसाब को थोड़ी हेरा-फेरी से करवाते हैं। अध्यापक अगले अभ्यास में कुछ परिवर्तन कर देंगे और देखेंगे कि अब विद्यार्थी ठीक हल करता है या नहीं।

इसी प्रकार यहाँ श्रुति ने कहा कि सारा संसार सच्चिदानंद-रूप है; यह तो 'गुर' हुआ, नियम है। अनेक प्रकार की वृत्तियाँ आती हैं, उन सब वृत्तियों के अन्दर इस गुर को लगाना है। जब प्रतिकूल वृत्ति बनती है तब गुर लगाकर बताओ कि यह सच्चिदानंद-रूप कैसे हैं ? किसी ने थप्पड़ मारा, किसी ने गाली दी तो वह सच्चिदानंद-रूप कैसे है ? किसी ने झूठा इल्ज़ाम लगा दिया तो सच्चिदानंद-रूप कैसे है ? ये सब विश्वरूप अनेकानेक पदार्थों में उसी का अभ्यास है। इन अभ्यासों के द्वारा तुम्हारा सीखा हुआ गुर पक्का होता जायेगा। यह अभ्यास कराने वाला विश्वरूप सामने न हो तो हमेशा ग़लती कर जाओगे। याद किया हुआ गुर तुम्हें पक्का हुआ या नहीं, यह कैसे पता लगेगा ? कोई आदमी बिना कारण रास्ते चलते तुम्हें धक्का देकर गिरा गया, उस समय तुम्हें दुःख हो जायेगा। फिर गुर याद आयेगा कि सुना

तो था कि सच्चिदानंद-रूप है, यहाँ दुःखरूप कैसे है ! जब दुःख समझा तब गुर लगाना भूल गये, हिसाब ग़लत निकल आया। पर गुर याद आया तब विचार करो कि उसमें आनंदरूपता कैसे है? ये जो ब्रह्माण्ड के परिवर्तन हैं ये सारे उस सच्चिदानंदरूप का अभ्यास कराते हैं। केवल गुर याद करने से काम नहीं चलता, उसे भिन्न-भिन्न सवालों में हल करना पड़ेगा। जब इस दृष्टि से विश्वरूपता को देखते हो, तब यह सात इन्द्रियों के द्वारा क्रीडा होती है।

गणित की किताब में सवालों का जवाब भी छपा रहता है। जो बेवकूफ़ लड़का हुआ करता है, वह पहले ही पन्ने पलट कर उस जवाब को देखकर लिख देता है। और अपने मन में खुश होता है कि 'मैंने बिना मेहनत के सवाल हल कर लिया है !' लेकिन इम्तिहान के समय पकड़ा जाता है। सारे सवालों का जवाब लिखने वाले की अध्यापक तो तारीफ करता है लेकिन इम्तिहान के समय वह सारे सवाल ग़लत कर आता है, क्योंकि उसने सवाल हल करने का तरीका नहीं सीखा। इसी प्रकार इस सारे विश्व के अन्दर जो भी घटना होती है, उसका जवाब तो एक ही आना है 'सच्चिदानंद ब्रह्म'। प्रत्येक विश्व-रूप के अन्दर यदि तुम उसकी असलियत को देखोगे तो उसमें ब्रह्म, परमात्मा मिलेगा क्योंकि 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्।' जितनी साधनायें करोगे, जितने पदार्थों से व्यवहार करोगे, उन सबका जवाब तो यही निकलना है। जिसने सिर्फ जवाब याद कर लिया उसे सवाल देते हैं तो झट कहता है कि 'यह ब्रह्म से अतिरिक्त है क्या !' हम खुश हो जाते हैं। लेकिन उसने साधना के द्वारा सवाल निकालने का तरीका तो

सीख नहीं रखा है, इसलिये बात करते समय तबियत खुश करता है लेकिन पता तब लगता है जब इम्तिहान होता है। जब राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह, शोक, मद, मात्सर्य विभिन्न विषय तुम्हारे सामने आते हैं तब जिसे सवाल हल करने का तरीका पता नहीं है वह गड़बड़ा जाता है, कह देगा कि जवाब ब्रह्म है, लेकिन वह ज्ञान उसके काम नहीं आयेगा। इम्तिहान के अन्दर कभी राग-द्वेष के पीछे चला जायेगा तो कभी शोक-मोह करेगा। इम्तिहान के समय सवाल हल करना पड़ेगा, केवल जवाब याद रखने से कुछ नहीं होना है। जिसने साधना कर रखी है, वह तो जानता है कि शोक आया तो किस प्रकार से हल करें कि जवाब ब्रह्म निकल आये। जवाब तो हर हालत में ब्रह्म ही है, इसमें कोई संदेह नहीं; लेकिन यह जवाब निकालने के कदम जिसे पता हैं वह उनसे काम लेकर ब्रह्म में स्थित हो जायेगा, जिसे वे कदम नहीं आते, जवाब भले ही याद रहता है, वह खुद शोक-मोह में पड़ा रहता है, वह जवाब उसे काम नहीं देता।

काशी में एक ब्रह्मचारी था। उसे कोई तकलीफ थी जिसके लिये आप्रेशन कराना था। अस्पताल में भरती हुआ तो उसने डाक्टरों से कहा 'मुझे सुँघनी मत सुँघाना, ऐसे ही आप्रेशन कर देना।' डाक्टरों ने कहा 'बड़ा आप्रेशन है, ऐसे कैसे होगा।' लेकिन वह नहीं माना। जब उसे आप्रेशन थियेटर में ले जाया गया तब बोलने लगा 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।' मैं आत्मतत्त्व हूँ, शस्त्र मुझे छेद नहीं सकते, हवा सुखा नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता।' बड़े ज़ोर-ज़ोर से इसका पाठ कर रहा था। उस कक्ष

में पहुँचा जहाँ शल्य-क्रिया होनी थी, देखा कि डाक्टरों ने मुँह पर सफेद कपड़े बाँध रखे हैं, आँखें चमक रही हैं, बड़े-बड़े दस्ताने पहने हुए हैं। वहाँ छुरियाँ, कैंचियाँ, इत्यादि देखते ही ठण्डा पड़ गया ! कहने लगा 'सुँघनी सुँघा दो'। पढ़ा-लिखा सब किताबों में ही रह गया !

इसी प्रकार संसार के प्राणी होते हैं, जब उनके ऊपर दुःख-कष्ट आते हैं तब वे बार-बार *कहते* हैं 'यह दुःख किस का है।' फिर भी दुःख तो हो रहा है। जवाब याद है कि 'यह दुःख कैसे हो सकता है ? मैं आत्मा हूँ, यह अनात्मा है।' फिर भी अभ्यास नहीं किया तो दुःख होता रहता है। ऐसा व्यक्ति द्वैतवादी बन जाता है, दूसरे ब्रह्म को मान लेता है, 'प्रारब्ध ब्रह्म' को मान लेता है। सवाल का हल नहीं जानता, राग, द्वेष, शोक, मोह आदि से हटने का ढंग नहीं जानता। अतः समझता है 'एक मैं आनंदरूप ब्रह्म, और एक प्रारब्धरूप ब्रह्म जो मुझ से भी तगड़ा है।' भूल हो गई। जवाब में ब्रह्म आना चाहिये था, लेकिन जवाब में ब्रह्म नहीं आया, प्रारब्ध आ गया। बात करते समय तो ठीक जवाब निकलता रहा लेकिन इम्तिहान के समय 'प्रारब्ध ब्रह्म' निकल आया, यह गलत जवाब है। तब पता लगता है कि खाली नकल करके उत्तर लिखना व्यर्थ रहा।

इसलिये श्रुति कहती है 'तेषां सप्तानाम् इह रन्तिरस्तु' इन सातों के द्वारा खूब विषय के अन्दर बार-बार अभ्यास करके, बार-बार साधन के द्वारा ब्रह्मरूपी जवाब निकालना सीख लो, तब पुष्टि होगी। यह पुष्टि का उपाय बताया। तभी तुम्हारा आत्मज्ञान पुष्ट होगा। यही आत्मज्ञान की पुष्टि है। इसलिये जब-जब राग-

द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य तुम्हारे सामने आयें तब समझो कि यह अभ्यास करने का मौका है। गणित का अभ्यास करते-करते जिसे पूरी दृढता हो जाती है वह जिस काल में जो सवाल आता है, उसका एक क्षण में जवाब दे देता है। पुराना दुकानदार जब तीन गज साढ़े सात गिरह कपड़ा नापकर देता है तो उसके दाम झट से बता देता है, उसे हिसाब नहीं लगाना पड़ता क्योंकि बहुत बार गणित करते-करते उसे दृढ अभ्यास हो गया है। दृढ अभ्यास वाले का जवाब कभी गलत आने वाला नहीं है।

अमरीका में ऑपेन हायमर नाम के बड़े वैज्ञानिक थे। वे अभी दो-तीन महीने हुए, मर गये। वे अपने साथ जर्मनी का एक बड़ा बुड्ढा अध्यापक रखते थे जो गणित-शास्त्री था। उसका नाम षुट्ज था, उसकी ज़्यादा प्रसिद्धि नहीं हुई। ऑपेन हायमर कोई भी सिद्धान्त बनाते थे तो उसे सामने बैठाकर सुनाते थे ! कई लोग पूछते थे 'तुम्हारी बात इनकी समझ में आती होगी ?' वे कहते थे 'इन्हें गणित बहुत आता है। मैं कोई भी सिद्धान्त बनाता हूँ तो वह गणित की दृष्टि से ठीक है या गलत, इसे जानने के लिये इन्हें सुनाता हूँ और ये समझकर तुरंत जवाब दे देते हैं।' एक बार ओपेन हायमर से उसके एक वैज्ञानिक मित्र ने कहा 'यह ऑटोमेटॉन का ज़माना है, ऐसी मशीनें आती हैं जो गणित का सवाल तुरंत हल कर देती हैं। इस ज़माने में अपने साथ इस बुड्ढे खूसट को क्यों रख छोड़ा है ? मशीन से जवाब लिया करो।' हायमर को बात जँच गई कि इन बेचारों को क्यों तकलीफ दें। क्योंकि कई बार समय-बे-समय इन्हें बैठाकर पूछना पड़ता था और थे वे नब्बे वर्ष के। उन्होंने वह मशीन रख ली। अपना एक

सिद्धान्त मशीन को सुनाया तो उसका जवाब आया कि 'तुम्हारा सिद्धान्त गलत है।' दूसरे ही दिन सबेरे षुट्ज़ से कहा कि 'आज बड़ी गड़बड़ी हो गई। एक सवाल हल किया लेकिन गलत निकल आया।' षुट्ज़ को पहले ही अनुभव था कि इसका प्रातिभ ज्ञान कभी गलत होने वाला नहीं है। उसने कहा, 'सुना।' सुनाया तो षुट्ज़ उसी समय कहने लगा 'तेरा सिद्धान्त ठीक है।' हायमर को विश्वास था कि षुट्ज़ ने कह दिया तो गलती नहीं हो सकती। चार आदमी बैठकर उस हिसाब को छह महीने में पूरा कर पाये। जब पूरा हुआ तो पता लगा कि मशीन ने गलती की थी। हम लोगों को संस्कार बैठा दिया गया है कि यंत्र से आने वाला जवाब ठीक होता है। लेकिन ऑपेन हायमर ने उस दिन से कान पकड़ लिये कि 'मशीन को अब मैं अपना सिद्धान्त नहीं सुनाऊँगा।' मशीन गलती कर सकती है लेकिन जिसने गुर का अभ्यास किया है, उसके दिमाग से गलत जवाब नहीं आयेगा। मशीन का कोई खटका खराब हो जाये तो सारे जवाब गलत ही आते रहेंगे, जब तक चेतन मिलान करके न देखे तब तक पता ही नहीं चलेगा कि ग़लती होती चली जा रही है। यों यंत्र 'गलती' कर सकता है लेकिन जिसने गुर याद कर रखा है, वह चेतन ग़लती नहीं खायेगा।

ऐसे ही हमारे मन, बुद्धि मशीन हैं। सिर्फ मन, बुद्धि के भरोसे रहने पर जवाब ग़लत निकल सकता है। लेकिन यदि तुमने अभ्यास पक्का कर रखा है तो तुम्हारा आनंदरूपता का जवाब तुरंत आ जायेगा। यंत्र गलत बता सकता है लेकिन जिसने अभ्यास से अपने को पुष्ट कर लिया है वह गलत नहीं बता सकता। इसी

प्रकार हर परिस्थिति के अन्दर यदि अभ्यास किया है कि किस प्रकार अपने स्वरूप आनंद में पहुँचें तब चाहे किसी प्रकार के राग, द्वेष आदि का सवाल आये, तुरंत अपने स्वरूप में, आनंदरूप में पहुँच जाओगे। तब 'रायस्पोष' हुए और उसका नतीजा है 'सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय', तब तुम्हारी प्रजा सुप्रजा होगी। प्रजा का अर्थ अपनी सन्तान भी है। जैसे राजा के लिये उसके राज्य में रहने वाली प्रजा है, इसी प्रकार तुम्हारे शरीर में रहने वाली कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, अंतःकरण—ये सारे तुम्हारी प्रजा हैं। मन में उत्पन्न होने वाली जितनी वृत्तियाँ हैं, वे मन की प्रजा हैं। रायस्पोष वाला राजा हो तो उसकी प्रजा के अन्दर भी सुप्रजारूपता आ जायेगी। क्या कारण है कि आज घर-घर में राग, द्वेष, काम, क्रोध, छोटी-छोटी बातों पर लोभ, मोह बढ़ता जा रहा है ? क्योंकि हमारा राजा इन सब दोषों से भरा है। जब राज्य करने वाले में ये भरे हैं तब प्रजा में आने ही हुए। यह वही देश है : यहाँ एक ब्राह्मण का जवान लड़का मर गया था। वह ब्राह्मण उसे लाकर रामचन्द्र जी के दरवाजे पर ले गया। कहा—'तुम्हारा राज्य अधर्म का राज्य है। मेरा लड़का क्यों मर गया ?' भगवान् राम ने पता लगाया कि किस अपराध के कारण ब्राह्मण का जवान लड़का मर गया। उनका निश्चय था क्योंकि 'मेरी प्रजा को दुःख हुआ तो जिम्मेवारी मेरी है।' आज उसी देश में कुछ लोग हज़ारों आदमियों को मार डालें, उनका सामान फेंक दें तो भी राजा कहता है 'मेरा कोई कसूर नहीं है, कसूर तुम लोगों का है।' उसे यह साहस नहीं है कि पता लगाऊँ किस अधर्म के कारण ऐसा हुआ है। जैसे राज्य में ऐसे ही घर में, पिता छाती पर हाथ रखकर नहीं

कहता कि 'लड़के को मैंने बिगाड़ा है।' कहता है 'आजकल के लड़के बिगड़ गये हैं।' राजा को यह कहने की हिम्मत होनी चाहिये कि 'मेरी प्रजा के अन्दर जितनी खराबियाँ आ रही हैं, वे मेरी हैं।' घर के अन्दर बड़े को यह अभिमान होना चाहिये कि 'मैंने लड़के को ठीक नहीं रखा तब वह बिगड़ गया।' दूसरे पर जिम्मेवारी डालना बेकार है। इसी प्रकार सारे शरीर में यह अभिमान होना चाहिये; 'मन में ग़लत वृत्ति आई है तो मेरी गलती से आई है।' बहाना नहीं बनाओ कि 'पुराने जमाने के संस्कार उदय हो गये होंगे' या 'किसी को देखकर ऐसी वृत्ति आ गई होगी।' यह सब कुछ नहीं है। पूर्ण दृढता तभी आयेगी जब क्रीडा करके जवाब ठीक निकालना सीख रखा है।

प्रवचन-३८

श्रुति ने पुरुषयज्ञ का फल बताते हुए मृत्यु, क्षुधा और शपथ—इन तीन चीज़ों की निवृत्ति और रायस्पोष, सुप्रजा, सुवीर्य की तीन चीज़ों की प्राप्ति बताई। सुवीर्य मायने क्या ? मनुष्य हमेशा पाशों से बँधा हुआ है। वह जब पुरुषयज्ञ करेगा तब ये पाश निवृत्त हो जायेंगे। पुरुषसूक्त का नवम मंत्र कहता है कि यह पुरुष यज्ञ किसने किया ? 'तेन देवा अयजन्त' जो देव हैं उन्होंने यह यज्ञ किया। इस यज्ञ के फलस्वरूप वे देवभाव को प्राप्त हुए।

प्रारंभ में सब एक-जैसे थे। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में इसे एक कथा के द्वारा बताया कि देव और असुर दोनों प्रजापति की संतान हैं। दोनों प्राजापत्य हैं, आपस में दोनों भाई हैं। केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं, विदेशी साहित्य में भी जो शैतान कहा जाता है, वह वस्तुतः परमात्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुआ था। जिसे वे शैतान कहते हैं, वह भी पहले 'एन्जल' ही था। उसने परमात्मा की आज्ञा को स्वीकार नहीं किया, इसलिये उसकी शैतान संज्ञा हो गई। यही बात पारसी धर्म में भी मिलेगी। अहुर्मज़्दा और अर्हिमान दोनों साथ-साथ उत्पन्न हुए थे। इसलिये देव और असुर *जाति* से अलग-अलग नहीं हैं। दोनों प्रजापति की संतान हैं। पुराणों में प्रजापति को कश्यप कहा है। उनकी दो पत्नियाँ थीं—दिति और अदिति। दिति से उत्पन्न होने वाले दैत्य और अदिति से उत्पन्न होने वाले आदित्य कहलाये। आदित्य देवता हैं और दैत्य असुर हैं। एक ही प्रजापति की ये दोनों संतान हैं। स्वयं अपने जीवन को देखो : परमात्मा की तरफ ले जाने वाली वृत्ति दैवी वृत्ति है और परमात्मा से दूर ले जाने वाली वृत्ति आसुरी वृत्ति है। ये दोनों वृत्तियाँ मन में पैदा होती हैं। दैवी वृत्ति भी मन से उत्पन्न होती है, मानस है और आसुरी वृत्ति भी मन से उत्पन्न होने के कारण मानस है। चाहे अध्यात्म में देखो, चाहे अधिभूत में या अधिदैव में देखो, सर्वत्र देव और दनुज दोनों एक ही केन्द्र से उत्पन्न होते हैं।

देव-दानव दोनों एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे, एक-दूसरे से आगे बढ़ने की इच्छा करने लगे। देवता चाहें 'हम आगे बढ़ें' और असुर चाहें कि 'हम आगे बढ़ें।' होना तो सहयोग चाहिये था

लेकिन हो गई स्पर्धा। जैसे इदानीं काल में राष्ट्र को आगे बढ़ाने के लिये धनिक और श्रमिक दोनों में सहयोग होना चाहिये। एक ही राष्ट्र के दोनों अंग हैं—एक धन वाला और दूसरा परिश्रम करने वाला। एक ही देश की दो संतानें हैं। देश को आगे बढ़ाने के लिये दोनों का सहयोग चाहिये। लेकिन उसकी जगह स्पर्धा हो गई। धनिक कहता है कि 'मेरा धन बढ़े, श्रमिक कुछ नहीं है।' श्रमिक कहता है कि 'मैं ही संघ बनाकर सबसे आगे बढ़ूँ, धनिक कुछ नहीं है।' जैसे देव और असुर की प्रतिस्पर्द्धा, वैसे ही धनिक और श्रमिक की प्रतिस्पर्धा। ऐसे ही अपने मानस जीवन में भी देव और असुर भावों की स्पर्धा होती है। देवभाव कहता है कि 'हम पूरी तरह से बढ़ जायें।' और आसुरीभाव कहता है कि 'हम पूरी तरह से बढ़ जायें।' तो मन में होने वाले देव और आसुरी भावों में भी सहयोग होना चाहिये।' सहयोग का तात्पर्य क्या है? यदि तुमको क्रोध करना है तो जब मन कामनायें करता है तब उसके प्रति क्रोध करो। दूसरे के प्रति क्रोध करने से देवभाव का विरोध है लेकिन जब अपने में कामना उत्पन्न हो तब उस मन पर क्रोध करो कि 'अरे मन ! तुझे इतनी बार समझाया, तू फिर पदार्थों की वासना रखता है ! जा, आज दिन भर तेरे अनुसार कोई काम करूँगा ही नहीं।' मन कहे 'रसगुल्ला खा ले।' कहो—'तू फिर इच्छा करता है रसगुल्ला खाने की तो आज मुट्ठी भर चना ही खाऊँगा, कल चाहे रसगुल्ला खिला दूँ !' यह क्रोध भी है तो आसुरीभाव, लेकिन यह जब तुमने अपनी कामनाओं के प्रति कर लिया तब यह आसुरीभाव देव-भाव का सहयोगी हो गया। चाहे मन के अन्दर, चाहे राष्ट्र के अन्दर, चाहे अधिदैव और अधियज्ञ

के अन्दर, सर्वत्र यदि इन दोनों का सहयोग होता है तब तो अभिवृद्धि होती है उन्नति होती है और यदि दोनों का विरोध और परस्पर स्पर्द्धा होती है तो दोनों की हानि होती है।

श्रुति बताती है कि ऐसा क्यों सोचने लगे ? दोनों अनात्मा में बँधे हुए थे। देव भी देव बनने के पहले अनात्म-पदार्थों में ही बँधे हुए थे, यह बात अलग है कि देव *अच्छे* अनात्म-पदार्थों में बँधे हुए थे और असुर लोग *बुरे* अनात्म-पदार्थों में बँधे थे, लेकिन थे दोनों ही अनात्म-पदार्थों में बँधे हुए। दृष्टांत से समझ लो। असुर इस बात का अभिमान करते हैं कि 'जो हमारे सामने आयेगा, हम उसे मार देते हैं', यह अभिमान है। दूसरी तरफ, यदि यह कहते हो कि 'जो मेरे सामने आता है, मैं उसकी अवश्य रक्षा कर लेता हूँ' तो यह देवभाव है, लेकिन है तो यह भी बल का अभिमान ही। ये दोनों ही अनात्म-पदार्थों के अन्दर अभिमान वाले हैं। सर्वत्र यही नियम है। 'मैं छः घण्टे बैठकर ताश के पत्ते पीट सकता हूँ', यह आसुरी अभिमान है। 'मैं छः घण्टे बैठकर समाधि का अभ्यास कर सकता हूँ', यह भी अभिमान है, लेकिन देव-अभिमान है। हैं दोनों ही अनात्मा के अभिमान। इसलिये श्रुति कहती है कि दोनों अनात्म-पदार्थों में अभिमानयुक्त हुए थे, अनात्मा को ही अपना स्वरूप समझते थे अतः स्पर्धालु हो गये थे। अनात्मा क्या होता है ? 'अनात्मा हि मर्त्यः' जो आत्मा से अतिरिक्त होता है वह अवश्य मरणधर्मा होता है, अनात्मा ही मर्त्य है। अच्छा अभिमान और बुरा अभिमान दोनों ही एक दिन नष्ट होते हैं। दोनों अभिमान झूठे हैं। क्योंकि सब की रक्षा करने की शक्ति ईश्वर के अतिरिक्त किसी में नहीं और सब को नष्ट करने की

शक्ति भी ईश्वर के अतिरिक्त किसी में नहीं है। आसुर अभिमान वाला कहता है कि 'मैं चाहे-जिसको नष्ट कर सकता हूँ' पर एक दिन उसका यह अभिमान नष्ट हो जायेगा ! रक्षा करने वाला भी कहता है कि 'मैं सब की रक्षा करता हूँ' परन्तु एक दिन उसका अभिमान भी नष्ट हो जायेगा।

श्रुति कहती है कि देव-असुर सब के अन्दर एक अग्नि ही ऐसा था जो दोनों के बीच एक-जैसा रहता था। आग जल रही है तो उस आग से चाहे तुम बढ़िया खिचड़ी बनाकर किसी को खिला दो या उस आग से किसी गरीब की झोंपड़ी को जला दो। आग दोनों के प्रति एक जैसी रहती है, दोनों में किसी एक पक्ष का आश्रयण नहीं करती। भोजन नहीं पकायेगी—ऐसा नहीं, और झोंपड़ी नहीं जलायेगी, ऐसा भी नहीं! इसी प्रकार अपने हृदय के अन्दर जो ज्ञानरूप अग्नि है, वह देव-भाव को भी उतने ही ज़ोर से प्रकाशित करती है जितने ज़ोर से आसुरी भावों को प्रकाशित करती है। दोनों भावों को ज्ञानाग्नि एक-जैसा प्रकाशित करती है। इसलिये श्रुति ने कहा है कि देव और असुर सब प्राजापात्यों में अग्नि ही एक अमृत थी क्योंकि वह किसी भी अनात्म-धर्म के साथ नहीं बँधी थी, एक पक्ष का आश्रयण नहीं करती थी।

देव और आसुरों की स्पर्द्धा में असुर प्रबल पड़ रहे थे। धीरे-धीरे देव कम होते चले गये, देवता थोड़े-से बच गये। लोक में भी यही देखने में आता है। अधिक संख्या हमेशा आसुर भावों की होती है। इसीलिये जिसको आजकल 'लोकतंत्र' कहा जाता है, वह आसुर-तंत्र ही हो गया है! जब अधिकतर लोग आसुरी सम्पदा वाले ही होंगे तब उनके द्वारा जो भी तंत्र या जो भी शासन

चलेगा, वह आसुर तंत्र या आसुरी शासन ही चलेगा। जैसे राष्ट्र के अन्दर ऐसे ही अपने घर के अन्दर समझ लो : घर में दैवी सम्पत्ति वाला एक होगा, बाकी सारे आसुर सम्पत्ति वाले होंगे। यदि उस एक के हाथ में घर का शासनसूत्र रहा तब तो सारे घर को ठीक रखेगा, दैवी-भावापन्न रखेगा। यदि इसके विपरीत अधिकतर लोगों की दृष्टि से चलेगा तो घर में आसुर भाव बन जायेगा। इसी प्रकार अपने मानस जीवन में भी होता है। अधिकतर इस मन में आसुरी भाव आते रहेंगे, दैवी भाव तो कदाचित् आते हैं। दिनभर में दान करने की वृत्ति एक-दो बार आती है, लोभ की वृत्ति अनेक बार आती रहती है। इसीलिये पुराने लोग कहा करते थे कि 'अच्छे काम का संकल्प हो तो झट पूरा कर लो।' उस समय रुक गये तो दो मिनट में हृदय में इतने संदेह उत्पन्न हो जायेंगे जो उस सत्कर्म को नहीं करने देंगे। इसलिये देव हमेशा कम होते जाते हैं।

देवता बहुत थोड़े बचे गये तो उन्होंने विचार किया कि 'क्या करें, ऐसे तो हम लोग खत्म हो जायेंगे।' उनके मन में यह भाव आया कि 'अब हम अपने सहारे से कुछ नहीं कर सकते।' असुरों और देवताओं में खास फ़र्क है : देवता थकने पर परमेश्वर की तरफ देखते हैं और असुर थकने पर मृत्यु की तरफ देखते हैं। केले के छिलके पर पैर पड़ जाये तो दैवी सम्पत्ति वाला कहेगा, 'हे राम ! हे भगवान् !' आसुरी सम्पत्ति वाला कहेगा—'अरे मरे' या आजकल का होगा तो कहेगा, 'आउच'। असहाय होने पर एक की परमेश्वर की तरफ नज़र जाती है। दूसरे को जब असहायता का बोध होता है तब दृष्टि मृत्यु की तरफ जाती है।

देवताओं ने जब अपने आपको असहाय अनुभव किया तब उनकी दृष्टि परमात्मा की तरफ गई। जैसे अधिदैव जगत् में, ऐसे ही राष्ट्र जगत् में समझना। प्राचीन काल में राष्ट्र पर आपत्ति आती थी तो लोग परमात्मा की प्रार्थना में लगते थे। आज आपत्ति आने पर परमेश्वर का नाम लेने की कोई नहीं सोचता, कहते हैं–'हाय मरे।' इसलिये इधर-उधर की सहायता पकड़ते हैं। संसार में जो तुमको सहायता देगा, वह स्वयं भी तो असहाय ही है! इसीलिये अपने आपको बचाते हुए सहायता देने की कहते हैं और कितनी सहायता वापिस ले सकेंगे, यह सोचते रहते हैं। यह संसार का नियम है, क्योंकि सारे के सारे असहाय हैं। जैसे राष्ट्र के जीवन में ऐसे ही घर के जीवन में और ऐसे ही मानस जीवन में।

जो दैवी सम्पत्ति वाला होता है, उसके अन्दर यदि आसुरी भाव बढ़ने लगते हैं तो वह झट परमात्मा का स्मरण करने लगता है, उनसे सहायता माँगने लगता है। आसुरी भाव वाला सोचता है कि 'मैं इस मन को जीत लूँगा, मैं अभ्यास करके मन पर विजय प्राप्त कर लूँगा।' जितना-जितना अपने ऊपर दायित्व लेता जाता है, उतना ही आसुरी भाव, अनात्म-भाव बढ़ता जाता है। उसकी जगह यदि सर्वथा परमात्मा का चिंतन करने लग जाये कि 'भगवान्! आप ही मेरे मन को सुधारें, मैं तो केवल आपका ही चिंतन करूँगा। आगे आप जैसा रखना चाहो, रखो।' तो वह परमात्म-चिन्तन स्वभाव से ही अनात्म-चिन्तन को काटता चला जाता है, आसुरी भावों को बढ़ने नहीं देता। साधना भी आसुरी होती है। जहाँ अहम् को प्रधान बनाओगे, वहाँ आसुरी साधना है, और जिसमें शिव को प्रधान बनाओगे, वह दैवी साधना होगी।

रावण ने तपस्या कम नहीं की थी, लेकिन उसके द्वारा उसका आसुर-भाव बढ़ा, देवभाव नहीं बढ़ा, क्योंकि उसकी सारी साधना अपने आपको केन्द्र मानकर थी। उस साधना में ईश्वर को स्थान नहीं था। इसी को बताने के लिये पुराणों में कहा है कि वह लिंग का पूजन बिना पीठ के करता था। चूँकि वह जलहरी का पूजन नहीं करता था, इसलिये वह मारा गया। राम ने रामेश्वर में शिव की स्थापना जलहरी के साथ की, इसीलिये जीते। यह पुराणों की कथा है। इसके द्वारा बताया कि एक की स्वकेन्द्रित साधना थी और दूसरे की ईश्वर केन्द्रित साधना थी। उसी से इतना बड़ा फ़र्क आ गया।

जब देवता थक गये तब उन्होंने परमात्मा की अर्चना की, परमात्मा की तरफ दृष्टि करके सोचने लगे, 'हे भगवन् ! हमारे सपत्न (शत्रु) मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा हैं, ऐसे असुरों को हम आपकी ही कृपा से अभिभूत कर लें, दबा लें। हमारी संख्या कम हो गई है।' देवताओं ने सोचा कि 'हम अग्नि का आधान करें क्योंकि हम सबके अन्दर अमरणधर्मा तो केवल एक अग्नि ही है। हम अग्नि के द्वारा ही इन आसुर भावों को जीतें।' मानस जगत् में ज्ञान अग्नि है। ज्ञान के द्वारा आसुरी भावों को जीतना है। अधिदैव जगत् में अग्नि-देवता के द्वारा आसुरी भावों को जीता जाता है। देवताओं ने सोचा 'हम दोनों प्राजापत्य हैं इसलिये अग्नि हमारे लिये और असुरों के लिये एक जैसा है। इसलिये पहले बिना असुरों की राय लिये हुए हम अग्नि का आधान नहीं करेंगे। चाहे वे अपने शत्रु हों लेकिन उनके अधिकार को नाजायज़ रूप से नहीं लेना चाहिये। हराना है लेकिन जायज़ तरीके से हराना है।'

यह देव-दृष्टि है। आसुर दृष्टि है 'अपने स्वार्थ को सिद्ध करो, बाकी जिसका जो हो, हमारा क्या है !'

साधन यदि गलत है तो साध्य कभी भी ठीक नहीं हो सकता। यह बात चालीस वर्ष तक महात्मा गांधी हमें सिखाते रहे लेकिन नहीं सिखा पाये। भारतीय और विदेशी संस्कृतियों का यह आधारभूत भेद है। विदेशी संस्कृति का आज सबसे बड़ा मुखर रूप साम्यवाद है। वह कहता है कि किसी तरीके से, किसी भी साधन से साध्य प्राप्त कर सकते हो तो कर लो, ठगकर, झूठ बोलकर, धोखा देकर, जो मर्ज़ी करके साध्य प्राप्त कर लो, साध्य अच्छा रखो कि गरीबों की मदद हो। महात्मा गांधी भारतीय दृष्टिकोण को लिये हुए चालीस वर्ष तक यही समझाते रहे कि ग़लत साधन से अच्छा साध्य उत्पन्न नहीं हो सकता। लेकिन हम लोग तो आज भी विदेशी चाकचिक्य में पड़े हुए हैं। जितना हमको मार्क्स का सिद्धान्त प्रिय लगता है, उतना गांधी का सिद्धान्त प्रिय नहीं लगता।

किन्तु साधन की भी प्रधानता मानने के कारण देवताओं ने असुरों से पूछा कि 'यह अग्नि अमरता का साधन है और यह हम दोनों की सम्पत्ति है। बोलो तुम इससे क्या करोगे ?' असुरों ने कहा, 'हम इसका प्रयोग करेंगे।' पूछा, 'क्या प्रयोग करोगे ?' 'तिनकों को जला देंगे, लकड़ियों को जलायेंगे। चावल पकायेंगे, और मांस पकायेंगे।' अर्थात् इन सब चीज़ों का उपयोग केवल हम अपने स्वार्थ के लिये करेंगे। शतपथ ब्राह्मण की यह विलक्षण कल्पना है। देवताओं ने पूछा, 'इस सबमें अग्नि का उपयोग तो करोगे, लेकिन तुम लोग यह सब पकाकर क्या करोगे ?' देव भी

तो भोजन पकायेंगे, लकड़ी जलायेंगे, लेकिन भोजन पकाकर खाने से पहले अग्नि में आहुति डालते हैं। देवताओं ने असुरों से पूछा 'यह सब काम करोगे तो आहुति कहाँ दोगे ?' शतपथ ब्राह्मण कहता है कि असुरों ने सोचा 'हम किसमें आहुति दें ?' सबने मिलकर निर्णय किया कि अपने-अपने मुखों में ही आहुति डालेंगे! बस यही असुर का लक्षण है। अग्नि से हम अपने मतलब का काम लें और उसके बाद अपने ही मुख में आहुति डालें। अपने ही खाने, पीने और मौज करने की सोचें।

यही तो रात-दिन हो रहा है। जैसे दैव और आसुर जीवन वैसे ही राष्ट्र-जीवन में; दोनों साथ-साथ समझते जाना। दूसरों से अपना काम सिद्ध करने के बाद अपने ही मुख में आहुति डालते हैं। रात-दिन विचार इस बात का है कि 'हमें क्या मिलेगा ?' बस इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा विचार नहीं है। जैसे राष्ट्र के जीवन में वैसे ही अपने जीवन में भी यही है कि 'हम यह साधना करेंगे तो हमें क्या मिलेगा।' जो धर्म तुमको मोक्ष तक दे सकता है, क्या कभी सोचते हो कि उस धर्म के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? हमारे ऋषियों ने हज़ारों वर्षों से जिस थाती की रक्षा की, जिसका प्रयोग करने को तुम तैयार हो, मोक्ष पाने के लिये तैयार हो, क्या उस धर्म की रक्षा करने के लिये तैयार हो? नहीं। ऐसे जो अपने को धार्मिक भी मानते हैं, वे असुर हैं, क्योंकि यही असुर का लक्षण है। लोग कब धर्म की याद करते हैं ? बीमार हो गये तो पण्डित जी को बुलवाओ, पाठ करवाओ। या शादी-ब्याह का काम पड़ गया तो विवाह के लिये पण्डितजी को बुलाओ। कोई आपत्ति आ गई तो थोड़े दिन सत्संग में चलो, महात्मा की

कृपा हो जायेगी तो आपत्ति दूर हो जायेगी। घर में बच्चा नहीं होता है तो भी धर्म को मानेंगे। कभी सोचते हैं कि हम धर्म को कितना आगे बढ़ायें ? जप आदि भी करते हो तो अपने ही कल्याण के लिये करते हो। स्वाध्याय भी अपने कल्याण के लिये है क्योंकि तुमको पुण्य इष्ट है। पूजा भी अपने कल्याण के लिये करते हो। लेकिन इस धर्म की रक्षा के लिये क्या किया ? यही अपने-अपने मुख में आहुति डालना है। यह एक पुराना रोग है। भागवत में भी प्रह्लाद ने यही शिकायत की है 'मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।' शतपथ ब्राह्मण आदिकाल से ही यह आसुरी प्रवृत्ति बताता है। आज जगह-जगह जो मानवतावाद का नाम लेते हैं, इसके पीछे अतिमान है कि 'मनुष्य ही बचाने के लायक है, पशु-पक्षी बचाने के लायक नहीं हैं।' यह विदेशी संस्कृति का दृष्टिकोण आया है। इसमें लोगों को यह कहते हुए शर्म तक नहीं आती कि 'आदमी भूखे मर रहे हैं, गायों की क्या चिन्ता करें!' ऐसा कहने में इसलिये प्रवृत्त होते हैं कि सोचते हैं, 'हम ही रक्षणीय हैं। दूसरे पशु-पक्षियों के लिये सृष्टि नहीं है।

इस अतिमान के कारण ही असुर लोग हार गये। देवताओं ने तो उन्हें कह दिया, 'तुम बराबर के साझीदार हो, इसलिये तुमको जैसा अग्नि का प्रयोग करना हो, वैसा कर लो।' पर वे उसका सही विनियोग नहीं कर पाये। जैसा बाह्य जगत् के अन्दर, वैसा ही आभ्यंतर जगत् के अन्दर है। असुर लोगों के हृदय में भी ज्ञानाग्नि है लेकिन वे उसका प्रयोग कहाँ करते हैं ? सारे ज्ञानों का प्रयोग संसार के पदार्थों को प्राप्त करने में ही करते हैं। चाहे वे बड़े से बड़े हवाई जहाज बना लें, बड़े से बड़े रोग को दूर करने

का साधन निकाल लें, बड़े से बड़े पुल बना लें, चाहे चंद्रलोक की और मंगल लोक की भी यात्रा कर लें, ज्ञानाग्नि वहाँ भी है, लेकिन उन सबमें वे अपने ज्ञान का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिये कर रहे हैं। परमात्मा की तरफ उनकी दृष्टि नहीं है। उससे होने वाला फल जो भोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे, वे भी अपने भोग में ही लेंगे। गंगा जी पर बाँध बाँधने में तुमने अपने बौद्धिक ज्ञान का प्रयोग किया, उससे बिजली निकाल ली, नहर निकाल ली, और उसके बाद उससे होने वाले फल का उपयोग भी अपने लिये किया। क्या कहीं ऐसा नियम भी बनाया कि नहर निकालने पर अगर हमारे अनाज की उपज दुगुनी हो जायेगी जो उसका कम से कम दसवाँ हिस्सा गंगा जी के समर्पण करेंगे ? यह कोई नहीं सोचता। अपने ही अपने भोग में सब लगाना चाहते हैं । जैसे बाह्य जगत् में अग्नि का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिये किया, वैसे ही आभ्यंतर जगत् में भी ज्ञानाग्नि का प्रयोग आसुरी भावों से युक्त होकर कर रहे हो। इसीलिये भगवान् भाष्यकारों ने तो इसे अज्ञान कहा है। बाह्य जगत् के ज्ञान-अभिवर्द्धन को अज्ञान कहते हैं। जो इन्द्रियों को शांत करे, इन्द्रियों की प्रवृत्ति को कम करे, वह ज्ञान है। आज जिसे तुम लोग ज्ञान मानते हो, उससे इन्द्रियों की प्रवृत्ति बढ़ती है। यदि प्रवृत्ति बढ़ती है तो अज्ञान का लक्षण है। अगर अज्ञान नहीं भी कहना चाहो तो हर हालत में ज्ञान का असुर-प्रयोग तो है ही।

देवताओं ने असुरों को उनका हिस्सा दे दिया पर उन्होंने बाह्य जगत् में ही उसका प्रयोग कर लिया। अतः देवताओं ने निश्चय किया 'उस अमृतरूप अग्नि का आधान बाहर नहीं करेंगे। हम

इसका आधान अपने अन्दर करेंगे। जब अग्नि का अंदर आधान किया, तब वे देवता बने। मानस जगत् में जब ज्ञान के द्वारा परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति करो तब देवता बनोगे। अग्नि का प्रयोग बाह्य कर्मों के लिये ही नहीं है बल्कि अन्दर के कर्मों के लिये भी है। ज्ञानरूप अग्नि का भी उपयोग अपने अन्दर रहने वाले ईश्वर को जानने के लिये है। उसका फल भी अपने लिये नहीं है, ईश्वर के लिये है! इसके बाद जो भी कर्म करेंगे, उसका फल ईश्वर को देंगे। आप लोगों को मंत्र तो सिखा देते हैं, पूजा करने के बाद कहते हैं कि यह सारी पूजा 'साम्बसदाशिवार्पणमस्तु।' अथवा 'अनेन पूजनेन भगवान् साम्बसदाशिवः प्रीयतां न मम इति।' अर्थात् इसका फल मुझे न मिले। लेकिन वह केवल गले से कह देते हैं, हृदय से नहीं !

हम कई बार कहते हैं कि यह पूजा आदि कवायद है। मिलिट्री में कवायद कराई जाती है, कवायद कराने में तात्पर्य नहीं है, कवायद का तात्पर्य तो मौका आने पर दुश्मन के साथ लड़ाई करने में है। इससे लड़ने की ताकत आती है। कोई कहे कि 'जिस दिन लड़ाई होगी, उसी दिन खड़े हो जायेंगे' तो वह हो नहीं सकता। नेहरू जी ऐसा ही सोचते थे। वे फौज से रोज़ काम नहीं लेते थे। फौजियों को खेती के काम में लगा रखा था! जहाँ बन्दूकें बननी थीं, वहाँ 'कॉफी पर्कोलेटर' बनाये जाते थे। जब चीन ने लड़ाई छेड़ दी, तब कोई सैनिक घास काटना जानता था, कोई कॉफी पर्कोलेटर बनाना जानता था। इसी प्रकार जब रोज़ तुम्हारे मुँह से कहलाते हैं 'शिवार्पणमस्तु' तो वह कवायद है। सच्चे दिल से वैसा करते-करते किसी समय सच्ची सफलता हो जायेगी, जिस

दिन हृदय से एक बार भी यह ध्वनि निकल गई, उस दिन दुश्मन सामने नहीं टिक पायेगा। जब अंतरात्मा में अमृत को रख दिया, जब अन्दर की तरफ अपनी ज्ञान-दृष्टि की कि 'मुझे परमात्मा को ही जानना है' तब अन्दर अमृत आने से तुम स्वयं अमृत बन जाओगे।

अब तुम्हारी हिंसा कोई नहीं कर सकता। संसार में जहाँ भी क्रिया होगी, वहाँ वह क्रिया परमात्मा की शक्ति से होगी। वह परमेश्वर तुम्हारे हृदय में तुम्हारे ज्ञान का विषय बनकर बैठ गया तो अब तुम्हारी हिंसा करने की शक्ति कहाँ से आयेगी ? अब कोई शत्रु नहीं रह जायेगा। असुर भी शत्रु नहीं रह जायेंगे क्योंकि वे भी तुम्हारे साथ एक हो गये। यही असुरों की हार है। असुरों को हराने का तरीका असुरों को मारना नहीं है। उन्हें मारने का तरीका परमात्मदृष्टि के द्वारा उनके अंदर की असुरता को क्रिया करने से रोक देना है।

क्रिया करने से रोकने की दृष्टि कैसे होती है—यह बताते हैं। भगवान् भाष्यकारों के एक शिष्य थे। जब पढ़-लिखकर तैयार हुए तो कहने लगे 'मैं प्रचार के लिये कामरूप (आजकल आसाम, नागालैण्ड) जाऊँगा। भाष्यकारों ने कहा 'वहाँ के लोग बड़े भयंकर होते हैं, वहाँ मत जा।' कहने लगे, 'महाराज ! उधर ही जाने की इच्छा है। जहाँ भयंकर लोग हों, वहाँ जाना चाहिये।' भाष्यकारों ने कहा 'वे लोग संस्कारशून्य हैं, तुम वेदांत की बात जाकर सुनाओगे तो नहीं सुनेंगे।' कहने लगे 'नहीं सुनेंगे तो क्या ? सुनाने से अपने को तो पक्का होगा ही।' भगवान् ने कहा—'केवल वे सुनेंगे नहीं, ऐसा नहीं, तुझे गालियाँ भी देंगे।' कहा, 'कोई बात

नहीं। हम बड़े प्रसन्न हो जायेंगे कि हे परमात्मन् ! धन्य हैं आप कि इनसे गालियाँ दिलवाते हैं, दण्डा नहीं पड़वाते।' आचार्य कहने लगे—'कोई ठिकाना नहीं, किसी काल में दण्डा भी मार सकते हैं।' वह बोला, 'मैं तो उस परमात्मा को धन्यवाद दूँगा कि धन्यवाद है कि ये तनिक-सा दण्डा ही मारते हैं, जान तो नहीं लेते।' उन्होंने कहा—'वे बहुत खूंखार हैं। सुनते हैं कि जान से भी मार देते हैं।' उसने कहा 'फिर मैं परमात्मा को धन्यवाद दूँगा कि यह मरणधर्मा शरीर छूट गया। अब इसे निमित्त बनाकर सुख-दुःख आदि फिर कभी नहीं होंगे, टण्टा मुक गया।' इस पर भगवान् भाष्यकारों ने उसे छाती से लगाकर कहा 'अब तू जा, क्योंकि तेरी दृढता पूर्ण है।' यह दृष्टि जब हो जाती है तब सामने वाला असुर नहीं रह जाता है। इसी दृष्टि को बताया कि देवताओं ने असुरों को अभिभूत कर दिया। यही सुष्ठु वीरता है। देवताओं ने अपनी अन्तरात्मा में ही अग्नि का आधान करके यज्ञ किया। अन्तरात्मा में अग्नि के आधान का क्या प्रकार है, इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन-३९

पुरुषरूप यज्ञ का वर्णन करते हुए बताया कि किस प्रकार से देवताओं ने यज्ञ निष्पादित किया। जब तक उसकी अग्नि का हम बाह्य प्रयोग करते हैं तब तक अंदर रहने वाली ज्ञानाग्नि को

इन्द्रियों के द्वारा विषयों की तरफ ले जाते हैं, आँख के द्वारा ज्ञान को रूप की तरफ, कान के द्वारा ज्ञान को शब्द की तरफ ले जाते हैं। जब तक हम ज्ञानाग्नि को इन्द्रियों के द्वारा बाहर की तरफ ले जाते हैं, तब तक आसुरी भाव और जब बाहर न ले जाकर उस ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर आधान करते हैं, तब परमेश्वर की तरफ प्रवृत्ति बनती है, यह बताया। अन्दर समाधान करने से ही वह सुप्रजा बनता है और उसमें सुवीर्य, तेज, वीर्य, शक्ति आती है। वह शक्ति क्या करती है ? श्रुति कहती है कि राय और पोष की प्राप्ति हो जाती है। जब अपने अन्दर अग्नि का आधान किया तब अन्दर दीप्ति, तेजस्विता या वीर्य आता है। ये जो संसार के करोड़ों पाश हैं वे कट जाते हैं। पाश वह चीज़ है जो तुमको बाँधती है। ये पाश कैसे हैं ? श्रुति ने कहा कि ये जो करोड़ों पाश हैं, ये दीखते नहीं हैं। लगता नहीं कि ये पाश हैं। लेकिन जैसे पाश मनुष्य को बाँधकर रखता है, उसको स्वतंत्र नहीं होने देता, वैसे ही राग-द्वेष के पाश मनुष्य को स्वतंत्र नहीं होने देते।

घरवाले प्रत्येक प्राणी का इसके साथ एक पाश है। पिता-पुत्र के साथ, पति-पत्नी के साथ, देवर के साथ, जेठ के साथ, जेठानी के साथ, प्रत्येक का किसी न किसी के साथ बंधन है। विचार करके देखो तो घर के प्रत्येक प्राणी के साथ भी अलग-अलग संबंध हैं। जब तक वह बंधन खींचता नहीं, तब तक तो नहीं लगता कि वह पाश है। सामान्यरूप से घोड़ा चल रहा है, उस समय उसकी लगाम को सवार नहीं खींचता है, उस ढीली पड़ी हुई लगाम से घोड़े को यह पता नहीं चलता कि मेरी लगाम है।

तब पता लगता है जब घोड़ा स्वतंत्रतापूर्वक दाहिने या बायें जाने लगे तो झट सवार लगाम खींचता है। रास्ते चलते हुए घोड़े को पता नहीं चल रहा है कि वह पाश में बँधा हुआ है। इसी प्रकार जब तक तुम सबके मन का कार्य करते रहे तब तक सब 'हमने तो तुम्हें पूरी स्वतंत्रता दे रखी है।' पति कहता है कि 'मैं पत्नी को कुछ नहीं कहता, मैंने उसे पूरी स्वतंत्रता दे रखी है', क्योंकि पत्नी उसके मन का कार्य करती है। जिस दिन उसके मन का काम नहीं करेगी, उस दिन झट पाश का अवबोधन हो जायेगा। अध्यापक कहता है कि 'हम तो विद्यार्थियों को खुली छुट्टी देते हैं', क्योंकि विद्यार्थी चुपचाप बैठे रहते हैं ! जिस दिन विद्यार्थी हल्ला मचाने लगेंगे उस दिन अध्यापक को अवश्य डाँटना पड़ेगा। सर्वत्र यह नियम है। इतना ही नहीं, पाश दो प्रकार का है। केवल अध्यापक ही अपने हाथ में पाश बाँधता हो, ऐसा नहीं, विद्यार्थी ने भी पाश रख छोड़ा है। जब तक अध्यापक विद्यार्थियों को उत्तीर्ण करता रहे तब तक विद्यार्थी कहता है कि अध्यापक बड़ा अच्छा है। एक जगह परीक्षा हो रही थी, वहाँ लड़के किताबें पास में रखकर नकल कर रहे थे। लड़के कहते थे कि 'हमारा परीक्षा-केन्द्र बड़ा अच्छा है, इसके अध्यापक बड़े अच्छे हैं,' वहाँ की बड़ी तारीफ करते थे। एक बार नये अध्यापक वहाँ आये और उन्होंने आकर डाँटा 'यह क्या करते हो, नकल करते हो ?' वहाँ लड़कों ने बड़ा ऊधम मचाया और छुरा लेकर खड़े हो गये कि आज इस अध्यापक को मार डालेंगे। जब तक विद्यार्थियों को नकल करने दो तब तक कहते हैं कि हम अध्यापक की बात मानते हैं और जहाँ अध्यापक ने विद्यार्थी पर रुकावट डाली, वहाँ झट पाश सामने

आ गया। इसी प्रकार पिता-पुत्र में केवल एक-तरफ पाश हो, ऐसा नहीं समझना। पिता का पुत्र पर पाश है तो पुत्र का भी पिता पर पाश है।

स्वयं अपने शरीर का भी हमारे ऊपर एक पाश बना हुआ है। काशीधाम में रहने पर बड़ा आनन्द है, गंगा स्नान करने को मिले, विश्वनाथ के दर्शन करने को मिलें। लेकिन गंगा के पानी से वायु होती हो तो उस आदमी का वास वहाँ असम्भव हो जाता है। यह शरीर का पाश है। अथवा गर्मी की भयंकर ऊष्मा सहन नहीं हो सकती तो वह भी एक पाश हो गया। प्राणों का भी पाश है। भूख और प्यास प्राणों का धर्म है, यह भी एक बहुत बड़ा पाश है। अपनी कामनाओं का पाश है। कमाना भी पाश डालती है। मित्रों का पाश, जान-पहचान वालों का पाश, राज्य का पाश, रेल का टिकट खरीद लिया तो रेल का पाश ! जितना-जितना देखते जाओगे, पता लगेगा कि करोड़ों पाश हैं। यहाँ तक कि घरवाली को धोबी का भी पाश होता है, कहती है 'आज जल्दी जाना है क्योंकि धोबी आने वाला है।' दर्जी का पाश है। कितने पाश हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। इन अनंत पाशों से जीव बँधा हुआ है। जब-जब जो पाश खींचता है तब पता लगता है, बाकी समय तो लगता है कि कुछ बंधन नहीं है। यह इस पाश की विशेषता है। यदि सब समय पाश खिंचा रहे तो शायद तंग आकर मनुष्य जल्दी छोड़ दे। लेकिन सारे पाश इकट्ठे नहीं खींचते, कभी एक खींचता है तो कभी दूसरा, इसलिये सहन होता रहता है। चूँकि सहन होता रहता है इसीलिये छूटता नहीं। शास्त्रों में इसीलिये वैराग्य को विवेकजन्य बताया है, दुःखजन्य नहीं बताया

है। विवेक करने से तो सारे पाशों का ज्ञान हो जाता है, नहीं तो उन पाशों का पता नहीं लगता।

इन पाशों में एक और विलक्षणता है। पाश के ऊपर यदि अच्छी तरह से तेल लगाकर चिकना बना दिया जाये तो वह पाश बाँधता उतने ही ज़ोर से है लेकिन तकलीफ कम मालूम पड़ती है, क्योंकि उसमें चिकनाई होती है। इसी प्रकार यहाँ राग और स्नेह रूपी तेल उस पाश को चिकना बनाकर मधुरता दे देता है। पति दिन भर काम करके पत्नी की तरफ दौड़ता है तो उसे पत्नी का पाश खींच रहा है। लेकिन पत्नी के प्रति जो स्नेह की चिकनाई लगी है, उससे वह दौड़ना अच्छा लगता है, मधुर लगता है। उससे कहो कि 'तुम पाश से बँधे हो' तो नहीं मानेगा। एक तो पाश सब समय खींचता नहीं, इसलिये पता नहीं लगता और दूसरे, जब खींचता भी है तब उन पाशों में अधिकतर पाश स्नेह की चिकनाई वाले होते हैं, इसलिये वे कष्टप्रद मालूम नहीं पड़ते। श्रुति ने इसीलिये कह दिया कि ये करोड़ों पाश हैं, इनकी गिनती करना भी असम्भव है।

ये सारे पाश क्या करते हैं ? ये हमें निरंतर मृत्यु की तरफ ले जाते हैं। इन पाशों के कारण ही हम लोग मृत्यु की तरफ दौड़ रहे हैं। जब हम गर्भ में आये थे उस समय हमें गर्भ के अन्दर अपने सौ जन्मों की बात याद आई थी कि हमने क्या-क्या कष्ट सहे और कैसी-कैसी योनियों में जाकर कैसे-कैसे पापों के फलस्वरूप दुःख उठाया। यह सब हमें याद आया। हमने अपने कितने जन्मों में बच्चों को नहीं पाला, कितने बच्चों को बड़ा नहीं किया और उनकी शादियाँ नहीं कीं, कितने पतियों की सेवा नहीं

की, कितने देवर-जेठों के पीछे हमने अपना जीवन नष्ट नहीं किया, कितने पुत्रों को उत्पन्न करने के पीछे हमने अपनी युवावस्था नहीं गँवा दी! आज जब लोग कहते हैं कि 'तुम कर्तव्य की तरफ ध्यान दो' तब विवेकी उनसे पूछता है कि अनादि काल से आज तक कर्तव्य ही करते रहे, हाथ क्या आया ? यह पहला जन्म तो है नहीं। जब गर्भ में ये सब सौ जन्मों की बातें याद आयीं तब मन ने निश्चय किया कि यह सब करके कुछ हाथ नहीं आता। गर्भोपनिषद् में बताया है कि उस समय जीव प्रतिज्ञा करता है

'यदि योन्यां प्रमुच्येऽहं तं प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं सर्वपापप्रणाशनम्।'

इतने सारे कर्तव्यों को करने के बाद, इतनी पत्नियों का पोषण करने के बाद, इतने पुत्रों को पढ़ाने के पीछे सारे बाल उड़ा देने के बाद, इतने माता-पिताओं की सेवा करने के बाद, इतने राष्ट्र और राज्यों की सेवा करने के बाद मैं तो एक बित्ते की गर्भ की कोठरी में पड़ा हुआ हूँ, आज कोई सहारा देने वाला नहीं है, न वहाँ सूर्य और चन्द्र की रश्मियों का प्रवेश है। चारों तरफ पेट की गर्मी में मनुष्य को वहाँ हवा भी नहीं मिलती। बड़े से बड़े राष्ट्र और राज्य का काम करने का नतीजा उस कोठरी में पड़ना है जहाँ चारों तरफ मल-मूत्र की बदबू के सिवाय और कोई चीज़ नहीं है। सैकड़ों जीवनों के अन्दर ये सारे कर्म करने का यही नतीजा है। खूब दुकानें चलाईं, हाथ क्या आया ? एक धेला पास में नहीं है। उस समय जब देखता है कि यह सब करके कुछ काम नहीं आया तब प्रतिज्ञा करता है 'हे परमेश्वर ! यदि इस योनि-मार्ग से बाहर निकल आया तो आपकी प्रपत्ति करूँगा। महेश्वर की

ही शरण जाऊँगा। अब और इस संसार मार्ग के चक्र में नहीं फँसूँगा।' वे महेश्वर कैसे हैं ? संसार के सारे प्राणी तो हमसे अशुभ कर्म करवाते हैं। टेलीफोन आया तो पत्नी से कहता है कि 'कह दो पति घर में नहीं हैं।' अशुभ काम करवा रहा है। पति का साथ तो छूट जायेगा और झूठ तुम्हारे साथ बंध कर जायेगा। लेकिन परमेश्वर तुम्हारे सारे अशुभ कर्मों को अपने ऊपर ले लेते हैं। संसार तुमको कर्तव्य के नाम से अशुभ मार्ग में ले जाता है और परमात्मा तुम्हें पहले किये हुए अशुभ मार्गों से भी छुड़ाता है ! केवल अशुभ को कम करता हो, ऐसा नहीं, उनको क्षय कर देता है। यह जो अशुभ को नष्ट करना है, यही उस पुरुषयज्ञ का फल है।

सारे पाशों के यज्ञ की माया अर्थात् शक्ति कहाँ है ? यहाँ माया शब्द का प्रयोग करने में विशेष तात्पर्य है। वेदसिद्धांत के अन्दर शुभ और अशुभ दोनों कर्म माया के अंतःपाती हैं। शुभ कर्म भी माया है और अशुभ कर्म भी माया ही है। जैसे पैर के अन्दर काँटा घुस गया; डॉक्टर के पास पहुँचे तो झट सुई निकाली। सुई भी लोहे का काँटा है और वह उसे भी पैर में घुसाता है। तुम्हारे पैर में एक काँटा तो पहले से घुसा हुआ है और डाक्टर एक दूसरा काँटा और घुसाता है। तुम कहते हो, 'यह क्या कर रहे हो ? मुझे यह काँटा ही दुःख दे रहा है, उस पर तुम एक और काँटा डाल रहे हो।' वह कहता है घबराओ मत, हैं तो दोनों काँटे, लेकिन जो काँटा मैं डाल रहा हूँ वह पहले काँटे को भी निकाल देगा और खुद भी निकल आयेगा। बाहर से तो काँटा घुसने की क्रिया एक-जैसी है। दोनों की क्रिया में कोई फ़र्क मालूम नहीं पड़ता, लेकिन लोहे का काँटा बबूल के काँटे को निकालकर

खुद भी निकल आयेगा। ऐसे ही संसार के कार्यों में और परमात्मा के प्रति किये हुए कार्यों में कोई फ़र्क नहीं है। घरवालों के लिये भी भोजन ही बनाते हो और भगवान् के भोग के लिये भी भोजन ही बनाते हो। घरवालों के लिये भी दिया जलाते हो और भगवान् के लिये भी दिया जलाते हो। घरवालों के लिये भी गाना गाते हो और भगवान् के लिये भी गाना ही गाते हो। जो-जो कार्य तुम संसारियों के लिये करते हो वही कार्य परमेश्वर के लिये भी करना है। काँटे तो दोनों ही हैं, करना तो वही काम है, लेकिन जैसे डाक्टर के हाथ में आया हुआ लोहे का काँटा पहले काँटे को निकाल देता है और खुद भी निकल जाता है—वैसे परमेश्वर के लिये किया कर्म सारे बंधनों से छुड़ा देता है। इसलिये यहाँ यज्ञ की शक्ति को माया नाम से कह दिया 'तान् यज्ञस्य मायया।'

मृत्यु देने वाले पाश को जलाना है। इसको जलाने की पारमेश्वरी शक्ति है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद सौन्दर्यलहरी में भगवती को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि वह यज्ञ की माया कैसे नष्ट करती है 'तव स्वाधिष्ठाने हुतवहम-धिष्ठाय निरतं।' हे भगवती ! 'तव स्वाधिष्ठाने' तुम्हारा जो स्वाधिष्ठान है। 'स्व' नाम आत्मा का है। अधिष्ठान और आधार में वेदांत सिद्धान्त में कुछ भेद है। हिन्दी वाले आधार और अधिष्ठान को एक ही कहते हैं। यह थोड़ी दर्शन शास्त्र की बात है। रस्सी के अन्दर तीन चीज़ें हैं लम्बाई, मोटाई और सूत। मन्दांधकार के अन्दर जब तुमको रस्सी में साँप दीखता है तब रस्सी की लम्बाई दीखती है। जितनी लम्बी रस्सी होगी, उतना ही लम्बा साँप दीखेगा। साँप की लम्बाई रस्सी की ही लम्बाई

दीख रही है। साँप उतना ही मोटा दीखेगा जितनी मोटी रस्सी है। इसलिये साँप दीखते काल में लम्बाई और मोटाई तो रस्सी की दीख रही है लेकिन रस्सी का सूत नहीं दीख रहा है, क्योंकि यदि सूत दीख जाये तो वहाँ साँप नहीं दीखेगा। लम्बाई मोटाई तब भी दीखेगी जब रस्सी दीखेगी और तब भी दीखेगी जब साँप दीखेगा लेकिन रस्सी दीखेगी तब तो सूत दीखेगा पर जब साँप दीखेगा तब सूत नहीं दीखेगा। इसलिये वेद-सिद्धान्त के अन्दर लम्बाई मोटाई को आधार कहते हैं और सूत को अधिष्ठान कहते हैं। अधिष्ठान वह है जिसके ज्ञान से झूठा ज्ञान हट जाये और आधार उसको कहते हैं जिसके ज्ञान से झूठा ज्ञान न हटे, उलटा झूठे ज्ञान को जो पुष्ट करे। यदि रस्सी की लम्बाई-मोटाई न दीखती तो साँप नहीं दीख सकता था। यह आधार और अधिष्ठान का फ़र्क है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं, 'हे भगवती ! तुम्हारा जो अपना अधिष्ठान है उसमें हुतवह रहता है।' भगवती आधार ही है क्योंकि संवित् है, चित् है, चित् ही आधार है। जब संसार दीखता है उस काल में भी संवित् अर्थात् ज्ञान है, जैसे घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञान। जब परमात्मा दीखता है तब भी ज्ञान ही है, वह ब्रह्म का ज्ञान है। संवित् कैसी है ? आधार है। वह संवित् भगवती परमात्मा के ज्ञान में भी ज्ञानरूप से है और संसार के ज्ञान में भी ज्ञानरूप से है। संवित् में फ़र्क नहीं है, इसलिये संवित् आधार हो गई। जो ब्रह्म अनंत और व्यापक है, वह अधिष्ठान है। इसलिये संसार दीखने काल में ज्ञान तो है लेकिन व्यापकता अनंतता नहीं है। परिच्छिन्न का ज्ञान है। घड़े, कपड़े आदि का ज्ञान है अनंत का

ज्ञान नहीं है, क्योंकि जब तक परमात्मा से अलग हो तब तक यह परिच्छिन्नता नहीं आयेगी, तब तक अपने को हमेशा सीमा वाला या सीमित ही अनुभव करोगे। जब परमात्मा से एक होगे तब अनुभव असीम होता है। उस समय सीमा का ज्ञान नहीं रहता, उस समय किसी भी अंत का ज्ञान नहीं रहता, अनंतता का ही ज्ञान रहता है। गहरी नींद के अन्दर और परमात्मा के ज्ञान में यही फ़र्क है। सुषुप्ति के अन्दर सीमा का ज्ञान तो नहीं है, सुषुप्ति में अपने को सीमा वाला अनुभव नहीं करता लेकिन असीमता का भी अनुभव नहीं है। सुषुप्ति का अनुभव यही है कि 'मैं अनंत हूँ, असीम हूँ।' वहाँ न सीमा का और न सीमा- रहितता का अनुभव है। इसलिये सुषुप्ति एक तरह से खिड़की है : जैसे खिड़की को न कह सकते हो कि कमरे में है और न कह सकते हो कि बाहर है। हिरण्यकशिपु का दृष्टांत प्रसिद्ध है। उसने कहा था कि 'मुझे न कोई कमरे के अन्दर और न कमरे के बाहर मार सके।' इसीलिये उसको भगवान् नृसिंह ने देहली (कमरे के अन्दर और बाहर के बीच के स्थल) पर मारा था। उसे न दरवाजे के अन्दर वाला स्थान कह सकते हैं और न बाहर वाला कह सकते हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति में असीमता भी नहीं है, इसलिये उसे समाधि या ब्रह्मज्ञान नहीं कह सकते, और वहाँ सीमा का ज्ञान भी नहीं है, इसलिये उसे माया का कार्य भी नहीं कह सकते। वह बीच वाली स्थिति है, न सीमा का ज्ञान है और न असीमता का ज्ञान है।

परमात्मा का ज्ञान असीमता का ज्ञान है। परमात्मा के ज्ञान में अपनी सारी सीमायें टूट जाती हैं। परमात्मज्ञान होने पर ऐसा बोध नहीं रहता कि मेरा और परमात्मा का यह सम्बन्ध कभी

प्रारंभ हुआ। उलटा बोध होता है कि मेरा और परमात्मा का यह सम्बन्ध अनादि काल से ऐसा ही था। उसका प्रारंभ भी नज़र नहीं आता। न परमात्मा के सम्बन्ध का अन्त नज़र आता है। उसका बोध यह नहीं है कि परमात्मा के साथ मेरा सम्बन्ध आगे समाप्त हो जायेगा। इसलिये काल की अनंतता है, काल का परिच्छेद नहीं है। संसार के जितने ज्ञान हैं, उनकी उत्पत्ति की तारीख होती है। आज मैंने इस घड़े को देखा, आज मेरा ब्याह हुआ, आज लड़का पैदा हुआ; संसार के सारे ज्ञानों में आदि है। परमात्मा के ज्ञान में आदिता का बोध नहीं रहता। इसी प्रकार संसार के सब ज्ञानों में सान्तता का बोध रहता है कि खत्म हो जायेंगे। परमात्मा के सम्बन्ध में सान्तता का बोध नहीं होता। इसलिये काल का परिच्छेद नहीं है। जैसे काल का परिच्छेद नहीं, ऐसे ही परमात्मा के साथ देश का भी परिच्छेद नहीं है। घड़ा देखोगे तो सामने दिखाई देगा, शब्द बगल से सुनाई देगा, रसगुल्ले का मिठास मुँह के अन्दर आयेगा। संसार के सारे ज्ञान देश से परिच्छिन्न हैं, पता लग जाता है कि इस देश में यह सम्बन्ध हुआ। कान से सम्बन्ध हुआ तो देश को लेकर हुआ, आँख से सम्बन्ध हुआ तो देश को लेकर; जिस-जिस इन्द्रिय से सम्बन्ध हुआ देश को लेकर ही हुआ। संसार के सारे सम्बन्ध किसी देश में होंगे। सबमें देश का परिच्छेद है। घड़ा सामने है, पीछे नहीं, यह परिच्छेद है। घड़े का ज्ञान आँख-रूप देश में हुआ है, यह भी देश का परिच्छेद है क्योंकि कान इत्यादि में नहीं हुआ। हाथ से पकड़ा तो हाथ का परिच्छेद है, और बगल में कहीं हाथ गया तो वहाँ का परिच्छेद है।

परमात्मा के साथ सम्बन्ध होता है तो दोनों परिच्छेद नहीं रहते। परमात्मा सामने दीखता हो और पीछे न दीखता हो, ऐसा नहीं। वह जितना सामने दीखेगा, उतना ही पीछे भी रहेगा, उतना ही अगल में और उतना ही बगल में भी रहेगा। इसीलिये कहते हैं सामने भी वही है, पीछे भी वही है, ऊपर-नीचे जहाँ मन जाता है वहाँ वही है। दायें-बायें दोनों तरफ परमात्मा का ही बोध होगा। सर्वत्र परमात्मा का ही बोध होगा। जब तक परमात्मा को नहीं जानते तब तक अपने मन में यह होता है कि परमात्मा शायद ऊपर रहता होगा और हम नीचे रहते होंगे, पर ऐसा नहीं है। जब परमात्मा का ज्ञान होता है तब पता लगता है कि ऊपर भी वही होता है और नीचे भी वही होता है। इसलिये परमात्मा को लेकर देश का परिच्छेद नहीं है। घट सामने है तो पीछे नहीं, शब्द बगल में होता है तो सामने नहीं है। घड़ा आँख से देखा जाता है, तो कान से नहीं, शब्द कान से सुना जाता है तो जीभ से नहीं सुना जाता। ब्रह्म चूँकि ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब जगह चारों तरफ है, इसलिये ब्रह्म को लेकर देश का परिच्छेद नहीं है। आकाश या वायु भी चारों तरफ, ऊपर-नीचे, बायें-दायें सब जगह होते हैं। उसी तरह परमात्मा भी हो तो उससे परमेश्वर की विलक्षणता क्या रही ? लेकिन आकाश का गुण शब्द है, शब्द का ज्ञान कान से ही होगा। वायु का गुण स्पर्श है, इसलिये वायु का ज्ञान त्वक् (स्पर्शेन्द्रिय) से ही होगा। आकाश का ज्ञान नाक, जीभ, आदि से नहीं हो सकता। वायु का ज्ञान आँख से नहीं हो सकता। लेकिन परमात्मा का ज्ञान अपने शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय से होता है, प्रत्येक कोषा और प्रत्येक अंग से उसका अनुभव होता है। इसलिये न

ब्रह्म को लेकर देश रोकता है और न अनुभव करने वाले को लेकर देश रोकता है। परमात्मा का साक्षात्कार आँख से होता हो, कान से न होता हो, ऐसा भी नहीं है; उसका साक्षात् सर्वतोभावेन होता है।

इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ परमात्मा की व्यापकता बताई, उसके पहले परमात्मा का रूप बताया 'ॐ कं ब्रह्म ॐ खं ब्रह्म।' ख आकश का नाम है, लेकिन आकाश कहने के पहले श्रुति ने 'कं ब्रह्म' कहा। क नाम आनंद का है। आनंद का ज्ञान क्या किसी इन्द्रिय से होता है ? सुख आँख से दीखता हो, कान से न सुनाई देता हो, ऐसा नहीं होता है। या सुख कान से सुनाई देता हो, जीभ से पता न लगता हो, ऐसा भी नहीं। सारी इन्द्रियों से होता है। शरीर के कण-कण और शरीर के प्रत्येक अंग में होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि उस समय रक्तचाप तक में फ़र्क आ जाता है। चिंतातुर आदमी का रक्तचाप ले लो और जब उसकी चिंता हट जाये तब दो-चार मिनट बाद उसका रक्तचाप ले लो तो फ़र्क आ जायेगा। हृदय-गति तक में फ़र्क है। पेट के हाज़मे में फ़र्क है। आनंद की स्थिति समझने की है : भोजन करने बैठे और बढ़िया दाल का हलवा खा रहे हैं। किसी ने आकर कहा कि 'क्लाथ मार्किट में तुम्हारी दुकान में आग लग गई है' तो उस दाल के सीरे से शरीर में खून बनने वाला नहीं है। और, चाहे तुम सूखी बाजरे की रोटी खा रहे हो और कोई आकर कहता है कि 'दस साल से खोया हुआ तुम्हारा लड़का अभी-अभी सड़क से नीचे उतर कर आ रहा है', तो वह बाजरे की रोटी सारे शरीर में लग जायेगी। आनंद किसी एक जगह नहीं होता, प्रत्येक इन्द्रिय

और शरीर के कण-कण को आनंद से भर देता है। कोई मीठी बात कहे तो उस मीठी बात के आनंद को कान से ग्रहण तो किया गया, लेकिन क्या वह कान तक ही सीमित रहता है ? आँखें नाच उठती हैं, मुँह मुस्करा देता है, शरीर का अंग-अंग प्रसन्न हो जाता है। अपने प्रिय पुत्र को देखने पर ग्रहण आँख से किया लेकिन शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय, प्रत्येक अंग प्रसन्न हो जाता है, केवल आँख प्रसन्न नहीं होती। इसीलिये श्रुति ने कहा 'कं ब्रह्म'—प्रमाता की दृष्टि से परमात्मा 'क' आनंदरूप होने से तुम्हारा जो पूरा सप्तदश अंगों वाला सूक्ष्म शरीर है और पंचमहाभूतों का मर्म-संधियों वाला स्थूल शरीर है, वह सारा उस आनंदात्मक ब्रह्म को ग्रहण करता है, चारों तरफ सर्वत्र ग्रहण करता है। इसीलिये आगे श्रुति ने 'ॐ खं ब्रह्म' कहा। अगर केवल प्रमाता की दृष्टि को लेकर 'ॐ कं ब्रह्म' कह देते तो सांसारिक बाह्य पदार्थों का जो आनंद आता है, वह उससे ग्रहण नहीं होता। रसगुल्ला मुँह में आता है तब भी तो शरीर प्रसन्न हो जाता है। प्रमाता की दृष्टि से तो व्यापकता है लेकिन प्रमेय की दृष्टि से तो जीभ पर ही सुख है। 'खं ब्रह्म' इसलिये कहा कि प्रमाता की दृष्टि से भी सर्वत्र है और प्रमेय की दृष्टि से भी सर्वत्र वह आनंद है।

संविद्रूप भगवती आधार हुई और जो व्यापक आनन्दरूपता है, व्यापकता, असीमता है, यह अधिष्ठान है। जब इस अधिष्ठान का ज्ञान होता है, असीमता का ज्ञान होता है तब मृत्यु के सारे पाश कट जाते हैं। ससीमता हटाने का उपाय असीमता का अनुभव है। इस अधिष्ठान के रूप को किस प्रकार से अग्नि से प्रदीप्त और प्रज्वलित किया जाता है, वह आगे बतायेंगे।

प्रवचन-४०

भगवती श्रुति पुरुषयज्ञ का वर्णन कर रही है। यज्ञ के फलस्वरूप तीन चीज़ों की निवृत्ति और तीन चीज़ों की प्राप्ति बताई। तीन चीज़ों के हटने और तीन चीज़ों के मिलने से 'तान् यज्ञस्य मायया सर्वान् अवयजामहे' यज्ञ की माया अर्थात् शक्ति से जितने भी पाश हैं उन सब को नष्ट कर देता है, काट देता है। उन पाशों के कटने का प्रकार क्या है, यह आधार और अधिष्ठान के भेद से बताना प्रारंभ किया था।

यज्ञ के अन्दर किस प्रकार की आहुति पड़ी हुई इनको नष्ट करती है ? 'तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतम्।' भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद भगवती के अपने स्व अधिष्ठान के बारे में कहते हैं। इसमें *स्व* भगवती का आधार-रूप है। आपका अधिष्ठान अर्थात् आप जहाँ रहती हैं। स्थान का मतलब रहना ही होता है। लोक में भी कहते हैं कि आपका स्थान कौन-सा है अर्थात् आप रहने वाले कहाँ के हैं। 'अधि' के आगे 'स्थान' पड़ा तो 'अधिष्ठान' बना। 'अधि' का मतलब है अधिकारपूर्वक। जहाँ रहते हो, वहाँ दो प्रकार से रह सकते हो— किसी मित्र के घर जाकर मेहमान बनकर रहते हो, उस समय कोई पूछे कि 'तुम्हारा स्थान कौन-सा है ?' तो उस मित्रका ही पता बताओगे क्योंकि वहीं रह रहे हो। लेकिन उसको तुम्हारा *अधिष्ठान* नहीं कह सकते, क्योंकि तुम अधिकारपूर्वक नहीं रहते हो। वहाँ अधिकार किसी दूसरे का है और दूसरे के अधिकार

को निमित्त बनाकर उसके अधिकार के कारण तुम रह रहे हो। रहना दो प्रकार का हुआ—एक अधिकारपूर्वक रहना और एक किसी दूसरे के निमित्त से रहना।

याद रखना कि यहाँ अधिक रहना या कम रहना नहीं कह रहे हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य जहाँ अधिकारपूर्वक रहता है, वहाँ रह भी नहीं पाता; जैसे कलकत्ते में अनेक सेठ लोग हैं जिन्होंने मारवाड़ में अपने गाँव में बढ़िया आलीशान चार तल्ले के मकान बना रखे हैं। हम बीकानेर के पास नापासर जाते हैं, वहाँ सेठों के बड़े-बड़े मकान हैं और उनके अन्दर सिवाय चूहों के और कोई नहीं रहता ! क्योंकि मालिक लोग जब कोई ब्याह-शादी हो तभी उस मकान में आकर रहते हैं, नहीं तो कलकत्ते में ही रहते हैं। नापासर में जो लोग रहते नहीं, फिर भी इतने बड़े आलीशान मकान बना रखे हैं तो सोचो कि कलकत्ते में जहाँ वे दसों सालों से रहते हैं, वहाँ बड़े भारी महल बनाये होंगे! तो निराश ही होना पड़ेगा। कलकत्ते में देखोगे तो अंधेरी गली में चारों तरफ कीचड़ के बीच में मकान है और वह भी अपना नहीं, किराये के दो कमरे लेकर गुजारा निकालते हैं! पूछो, 'अपने गाँव में क्यों नहीं रहते ? वहाँ तो तुम्हारा बड़ा आलीशान मकान देखा है।' कहते हैं 'कमाई यहाँ होती है।' बहुत सालों में एक दिन भी अपने अधिष्ठान में जाकर नहीं रह पाते। फिर भी अधिष्ठान वही है जो मकान उन्होंने अपने गाँव में बनाया है और चाहे सालों तक लगातार कलकत्ता रह जायें लेकिन वह *स्थान* ही रहेगा, *अधिष्ठान* नहीं बनेगा। इसलिये जहाँ जो ज़्यादा रहता है, वह उसका अधिष्ठान है, ऐसा नहीं। कम रहने पर भी जहाँ अपना अधिकार

है वही अधिष्ठान है। पता कब लगता है ? जब कलकत्ते में लड़ाई दंगा होता है तब दो सौ साल लगातार वहाँ रहने के बाद भी वे वहाँ पराये और परदेसी माने जाते हैं। वहाँ के रहने वाले बंगाली कहते हैं 'तुम यहाँ से निकल जाओ।' ऐसा क्यों कहते हैं ? क्योंकि वह उनका अधिष्ठान नहीं है। अपने गाँव में जाकर रहने के बाद कोई नहीं कहेगा कि 'तुम यहाँ से निकल जाओ।' यही अधिष्ठान और स्थान में फ़र्क है। अपने गाँव में जाकर रहते समय अधिकार होगा, इसलिये अधिष्ठान है और यहाँ अधिकार नहीं है, इसलिये इसे स्थान कहेंगे।

इसी प्रकार से न जाने कब से, अनादि काल से आज तक तुम संसार के साथ ही रहते आये हो लेकिन संसार के साथ अनादि काल से आज तक रहने पर भी यह संसार तुम्हारा स्थान है, अधिष्ठान नहीं है। यहाँ तुम्हारा अधिकार कुछ नहीं है। जिस शरीर को लेकर बैठे हो, उसके ऊपर भी तुम्हारा अधिकार नहीं है। कब यहाँ से निकाल-बाहर किये जाओगे, कुछ पता नहीं है। जिन इन्द्रियों को अपना समझते हो, उन पर भी अपना अधिकार नहीं है। कब आँख, कान आदि बन्द हो जायेंगे, कुछ पता नहीं है। अचानक ही बन्द हो जाते हैं। जिस मन को अपना स्वरूप समझते हो, जिसमें रात-दिन रहते हो, क्या उस पर तुम्हारा अधिकार है? बड़े ज़ोर से गुस्सा आया, मालिक को डाँट दिया। मालिक ने नौकरी से निकाल-बाहर किया। और दूसरी जगह नौकरी मिलने की सम्भावना नहीं है। घर आने पर पत्नी कहती है—'भले मानस, अभी तो लड़की के ब्याह के लिये पचीस हज़ार का कर्जा लिया है, यह क्या कर आये ?' कहता है—'क्या बताऊँ, समझता तो

हूँ गलती की लेकिन न जाने उस समय मेरे मन को क्या हो गया था।' मतलब है कि यह मन भी मेरे नियंत्रण में नहीं था। जानते हो कि 'क्रोध नहीं करना, क्रोध करके मालिक से नहीं बच सकेंगे', लेकिन फिर भी मन क्रोध कर गया। यदि मन तुम्हारा अधिष्ठान होता तो क्या इस प्रकार धोखा दे सकता था ? इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन कोई चीज़ ऐसी नहीं जहाँ तुम्हारा अधिकार चले।

कहाँ अधिकार चलेगा ? जो अपना अधिष्ठान है अर्थात् परमात्मा है। संसार के साथ अनादिकाल से रहने पर भी उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं है क्योंकि वह तुम्हारा अधिष्ठान नहीं है। परमात्मा के साथ तुम चाहे कभी नहीं रहे हो लेकिन है वह तुम्हारा अधिष्ठान ही। इसलिये परमात्मा के ऊपर तुम्हारा अधिकार निर्बाध है, कभी नहीं हटने वाला है। परमात्मा से धक्का खाकर कभी दूर नहीं जाओगे। यही अधिष्ठान और स्थान का फ़र्क है।

यहाँ भगवान् भाष्यकार भगवती से कहते हैं—हे भगवती ! आपका स्व-अधिष्ठान परमात्मा है। आधार सत् और चित् हुआ। सत् और चित् जीव में मिलते हैं, इसीलिये जीव आधार हुआ। सत्-चिद्रूप जीव भ्रमकाल में है और ज्ञान काल में भी है, इसलिये सत् और चित् हुआ जीव आधार है। भूमा आनंदरूप अधिष्ठान है, क्योंकि जब अनंत और अखण्ड आनंद का ज्ञान होता है तब अल्परूप वाले जीव-जगत् नष्ट हो जाते हैं। इस अधिष्ठान की विशेषता है कि इस में 'हुतवह' रहता है। हुतवह अग्नि को इसलिये कहते हैं कि 'हुत' का मतलब है जो आहुति डाली जाये, चढ़ाई हुई आहुति, उसे 'वह' अर्थात् ढोती है; अग्नि में जब आहुति दी जाती है तो जिस देवता के निमित्त वह आहुति दी गई है अग्नि

उस आहुति को ढोकर उस देवता तक पहुँचा देती है। जैसे तुमने घी अग्नि में डालकर बोला 'इन्द्राय स्वाहा'; अग्नि में यह आहुति दी तो अग्नि उस घी को लेकर इन्द्र तक पहुँचा देती है। इसलिये अग्नि को हुतवह कहते हैं। यह जो अधिष्ठान तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है, इसमें किस चीज़ की आहुति डालोगे ? जो कुछ अपना है अर्थात् देह, प्राण, मन, इन्द्रिय, अहंकार; यह सब परमात्मा में आहुति डालने के योग्य है। इसीलिये यह हुत हो गया। परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये केवल घी की आहुति से काम नहीं चलेगा! उससे देवताओं का काम तो चल जायेगा।

लोक में भी आँख को संतोष तो रूप से हो जायेगा लेकिन आत्मा को संतोष केवल रूप से नहीं होगा। बढ़िया सुन्दर रसगुल्ला सामने लाकर रख दो और कहो कि 'तुम्हारी मर्ज़ी जितनी देर तक देखते रहो लेकिन खा नहीं सकते' तो तृप्ति नहीं होगी। आँख की तृप्ति चाहे देखने से हो लेकिन जीवात्मा की तृप्ति खाली देखने से नहीं होगी। खाली खाने से भी तृप्ति नहीं होती : भोजन सामने आया और तुम्हारी आँख पर पट्टी बाँध रखी है कि 'देखने नहीं देंगे कि क्या खा रहे हो' तो सब समय यही इच्छा होती रहेगी कि 'देखते तो सही कि क्या खा रहे हैं।' बढ़िया से बढ़िया गरम हलुआ है लेकिन उसका रंग काला है, बढ़िया कढ़ी बनी है लेकिन उसमें हल्दी डालना भूल गये; स्वाद वही है, लेकिन रंग-रूप में फ़र्क है। केवल खाने से भी नहीं, केवल देखने से भी नहीं और केवल सुनने से भी तृप्ति नहीं होती। किसी चीज़ का गुण बताते रहो लेकिन खाने को न दो तो संतोष नहीं होगा और बिना सुने भी संतोष नहीं होता। अगर तुमको बढ़िया से बढ़िया खाने को

भी दें, देखने को भी दें, कोई रुकावट नहीं, लेकिन हम सुनाते रहें कि 'मेरा दिया खा रहा है, नालायक है, किसी काम को नहीं करता है'; तो भी तृप्ति नहीं हो सकती, खाने से नहीं रोक रहे हैं, खूब आनंद से खाओ और देखते भी रहो, लेकिन कहते जा रहे हैं कि 'जब से पैदा हुआ है माँ को दुःख ही दुःख दे रहा है', तो तृप्ति तक नहीं खा सकता। अगर मधुर बातें कहो तो उस खाने में रस भी आ जाये। इससे सिद्ध हुआ कि एक-एक विषय के द्वारा एक-एक इन्द्रिय की तृप्ति तो हो सकती है लेकिन जीवात्मा की तृप्ति तब होगी जब सारी इन्द्रियाँ संतुष्ट हो जायें। जब जीवात्मा की यह बात है तो परमात्मा का क्या कहना है! परमात्मा किसी एक कार्य, या एक इन्द्रिय या एक मन-बुद्धि से प्रसन्न होने वाला नहीं है बल्कि यह जितना भी जीव का स्वरूप है, शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और अहंकार पर्यन्त, सब परमात्मा के लिये आहुति के योग्य है, सब परमात्मा को चढ़ाना पड़ेगा। इसलिये यह हुत हुआ।

परमात्मा हुतवह है। जो-जो चीज़ तुम परमात्मा को चढ़ाओगे, परमात्मा उस चीज़ को पुनः तुम्हीं को प्राप्त करा देगा, यह उसकी हुतवहता है। परमात्मा तुमसे कुछ नहीं लेगा। सब कुछ लिया हुआ तुमको वापिस करेगा लेकिन दिव्यभाव से युक्त होकर वापिस करेगा। तुम्हारा मर्यभाव है, तुम्हारे जितने इन्द्रिय, देह, प्राण हैं सब मरणधर्मा हैं। इन्हें परमात्मा को चढ़ाओगे तो परमात्मा तुम्हें वापिस करेगा, लेकिन अमरणधर्मा बनाकर वापिस करेगा। तुम्हारे सारे साधन दुःख-प्राप्ति कराने के लिये हैं। मन, बुद्धि इत्यादि इन्द्रियाँ दुःख ही देती हैं। इन्हें परमात्मा को चढ़ाओगे तो परमात्मा

तुमको इन्हें वापिस करेगा, लेकिन सुख पहुँचाने के लिये, आनंद से भरकर वापिस करेगा, तुम दिव्यभाव से युक्त हो जाओगे। शास्त्रों में कई जगह आता है कि मनुष्य का शरीर तब परिवर्तित हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है कि मनुष्य की इन्द्रियों का रूप भी बदल जाता है। शरीर के वर्ण तक में परमात्मा परिवर्तन ला देता है। मनुष्य की जितनी कर्मेन्द्रियाँ, बोलना, चलना, पकड़ना इत्यादि हैं, सब के अन्दर दिव्यभाव का आवेश हो जाता है। सब में परिवर्तन हो जाता है।

यह परिवर्तन क्यों होता है ? घी की जो आहुति हमने डाली, वह घी की आहुति अग्नि ने इन्द्र को जाकर पहुँचाई, लेकिन वह आहुति घृतरूप में नहीं, अमृतरूप में पहुँचाती है क्योंकि देवता अमृत खाते हैं, दूसरी कोई चीज़ देवता ख़ाते नहीं हैं। तुम्हारे डाले हुए मरणधर्मा घी को अमृत बनाकर, अमरणधर्मा बनाकर अग्नि ने इन्द्र तक पहुँचा दिया। तुम्हारी तबियत खराब है, तुमने मृत्युंजय मंत्र से अभिषेक करवाया, पानी का अभिषेक किया जो झट से नष्ट होने वाला है, क्योंकि पानी मरणधर्मा है। उस पानी को चढ़ाने के कारण भगवान् शंकर ने उस पानी को अमरणधर्मा बनाकर मृत्यु से तुम्हारी रक्षा की। जो अभिषेक का काम तुमने किया वह तो नष्ट होने वाला है लेकिन उसके द्वारा तुमको जीवनदान मिला। वैद्य आकड़ा, धतूरा, साँप के जहर आदि लेता है, उस जहर को पकाकर ऐसा तैयार करता है कि वह बजाय तुम्हें मारने के जो रोग तुम्हें मार रहा है, उस रोग को मारकर तुम्हें बचा लेता है। वैद्य ने विष लिया और उसे अमृत बना दिया। जो लिया वह मरण-धर्मा है, उसे अमरणधर्मा बनकार तुम्हें दे दिया। इसीलिये परमात्मा

को 'हुतवह' कहा। जैसे अग्नि या वैद्य घृत या विष को लेकर उसे अमृत बना देते हैं, इसी प्रकार परमात्मा तुम्हारे मरणधर्मा देह, प्राण, मन, बुद्धि इन्द्रिय इत्यादि लेकर उसे अमरणधर्मा बना देता है। जो पहले तुम्हें दुःख देने वाला था, वह अब तुम्हारे लिये आनंद का साधन हो जाता है। जो पहले तुमको नष्ट करने वाला था, वही तुमको फिर जीवनदान देने वाला हो जाता है।

वस्तुतः इन्द्रियाँ क्या करती हैं ? इन्द्रियों से तुमको नानात्व का ज्ञान होता है। पदार्थों का भेद दिखाने वाली चीज़ इन्द्रियाँ हैं। भेद-दर्शन ही मृत्यु है। जब चीज़ को अलग-अलग जाना तो मृत्यु हुई। इन्द्रियाँ चीज़ों को अलग-अलग दिखाती हैं। पहले चीज़ें तुम्हें इन्द्रियों के द्वारा नाना दीखती हैं और परमात्मा से सम्बन्धित होने के बाद उन्हीं इन्द्रियों से तुम्हें परमात्मा की अक्षुण्णता दीखेगी। कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं कि अब तक तुम रूप देखते थे तो रूप वाला दीखता था, रस चखते थे तो रस वाला रसगुल्ला दीखता था। मैंने जो तुमको ज्ञान दिया उससे रूप भी दीखेगा और रूप वाला भी दीखेगा लेकिन 'येन रूपं'—जिसके कारण वह रूप वाला और तुम रूप देखने वाले बने हो, वह भी अब तुम्हारे ख्याल में रहेगा। वही तो परमात्मा है जिसकी शक्ति से सामने जगत् है और देखने वाला जीव है; ये दोनों उसकी शक्ति से हैं। इसी प्रकार सारी इन्द्रियों के विषय में समझ लो; यदि परमात्मा न हो तो बाहर का जगत् भी नहीं हो और देखने वाला जीव भी न हो। बाहर के जगत् को अपरा प्रकृति से और अन्दर के जगत् को, देखने वाले को परा प्रकृति से बनाता है। जब परमेश्वर है तभी परा-अपरा दोनों प्रकृतियाँ

हैं। 'एतेनैव विजानाति' इस परब्रह्म परमात्म-तत्त्व के कारण ही सारे पदार्थों का विज्ञान होता है। जब इस बात को समझोगे तब इन्द्रियाँ फिर भेद-दर्शन की जगह अभेद-दर्शन करायेंगी, बार-बार उसी को याद दिलायेंगी। यमराज कहते हैं, हे नचिकेता ! जब तक परमात्मा तुमसे भिन्न है, तुम्हें उससे अभिन्नता का अनुभव नहीं होता, तब तक इन्द्रियों के द्वारा वह तुमसे अलग रहता है। लेकिन जब तुमने उसको अपने साथ एक करके, मिलाकर समझ लिया, तब वे ही इन्द्रियाँ परमात्मा को ही प्रकट करती हैं। इसीलिये 'विजानाति' अर्थात् अनुभव कर लिया, परमात्मा से अभिन्नता का अनुभव कर लिया, उसके लिये क्या फिर कुछ भी बच जाता है ? सब कुछ 'हुतवह' हो गया।

अग्नि में डाली हुई आहुति के बाद केवल अमृत ही बचता है। होम करते हो तो उसमें तुमने तिल, जौ, चावल की आहुति दी, उसी में तुमने घी, शहद, इत्यादि भिन्न-भिन्न चीज़ों की आहुति दी। तरह-तरह की आहुति पड़ती है। किसी ग्रह के लिये पलाश की, किसी के लिये खैर की आहुति देते हो। अलग-अलग ग्रहों और देवताओं के लिये अलग-अलग आहुतियाँ होती हैं। किसी के लिये दूध की, किसी के लिये दही की, किसी के लिये आमीक्षा की आहुति, कोई बेचारा बिना दाँत वाला देवता है जैसे पूषा देवता, वीरभद्र ने उनके दाँत तोड़ दिये थे, इसलिये 'अदंतो वै पूषा', उनके लिये बिल्कुल उबालकर मुलायम बनाकर दलिये की आहुति देनी पड़ती है, क्योंकि उनके दाँत नहीं हैं। ये सारी भिन्न-भिन्न आहुतियाँ तुमने डालीं, लेकिन हवन के बाद वहाँ हवन-कुण्ड में क्या बचा ? कुछ भी नहीं बचा, वह सारा अमृत बनकर तत्तत्

देवताओं के पास पहुँच गया।

अथवा मोटी दृष्टि से समझ लो कि किसी ने तुम्हें भोजन का निमंत्रण दिया। उसने बढ़िया भोजन बनाया, पनीर डालकर छोले-भठूरे बनाये, काला-जाम बनाया, दाल का सीरा बनाया, पकोड़े बनाये, मटर-पनीर का साग, आलूदम बनाया। थाली में सब बढ़िया सुन्दर सजकर तुम्हारे सामने आया और तुम भोजन करने लगे। क्या हो रहा है ? हर-एक की आहुति लग रही है। पेट में जाकर सब एक हो जाना है! यह सारे का सारा भेद जीभ तक ही है, जीभ के नीचे उतरने के बाद केवल एक चीज़—वजन ही रहना है। पेट में कितना वजन पड़ा, इतना ही भान रहना है, पेट में किसी का अलग-अलग भान नहीं होता, सब एक हो गये। सारी थाली का माल साफ कर दिया, खूब डटकर खा लिया। हाथ-पैर धोकर जा बैठे। इस सारे भोजन के तरीके से 'किमत्र परिशिष्यते' क्या बचा ? आनन्द ही बचा। छोले-भठूरे, मटर-पनीर का साग इत्यादि कुछ नहीं रहा। ये सब के सब पेट में जाकर नष्ट हो गये लेकिन इनसे उत्पन्न होने वाला आनंद बना रहा।

इसी प्रकार जब जिस इन्द्रिय को तुम परमात्मा के अर्पण करते चले गये तब वह इन्द्रिय नहीं बच गई, केवल उन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले परमात्मा का चैतन्य प्रकाश ही बच गया। वही भूमारूप, आनंदरूप है। इसी को यहाँ परमात्मा की हुतवहता बताई। लोक में भी कहते हैं कि जो-जो चीज़ परमात्मा को देते जाते हो, वह अनंत गुणा होकर वापिस आ जाती है। अनंतगुणा होकर चीज़ वापिस आ जाये तो बड़ी मुश्किल पड़ जाये! थोड़ी-सी विचार की बात बतायेंगे; तुमने परमात्मा को अनारदाने की आहुति दी और

अनंतगुणा अनारदाना तुम्हारे घर में आकर बैठ जायेगा तो तुम रहोगे कहाँ ! उतने अनारदाने का क्या करोगे ? कोई घी तो है नहीं जो रात-दिन खा सको। या खैर की लकड़ी की आहुति दी और अनंतगुणा होकर घर में खैर की लकड़ी ही भर जाये तो उससे क्या होगा ? अतः विचार करना चाहिये; अनंतगुणा तो एक ही चीज़ है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।' भगवान् सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि भूमा अर्थात् अपरिच्छिन्न आनंद ही अनंत है। 'नाल्पे सुखमस्ति' अल्प अर्थात् परिच्छिन्न में कोई सुख होने वाला नहीं है। इसलिये वह चीज़ अनंतगुणा होकर नहीं आती, उसके बदले अनंत आनंदरूप परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। जो-जो चीज़ परमात्मा को दी जाती है, वह दिव्य चीज़ बनकर वापिस आ जाती है। वह मिलती तुम्हें ही है लेकिन वह अब तुम्हारा रूप न रहकर परमात्मा का रूप हो गई। वह अनंत और अखण्ड आनंद में हमें मिलता है लेकिन मिलने में यह भान नहीं कि 'मुझे कुछ मिला।' क्योंकि सब परमात्मा ही है, मिलने वाला भी परमात्मा और जिसे मिल रहे हैं वह भी परमात्मा। दोनों की अखण्डता, अद्वितीयता और एकता का भान रहता है। जैसे अग्नि सारे भेदों को जला देती है और अंत में राख ही बच जाती है; ऐसा नहीं कि राख में कुछ भेद होता हो कि यह तिल की राख है और यह चावल की राख है; उसी प्रकार परमात्मा सारे भेदों को नष्ट करके केवल एक आनंद ही रख देता है, आनंद ही बच जाता है। यह हुतवह का काम है।

इस हुतवह को 'अधिष्ठाय' यह जो हुतवह परमात्मरूप अग्नि है, इसी को अपना अधिष्ठान बनाया। भगवती और जीव में बस

इतना ही फ़र्क है। भगवती के लिये तो 'तव स्वाधिष्ठाने' वह अधिष्ठान है, वह तो जानती है। लेकिन हमें अभी अधिष्ठान बनना है। है तो जीव का भी वही अधिष्ठान लेकिन जीव ने उसे स्वीकार नहीं कर रखा है। बहुत-सी चीज़ें मानने से फल देती हैं और नहीं मानने से फल नहीं देती हैं। वह कौन-सी चीज़ है? अभी कलकत्ते का ही दृष्टांत बताया। कलकत्ते में रहने वाले को पहले कहते थे कि 'तुम्हारे देश में, गाँव में बगीची खराब हो रही है, थोड़ा चन्दा दो' तो कहते थे कि 'हम कौन वहाँ जाते हैं! वहीं वालों से चन्दा लो।' क्योंकि अपने गाँव को वे अपना अधिष्ठान समझते नहीं थे। अब जब कलकत्ते के बंगालियों ने कहना शुरू किया कि 'यहाँ से बाहर निकलो' तो अब भान हुआ कि वहाँ बगीची बनाई होती तो सुख से रहते। कलकत्ते में बनाया हुआ मकान किसी काम का नहीं। थे तो उस समय में भी उसी गाँव के रहने वाले लेकिन न मानने के कारण उसके सुख को नहीं ले पाये। इसी प्रकार जीव का अधिष्ठान है तो परमात्मा ही, उस परम महेश्वर के सिवाय जीव का और कोई अधिष्ठान नहीं है, लेकिन जीव ने उसे स्वीकार नहीं कर रखा है, इसलिये अलग-अलग चीज़ को, शरीर, मन, प्राण, आदि को अपना अधिष्ठान मानता है। इतना ही नहीं शरीर के रिश्तों को भी अपना रिश्ता मानता है। जैसे यह मेरा बेटा, मेरी बेटी, मेरा पति, मेरी पत्नी, मेरे पिता, मेरी माता इत्यादि। इसलिये शरीर को ही नहीं शरीर के संबंधियों को भी अपना अधिष्ठान मानता है। चूँकि उनको अपना अधिष्ठान मानता है, इसलिये हमेशा उनके काम में लगा रहता है। जैसे मारवाड़ के सेठ कलकत्ते में मकान बनाने

में लगे रहे, ऐसे ही यह देह और देह के रिश्तों को ठीक करने में बेचारा परेशान है और उन्हीं के पीछे लगा रहता है।

इन सबके लिये चाहे जो कर ले, अंत में इसे धक्का ही मिलना है जैसे कलकत्ते के सेठों को वहाँ से धक्का मिला। जिन बच्चों के लिये टट्टी-पेशाब में लेटेगा, खुद न खाकर उनको खिलायेगा, सिर दर्द कर रहा होगा, बुखार आया हुआ होगा लेकिन बेटी बाहर से पढ़कर आ रही है तो उसके लिये रोटी बनाकर रखोगे, और यह सब करने के बाद बेटे-बेटी को क्या कहना है ? धीरे से भाई बहन से कहेगा 'माँ को समझ नहीं आती।' यह संसार का रूप है, इसमें बुरा नहीं मानना चाहिये। यह धक्का देना ही तो हुआ। इतना ही नहीं, अगर इस प्रकार से धक्का नहीं भी दिया तो भी एक दिन तुमको छोड़कर जायेंगे। यह भी धक्का देना ही है। जिस बेटे के लिये तुम रात-दिन जगे, एक दिन वह मुँह मोड़कर चला गया। कहते हो 'यमराज जबरदस्ती ले गया।' इसीलिये ले गया कि वह तुम्हारा अधिष्ठान नहीं था, उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं था। जितना भी परिश्रम इन सबके लिये कर लें, उस सब परिश्रम के अंत में केवल एक धक्का ही मिलना है। यह पक्का निश्चय याद करके रखना, और कुछ नहीं मिलना है। फिर भी मनुष्य उनके लिये रात-दिन प्रवृत्तिशील है अर्थात् लगा रहता है।

और जिस परमात्मा ने कभी तुम्हारा हाथ नहीं छोड़ा, जो तुम्हारा अधिष्ठान है, उसके लिये तुम क्या करते हो ? यदि मारवाड़ के सेठों ने अपने गाँव में मकान बनाया होता तो हमेशा उनके काम में आता। जो कुछ अपना छोटा-मोटा मकान बनाया है, वही अंत में काम आता है। इसी प्रकार संसार में जो कुछ किया, उसके

बदले कुछ नहीं मिला। यदि जीवन में घण्टा, आधा घण्टा, मिनट आधा मिनट भी परमात्मा के लिये देते हो तो वह निवेश तुम्हारा दृढ रूप से निश्चित हो गया। तुम क्या करते हो ? संसार के सारे पदार्थों के लिये परमात्मा को धक्का देते रहते हो। कोई भी काम आया तो सबसे पहले परमात्मा के काम को ही रोकते हो। आज जप नहीं किया, क्योंकि मिलने वाले आ गये थे; आज जप नहीं किया, क्योंकि लड़के का ब्याह था; आज घरवाली बीमार थी; आज जप नहीं किया क्योंकि मुकदमे की फाईल देखनी थी। जिस अधिष्ठान के ऊपर बनाया हुआ मकान काम में आना है, उसकी तरफ तो दृष्टि ही नहीं है। संसार में जो बनाओगे वह कुछ सहारा देने वाला नहीं है, फिर भी मनुष्य सारा परिश्रम करके संसार बनाता रहता है। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि विचारपूर्वक आत्मा में इसी अधिष्ठान को बनाओ। यह जो हुतवह परमात्मा है जो सब-कुछ नष्ट करके केवल आनंद और अनंत रूप देने वाला है, केवल उसी को अपना अधिष्ठान समझो। उसी के ऊपर अपना सब कुछ अर्पण करो तो काम बड़ी सरलता से बनेगा।

प्रवचन-४१

पुरुषयज्ञ में पुरुष ही यज्ञ का प्रधान पशु है। प्रधान बलि पुरुष की है, इसीलिये पुरुष और यज्ञ को एक करके बताया। उस पुरुष-पशु की बलि का प्रकार क्या है ? भगवती की स्तुति

के आधार पर पुरुष के दो धर्म बताये—आधार और अधिष्ठान। जीव आधार है और ईश्वर अधिष्ठान है। जगत् अध्यस्त है। जगत् और ईश्वर के बीच में जीव है, वह जगत् को भी विषय करता है और ईश्वर को भी विषय करता है। जब तक जीव जगत् की ओर जाता है तब तक वह जीव कहा जाता है और जब वही ईश्वर की तरफ जाता है, तब ब्रह्मरूप बन जाता है। जगत् और ईश्वर—दोनों भावों को प्राप्त करने वाला जीव है। अधिष्ठान की दृष्टि में अध्यस्त नहीं, अध्यस्त की दृष्टि में अधिष्ठान नहीं है। आधार की दृष्टि में दोनों हैं।

अधिष्ठान की दृष्टि कैसे बने ? अपने आप की आहुति देनी होगी। 'देहं प्राणमपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च' इन सबको जब हुत कर देते हैं तब परमात्मा उसके बदले में अनंत आनंद को ढोकर अमृतरूप से हमें देता है। वह ढोकर कैसे देता है ? 'हुतवहम् अधिष्ठाय निरतम्' वह परमात्मा *निरत* है। रति का मतलब होता है प्रेम। किसी चीज़ में प्रेमपूर्वक लगने को उसमें रत होना कहते हैं। संस्कृत में और भाषा में र-ल का अभेद हो जाता है। रत को भाषा में 'लत' कहते हैं, 'इस आदमी को इस बात की लत लग गई' अर्थात् उस चीज़ के साथ उसका प्रेमपूर्ण सम्बन्ध हो गया। किसी कार्य में लगना दो प्रकार से होता है—एक, किसी बाह्य दबाव के कारण और दूसरा, आंतरिक दबाव के कारण अर्थात् प्रेम के कारण। किसी भी काम में आदमी पूरी तरह से दो कारणों से लगता है। बाह्य कारण प्रबल होने पर इच्छा न होने पर भी मनुष्य उस काम में लग जायेगा। जैसे अगर लड़की की शादी समय से नहीं हो तो लोग क्या कहेंगे—यह बाह्य दबाव हुआ।

अन्दर के दबाव को रति कहते हैं, बाहर के दबाव को रति नहीं कहते। बाहर के दबाव को संस्कृत में विधि कहते हैं और साधारण भाषा में कर्तव्य कहते हैं। कर्तव्य कहो या विधि, वहाँ दबाव देने वाला अपने से भिन्न है। जहाँ रति होती है, वहाँ अपने से भिन्न दबाव देने वाला नहीं है।

अंग्रेज़ी में जिसे 'कान्श्येन्स' कहते हैं, हमारे यहाँ दार्शनिक भाषा में उसी को 'नियोग' कहते हैं। हिन्दी वाले इसे 'अन्तश्चेतना' कहते हैं। वस्तुतः इसका प्राचीन शब्द नियोग है। विदेशी लोग इस नियोग (कान्श्येन्स) को ही सब शुभ कर्मों के प्रति कारण मानते हैं, क्योंकि उनका ईश्वर हृदय में नहीं रहता। उनका ईश्वर तो किसी तीसरे या सातवें आसमान में रहता है। इसलिये कर्तव्य के प्रति दबाव हमेशा बाहर से ही आयेगा। वैदिक का अन्य सारे मतावलम्बियों के साथ आधारभूत भेद यह है कि वैदिक कहता है कि ईश्वर हृदय में रहता है। नियोग और विधि वेद भी मानता है लेकिन वह कहता है कि जब तक कान्श्येन्स के दबाव से कार्य करते हो तब तक तुमने उस वास्तविक तत्त्व को नहीं पाया। इसी को लेकर पाश्चात्य देशों में गत सौ वर्षों से बड़ा तहलका मचा हुआ है, क्योंकि वे लोग यह मानते हैं कि ऊपर से आने वाली परमात्मा की इच्छा और तुम्हारी इच्छा इन दोनों में आपस में विरोध है; चाहे परमात्मा कहें चाहे समाज कहें। मनोविज्ञान में उसे 'इड' और 'सुपर ईगो' (Id and Super Ego) कहते हैं। नियोग से जो कार्य करते हैं वह 'सुपर ईगो' और इच्छा से जो कार्य करते हैं वह 'इड' (Id) है। प्राचीन धार्मिक साहित्य में उसी को उन लोगों ने ईश्वर और शैतान की प्रेरणा का नाम दिया और

कहा कि शैतान अपनी तरफ और ईश्वर अपनी तरफ खींचता है। इस समस्या का वास्तविक हल यह है कि यदि जीव और ईश्वर दो हों तो इनका युद्ध कभी समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि तुम्हारा जीवभाव तुमको एक तरफ और तुम्हारा ईश्वरभाव तुमको दूसरी तरफ खींचेगा और इस रस्साकशी में सिवाय दुःख के और कुछ मिलने वाला नहीं है।

वेदांत कहता है कि जीव और ईश्वर दो नहीं हैं, इसलिये 'इड' और 'सुपर ईगो' दो अलग चीज़ें नहीं हैं। गलती से किसी चीज़ में तुम्हारा मन लगा है, ज्ञान हो जाने पर तुम्हारा मन वहाँ से हट जायेगा। इसलिये हमारा जो आदर्श है उसे यहाँ 'निरत' पद से कहा है। कर्तव्य, विधि, नियोग, 'कान्श्येन्स' के द्वारा प्रवृत्ति नहीं, बल्कि आंतरिक प्रेम से प्रवृत्ति होनी चाहिये जिससे कर्म को करने में स्वयं को प्रसन्नता होती है। उन्नत पुरुष का लक्षण है कि बिना किसी बाह्य दबाव के सारी सामर्थ्य होने पर भी वही कार्य करता है जो दूसरे लोग कर्तव्य और विधि के दबाव से करते हैं। बाह्य क्रिया कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी की भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। कर्मकाण्डी उस कर्म को दबाव से करता है, इसलिये परिच्छिन्न पुण्य प्राप्त करता है। ज्ञानकाण्डी उसी को निरत होकर करता है, उससे प्रेम करके करता है, इसलिये उसे अनंत फल की प्राप्ति होती है। दोनों की बाह्य क्रिया में फ़र्क नहीं है।

एक ही क्रिया में सांत और अनंत फल देने की सामर्थ्य कैसे आ गई ? बताते हैं : संग्रहणी के रोग के अन्दर दूध जहर है लेकिन वैद्य संग्रहणी के रोग में ही पर्पटी के द्वारा पंद्रह-सोलह सेर तक दूध पिला देता है और रोग ठीक हो जाता है ! पर्पटी से

युक्त दूध संग्रहणी को ठीक करता है और पर्पटी से रहित दूध उसी संग्रहणी को बढ़ाता जाता है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रेम से युक्त वही कर्म अनंत फल देने वाला हो जाता है और परमात्मा के प्रेम से रहित होकर दबाव द्वारा किया हुआ वही कर्म सांत फल वाला होता है, तुच्छ फल वाला या थोड़े-से फल वाला होता है। यहाँ केवल 'रत' नहीं कहा, 'निरत' कहा, अर्थात् सर्वतोभावेन जितनी भी इच्छायें हैं, वे सब परमात्मा की इच्छा से एकीभूत हो जाने के कारण कर्तव्य करते हुए कर्तव्य-बोध नहीं रहता, प्रेम से वही करता है।

वह हुतवह निरत है। जैसे जीव ईश्वर के प्रति निरत है, वैसे ही ईश्वर भी जीव के प्रति निरत है। यह विलक्षण बात है—संसार में और परमात्मा में यह एक बहुत बड़ा फ़र्क है। संसार में इच्छा और इच्छा का विषय अलग-अलग होते हैं। हमें रसगुल्ले की इच्छा है, यहाँ इच्छा अलग है और रसगुल्ला अलग है। संसार के यावत् पदार्थों के अन्दर इच्छा और इच्छा का विषय दोनों अलग होंगे। परमात्मा की तरफ जाने पर विलक्षणता होती है कि परमात्मा स्वयं ही इच्छा है और स्वयं ही इच्छा की विषय भी है! यहाँ इच्छा और इच्छा के विषय में भेद नहीं है। परमात्मा की इच्छा मुझ में (जीव में) रहेगी और परमात्मा भी मुझ में रहेगा। इसलिये इच्छा और इच्छा का विषय परमात्मा में तो एक है। परमात्मा को छोड़कर बाकी सब जगह इच्छा और इच्छा का विषय अलग-अलग हैं। चूँकि परमात्म-स्थल के अन्दर इच्छा और इच्छा का विषय एक है इसीलिये यहाँ इच्छा कभी दुःख नहीं दे सकती क्योंकि इच्छा का कभी प्रतिघात नहीं होता। संसार के दूसरे पदार्थों की इच्छाओं

का अनुभव होने के कारण हमें कई बार ईश्वरेच्छा के बारे में भ्रम हो जाता है क्योंकि संसार में इच्छा और इच्छा का विषय अलग-अलग दीखते हैं इसलये भ्रम होता है कि शायद यहाँ भी इच्छा और इच्छा का विषय अलग होंगे। यदि इच्छा और इच्छा का विषय अलग हैं तो कभी दुःख भी हो सकता है और कभी उससे अलग भी हो सकते हो। लेकिन परमात्म-स्थल में चूँकि इच्छा और इच्छा का विषय एक है, इसलिये वहाँ यह बात नहीं है। न कभी उससे अलग हो सकोगे और न उसकी इच्छा कभी दुःख का कारण बनेगी। कहोगे कि 'परमात्मा के रास्ते में तो हमें कई बार दुःख का अनुभव होता है।' उसका कारण भ्रान्ति है। भ्रान्ति यह है कि 'परमात्मा मुझ से भिन्न है, इसलिये मुझ से अलग हो सकता है', यही तो भ्रमज्ञान है। जो अपने से अलग नहीं उसे अपने से अलग मानते हो, यह अभ्यास पड़ा हुआ है। परमात्मा को लोग सर्वव्यापक कहते हैं, लेकिन फिर जब प्रार्थना करते हैं तो मुँह ऊपर की तरफ उठ जाता है! यह भ्रमज्ञान है।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद छांदोग्य उपनिषद्भाष्य में लिखते हैं कि दिग्भ्रम निवृत्त होने के बाद भी दिग्भ्रम हो सकता है। किसी नई जगह जाने से दिग्भ्रम हो जाता है, पूर्व को पश्चिम समझने लगते हैं। ऐसा कई बार होता होगा। पहाड़ की यात्रा करो तो पता नहीं लगता है कि किस दिशा को जा रहे हैं क्योंकि मोटर बार-बार घूमती रहती है। दिग्भ्रम निवृत्त होने के बाद जब पता भी लग जाता है कि यह पूर्व दिशा है और यह पश्चिम दिशा है, फिर भी सहसा पुनः वह दिग्भ्रम सामने आ जाता है। एक प्रत्यक्ष दृष्टांत देते हैं। काशी में अपने मठ में हमारा

जो कमरा है, उसकी खिड़की पूर्व में है, दिल्ली के आश्रम में हमारे कमरे की खिड़की पश्चिम में है। जब दिल्ली से काशी जाते हैं तब कई बार प्रातःकाल खिड़की खोल देते हैं कि हवा आयेगी। थोड़ी देर में जब धूप आती है तब सोचते हैं कि 'धूप कहाँ से आ गई ?' तब ध्यान आता है कि काशी में हैं। जब वहाँ से यहाँ आते हैं और शाम को खिड़की खोलते हैं तब धूप आने लगती है। इसी का नाम दिग्भ्रम है। पता है कि पूर्व उधर और पश्चिम इधर है, लेकिन सहसा गर्मी लगते ही खिड़की खोलने की प्रवृत्ति हो जाती है फिर धूप देखकर याद आता है कि 'अरे, दिल्ली आ गये।' इसी प्रकार परमात्मा को हमने अपने अन्दर समझ भी लिया लेकिन पुनः दिग्भ्रम की तरह जब परमात्मा का ख्याल करते हैं तब पूर्व अनुभवों के अनुसार उसे अलग मान बैठते हैं। जैसे दृष्टांत में दिल्ली और काशी, वैसे ही यहाँ संसार के पदार्थ और परमात्मा हैं, असावधानी में ग़लत खिड़की खोल देते हैं तो परमात्मा अपने से भिन्न लगता है, और तब इच्छा और इच्छा का विषय दो हो जाते हैं। फिर विचार आता है कि—अरे ! यह क्या कर गये ? परमात्मा तो मुझ से अभिन्न है, एक है, वह मुझ से अलग कैसे हो सकता है ?

जब ज्ञान की दृढता हो जाती है तब ठीक यही हाल उलट करके होता है। जैसे दिल्ली से काशी जाने पर जो कार्य करते हैं, काशी से दिल्ली आने पर उससे उलटा कार्य होता है। अब तक इच्छा के विषय को बाहर देखने का अभ्यास पड़ा है, नया-नया अभ्यास करते हो इच्छा और इच्छा के विषय को एक करके देखने का, इसलिये फिर-फिर बाहर देखने लगते हो। जब ज्ञान की दृढता

होती है तब जब मनुष्य संसार के पदार्थों से व्यवहार करता दीखता है, उस समय उसे बार-बार लगता है कि यह सब मेरी आत्मा है। जो चीज़ देखता है, वह उसे अपने से अभिन्न दीखती है फिर सोचता है, 'अरे ! इन लोगों से व्यवहार कर रहे हो, इसलिये इन लोगों को अलग लगकर व्यवहार करो, नहीं तो समझेंगे कि पागल हो गया है।' जैसे अभी परमात्मा भिन्न दीखता है और विचार करने से अभिन्न दीखेगा वैसे ये अनंतकोटि ब्रह्माण्ड अपने से अभिन्न दीखते हैं और व्यवहार की बात सोचकर भेद-व्यवहार किया जाता है। जहाँ तत्त्वज्ञ का मन व्यवहार की ओर से थोड़ा-सा असावधान हुआ, वहाँ उसे फिर सारा जगत् अपने अन्दर ही दीखने लगता है। इसीलिये ज्ञानी के व्यवहार में निरतता होती है क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में कर्म से आगे कर्म का फल और कुछ नहीं है।

साधारण आदमी के लिये चूँकि इच्छा और इच्छा का विषय अलग हैं, विषयरूप से फल को प्राप्त करने की इच्छा के कारण उसने कर्म किया, इसीलिये कर्तव्य से चूकता है। यदि फल का कोई दूसरा रास्ता दीख जाये तो झट चला जाता है। क्योंकि उसकी दृष्टि फल की तरफ है। लोगों की आँखें मुफ्त ठीक करने के लिये विचार किया कि एक अस्पताल खोलें जहाँ लोगों की आँखों का इलाज हो। यह अच्छी कर्तव्य-बुद्धि है। अस्पताल के लिये रुपया चाहिये। रुपये के लिये क्या किया जाये ? यह निर्णय किया कि अगर एक सिनेमा शो रख दिया जाये और बड़े-बड़े आदमियों को सौ-सौ रुपये के, पचास-पचास रुपये के टिकट बेचे जायें तो पैसा इकट्ठा हो जायेगा। लोग ऐसा करते हैं। एक कदम आगे विचार

करो। सारे डाक्टर यह बात मानते हैं कि सिनेमा देखने से आँखें खराब होती हैं, क्योंकि आँखों पर ज़ोर पड़ता है, ग़लत असर पड़ता है, तीन घण्टे तक आँखें फाड़कर देखना पड़ता है। चारों तरफ अंधेरा और मध्य में रोशनी, ये सब चीज़ें आँखों के लिये खराब हैं, यह डाक्टरों का कहना है। लेकिन तुमने एक विलक्षण काम किया—लोगों की आँखें ठीक करने के लिये आँखें खराब करने का रास्ता पकड़ा। यह वही करेगा जो कर्तव्यबुद्धि से चलता है। जो निरत बुद्धि से चलता है; वह ऐसा कभी नहीं करेगा, क्योंकि कर्तव्यबुद्धि वाले ने तो कर्तव्य का फल अस्पताल देखा, उसकी तो फल पर दृष्टि है इसलिये कर्म की दृष्टि कमज़ोर पड़ जाती है।

सरकार ने विचार किया कि हमें देश के लोगों को सुखी करना है, गरीबी हटानी है। देश के लोगों को सुखी करने के लिये रुपया चाहिये, तब व्यवसाय बढ़ेगा और लोग सुखी होंगे। रुपया कहाँ से आये ? निर्णय किया कि इन सबको शराब पिलाओ, क्योंकि लोग शराब पीयेंगे तो उसके ऊपर हमको एक्साइज़ कर मिलेगा। शराब पीकर ये सारे गंदे नाले में पड़ेंगे, रोयेंगे और तब हम इण्डस्ट्री बढ़ाकर इन्हें सुखी करेंगे। जगह-जगह लोग कहते हैं कि 'एक्साइज़ नहीं आयेगा तो करोड़ों रुपये का हर्जा हो जायेगा' अर्थात् शराब न पीकर लोग सुखी रहेंगे! यह सारी उन्नति कर किसके लिये रहे हो ? लोगों को सुखी करने के लिये। लेकिन उपाय है लोगों को दुःखी करने का। लोगों के स्वास्थ्य को ठीक करना है, इसलिये धन की ज़रूरत है। लोगों का स्वास्थ्य सबसे ज़्यादा चिन्ताओं से खराब होता है। तुमने लाटरी नाम का जुआ

चलाकर लोगों में चिन्ता लगा दी। एक-एक रुपया लगाकर बेचारे सारे परेशान हैं कि मेरा नम्बर कब आयेगा। विचार करके देखो तो साधनों के द्वारा तुम जिस साध्य को प्राप्त करना चाहते हो, उस साध्य की ही जड़ खोदते रहते हो।

जैसे राष्ट्र की दृष्टि से वैसे ही व्यक्ति और कुटुम्ब की दृष्टि से समझना। सर्वत्र एक ही नियम काम करता है। कई बार लोग कहते हैं कि मोटर बड़ी ज़रूरी चीज़ है, नहीं तो बीस मील कैसे पहुँचें। पहले तो शहर बीस मील की दूरी पर बनाओ, बीस मील दूर से आदमी आकर काम करे। फिर ऐसे शहर बनाकर लोगों को पहुँचाने के लिये मोटरों की ज़रूरत पैदा करो। मोटर की ज़रूरत पैदा करने के बाद अब मोटरों को रखने की जगह (पार्किंग प्लेस) नहीं मिलेगी। न्यूयार्क में दो-दो मोटरें रखने वाले बड़े-बड़े आदमी जब सौदा खरीदने जाते हैं तब रेलों में जाते हैं। उनसे पूछो कि 'अपनी मोटर है तो फिर क्यों रेल में बैठकर जाते हो ?' तो कहते हैं कि 'मोटर खड़ी कहाँ करें?' यह विलक्षण प्रक्रिया समझना कि पहले तो इतना बड़ा शहर बनाओ जिसमें जाने के लिये मोटरों की ज़रूरत पड़े और फिर मोटरों की संख्या इतनी ज़्यादा बढ़ जाये कि मोटर में जाने का कोई फ़ायदा नहीं। इतना टण्टा काहे के लिये किया। यह सारी विचारधारा साध्य को सामने रखते हुए साधन को भूलने वाली है।

पहले आटा हाथ की चक्की से पीसते थे। उसमें गर्मी कम होने के कारण और वज़न भी कम होने के कारण गेहूँ के ऊपर के छिलके में जो विटामिन होते हैं, वे लोगों को खाने को मिलते थे। अब निर्णय हुआ कि गेहूँ की रोटी की जगह मैदे की रोटी

बनाओ। डबलरोटी मैंदे की ही बनती है। जब मैदे की रोटी खाने लगे तब पता लगा कि उसमें विटामिन सारे नष्ट हो जाते हैं क्योंकि पालिश आने से विटामिन का हिस्सा चला जाता है। अब एक ऐसी रोटी बनाओ जिसमें ऊपर से विटामिन डाला जाये। पहले निकाला क्यों और फिर डाला क्यों ? आजकल बड़ा भारी अन्वेषण हो रहा है कि चावलों के अन्दर विटामिन कैसे डाला जाये ! बंगलौर में ऐसा अन्वेषण हो रहा है। चावल के ऊपरी हिस्से में बड़े विटामिन होते हैं। इसलिये पहले कोई समस्या नहीं थी। आज सफेद पालिश वाले चावल आये जिनमें से वह ऊपरी हिस्सा काट देना पड़ता है, तब सफेदी आती है। वह हिस्सा कट गया तो विटामिन ऊपर से डालो।

अज्ञानियों के कार्य करने के तरीके और ज्ञानी के कार्य करने के तरीके में फ़र्क है। अज्ञानी एक साध्य सामने रखकर साधनों को भूल जाता है। सोचता है कि किसी दूसरे रास्ते से पहुँच जायेंगे। प्रलोभन देने वाले दूसरे रास्तों का प्रलोभन देते रहते हैं। लेकिन ज्ञानी कभी भी साधन नहीं भूलता, कितना ही महान् से महान् साध्य उसके सामने हो, वह उस साध्य के प्रलोभन से साधनों को नहीं भूलता क्योंकि वह जानता है कि साधन ठीक होंगे तो साध्य स्वतः उत्पन्न होगा। कारण ठीक होगा तो कार्य ग़लत उत्पन्न नहीं हो सकता। वह चूँकि कर्म को स्वतः अपने में पूर्ण मानता है, इसलिये उसे आगे किसी फल का विचार करने की ज़रूरत नहीं रहती। उसकी इच्छा और इच्छा के विषय में फ़र्क नहीं है क्योंकि इच्छा भी उसी में है और इच्छा का विषय परमात्मा भी उसी में है।

चूँकि इच्छा भी परमात्मरूप है इसलिये न केवल जीव ही परमात्मा की इच्छा से अभिन्न है बल्कि परमात्मा भी जीव को अपने से अभिन्न करने की ही इच्छा वाला है। दोनों में फ़र्क क्या है ? जीव की इच्छा आधार होने के कारण कभी संसार की है और कभी परमात्मा की है। परमात्मा की इच्छा अधिष्ठान की इच्छा है। अधिष्ठान का सम्बन्ध आधार से कभी विलग नहीं होता है। यह दार्शनिक दृष्टि ठीक से समझना : साँप का लम्बाई के साथ सम्बन्ध तब तक है जब तब साँप है। लेकिन रस्सी का लम्बाई के साथ सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि जब तुमको साँप दीख रहा है, उस समय भी उसमें रस्सी और उसकी लम्बाई तो है ही, तुमको न दीखे यह बात दूसरी है। जीव आधार की जगह है, इसलिये जीव की तरफ ईश्वर का सम्बन्ध तो नित्य है लेकिन जीव की दृष्टि अनित्य है इसलिये जीव की तरफ ईश्वर का सम्बन्ध अनित्य है, क्योंकि जब जीव संसार की तरफ नज़र करता है उस समय उसको लगता नहीं कि 'मैं ईश्वर से सम्बन्धित हूँ।' है तो उस समय भी सम्बन्धित, उसका सम्बन्ध कहीं जाता नहीं है। लेकिन जीव की दृष्टि संसार की तरफ हो जाने से और ईश्वर की तरफ से हट जाने से वह सम्बन्ध नहीं जैसा हो जाता है। लेकिन ईश्वर की जीव की तरफ दृष्टि कभी नहीं हटती, वह नित्य रहती है। इसलिये ईश्वर जीव को संसार के पदार्थ देता रहता है।

लोक में यह होता है कि जिससे तुम झगड़ा कर लो, जिसे तुम धक्का मार दो, वह तुम्हारे मन की इच्छा कभी पूरी नहीं करेगा। लेकिन परमेश्वर की विलक्षणता देखो : तुमने तो परमेश्वर को धक्का मार रखा है परमेश्वर की तरफ दृष्टि करते नहीं हो,

फिर भी ईश्वर तुम्हारे मन के विषय, संसार के भोग्य पदार्थ तुम्हें देता रहता है ! परमात्मा दिल से तो यह चाहता है कि तुम संसार के पदार्थों को छोड़कर उसकी इच्छा करो, लेकिन जब तुम कहते हो कि 'मुझे तुम्हारी इच्छा नहीं, संसार के विषयों की इच्छा है' तब परमात्मा तुम्हें संसार के विषय दे देता है। तुम्हारे धक्का मारने पर भी वह तुम्हारे मन की इच्छा को पूरा कर रहा है। इससे ज़्यादा निरंतरता और कहीं मिलेगी ? कहीं भी संसार में ऐसा दृष्टांत मिलेगा? माँ के प्रेम को बहुत पवित्र माना जाता है। जिस काल में बच्चा माँ के स्तन पर लात मारता है उस समय माँ के हृदय में भी आ जाता है कि 'इसे गोदी से नीचे पटक दूँ !' उतार भी देती है, डाँटने भी लगती है। जो परमपवित्र माँ का प्रेम है, वहाँ भी जब अपमान या धक्के की प्राप्ति होती है, तब चाहे एक क्षण के लिये ही सही, वह प्रेम बुझ जाता है। लेकिन परमात्मा के साथ इससे विपरीत है। तुम परमात्मा से मुख मोड़कर संसार के विषयों की इच्छा करते हो, फिर भी वह तुम्हें संसार के विषय भी देता रहता है, तुम्हारे मन की इच्छा को पूर्ण करता ही रहता है। यह उसकी निरतता है।

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि परमात्मा की निरतता को ज़रा स्मरण रखना चाहिये। स्मरण रखने से क्या होगा ? जिस समय प्रारब्ध-भोग के सुख-दुःख सामने आते हैं जो आने ही हैं, उस समय कई बार मनुष्य के मन में आता है कि 'परमात्मा मुझे यह दुःख दे रहा है।' उस समय याद यह रखना कि 'मैं परमात्मा को अनंत काल तक लातें मारता रहा और फिर भी वह मेरी इच्छा पूरी करता रहा; आज परमात्मा का दुःख-भोग का संकल्प है तो

वह पूर्ण करते हुए मैं उसकी इच्छा को पूर्ण क्यों न करूँ?' स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन में एक घटना आती है : उन्हें गले का कैंसर हो गया था। बड़ा कष्ट पाते थे। सब भक्त मिलकर रोज़ उन पर दबाव डालने लगे कि 'आप सर्वसमर्थ हैं, सारी सिद्धियाँ आपके पास हैं, अपने गले को ठीक क्यों नहीं कर लेते?' उन्होंने कहा 'जाने दो, यह तो शरीर का धर्म है।' लेकिन लोग रोज़-रोज़ पीछे पड़ने लगे कि 'आप अपने लिये थोड़े ही ऐसा कर रहे हैं, आपके शरीर से हम लोगों का कल्याण है, इसीलिये कह रहे हैं।' ज्ञानी महापुरुषों का चित्त बड़ा सरल होता है। जब लोगों ने बार-बार कहा कि 'हम लोगों के कल्याण के लिये आपका शरीर है, इसलिये आपको कुछ करना चाहिये', तब बहुतों के दबाव के कारण उनके मन में आया कि ठीक ही तो है। उनका हृदय बड़ा सरल था। उस दिन ध्यान किया तो उन्होंने भगवती से कहा, 'माँ ! इस गले की तरफ भी ध्यान दो।' माँ समझ गई कि गज़ब हो गया, इसके अन्दर तो फिर देहाध्यास की बात आ गई, देह की तरफ इसकी दृष्टि हो गई ! उन्होंने कहा, 'दो बातें बता : पहली यह कि क्या तेरे एक गला है या अनन्त गले हैं ? अभी तो तेरे को एक गला दुःख दे रहा है, संसार के अन्दर भूत, भविष्य और वर्तमान में कितने प्राणी हैं उन सब के गलों को मैं ही तो अपना गला समझ रही हूँ। दूसरी बात यह बता कि इस गले में होने वाला कैंसर मुझ से अभिन्न है या भिन्न है ?' यह सुनते ही रामकृष्ण के शरीर से पसीना छूट गया, बड़ी शरम आई। प्रार्थना करने लगे, 'क्या बताऊँ ! लोगों ने कह-कहकर चक्कर में डाल दिया।' ध्यान करके बाहर आये; पुराने ढंग के महात्मा थे; आते

ही लोगों को गालियाँ देने लगे कि 'तुम लोगों ने मेरी नज़र नीची कर दी।'

प्रश्न यह है कि मन में परमात्मा के संकल्प से भिन्न मेरा संकल्प पूरा हो यह भाव क्यों आता है ? क्योंकि हम यह भूल जाते हैं कि अनादि काल से आज तक हम परमात्मा की तरफ से नज़र हटाये रहे, तो भी वह हमारे मन की कामनाओं को संसार के पदार्थों को देकर पूर्ण करता रहा। आज प्रारब्धरूप से परमात्मा का संकल्प है कि हमें थोड़ा-सा दुःख हो जाये तो उसी की इच्छा पूर्ण होने देना चाहिये, उससे विरुद्ध इच्छा करना ठीक नहीं। सारी परिस्थितियों के अन्दर एकमात्र शिव के संकल्प का स्पंदन देखना और उसके संकल्प के अनुकूल ही व्यवहार करना—यह उस संवर्त की उपासना है। 'तमीडे संवर्तम् जननि महतीं तां च समयाम्'।

'शिव-दृष्टि' में आचार्य सोमानंद कहते हैं—जिस समय सुख होता है, जिस समय दुःख होता है, जिस समय मन काम नहीं करता, कोई चीज़ समझ में नहीं आती, इन सब परिस्थितियों के अन्दर शिव ही मुझे दिखाई देता है। वह तो सब जगह एक जैसा ही है। यही संवर्त है। इस प्रकार से संवर्तरूप से परमात्मा को देखने वाला, संवर्ताग्नि की उपासना करने वाला हर क्षण उसी की स्तुति करता रहता है। जिस-जिस रूप में वह सामने आता जाता है, उस-उस रूप में वह उसकी स्तुति करता है। परमात्मा के संकल्प को पूरा करने के लिये उसका दिल है, इच्छा करता है कि 'इस प्रारब्ध-भोग का एक कण भी इधर-उधर न हो, हे प्रभु ! तेरा संकल्प पूर्ण हो।' यह दृष्टि बनने के कारण ज्ञानी को कभी किसी स्थल के अन्दर, किसी भी परिस्थिति के अन्दर विक्षोभ

या विरोध नहीं रहता। इसी को निरतता कहते हैं। वर्त मायने बर्ताव करने वाला और संवर्त—जहाँ अच्छी तरह से बरतो। यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड जो तुम्हें दीख रहा है, यह उस परमात्मा का वर्तन (बर्ताव) है। यह सम्यक् बर्ताव सभी हालतों में है। वह केवल सुखरूप की स्तुति नहीं करता है, केवल दुःखरूप की स्तुति नहीं करता है, केवल मोहरूप की स्तुति नहीं करता है, सब रूपों में उसी की स्तुति करता है।

प्रवचन-४२

पुरुषयज्ञ की प्रधान बलि होने के कारण पुरुष और यज्ञ को एक करके बताया 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषम्।' पुरुष-यज्ञ की अग्नि पर विचार कर रहे थे। पुरुष-यज्ञ की अग्नि का रूप बताया कि वह आधार भगवती संवित् है और उसका अधिष्ठान अनंत आनंद ही अग्नि है। संवर्त को ही यहाँ अग्नि, हुतवह बताया। संवर्त का रूप है कि जो अज्ञानी के लिये कर्तव्य-दृष्टि से कार्य है, वही ज्ञानी के लिये स्वभाव के द्वारा होने वाली क्रिया है। एक के लिये कर्तव्य है, कार्य है, उसे करना पड़ता है और दूसरे के लिये वह स्वाभाविक है, सहज है, क्रिया उसके द्वारा होती है। एक फलदृष्टि से करता है और दूसरे के लिये वह कर्म स्वतः ही फलरूप है। यह भेद बताया। इसीलिये उसे 'संवर्त' कहा।

इसी संवर्त का रूप कहा 'जननि महतीं तां च समयाम्।' वह

क्रिया कैसी है ? किसी भी क्रिया के करने की पद्धति को 'समय' कहते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त को भी समय कहते हैं क्योंकि उस पर विचार करने की कोई एक विशिष्ट पद्धति होती है। दर्शन शास्त्र के अंतिम नतीजे को समझना या याद करना दार्शनिक बनना नहीं है। बहुत-से लोग समझते हैं कि 'हमने यदि किसी दर्शन के अंतिम नतीजे को याद कर लिया तो हमने वह दर्शन समझ लिया', लेकिन ऐसा नहीं है। दर्शन जानने का मतलब है कि जिन नियमों के अनुसार, जिन पद्धतियों से विचार करके उस नतीजे पर पहुँचा गया है, उस पद्धति को समझा जाये। जैसे दर्शन में वैसे ही धर्म में समझना चाहिये। धर्म के अंतिम निष्कर्षों को रट लेना धार्मिक बन जाना नहीं है। बहुत-से लोग समझते हैं और कहते भी हैं कि 'वे बड़े धार्मिक हैं क्योंकि उन्हें रामायण याद है, या क्योंकि उन्होंने महाभारत बाँची हुई है।' लेकिन कथाओं को याद कर लेना धार्मिक बनना नहीं है। इस बात को समझना है कि राम राम कैसे बने; उसे जब हम अपने जीव में एक-एक कदम पर घटाने लगें, तब धार्मिक बनेंगे। दर्शन के अंदर बुद्धि में घटाया जाता है; बुद्धि के कदम जहाँ सिखाये जायें, वह दर्शन-शास्त्र है। बुद्धि के कदमों को जब जीवन के कदमों में बदल दिया तब वह धर्म हुआ। यहाँ तक तो ठीक है कि बुद्धि में जब तक बात नहीं उतरेगी, तब तक जीवन में उतार सकोगे नहीं, लेकिन यदि कोई यह समझता है कि बुद्धि में उतारने-मात्र से जीवन में उतर जायेगी तो गलत ही समझता है। भारत का प्रत्येक प्राणी जानता है कि सत्य बोलना धर्म है। यह बात बुद्धि में उतरी हुई है, कोई इस विषय में संदेह प्रकट नहीं करता। लेकिन क्या जीवन

में उतरती है ? यदि बुद्धि में उतर जाने मात्र से जीवन में उतरती तो सारे लोग सत्यवादी हो जाते। गरीबों के साथ सहानुभूति होनी चाहिये—यह सब कहते हैं, लेकिन जीवन में वह सहानुभूति उतरती है क्या ? बड़े से बड़े 'गरीबी हटाओ' का नारा लगाने वाले बड़े आनंद से एयरकंडीशण्ड कमरों में खुद रहते हैं, खुद हैलीकाप्टरों में उड़कर जाते हैं। उस समय एक क्षण भी यह सोचा जाता है कि इन हैलीकाप्टरों में लाखों रुपया विदेश चला जाता है, लाखों रुपये का पैट्रोल फूँका जाता है, इसके द्वारा क्या किसी गरीब की सहायता की जा सकती है? सांत्वना देते हैं 'हम बड़े ज़रूरी आदमी हैं, बड़े प्रधान व्यक्ति हैं, इसलिये हमें राष्ट्र के कल्याण के लिये ये सारी सुविधायें चाहिये।' यदि दूसरा कहता है कि मैं भी एक बड़ा व्यापारमण्डल चला रहा हूँ, मुझे भी ये सुविधायें चाहिये तो कहते हैं, नहीं, तुम इनके बिना रह सकते हो, तुम्हें ये नहीं चाहिये। 'गरीबी हटाओ' बुद्धि में उतरना एक बात है, जीवन में उतरना बिल्कुल दूसरी बात है। जब बात बुद्धि में उतरी तब दर्शन हुआ और जब जीवन में उतरी तब धर्म हुआ।

आज की शिक्षापद्धति में धर्म के लिये स्थान नहीं है, क्योंकि शिक्षा के जो नेता हैं, शिक्षा देने वाले हैं, वे चाहते नहीं कि जीवन में कोई सीख उतारी जाये, नहीं तो कोई उनसे ही पूछ लेगा कि तुम्हारे जीवन का क्या हाल है ! इसलिये कहते हैं कि 'हम धर्म-निरपेक्ष हैं।' हम अपने जीवन में क्या करते हैं—यह प्रश्न कोई मत पूछना। धर्म जीवन में उतारने की वस्तु है। जब तक जीवन में वह नहीं उतरती, तब तक उसका वास्तविक सुख कभी मिलने वाला नहीं है। एक विद्यार्थी साल भर तक रोज़ सत्य बोले,

एक बार भी झूठ न बोले; परीक्षा में प्रश्न आये कि 'सत्य बोलने पर एक लेख लिखिये', उसके लिखने का ढंग उतना अच्छा नहीं रहेगा। दूसरा लड़का, जो दिन भर में सौ बार झूठ बोलता है, झूठ बोलने में उसे दो मिनट नहीं लगते, उसने सत्य के समर्थन में युक्तियों को अच्छा याद कर रखा है, लेख अच्छा लिख दे। साल भर तक झूठ बोलने वाला लड़का सत्य बोलने पर लेख लिखकर अस्सी नम्बर पाता है और साल भर तक सत्य बोलने वाला लड़का सत्य बोलने पर लेख लिखने में चालीस ही नम्बर पाता है ! यह आज की शिक्षा-पद्धति है। ऐसी शिक्षा नेता लोग इसीलिये देते हैं कि वे लोग सारी दुनिया को बेवकूफ बना सकें। जो मुँह से कहते हैं, उसे जीवन में लाने का एक क्षण के लिये प्रयास नहीं करते। वे उस विषय में युक्ति अच्छी देते हैं, बोल भी अच्छा लेते हैं, इसलिये जनता समझती है कि ये ऐसा ही मानते होंगे। जिस दिन जनता की दृष्टि में यह आयेगा कि 'ज़रा इनका जीवन तो देखें', वे नेता नहीं रह पायेंगे। इसी भय के कारण वे धर्मनिरपेक्षता का उपदेश देते हैं और जान-बूझकर धर्म का विरोध करते हैं।

बुद्धि में बात को उतारने की एक पद्धति है और जीवन में उतारने की दूसरी पद्धति है। महात्मा गांधी ने एक बार हिसाब लगाया कि भारतवर्ष में इतना कपड़ा प्रत्येक आदमी के हिस्से पड़ता है। उस हिसाब के अनुसार उन्होंने अपना कपड़ा पहनना निश्चित कर लिया। वे घुटने के ऊपर तक कपड़ा क्यों पहनते थे ? उसका कारण ही यह है। उनकी जीवनी में आता है कि उन्होंने निश्चय किया कि 'जितना भारत का सामान्य आदमी पहन सकता है, उतना ही कपड़ा मैं पहनूँगा।' यह धार्मिक के जीवन

की पद्धति है। आज खुद एयरकंडिशण्ड कमरे में बैठे रहेंगे और जनता को गरीबी हटाओ का नारा देते रहेंगे। यह धर्म की पद्धति नहीं है। पद्धति जीवन में क्यों नहीं आती ? जब तक हम किसी महान् पद्धति को अपने जीवन में, अपने हृदय में नहीं रखेंगे तब तक इस प्रकार का जीवन नहीं बना सकेंगे। इसका कारण है कि मनुष्य को जब अपने हृदय में किसी आनंदातिरेक का अनुभव होता है, किसी पूर्ण आनंद की प्रतीति होती है, तब स्वल्प आनंदों को छोड़ने में उसे देर नहीं लगती। जब तक महान् आनंद का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, तब तक परिच्छिन्न, छोटे-छोटे आनंदों को छोड़ना सम्भव नहीं होता। जब मनुष्य अपने अंतःकरण में प्रवेश करके उस परब्रह्म परमात्मा के आनंद को देखता है, तब धर्म को जीवन में उतारने की परिस्थितियाँ बनाने में उसे कठिनता नज़र नहीं आती, क्योंकि उसके अंदर एक महान् तत्त्व है। लोक में भी ऐसे ही होता है। लड़की की शादी करनी होती है, उस समय धूप में भी गहने बनवाने चले जाते हैं, रात भर काम कर लेते हैं। क्योंकि लड़की की शादी का एक महत् कार्य सामने है, इसीलिये वे सारे कार्य कष्ट नहीं लगते। यदि ऐसा न हो और तुमसे वही काम कराया जाये तो बड़ा भार लगता है, क्योंकि कोई महान् उद्देश्य सामने नहीं है।

हम लोग जो इतना ज़ोर देते हैं कि प्रत्येक प्राणी को सबसे पहले अपने अन्दर के आनंद को प्राप्त करने की शिक्षा मिलनी चाहिये, वह इसीलिये कहते हैं। लेकिन नेतृ-वर्ग यह कभी नहीं चाहेगा, क्योंकि वह सोचता है कि अगर मनुष्य को अंदर का सुख मिल गया तो हमारा पद बना नहीं रहेगा ! अब तक चुनाव में

एक बोतल पिलाकर लोगों को बेवकूफ बनाकर अपनी तरफ कर लेते हैं। लोगों को अपने अन्दर का आनंद आ गया तो नेताओं का पद कैसे बना रहेगा ? क्योंकि फिर वे इन चीज़ों के आगे नहीं झुकेंगे। 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति' जिनको अंदर का सुख मिल गया, उन्हें इन टुकड़ों से प्रलोभित नहीं कर सकते। इसलिये सब चाहते हैं कि लोगों को अंदर का आनंद न मिले, बाह्य पदार्थों में इन्हें रति होती रहे। इसका हम ज्वलित नमूना या प्रतीक बताया करते हैं : हमारा राष्ट्र और हमारे राष्ट्रपति चलचित्रों की नर्तकियों को पुरस्कार देते हैं और जो एकांत में आत्म-तत्त्व, आत्मविद्या का चिंतन करते हैं, उन्हें सम्प्रदायवादी और देश को पीछे ले जाने वाला कहते हैं ! उन्हें उपदेश देते हैं। यह बताता है कि हमारे राष्ट्र में किसे स्थान है ? चलचित्र की नर्तकी को प्रधानता दी जाती है, वह बहुत बड़ी है। कारण क्या है ? अन्दर का भय है, और कुछ नहीं है। वे सोचते हैं कि जनता तभी तक भ्रांत की जा सकती है, जब तक उसे अन्दर का आनंद नहीं मिले।

वैदिक दृष्टिकोण है कि पहले अंदर के आनंद का अनुभव करो, तब तुम में एक स्वतंत्रता आयेगी। फिर बाह्य आकर्षणों के पीछे तुम नहीं भटकोगे। हो सकता है कि तुम्हारा निर्णय गलत हो, लेकिन कम से कम प्रलोभन के कारण तो तुम्हारा निर्णय नहीं होगा, सोच-विचार के साथ ठीक निर्णय होगा। याज्ञवल्क्य स्मृति में हाकिम (न्यायाधीश) बनने के लिये कहा गया है कि योगाभ्यास करना चाहिये जिसमें वह यह परीक्षा तो कर सके कि सामने वाला सत्य बोल रहा है या झूठ बोल रहा है। यह वैदिक धर्म की दृष्टि

है, याज्ञवल्क्य-स्मृति की दृष्टि है। आज खुद न्यायाधीश कहता है कि 'हम जानते हैं कि यह आदमी झूठ बोल रहा है, लेकिन कानून की पकड़ में नहीं ला सकते, इसलिये छोड़ देना पड़ता है।' सत्यता पर्याप्त नहीं है, बोलने का ढंग प्रधान है, उससे चाहे झूठ ही सिद्ध हो जाये !

यह 'महती समया' ही मनुष्य को सब परिस्थितियों में 'कुतुबनुमा चुम्बक' की तरह बना देती है। कुतुबनुमा चुम्बक पत्थर की विशेषता होती है कि उसे चाहे जितना गोल-गोल घुमाओ, जैसे ही उसे छोड़ोगे वैसे ही वह अपना मुँह उत्तर को कर लेगा। जैसे ही उसके ऊपर से दबाव छूटा, वैसे ही उसका मुँह उत्तर को हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य इस 'महती समया' को प्राप्त कर लेता है तब चाहे विश्व के सुख-दुःख, मोहात्मक परिस्थितियाँ उसे कितना ही चक्कर में डालें, लेकिन वह उन चक्रों से तुरंत बचकर पुनः अपना मुख सत्य की तरफ, ब्रह्म की तरफ कर लेता है। जो चुम्बक पत्थर नहीं है, उसे जिधर घुमा दो, उधर घूम जायेगा। चुम्बक पत्थर कैसे बनता है ? साधारण लोहा ही चुम्बक पत्थर बन जाता है। उसकी जाति कोई दूसरी नहीं होती। साधारण लोहे की छड़ को नीचे रखकर चुम्बक वाले लोहे को खड़ा पकड़ लेते हैं और उसे उस साधारण लोहे के ऊपर घुमाते हैं। दस-पंद्रह बार घुमाते-घुमाते नीचे वाला लोहा भी चुम्बक बन जाता है। इसी तरह से चुम्बक पत्थर बनाया जाता है। लोहे और चुम्बक की जाति अलग नहीं है। जब तक उसे चुम्बक का संसर्ग नहीं मिला, तब तक वह लोहा है और जब चुम्बक पत्थर के द्वारा उसका घर्षण किया गया, चुम्बक पत्थर के साथ मिलाकर उसे

रगड़ा गया तब वह चुम्बक बन गया। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की दो जातियाँ नहीं हैं। अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, राग, द्वेष, दुःख, भय, शोक से भरा हुआ जीव राग-रहित, द्वेष-रहित, भय-रहित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से अलग जाति का नहीं है। यदि इसको ईश्वर का संसर्ग मिल जाये, यदि यह ईश्वर की उपासना में लग जाये, तो यही परमात्मा हो जाये। जब जीव उपासना करता है तब अपने मन को परमात्मा के साथ रगड़ता है। जहाँ परमात्मा के साथ रगड़ लगी, वहाँ यह जीव नहीं रह जाता, परमात्मा ही रह जाता है। क्योंकि ईश्वर की उपासनारूप सम्पर्क इसे नहीं मिला, इसीलिये बेचारा राग, द्वेष आदि से युक्त है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य इसीलिये कहते हैं :

'कथमेवंविधा माया निवर्तेतेति पृच्छतः।
ईश्वरोपासनारूपस्तदुपायः प्रकीर्तितः।।'

शिष्य प्रश्न करता है कि ऐसी भयंकर माया कैसे हटे ? स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं 'मम माया दुरत्यया।' ऐसी अत्यन्त दुरत्यय माया जिसे जीता नहीं जा सकता, कैसे हटे ? गुरु जवाब देते हैं कि ईश्वर की उपासना ही उसका उपाय है। अर्थात् ईश्वर के साथ अपने मन का संघर्ष अथवा घर्षण, ईश्वर के गुणों को अपने मन में बार-बार लाना, यही ध्यान और यही उपासना है। वे गुण मन में आयेंगे, फिर क्रिया में आने लग जायेंगे।

बहुत बार लोग प्रश्न करते हैं कि कैसे पता लगे कि कोई ज्ञानी है या नहीं है ? पहली बात तो हम कहते हैं कि दूसरे के ज्ञानी होने का विचार ही क्यों करते हो ? तुम्हें उससे क्या फ़ायदा

होगा ? कोई पूछे कि अमुक व्यक्ति करोड़पति है या नहीं; यह पता लगने से क्या होगा ? वह कुछ दे देगा ? लेकिन यदि जानना ही चाहते हो तो सीधा नियम याद रखो कि ब्रह्म जब व्यवहार करता है तब उसका नाम ईश्वर है। माया उपाधि वाले को ईश्वर कहते हैं। इसीलिये ज्ञानी कोई है इसे जानने के लिये देखो कि उसका व्यवहार ईश्वर की तरह है या नहीं। यदि वह सर्वथा स्वतंत्र, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि से निवृत्त होकर व्यवहार करता है, क्षणमात्र को भी उसे शोक-मोह का स्पर्श नहीं होता है, अनंतकोटि ब्रह्माण्डों की जिम्मेवारी उस पर आये तो वह घबराता नहीं और अग्रिम क्षण सारा संसार जल जाये तो उसे कोई शोक नहीं होता है; यदि उसका व्यवहार ईश्वर की तरह है तो मानेंगे कि उसके अन्दर ज्ञान है। ब्रह्म ही जब व्यवहार करता है तब उसका नाम ईश्वर पड़ता है। जो ब्रह्मरूप है उसका व्यवहार ईश्वरानुरूप होगा। यदि ब्रह्मरूपता को प्राप्त करके भी व्यवहार उसका अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् की तरह है, अत्यंत तुच्छ पदार्थों के लिये उसमें राग-द्वेष दिखाई दे रहे हैं तो वह अज्ञानी है।

लोग किन चीज़ों को छोड़ते हैं ? कोई आदमी हरिद्वार गया तो पण्डे ने कहा कि 'कुछ छोड़ दो' क्योंकि वहाँ कुछ न कुछ छोड़ा जाता है। उसे बैंगन अच्छा नहीं लगता था, उसने कहा कि 'मैंने बैंगन छोड़ दिया।' अच्छा तो पहले ही नहीं लगता था, इसलिये कह दिया कि 'नहीं खाऊँगा।' इसी प्रकार लोग त्याग किन चीज़ों का करते हैं ? जो पहले ही अच्छी नहीं लगती हैं। उपासना का त्याग, शुभ कर्मों का त्याग करेंगे। प्रातःकाल उठकर दो घण्टे एक आसन पर बैठने का त्याग करेंगे, क्योंकि 'मैं तो ब्रह्मरूप हूँ, इन

सबकी क्या आवश्यकता है ! इन सबके द्वारा जिसे प्राप्त करना है, सो मैं खुद ही हूँ।' दुकान का त्याग नहीं करेंगे, व्यापार का त्याग नहीं करेंगे, जेठानी की चुगली करने का त्याग नहीं करेंगे, उपासना का त्याग कर देंगे, क्योंकि वह पहले ही प्रिय नहीं है! जब मनुष्य ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करेगा तब उसका व्यवहार ईश्वरानुरूप हो जायेगा। जैसे चुम्बक पत्थर के साथ लगा रहने से लोहा चुम्बक ही हो जाता है, क्योंकि दोनों की जाति अलग नहीं है, वैसे ही ईश्वर की उपासना करते-करते जीव के जीवभाव की निवृत्ति हो जाती है, उसमें ईश्वरभाव ही रह जाता है। यही ईश्वरोपासना का फल है। उपा़सना का मतलब ही होता है पास में जाना, या समीप बैठना।

इसे प्राप्त क्यों नहीं कर पाते ? इसीलिए कि अपने चारों तरफ आशा का एक जाल बना रखा है। संसार के बंधन का सबसे बड़ा कारण आशा है। बार-बार संसार के पदार्थों से दुःखी होकर, संसार के जीवों से अशान्ति प्राप्त करके, बार-बार उनसे कष्ट उठाकर, धक्का खाकर फिर भी आशा बनी रहती है कि 'शायद अब की बार सुखी हो जाऊँ !' महाभारत युद्ध में भीष्म दस दिन भयंकर युद्ध करके गिरा दिये गये। द्रोण धनुर्विद्या के परम आचार्य भी पाँच दिन युद्ध करके मारे गये। दो दिन युद्ध करके सूर्यपुत्र और बड़ा तेजस्वी कर्ण भी मारा गया। तब शल्य को सेनापति बनाया गया और बड़े ज़ोर से बाजे बजने लगे। युधिष्ठिर पूछने लगे 'दुर्योधन के यहाँ बड़े बाजे बज रहे हैं, क्या खास बात हो गई?' भगवान् ने जवाब दिया

'हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च निधनं गते।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्।।'

राजन् ! अष्टवसुओं में एक वसु भीष्म युद्ध में गिरा दिये गये, धनुर्विद्या के परम आचार्य द्रोण भी मारे गये और सूर्यपुत्र कर्ण भी मर चुका है। लेकिन यह आशा बड़ी बल वाली है। अब सोच रहे हैं कि शायद शल्य ही पाण्डवों को जीत ले ! इस आशा के कारण मनुष्य उस परमात्म-तत्त्व की तरफ जाते हुए भी नहीं जाता क्योंकि संसार के पदार्थ उससे कहते हैं कि 'अब तक सुख नहीं मिला लेकिन बस अबकी बार मिल जायेगा।' जीव इसी आशा से बँधा रहता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि अपने जीवन में वेदोपदेश उतारने का जो नियम करे, वह पहले आशा का त्याग करे। 'निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता।' वह संसार के पदार्थों से आशा को पहले छोड़े।

स्कंद पुराण में एक कथा आती है। रैवत मन्वन्तर के अन्दर वेदमाली नाम का एक ब्राह्मण था। यह वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। इसके पूर्व रैवत मन्वान्तर था। वह ब्राह्मण बड़ा कर्मकाण्डी था, रात-दिन कर्मकाण्ड में ही लगा रहता था। अपने स्त्री-पुत्र के लिये कोई चीज़ ऐसी नहीं थी जिसे वह न बेच देता हो। हर चीज़ को बेचकर वह स्त्री, पुत्र के लिये धन प्राप्त कर लेता था। वेद को बेच देता था। हमारे यहाँ अयोग्य पुरुष को वेद पढ़ाकर उससे धन लेना वेद का विक्रय माना गया है। पता है कि यह व्यक्ति योग्य नहीं है लेकिन धन के लोभ से उसे पढ़ाया तो वेद-विक्रय हो गया। जैसे आजकल अध्यापक को यह देखने की

ज़रूरत नहीं कि विद्यार्थी योग्य है या अयोग्य है। फीस भर दी तो पढ़ाना हमारा काम हो गया। वह ब्राह्मण अपना तप भी बेच देता था, कोई धन देने वाला मिल गया तो उसे अपना तप भी दे देता था। इस प्रकार यजमानों से दक्षिणा के लोभ के लिये यज्ञ, याग आदि सब किया करता था। स्त्री, पुत्र के पास खूब धन हो जाये, इसके लिये वह कोई काम करने से नहीं चूकता था। जैसे आजकल के लोग चोर-बाजारी करेंगे, झूठा हिसाब रखेंगे, सबको घूस देंगे। उनसे कहो कि 'तुम्हारे पास खाने को बहुत धन है, फिर ये सब दुष्कर्म क्यों करते हो ?' तो कहते हैं कि बच्चों के लिये कर रहे हैं। केवल पहले ही ऐसा होता था ऐसी बात नहीं, आज भी ऐसा ही होता है।

धीरे-धीरे उस ब्राह्मण की वृद्धावस्था आई। उस के यज्ञमाली और सुमाली नाम के दो पुत्र थे। एक दिन विचार किया कि 'मैंने बड़ा धन कमाया, ज़रा गिनकर तो देखूँ कि मैंने इनके लिये कितना कमा लिया है।' गिनने लगा। उस ज़माने में नोट तो होते नहीं थे, नगद रुपये या अशर्फियाँ होती थीं। सात दिन तक बेचारा गिनता रहा तब पता लगा कि इतना धन कमा लिया। पहले तो चित्त में बड़ी प्रसन्नता हुई। अपनी पत्नी से कहने लगा कि 'मैंने कितना कमाया है ! बाप-दादों परदादों में से किसी ने इतना नहीं कमाया।' पत्नी भी बड़ी तारीफ करने लगी कि 'खूब कमाया।' आखिर ब्राह्मण था। मन में एक कसक उठी कि 'बहुत कमाया लेकिन कैसे कमाया यह तो मैं ही जानता हूँ।' मन में एक कचोट आई कि कोई ऐसा अनुचित कर्म नहीं जो मैंने नहीं कर लिया और कमाकर इतना धन इकट्ठा कर लिया। किस समय मनुष्य

के मन में चोट लगती है, इसका कोई ठिकाना नहीं होता है। लेकिन जब सच्ची चोट लगती है तब जीवन में परिवर्तन आ जाता है। हज़ारों प्रवचन सुन लो, जब तक अंदर चोट खाकर जीवन में परिवर्तन नहीं आया, तब वह सब व्यर्थ है। चोट खाकर मनुष्य का रुख बदल जाता है कि 'मैं किधर था और किधर जा रहा हूँ।' उस ब्राह्मण के मन में यह आया : मैंने जो इतना धन कमाया, इससे क्या हुआ ? मैंने इतना धन कमाया लेकिन आज भी मेरे मन में यह नहीं होता कि काफी हो गया। यह तो आज मैंने गिन लिया, नहीं तो कमाता ही रहता! यह कमाते हुए मेरे बाल सारे सफेद हो गये, झड़ भी गये। दाँत भी मेरे घिस गये, टूटकर गिर गये। इसी धन को इकट्ठा करने में मेरी आँखों ने भी अब देखने में बड़ी कमी कर दी है, कान भी पूरी बात नहीं सुनते। बार-बार बच्चों से कहता हूँ 'क्या कहा, क्या कहा' और फिर बच्चे तंग आकर कहते हैं कि 'सुनाई नहीं देता तो जाने दो, आपके मतलब की बात नहीं है !' ये सब जीर्ण हो गये लेकिन 'तृष्णैका तरुणायते' जिस तृष्णा की पूर्ति के लिये मैंने यह सब किया, वह वैसी की वैसी जवान बनी है। यह आशा की बड़ी विलक्षणता है कि जिसके सिर चढ़ती है, उसको तो बुड्ढा बना देती है और खुद अलबेली जवान बनी रहती है ! उलटा बुढ़ापे में जाकर आशा और ज़्यादा जवान हो जाती है। व्यवहार में देखोगे कि जो जितना बूढ़ा होता है, वह उतना ही विषयों में ज़्यादा चिपटता है। तृष्णा की विलक्षणता ही यह है कि जब शरीर बुड्ढा हो जाता है तब यह आशा जवान हो जाती है। शरीर से क्रिया नहीं होती लेकिन मन से और करना चाहता है। वेदमाली विचार करने लगा—गज़ब हो

गया, सब कुछ चला गया लेकिन जिस आशा की तृप्ति के लिये सब कुछ किया था, वह आशा आज भी ऐसी की ऐसी बनी हुई है। इसी आशा के चक्र में मेरा सब कुछ चला गया।

वेदमाली कहता है कि मेरा क्या-क्या नष्ट हुआ ?

'बलं तेजो यशश्चैव विद्यां मानं च वृद्धताम्।
तथैव सत्कुले जन्म आशा हन्त्यतिवेगतः।।'

आशा बड़ी तेज़ी से किन-किन चीज़ों को नष्ट करती है ? सबसे पहले मनुष्य के बल को यह आशा खा जाती है। हमारे अन्दर ताकत है कि हम सामने वाले को थप्पड़ मार दें क्योंकि यह हमारे पिता को बुरी बात कह रहा है और हम तगड़े हैं। लेकिन वह बुरी बात कहने के साथ यह भी कह रहा है कि 'तुझे दो सौ रुपये की नौकरी दे दूँगा, तेरा बाप बड़ा नालायक था।' अभी नौकरी दी नहीं है। उस आशा के कारण तुम्हारा बल भी नष्ट हो गया, बाप की बुराई सुनकर भी नीची नज़र किये खड़े रहते थे। बड़े से बड़ा बलवान् व्यक्ति भी आशा के कारण निर्बल हो जाता है, मुँह से बोल नहीं पाता, दूसरे को डाँट नहीं पाता। आशा ही कारण है। घर में लड़का नालायक होता है, उसे नहीं डाँट पाता। शरीर तगड़ा है, लेकिन इस आशा से कि 'शायद बुढ़ापे में कमा कर मेरी सेवा कर ही दे', कान पकड़ कर घर से निकाल नहीं पाते। आशा के कारण मनुष्य का बल नष्ट हो जाता है।

जैसे शरीर का बल नष्ट हो जाता है, ऐसे ही मानसिक बल, तेज भी नष्ट हो जाता है। तेजस्विता नष्ट हो जाती है और बुझा-बुझा-सा रहता है। आशा के कारण ही ऐसा होता है। बड़े

से बड़ा विद्वान् व्यक्ति है, सामने वाले सेठजी ने कह दिया कि 'आपका छन्द अच्छा नहीं बना, ज़रा बढ़िया बनाकर लाना' तो वह यह नहीं कह पाता कि 'तू मूर्ख है, छन्द क्या जानता है'। तेज नष्ट हो गया, इसलिये कहता है—'हाँ जी, फिर ठीक कर लूँगा।' एक बड़े भारी इतिहासज्ञ ने भारत की स्वतंत्रता का इतिहास लिखा। थोड़े वर्ष पहले की ही बात है। वे अपनी पुस्तक लेकर नेहरू जी के पास गये तो उन्होंने कहा कि यह किताब ठीक नहीं है। बेचारे वापिस आ गये कि फिर से लिखेंगे। यह कहने की हिम्मत नहीं पड़ी कि 'आप कब से इतिहासज्ञ हो गये ?' जहाँ आशा नहीं होती है, वहाँ क्या होता है ? एक बार नेहरूजी बंगलौर में विज्ञान की प्रयोगशाला में गये जहाँ विज्ञान के प्रयोग होते हैं। उस समय वहाँ के डायरेक्टर सी. वी. रमन थे। नेहरूजी ने किसी प्रयोग पर उनसे कहा कि 'यह प्रयोग ठीक नहीं है।' सी. वी. रमन ने कहा, 'पण्डित जी, जनता को मूर्ख बनाओ, विज्ञान की बातें आप क्या समझो !' पण्डितजी ने कहा—'क्यों, मैं इस विभाग का मंत्री हूँ ?' उन्होंने कहा, 'मंत्री बने रहो, हमें तुम्हारी नौकरी की ज़रूरत नहीं है।' उसी समय इस्तीफा दिया और दूसरी जगह सी. वी. रमन इंस्टीट्यूट बना लिया। जिसमें आशा थी, वह बेचारा वापिस आ गया और परिवर्तन करने लगा। जिसमें आशा नहीं है, वह ऐसा नहीं करेगा। आशा वाले का यश भी नष्ट हो जाता है! उसकी कीर्ति भी नहीं रहती। आशा वाले से विद्या की भी उन्नति नहीं हो सकती। विद्या की उन्नति के लिये निरंतर अध्ययन-अध्यापन में लगना पड़ता है, आशा वाला उधर नहीं लग पाता। इसीलिये वह अपमान भी सहन कर जाता है। बुजुर्ग

भी हो लेकिन यदि आशा होती है तो अत्यंत छोटे व्यक्ति के सामने भी झुकने लग जाता है क्योंकि आशा उसे कमज़ोर बना देती है। इन सब चीज़ों को आशा नष्ट कर देती है।

'तथैव सत्कुले जन्म' संसार में सबसे कठिन चीज़ है अच्छे कुल में जन्म मिलना। बाकी सब चीज़ों को तो मनुष्य अपने प्रबल प्रयत्न से बदल सकता है लेकिन जन्म जहाँ हुआ है उस कुल को तो नहीं बदल सकता। इसीलिये योग्य पुरुष को सबसे ज़्यादा अभिमान अपने कुल का होता है। लेकिन जो आशा वाला होता है, वह अपने सत्कुल के जन्म को भी नीचा कर देता है। उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी अत्यंत निकृष्ट परिवार में ब्याह कर लेता है, इसलिये कि धन मिल जायेगा, मंत्री-पद मिल जायेगा, इस आशा से हरिजन के साथ ब्याह कर लेता है, मुसलमानों के साथ ब्याह कर लेता है, मुसलमानों का जूठा खा लेता है। शेख अब्दुल्ला की आदत थी कि पहले चाय के दो-चार घूंट पी लिये फिर साथ वाले को दे देता था कि देखो कितनी बढ़िया चाय बनी है। अच्छे-अच्छे ब्राह्मण और हिन्दू पी जाते थे क्योंकि बड़े-बड़े पदों पर रहना चाहते थे। स्वास्थ्य-निदेशक डा. बिशन ब्राह्मण थे। उन्हें भी एक-दो बार शेख ने उसी तरह दिया लेकिन इन्होंने कहा 'मेरी इच्छा नहीं है।' जब दो-एक बार ऐसे हुआ तो शेख ने पूछा, 'डाक्टर साहब ! इच्छा नहीं है, या मैं मुसलमान हूँ, इसलिये नहीं पीते?' डाक्टर ने कहा, 'यही समझ लो। अब अगली बार मुझे नहीं कहना, मुझे जूठी चाय नहीं पीनी है।' उन्हें नौकरी से निकाल दिया ! जिसे सत्कुल का अभिमान है, वह जानता है कि नौकरी और मिल जायेगी लेकिन ब्राह्मणत्व चला गया तो कहाँ से आयेगा?

आशा वाला यह नहीं समझेगा। इसीलिये अंत में वेदमाली ब्राह्मण कहता है 'तस्माद् आशां त्यजेत् तृष्णां यदीच्छेत् शाश्वतं सुखम्।' अरे मन ! यदि शाश्वत नित्य सुख की इच्छा करता है तो इस आशा और तृष्णा को छोड़ दे।

वेदमाली को चोट तो लग चुकी थी। उसी समय आधा धन पत्नी-बच्चों को दिया और आधा धन यज्ञ, दान आदि में लगाकर सर्वथा वैराग्यवान् होकर केदारनाथ में चला गया। वहाँ जानन्ति नाम के शैव परमहंस महात्मा रहते थे। उनके पास पहुँचा। उन्होंने उपदेश दिया कि 'तू अब तक संसार के चक्र में रहा क्योंकि तू अपने आधाररूप को, स्व को समझता रहा लेकिन उसके अधिष्ठान शिव-तत्त्व को अपने अन्दर प्रवेश नहीं कराया। सत्, चित् रूप से तो अपने को जान लिया लेकिन भूमानंद रूप से नहीं जाना। इसलिये अब तू अपने अन्दर संवर्ताग्नि का प्रवेश करा।' चोट खा ही चुका था। साधना में लग गया और अत्यंत शीघ्र उसका आनंद बढ़ता चला गया और अंत में उसके अंदर उस अग्नि का प्रकाश हो गया। जिसके अन्दर भूमानंद शिवाग्नि का प्रवेश हो जाता है तब चाहे वह चल रहा हो, चाहे खड़ा हो और चाहे कोई भी दूसरा काम कर रहा हो, सब करने पर भी उस अनंत आनंद की भावना से एक क्षण को भी उसका चित्त हटेगा नहीं। ऐसा हो तब समझो कि 'शिवाग्नि मुझे सिद्ध हो गई।' वेदमाली ने इसे प्राप्त किया।

विचार की दृष्टि से देखो तो यह केवल एक वेदमाली की कथा नहीं है। वेद को ही जिसने अपनी माला अर्थात् भूषण बनाया वह वेदमाली है। वह पहले कर्मकाण्डी होता है क्योंकि वेद के

बाह्य रूप को देखता है। वेद के गम्भीर अर्थ को शुरू में नहीं समझ पाता। लेकिन उसने वेद को माला बना लिया है अर्थात् वह वेद को स्वीकार कर चुका है। बहुत बार लोग कहते हैं कि 'नहीं समझते तो माना कैसे जाये ?' मानोगे तो पढ़ोगे और अंततोगत्वा उसका ज्ञान भी होगा। यदि मानोगे नहीं, तो पढ़ोगे नहीं। बिना माने पढ़ने पर भी उससे कुछ हाथ नहीं आयेगा। किसी ग्रन्थ को पढ़ना और उससे प्रेम होना अलग हैं। वेदमाली वेद के अंतरंग रहस्य को नहीं जानता था लेकिन उसने वेद को स्वीकार कर रखा था। उसके दो पुत्र यज्ञमाली और सुमाली हुए। वेद को स्वीकार करने पर मनुष्य अच्छे कर्म और अच्छा चरित्र करता है। वेद के अनुकूल आचरण करता है इसलिये सुमाली, और यज्ञ दान आदि सब करता है अतः यज्ञमाली हुआ। लेकिन वह सब कुछ विषयप्राप्ति के लिये ही करता है। पुण्य का विक्रय करके ब्रह्मलोक-पर्यन्त की प्राप्ति होगी। सकाम कर्म करता है। शास्त्रीय सकाम कर्म करने से एक दिन उसकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है। जब शुद्ध बुद्धि जाग्रत् हो जाती है, तब वह जानकार परमहंस महात्मा के पास जाकर वेद के रहस्य को समझता है। कर्मकाण्ड के द्वारा उसका अंतःकरण शुद्ध हो चुका है, इसलिये वह अत्यंत शीघ्र ही उस शिवाग्नि को अपने में प्रवेश करा लेता है। यह 'महती समया' है।